अनादि अनिधन
जिनागम पंथ जयवंत हो

श्री मद् आचार्य कुन्दकुन्द देव विरचित रयणसार ग्रंथोपरि
प्रवचनवृत्ति

रयणोदय

(तृतीय भाग)

भावलिंगी संत श्रमणाचार्य श्री विमर्शसागर मुनि

जिनागम पंथ ग्रंथमाला : ग्रन्थांक - 27

श्री मद् आचार्य कुन्दकुन्द देव विरचित

रयणसार

(गाथा 26 से 61 तक)

प्रवचनवृत्ति

रयणोदय

(तृतीय भाग)

प्रवचन वृत्तिकार

भावलिंगी संत श्रमणाचार्य श्री विमर्शसागर जी मुनिराज

जिनागम पंथ प्रकाशन

ज्ञानावरण कर्म के आस्रव का कारण

.. शास्त्र विक्रय.. ज्ञानावरणस्यास्रवा: श्रुतात्स्याच्छ्रुतकेवली।

शास्त्र विक्रय ज्ञानावरण कर्म के आस्रव का कारण है तथा शास्त्रदान से श्रुतकेवली होता है ऐसा आगम वाक्य है।

जिनागम पंथ ग्रंथमाला से प्रकाशित श्रुत साहित्य का विक्रय नहीं किया जाता। सभी स्वाध्यायी जीवों के लिए नि:शुल्क उपलब्ध कराया जाता है।

जिनागम पंथ ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक - 27

मूलग्रंथ	:	रयणसार (आचार्य कुन्दकुन्द देव)
शुभाशीष	:	सूरिगच्छाचार्य श्री विरागसागर जी मुनिराज
प्रवचनवृत्ति	:	रयणोदय (तृतीय भाग)
प्रवचन वृत्तिकार	:	भावलिंगी संत श्रमणाचार्य विमर्शसागर जी
समावलोकन	:	मुनि श्री विचिन्त्यसागर जी मुनि श्री विव्रतसागर जी मुनि श्री विशुभ्रसागर जी
चित्र चयन	:	मुनि श्री विगम्यसागर जी
संचयन	:	आर्यिका विद्यान्तश्री माताजी आर्यिका विमलांतश्री माताजी
प्रस्तुति	:	आर्यिका विमर्शिताश्री माताजी
सम्पादन	:	डॉ. श्रेयांस जैन, बड़ौत
संस्करण	:	2025
प्रथमावृत्ति	:	2000 प्रति

© जिनागम पंथ प्रभावना फाउण्डेशन

प्राप्ति स्थान :

जिनागम पंथ ग्रंथालय
बड़ा जैन मंदिर, बाराबंकी (उ.प्र.)
नमन जैन मो. 9160855511

राष्ट्रीय विमर्श जागृति मंच
भिण्ड (म.प्र.) मो. 9826217291

डॉ. विश्वजीत कोटिया
आगरा (उ.प्र.) मो. 9412163166

अरिन्जय जैन
दिल्ली मो. 9810099002

मुद्रक :
अरिहन्त ग्रॉफिक्स, दिल्ली
फोन : 9958819046, 9212019046

आद्याक्षर

भारतवर्ष की सनातन संस्कृति के महोन्नत भाल पर दैदीप्यमान तिलक की भाँति चारुत्व को प्राप्त दिगम्बर जैन श्रमण परम्परा सदैव से आर्यजनों द्वारा शेषाक्षत की भाँति वंदनीय रही है। महानता को सही मायनों में जीवंत करनेवाले महनीय तपोधनों की गुणाढ्य संतति में समय-समय पर अनेकों धुरंधर जैनाचार्यों का उद्भव हुआ जिन्होंने अपनी दर्पण सम अविकार वृत्ति, अनुत्तम ज्ञान साधना एवं सुरोपासित अटल श्रद्धान् के द्वारा समय के पटल पर अपनी यश प्रशस्तियाँ अंकित की हैं। इन्ही महात्माओं के सुवंश में अपने व्यक्तित्व एवं कृतित्त्व से 21वीं सदी को गौरवान्वित करनेवाले चर्या और चिंतन के धनी, साधनापथ पर कदम दर कदम अपनी साधना से अनुमार्गियों के लिये नूतन प्रकाश स्तम्भ स्थापित करनेवाले श्रमणकुल से वंदनीय, देव कुलार्चनीय परम पूज्य भावलिंगी संत श्रमणाचार्य श्री 108 विमर्शसागर जी महामुनिराज एक असाधारण चुम्बकीय व्यक्तित्व के धनी आचार्य हैं। जिनकी परम वीतरागी सौम्यमुद्रा का दर्शन मात्र ही भव्यों के जीवन में वैराग्य का अंकुरण करनेवाला है। आपके वात्सल्य, अनुशासन और निर्दोष चर्या से प्रभावित हो अनेकों शिवेक्षु आत्मविज्ञान के साथ मोक्षमार्ग की साधना में आपके सुपथगामी हुये हैं। आपके श्रेष्ठ निर्यापकाचार्यत्व में अनेकों श्रमण-श्रमणी एवं भव्य मुमुक्षुओं ने सल्लेखना पूर्वक उत्तम समाधि की साधना की है।

जिनका दिव्य पादमूल श्रेष्ठतम वरदानों का आनंद स्थल है, ऐसे प्रज्ञामनीषी पूज्य आचार्य श्री का यशोमयी सृजत्व भी युगपरिवर्तन की ऊर्जा से सम्पन्न है, जो दिग्भ्रमित जनमानस को समीचीन पथ का पाथेय प्रदान करता है। पूज्य आचार्य प्रवर ने अपने साहित्य में हर दृष्टिकोण से धार्मिक, आध्यात्मिक, सामाजिक, पारिवारिक और मानवीय मूल्यों के समुन्नयन का संपुट प्रदान किया है। पूज्यश्री के साहित्य के हर पृष्ट पर होती है सरसता, हर लाइन में पिरो देते हैं वो रोचकता, हर शब्द करता है अंतस् को आन्दोलित और अक्षर-अक्षर में छिपा होता है जीवन विकास का परम संदेश।

'जीवन है पानी की बूँद' महाकाव्य-पूज्यश्री की लेखनी से सन् 1997, भिण्ड नगर में हिन्दी काव्यजगत का सर्वाधिक लोकप्रिय, कुरल शैली का महाकाव्य 'जीवन है पानी की बूँद' सृजित हुआ। आचार्य भगवन् की मूल कृति यह महाकाव्य इतना अधिक लोकप्रिय है कि देश-विदेश में जैन समुदाय का कोई भी धार्मिक, सामाजिक या सांस्कृतिक कार्यक्रम हो, जबतक उसमें इस अमर काव्य की पंक्तियाँ न गुनगुनाई जायें तब-तक वह अनुष्ठान अधूरा सा प्रतीत होता है।

दिगम्बर एवं श्वेताम्बर परम्परा के अनेकों साधु भगवंत, त्यागीवृन्द, विद्वान् और संगीतकार इस महाकाव्य पर नूतन-नूतन हजारों छंद लिखकर अपनी काव्य प्रतिभा को धन्य कर रहे हैं, यह इस कालजयी महाकाव्य की लोकप्रियता का एक सशक्त उदाहरण है। इस महाकाव्य पर अनेकों शोधार्थी पी.एच.डी. कर रहे हैं। पूज्य श्री के इस महाकाव्य पर देश के मूर्धन्य जैन, अजैन विद्वानों एवं साहित्यकारों द्वारा अनेक विद्वत् संगोष्ठियाँ सम्पन्न की जा चुकी हैं।

हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, उर्दू, अंग्रेजी, राजस्थानी, हाड़ौती, बुंदेली, अवधि, आदि अनेक भाषाओं के ज्ञाता एवं हिन्दी के साथ-साथ प्राकृत, संस्कृत, उर्दू आदि अनेक भाषाओं में साधिकार कलम चलानेवाले, संत परम्परा के वरिष्ठ साहित्यकार परम पूज्यनीय भावलिंगी संत श्रमणाचार्य श्री विमर्शसागर जी महामुनिराज द्वारा जहाँ एक ओर जैनदर्शन के अनेकों मूलग्रंथों का मौलिक छंदों में पद्यानुवाद कर आचार्य भगवन् कुंदकुंद और पूज्यपाद की परम्परा को पुष्ट किया गया है वहीं दूसरी ओर उनकी लेखनी से सृजित सैकडों बोधप्रद कवितायें, आध्यात्मिक भजन एवं सवैया, मुक्तक, हाइकू, नई कविता आदि अनेक विधाओं पर सैकड़ों प्रकीर्णक रचनायें हिन्दी काव्य परम्परा के कोष की समृद्धि बन पड़ी हैं। सिर्फ हिन्दी ही नहीं पूज्य आचार्य श्री ने उर्दू में साधिक 200 गजलों का प्रणयन कर उर्दू साहित्य में भी अद्भुत कीर्तिमान स्थापित किया है।

अभीक्ष्ण ज्ञान साधना का अमृत फल 'अप्पोदया' प्राकृत टीका-श्रुत संवर्धन के लिये समर्पित पूज्य आचार्य श्री की प्रज्ञ लेखनी ने पूज्य आचार्य भगवन् श्री अमितगति स्वामी कृत सहस्र वर्ष प्राचीन 'श्री योगसार प्राभृत' ग्रंथ पर प्राकृत भाषा में ''अप्पोदया'' नामक सहस्र पृष्ठीय वृहद टीका का सृजन कर श्रुत संस्कृति के क्षेत्र में एक स्वर्णिम इतिहास रचा है। देशभर के मूर्धन्य विद्वानों एवं श्रमण जगत के द्वारा समादृत आपकी यह 'अप्पोदया' प्राकृत टीका अध्यात्म का एक वृहद कोष है, जो आपकी अभीक्ष्ण ज्ञान साधना का ही अमृतफल है।

बहु आयामी व्यक्तित्त्व के धनी पूज्य गुरुदेव के विराट कृतित्व में अनेक विधायें केली करती हैं। पूज्य आचार्यश्री ने जहाँ एक ओर अपने लेखन से आरातिय श्रुत को बल प्रदान किया है, वहीं दूजी ओर **'विमर्श लिपि'** एवं **'विमर्श अंकलिपि'** का सृजन कर समुचि श्रमण संस्कृति का मस्तक ऊँचा किया है। साथ ही पूर्णत: मौलिक शब्द, व्याकरण आदि से सम्पन्न नवीन भाषा 'विमर्श एम्बिशा' का निर्माण कर आपने इतिहास के पृष्ठों पर एक अमिट लेख लिख दिया है।

जैन एकता के लिए दिव्यावदान–पूज्य आचार्य भगवन् ने 'जिनागम पंथ जयवंत हो' का नारा देकर संतवाद पंथवाद और जातिवाद के नाम पर बिखरती जैन संस्कृति को एकता के सूत्र में बाँधने का स्तुत्य कार्य किया है।

पूज्य आचार्य श्री का काव्य सर्जना में श्रम कौशल वरेण्य है। आपकी एक प्रेरक काव्य रचना **'देश और धर्म के लिये जिओ'** को मध्यप्रदेश शिक्षाबोर्ड द्वारा कक्षा 11 की हिन्दी सामान्य की पुस्तक 'मकरन्द' के पाठ्यक्रम में शामिल किया गया है, यह श्रमण संस्कृति के स्वाभिमान का विषय है।

सिद्धक्षेत्र श्री अहारजी में आपश्री को अपनी निर्मल साधना से पंचमकाल में दुर्लभतम श्री शान्तिभक्ति की महान सिद्धि प्राप्त हुई, जिससे प्रभावित हो यक्षों द्वारा की गई महापूजा और नाम दिया गया 'भावलिंगी संत' एवं 'अहार जी के छोटे बाबा'। यह सम्पूर्ण कथानक आपकी सच्ची भावसाधना का अमिट शिलालेख है।

दिगम्बर श्रमण परम्परा के महान प्रतिष्ठाचार्य, पूज्य आचार्य भगवन् जैसे महान् संत जगत में विरलप्राय: हैं। अनेकान्तिनी प्रतिभा के सशक्त हस्ताक्षर, प्रेम, दया, करुणा, वात्सल्य की अपरिसीम संवेदनाओं से छलकता हृदय, सरलता और सहजता का प्रतिनिधित्व करता जीवन, महानता के सर्वोच्च शिखर पर लघुता के स्वर ये पूज्य आचार्यश्री के जीवन की कुछ ऐसी दुर्लभतम विशेषतायें हैं जो उन्हें सहज ही आम संतों की भीड़ में एक जुदा संत की पहिचान देती हैं।

परम पूज्यनीय शुद्धोपयोगी संत सूरिगच्छाचार्य श्री 108 विरागसागर जी महामुनिराज के अग्रगण्य शिष्यों में परम पूज्य भावलिंगी संत श्रमणाचार्य श्री 108 विमर्शसागर जी महामुनिराज एक अद्वितीय प्रतिभाशील सहज साधक हैं। गुरुआज्ञा, अनुशासन और स्वयोग्यता से आपने अपनी निर्वाण दीक्षा के 25 वर्षों में जो कद प्राप्त किया है, वहाँ तक कोई विरला संत ही पहुँच पाता है। आपने अपनी साधनाकाल के विगत 27 वर्षों में पूरे देश में परिभ्रमण कर अनेकों पंचकल्याणक प्रतिष्ठायें, वेदी प्रतिष्ठायें, श्री कल्पद्रुम, समोशरण, इन्द्रध्वज, सिद्धचक्र आदि वृहद स्तरीय विधान, अनेक जिनालयों का जीर्णोद्धार, संत शालाओं का निर्माण, ग्रंथालयों की स्थापना आदि कराके जिनागम पंथ का ध्वज घर-घर में स्थापित किया है।

पूज्य आचार्यश्री कहते हैं- जिनवाणी हमारी माँ है, उसपर मूल्य अंकित कर उसका विक्रय नहीं करना चाहिये। जिनवाणी का विक्रय करने से ज्ञानावरणी कर्म का आस्रव बंध

होता है। अत: पूज्य आचार्य श्री की प्रेरणा से ''जिनागम पंथ ग्रंथमाला'' की स्थापना की गई है। इस ग्रंथमाला से प्रकाशित साहित्य साधु भगवंतों एवं स्वाध्यायी जनों के लिये नि:शुल्क भेंट किया जाता है। आचार्यश्री की यह सद्प्रेरणा निश्चित ही समाज को नया चिंतन एवं नई दिशा देगी।

आपके शुभाशीष से 'राष्ट्रीय विमर्श जागृति मंच (रजि.)' एवं 'जिनागम पंथी श्रावक संघ' ये दो संगठन देशभर में मानव सेवा, देशसेवा और धर्म प्रभावना के क्षेत्र में समाज की महत् उपलब्धि बन चुके हैं।

आपके सानिध्य में आयोजित, जिनागम शिक्षण शिविर, विमर्श कैम्प, पूजन प्रशिक्षण शिविर (आनंद महोत्सव), विद्वत् संगोष्ठियाँ, साहित्यकार सम्मेलन, मंच के सेमिनार आदि के माध्यम से समाज में संस्कारों का शंखनाद किया जा रहा है।

आपकी रजत साधना के ये पच्चीस वर्ष निश्चित रूप से देश, समाज, धर्म और समुचि मानवता के लिये किसी दिव्य वरदान से कम नहीं है।

अत: आपके 'रजत संयमोत्सव' एवं 'स्वर्णिम विमर्श उत्सव' के अवसर पर अखिल भारतीय शास्त्री परिषद, विमर्श गुरुभक्तों एवं शिष्यों ने यह भाव सँजोया है कि आपका समूचा साहित्य प्रकाशित हो ताकि जन-जन आपके अवदान से लाभान्वित हो सकें, साथ ही कुछ प्राचीन आचार्यों के मूल ग्रंथों के प्रकाशन का भी बीड़ा उठाया है। यह समूचा साहित्य प्रकाशन का कार्य 'जिनागम पंथ ग्रंथमाला' के तहत सम्पन्न किया जा रहा है। पूज्य आचार्य श्री का यह साहित्य जन-जन के मन को आलोकित करता रहे, इसी सुमंगल भावना के साथ शब्द विराम चूँकि ग्रंथ प्रकाशन में संशोधन एवं संपादन का कार्य अत्यंत श्रमसाध्य है, पूज्य गुरुदेव के इस पावन युगल प्रसंग पर प्रकाशित सभी शास्त्रों की प्रूफ रीडिंग एवं साजसज्जा के कार्य में संघस्थ मुनिराज, आर्यिका मातायें, त्यागी व्रति, एवं विद्वत् वर्ग ने अपना अमूल्य समय देकर श्रुतसेवा के इस कार्य में श्लाघनीय योगदान दिया है, जो उनकी गुरुभक्ति और श्रुत भक्ति का अनुपम उदाहरण है। जिनागम पंथ ग्रंथमाला एवं ग्रंथ प्रकाशन समिति आप सभी के प्रति हृदय से आभार ज्ञापित करती है।

❑❑❑

परिचय की वीथिकाओं में

भावलिंगी संत श्रमणाचार्य श्री विमर्शसागर जी महामुनिराज

लौकिक यात्रा

पूर्व नाम	:	श्री राकेश कुमार जैन
पिता	:	पं. श्री सनत कुमार जैन (दो प्रतिमाधारी, समाधिस्थ)
माता	:	श्रीमती भगवती जैन (आपके ही कर कमलों से दीक्षित एवं समाधिस्थ पू. आर्यिका विहान्तश्री माताजी)
जन्म स्थान	:	जतारा, जिला-टीकमगढ़ (म.प्र.)
जन्म तिथि	:	मार्गशीर्ष कृष्णा पंचमी सं. 2030
जन्म दिनांक	:	15 नवम्बर, 1973, दिन : गुरुवार
शिक्षा	:	बी.एस.सी. (बायलॉजी)
भ्राता	:	दो (अग्रज-राजेश जैन, अनुज-चक्रेश जैन)
भगिनी	:	दो (अग्रजा-श्रीमती कमला जैन, अनुजा-बा.ब्र. महिमा दीदी (वर्तमान में-आर्यिका विवंदिताश्री माताजी)
विवाह	:	बाल ब्रह्मचारी
खेल	:	बैडमिंटन, शतरंज (विशेषता—दोनों खेल जिनसे सीखे उन्हीं के साथ फाईनल खेलते हुए चैंपियन कप विजेता)
सामाजिक सेवा	:	मंत्री— श्री दिगम्बर जैन नवयुवक संघ, जतारा
रुचि	:	अध्ययन, संगीत, पेंटिंग
सांस्कृतिक रुचि	:	अनेक धार्मिक, सामाजिक नाट्य मंचन
करुणा भाव	:	बचपन में एक गरीब अंधे भिखारी को अक्सर पैसे दान देना।

परमार्थ यात्रा

आचार्यश्री विरागसागर जी महाराज के प्रथम बार जतारा नगर में आयोजित पंचकल्याणक प्रतिष्ठा एवं त्रयगजरथ महोत्सव में समाज की ओर से निवेदन के अवसर पर दर्शन हुये।

आचार्यश्री की वात्सल्यता ने अत्यंत प्रभावित किया। (सन्-1995, स्थान-मोराजी सागर, म.प्र.)

त्याग के संस्कार : आचार्यश्री विरागसागर जी महाराज की जतारा नगर में वैयावृत्ति के समय आजीवन आलू, प्याज एवं रात्रि भोजन के त्याग से गृह त्याग की भावना।

ब्रह्मचर्य व्रत : आचार्यश्री विरागसागर जी महाराज ससंघ का विहार कराते हुए सिद्धक्षेत्र श्री अहार जी में भगवान् शान्तिनाथ की चरणछाया में फाल्गुन कृष्णा त्रयोदशी, सोमवार संवत् 2051, दिनांक 27 फरवरी 1995 को आचार्यश्री से दो वर्ष का ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण किया।

सामायिक प्रतिमा : आचार्य श्री विरागसागर जी महाराज से पार्श्वनाथ मोक्ष सप्तमी के अवसर पर सामायिक प्रतिमा के व्रत ग्रहण किये। स्थान- क्षेत्रपाल जी ललितपुर (उ.प्र.), दिनांक 3 अगस्त 1995, गुरुवार।

ऐलक दीक्षा: फाल्गुन शुक्ला पंचमी, शुक्रवार, संवत् 2052, 23 फरवरी 1996 को देवेन्द्रनगर (पन्ना) में तपकल्याणक के दिन आचार्यश्री विरागसागरजी महाराज से ऐलक दीक्षा ग्रहण की और नाम पाया ऐलक विमर्शसागरजी।

मुनि दीक्षा : पौष कृष्णा 11, संवत् 2055, सोमवार, दिनांक 14 दिसम्बर 1998 को अतिशय क्षेत्र बरासो (भिण्ड) में आचार्यश्री विरागसागरजी से मुनिदीक्षा ग्रहण की और मुनि विमर्शसागर नाम पाया।

आचार्य पद घोषित: आचार्यश्री विरागसागरजी ने 13 फरवरी 2005, रविवार को कुन्थुगिरी में गणधराचार्य श्री कुन्थुसागर जी सहित 14 आचार्य एवं 200 पिच्छिओं के मध्य आचार्य पद घोषित किया।

आचार्य पद संस्कार : मार्गशीर्ष शुक्ला सप्तमी सं. 2067, रविवार, दिनांक 12 दिसम्बर 2010 को बांसवाड़ा (राजस्थान) में आचार्यश्री विरागसागरजी ने आचार्य पद के संस्कार किये और नाम दिया आचार्य विमर्शसागर जी।

शान्ति भक्ति की सिद्धि : 25 दिसम्बर 2015, सिद्धक्षेत्र अहार जी में भगवान् श्री शान्तिनाथ स्वामी के अतिशयकारी पादमूल में, संघस्थ बा.ब्र. विशु दीदी (वर्तमान में-आर्यिका विमर्शिता श्री माताजी) की असाध्य बीमारी (रोग) से करुणान्वित हो पूज्य गुरुदेव ने जब लगभग 1400

वर्ष प्राचीन आचार्य पूज्यपाद स्वामी रचित शान्त्यष्टक का भावपूर्वक पाठ किया तो देखते ही देखते क्षण मात्र में दीदी असाध्य रोग से मुक्त हो गईं। तब क्षेत्र के यक्ष-यक्षणियों द्वारा गुरुदेव की महापूजा की गई और सूचित किया कि आपको अपनी निर्मल साधना से इस पंचमकाल में दुर्लभतम शान्ति भक्ति की सहज ही सिद्धि प्राप्त हुई है। साथ ही पूज्य गुरुदेव को **'भावलिंगी संत', 'अहार जी के छोटे बाबा', 'शान्तिप्रभु के लघुनंदन'** आदि संज्ञायें प्रदान कीं।

शब्दालंकार : रत्नत्रय के ऊर्जस्वी और तेजस्वी अलंकारों से जिनकी आत्मा का एक-एक प्रदेश अलंकृत है। सत्यम्-शिवम्-सुंदरम् की दिव्य रश्मियों से आलोकित पूज्य गुरुवर विमर्शसागर जी महामुनिराज का विराट व्यक्तित्व किन्हीं शब्दालंकारों का मोहताज नहीं है। फिर भी जगह-जगह की धर्मप्राण-समाजों, ऊर्जस्वी संगठनों एवं यशस्वी व्यक्तियों ने नाना अवसरों पर अपने मनोभावों को शब्दों में समेट कर गुरुचरणों में कई शब्दालंकार प्रस्तुत किये हैं और अपना सौभाग्य माना है।

वात्सल्य शिरोमणि— संत के जीवन का सबसे प्रभावी गुण होता है उसका अकृत्रिम वात्सल्य भाव, पूज्य गुरुवर को यह वात्सल्य की अमूल्य सम्पदा, गुरु परम्परा से विरासत में ही प्राप्त हुई है, वर्षायोग 2008 के उपरान्त उत्तरप्रदेश के आगरा नगर में पंचकल्याणक के अवसर पर आगरा समाज ने आपके वात्सल्य से प्रभावित होकर आपको **''वात्सल्य शिरोमणि''** के अलंकार से विभूषित किया।

श्रमण गौरव— प.पू. भावलिंगी संत श्रमणाचार्य श्री विमर्शसागर जी महामुनिराज की अनुशासन के सुडौल साँचे में ढली निर्दोष श्रमण चर्या वर्तमान में श्रमण जगत को गौरवान्वित करती है, पूज्य श्री की आगमानुसारी चर्या से प्रभावित होकर एटा-2009 वर्षायोग में शाकाहार परिषद ने आपको **''श्रमण गौरव''** की उपाधि से अलंकृत किया और अपना सौभाग्य बढ़ाया।

वात्सल्य सिन्धु— वात्सल्य और करुणा के दो पावन तटों के बीच प्रवाहित गुरुवर की जीवन मंदाकिनी जनमानस की सतह पर बिखरी घृणा, बैर, कटुता की कलुषता को सहज ही धो डालती है। पूज्यश्री के इसी गुण आकर्षण से अनुग्रहीत हो, एटा वर्षायोग-2009 में अखिल भारतीय कवि सम्मेलन के अवसर पर राजेश जैन गीतकार आदि कवि समूह ने गुरुवर को **''वात्सल्य सिन्धु''** का भाव वंदन अर्पित कर सौभाग्य माना।

आचार्य पुंगव— संतवाद, पंथवाद, जातिवाद और ग्रंथवाद की वैचारिक संकीर्णताओं से असम्पृक्त पूज्य श्रमणाचार्य श्री विमर्शसागर जी महाराज की सिर्फ चर्या ही अनुकरणीय नहीं,

अपितु उनका चतुरानुयोग का निर्मल ज्ञान भी ज्येष्ठ है। ऐसे ज्ञान और चर्या में श्रेष्ठ संत के महिमावंत व्यक्तित्व से प्रभावित होकर पूज्य गुरुदेव की गृहनगरी जतारा जैन समाज ने पंचकल्याणक 2012 के अवसर पर आपको "**आचार्य पुंगव**" की उपाधि से भूषित कर अपना मान बढ़ाया।

राष्ट्रयोगी— पूज्य गुरुवर का "**वैचारिक वैभव**" सिर्फ जैनों तक सीमित नहीं अपितु हर जाति का व्यक्ति उसे अपनी विरासत मानता है। अतः बिजयनगर (राज.) वर्षायोग-2012 में राष्ट्रवादी संस्था भारत विकास परिषद द्वारा आयोजित "दिव्य संस्कार प्रवचन माला" में आपके राष्ट्रोन्नति से समृद्ध उपदेशों को सुनकर आपको "**राष्ट्रयोगी**" का अलंकार समर्पित किया गया।

सर्वोदयी संत— पूज्य आचार्यश्री की निर्भीक शैली जनमानस को सहज ही अपनी ओर आकर्षित कर लेती है तभी तो पूज्यवर के प्रवचनों में जैनों के साथ-साथ अजैन भी देशना को सुनकर आनंदित होते हैं, आपके उपदेशों में प्राणीमात्र के उदय की दिव्य चमक नजर आती है, तभी तो बिजयनगर (राज.) दिगम्बर जैन समाज ने 2012 वर्षायोग में आपको "**सर्वोदयी संत**" की उपाधि से नवाजा।

प्रज्ञामनीषी— श्रुताराधना के अनुपम आराधक, जिनेन्द्रवाणी के गहन प्रचारक, वाणी और कलम के अनूठे जादूगर पूज्यश्री की तीक्ष्ण प्रज्ञा और निर्मल ज्ञान से प्रभावित होकर, अखिल भारतीय आध्यात्मिक कवि सम्मेलन बिजयनगर (राज.)- 2012 में कविगण एवं भारत विकास परिषद द्वारा आपको "**प्रज्ञामनीषी**" की उपाधि से विभूषित किया गया।

राष्ट्रहितैषी— उत्तरप्रदेश के एटा नगर में स्वामी विवेकानन्द की 150वीं जन्म जयन्ती के अवसर पर विश्व हिन्दू परिषद् के तत्त्वावधान में आयोजित अखिल भारतीय युवा सम्मेलन में पूज्य गुरुदेव के राष्ट्रहित में समर्पित देशोन्नति परक अमूल्य चिंतन से प्रभावित हो **विश्व हिन्दू परिषद्** द्वारा सन् 2013 में आपको "**राष्ट्रहितैषी**" अलंकरण से अलंकृत किया गया।

आदर्श महाकवि— सम्प्रतिकाल में कुरल शैली का सैकड़ों विषयों को हृदयंगम करनेवाला अमर महाकाव्य "**जीवन है पानी की बूँद**" के शब्दशिल्पी, भजन, ग़ज़ल, मुक्तक, कविता, नई कविता, पद्यानुवाद, सवैया आदि अनेक जटिल विधाओं पर साधिकार कलम चलानेवाले परम पूज्य भावलिंगी संत श्रमणाचार्य श्री विमर्शसागर जी महामुनिराज के अपूर्व काव्यात्मक अवदान से प्रेरित हो, 14 नवम्बर 2016 को अखिल भारतीय आध्यात्मिक कवि सम्मेलन में, देश के ख्यातिलब्ध मूर्धन्य कवियों ने सुरेश 'पराग' के नेतृत्व में एवं पं. संकेत जी के मार्गदर्शन में सकल जैन समाज देवेन्द्रनगर की गरिमामयी अनुमोदना के संग पूज्यश्री को "**आदर्श महाकवि**" का

अलंकरण भेंट कर निज सौभाग्य वर्धन किया।

चारित्र रथी— आत्मप्रदेशों में सच्चे भावलिंग की प्रतिष्ठा कर, आत्मरति और परविरति के साथ चारित्र रथ पर सवार हो पूज्य गुरुदेव आत्मोत्थान के सुपथ पर अबाध रीति से वर्धमान हैं। आपकी इस आत्मोन्नयन की निष्पंक चारित्र साधना से प्रभावित हो देश के वरिष्ठ साहित्यकार **श्री सुरेश 'सरल' जी** ने बिजयनगर चातुर्मास 2012 में आपको "**चारित्र रथी**" का अलंकरण भेंट कर स्व गौरववर्धन किया।

जिनागम पंथ प्रवर्तक — वर्तमान में पंथवाद, संतवाद और जातिवाद के नाम पर बिखरती दिगम्बर जैन समाज में अनादि अनिधन "**जिनागम पंथ**" का उद्घोष कर पूज्य गुरुदेव ने जैन एकता के लिये एक महनीय कार्य किया है। पूज्य गुरुदेव के इस "**जैन यूनिटी मिशन**" से प्रभावित हो सन् 2020 में श्री कल्पद्रुम महामण्डल विधान एवं गजरथ महोत्सव के सुप्रसंग पर बा.ब्र. ऋषभ भैया (नागपुर) के मार्गदर्शन में सकल दिगम्बर जैन समाज, बाराबंकी ने आपको "**जिनागम पंथ प्रवर्तक**" का अलंकरण भेंट कर आपके इस अभिनंद्य प्रयास की अभ्यर्थना की।

राष्ट्रगौरव— परम पूज्य भावलिंगी संत राष्ट्रयोगी श्रमणाचार्य श्री 108 विमर्शसागर जी महामुनिराज का अनुत्तम वैदुष्य जहाँ एक ओर धर्मनीति की प्रतिष्ठा करता है वहीं दूसरी ओर आपका क्रान्तिनिष्ठ मौलिक चिंतन, राजनीति, न्याय-नीति, मानव सेवा, शाकाहार, गौरक्षा, लोकतंत्र, पारिवारिक एवं सामाजिक दायित्वों के प्रति जन जागरण कर संपूर्ण देश के लिये गौरव का विषय बन पड़ा है। पूज्य गुरूदेव के दिव्यावदानों से आज समुचा देश गौरवान्वित है। इसीलिये महमूदाबाद चातुर्मास 2021 में सम्पूर्ण अवध प्रान्त की जैन समाज की गरिमामयी उपस्थिति में कला और साहित्य की अखिल भारतीय संस्था "**राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ**" के अनुसांगिक संगठन "**संस्कार भारती**" की ओर से माननीय श्री गिरीशचन्द्र मिश्र, राज्यमंत्री, उत्तरप्रदेश शासन द्वारा पूज्य गुरुदेव को "**राष्ट्रगौरव**" का अलंकरण भेंट किया गया।

सौम्यमूर्ति— सौम्यता संत की साम्यता का प्रतिदर्श है, संत जितना साम्यता को प्राप्त होता जाता है, उसकी साधना में उतनी ही सौम्यता झलकने लगती है। परम पूज्यनीय भावलिंगी संत श्रमणाचार्य श्री 108 विमर्शसागर जी महामुनिराज सौम्यता की प्रतिमूर्ति हैं। पूज्य आचार्य प्रवर की सौम्य चर्या से अभिभूत सकल दिगम्बर जैन समाज एटा द्वारा स्वर्णिम विमर्श उत्सव (15/11/2022) के पावन प्रसंग पर आपको "**सौम्यमूर्ति**" अलंकरण से संबोधित कर स्वयं का सौभाग्यवर्धन किया गया।

आचार्यरत्न— निर्वाण दीक्षा की मात्र 7 वर्षों की निर्मल साधना का ही प्रतिफल था जो दीक्षा गुरु प.पू. सूरिगच्छाचार्य श्री विरागसागर जी महामुनिराज द्वारा आपको देश के 14 बड़े आचार्य एवं 200 पिच्छीधारी साधुओं की गरिमामयी उपस्थिति में आचार्य पद की घोषणा की गई। यह श्रमण परम्परा के लिये एक स्वर्णिम अध्याय का श्रीगणेश था। सम्प्रति द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव की जटिलताओं के मध्य अपने चिंतन के हाइटेक संरक्षण से चतुर्विध संघ के उन्नयन, संवर्धन एवं मार्गदर्शन में आपका कोई शानी नहीं। आचार्य पद की विराट गरिमा से सम्पन्न आपके महनीय व्यक्तित्त्व से प्रभावित होकर सकल दिगम्बर जैन समाज आगरा एवं दिगम्बर जैन परिषद् आगरा द्वारा आपके '**रजत संयमोत्सव**' पर आपको "**आचार्यरत्न**"अलंकरण प्रदान किया गया।

बुंदेलखण्ड गौरव— बुंदेलखण्ड की पुण्यकोख से अनेक जैन-जैनेतर संतों ने जन्म लेकर इस भूमि का मानवर्धन किया है। इसी संत श्रृंखला में एक स्वर्णिम कड़ी जोड़ने वाले दिगम्बराचार्य श्री विमर्शसागर जी महामुनिराज हैं। जिनके सृजन में लीक से हटकर कुछ नया करने का जज्बा है, जिनके कृतित्त्व ने आज पूरे विश्व में श्रमण परम्परा को प्रतिष्ठा दिलाई है, ऐसे महान संत के अविस्मरणीय अवदानों से सिर्फ जन्मभूमि जतारा ही नहीं पूरा बुंदेलखण्ड गौरववंत है। आचार्य भगवन के '**रजत संयमोत्सव**' पर जतारा जैन समाज सहित बुंदेलखण्ड की समस्त दिगम्बर जैन समाज द्वारा आपको "**बुंदेलखण्ड गौरव**" शब्दालंकरण भेंट किया गया।

साहित्यिक यात्रा

भावलिंगी संत श्रमणाचार्य श्री विमर्शसागर जी महामुनिराज सौम्यवदन, गौरवर्ण, शुभ संस्थान, चौड़ा ललाट, दमकता मुखमण्डल, प्रशस्त मुद्रा, मधुर मुस्कान के धारी हैं, ऐसे ही आचार्यश्री की लेखनी भी जनमानस के हृदय को छूने वाली है। आचार्यश्री ने अनेक विषयों पर कलम चलाते हुए साहित्य सृजन किया है।

काव्य पाठ संग्रह :

1. हे वन्दनीय गुरुवर (काव्य)
2. मानतुंग के मोती
3. विमर्शाञ्जलि (पूजा पाठ संग्रह)
4. गीताञ्जलि (भजन)
5. विरागाञ्जलि (श्रमण पाठ संग्रह)
6. जीवन है पानी की बूँद (भाग-1)
7. जीवन है पानी की बूँद (भाग-2)
8. जीवन है पानी की बूँद (समग्र)
9. जीवन चलती हुई घड़ी (काव्य)
10. खूबसूरत लाइनें (काव्य)

11. समर्पण के स्वर (काव्य)
12. आईना (काव्य)
13. सोचता हूँ कभी-कभी (काव्य)
14. मेरा प्रेम स्वीकार करो (काव्य)
15. वाह क्या खूब कही (काव्य)
16. कर लो गुरु गुणगान (काव्य)
17. आओ सीखें जिनस्तोत्र
18. चटपटे प्रश्न-स्वादिष्ट उत्तर (पहेली)
19. उपासक संस्कार

प्रवचन साहित्य :

1. रयणोदय (प्रथम भाग)
2. रयणोदय (द्वितीय भाग)
3. रयणोदय (तृतीय भाग)
4. रयणोदय (चतुर्थ भाग)
5. रयणोदय (पंचम भाग)
6. योगोदय (प्रथम भाग)
7. योगोदय (द्वितीय भाग)
8. उपासकोदय (प्रथम भाग)
9. उपासकोदय (द्वितीय भाग)
10. देशव्रतोदय
11. साम्योदय (प्रथम भाग)
12. साम्योदय (द्वितीय भाग)
13. रत्नोदय (प्रथम भाग)
14. ज्ञानोदय
15. इष्टोदय (प्रथम भाग)
16. इष्टोदय (द्वितीय भाग)
17. दानोदय
18. गूँगी चीख
19. भरत जी घर में वैरागी
20. शब्द शब्द अमृत
21. शंका की एक रात

प्रेरक साहित्य :

1. जनवरी विमर्श
2. जैन श्रावक और दीपावली पर्व
3. विमर्श हस्ताक्षर

ग़ज़ल संग्रह :

ज़ाहिद की ग़ज़लें

विधान :

1. आचार्य विरागसागर विधान
2. एकीभाव विधान
3. श्री भक्तामर विधान (3)
4. विषापहार विधान
5. श्री कल्याण मंदिर विधान
6. श्री श्रमण उपसर्ग निवारण विधान

चालीसा : गणधर चालीसा

टीका : योगसार प्राभृत ग्रंथ पर :

1. अप्पोदया (प्राकृत टीका) 2. आत्मोदया (हिन्दी टीका)

महाकाव्य :

''जीवन है पानी की बूँद'' (महाकाव्य)– पूज्य गुरुदेव इस अमर महाकाव्य के मूल रचयिता है। पूज्यश्री के इस बहुचर्चित महाकाव्य पर अनेकों साधु-भगवंत, विद्वान् एवं संगीतकार बहुसंख्या में नवीन छंदों का सृजन कर अपनी काव्य प्रतिभा को धन्य कर रहे हैं, जो इस महाकाव्य की लोकप्रियता का अनुपम उदाहरण है।

लिपि : विमर्श लिपि, विमर्श अंक लिपि

भाषा : विमर्श एम्बिसा

प्राकृत साहित्य : 1. शुद्धप्पाणुवेक्खा, 2. सरूव शुदि, 3. योगसार प्राभृत (प्राकृत छाया)

पद्यानुवाद:

1. सुप्रभात स्तोत्र
2. महावीराष्टक स्तोत्र
3. लघु स्वयंभू स्तोत्र
4. भक्तामर स्तोत्र (त्रय पद्यानुवाद)
5. गोम्मटेस स्तुति
6. द्वात्रिंशतिका (सामायिक पाठ)
7. विषापहार स्तोत्र
8. एकीभाव स्तोत्र
9. पञ्चमहागुरुभक्ति
10. तीर्थंकर जिनस्तुति
11. गणधरवलय स्तोत्र
12. कल्याणमंदिर स्तोत्र
13. परमानंद स्तोत्र
14. रयणसार
15. योगसार
16. उपासक संस्कार
17. देशव्रतोद्योतन
18. ज्ञानांकुश
19. दानोपदेश

बहुचर्चित भजन :

1. जीवन है पानी की बूँद (महाकाव्य)
2. कर तू प्रभु का ध्यान
3. ऋण मुक्ति का वर दीजिये
4. शान्तिनाथ कीर्तन
5. देश और धर्म के लिये जिओ
6. माँ

प्रेरणा से प्रकाशन :

1. सिर्फ दो प्रवचन (आचार्य विरागसागरजी, सम्पादक–आचार्य विमर्शसागर जी)
2. हिन्दी साहित्य की सन्त परम्परा में आचार्य विरागसागर जी के कृतित्त्व का अनुशीलन (डॉ. लोकेश खरे)
3. समसामयिक – आचार विद्वत् संगोष्ठी (कोटा)
4. पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय – राष्ट्रीय विद्वत् संगोष्ठी (शिवपुरी)
5. प्रज्ञाशील महामनीषी

प्रेरणा से स्थापित :

● **जिनागम पंथ ग्रंथमाला**

उद्देश्य : मूल जिनागम का संरक्षण, प्रकाशन

प्रचार–प्रसार एवं लोकोपयोगी धार्मिक, नैतिक साहित्य का निर्माण, प्रकाशन

विद्वत् संगोष्ठी :

1. समसामयिक – आचार विद्वत् संगोष्ठी (कोटा–2006)
2. पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय अनुशीलन राष्ट्रीय विद्वत् संगोष्ठी (शिवपुरी–2007)
3. जैन दर्शन में कर्म सिद्धान्त राष्ट्रीय विद्वत् संगोष्ठी (बड़ौत–2014)
4. जीवन है पानी की बूँद (महाकाव्य) राष्ट्रीय विद्वत् संगोष्ठी (बड़ा मलहरा–2016)
5. जीवन है पानी की बूँद (महाकाव्य) राष्ट्रीय विद्वत् संगोष्ठी (देवेन्द्रनगर–2016)
6. समसामयिक राष्ट्रीय विद्वत् संगोष्ठी एवं जैन पत्रकार, संपादक सम्मेलन (जबलपुर–2017)
7. आचार्यश्री विमर्शसागरजी कृत '**रयणोदय**' पर राष्ट्रीय विद्वत् संगोष्ठी एवं जैन पत्रकार, संपादक सम्मेलन (छिंदवाड़ा –2018)।
8. आचार्यश्री विमर्शसागरजी कृत '**ज़ाहिद की ग़ज़लें**' कृति पर साहित्यकार सम्मेलन (छिंदवाड़ा–2018)
9. आचार्यश्री विमर्शसागर जी कृत '**रयणोदय**' पर राष्ट्रीय विद्वत् संगोष्ठी (दुर्ग–2019)।
10. आचार्य श्री विमर्शसागर जी कृत '**अप्पोदया**' प्राकृत टीका पर राष्ट्रीय विद्वत् संगोष्ठी (गाजियाबाद–2022)

11. आचार्य श्री विमर्शसागर जी कृत '**अप्पोदया**' प्राकृत टीका पर राष्ट्रीय विद्वत् संगोष्ठी (जतारा-2023)

आनन्द महोत्सव (पूजन प्रशिक्षण शिविर)— आचार्यश्री के सानिध्य एवं निर्देशन में आयोजित '**आनन्द महोत्सव**' एक ऐसी प्रयोगशाला है जिसमें जैनधर्म के संस्कार एवं शिक्षा का प्रयोग करना सिखाया जाता है। यदि चेतनतीर्थ स्वरूप उपासक संस्कारित नहीं, तो अचेतनतीर्थ स्वरूप जिनमंदिरों का महत्व नहीं जाना जा सकता। आचार्यश्री जब अपने मधुर कंठ से शिविर का यथायोग्य संचालन करते हैं तब हर श्रावक भक्ति में ऐसा लीन हो जाता है कि 4-5 घंटे का भी पता नहीं चलता। आचार्यश्री के निर्देशन में आयोजित इस शिविर के माध्यम से आज हजारों लोग जैनत्व के संस्कारों से जुड़े हैं। अभी तक 24 पूजन शिविर आयोजित हो चुके हैं—

1. महरौनी (उ.प्र.)
2. वरायठा (म.प्र.)
3. अंकुर कॉलोनी, सागर (म.प्र.)
4. सतना (म.प्र.)
5. अशोकनगर (म.प्र.)
6. रामगंजमण्डी (राज.)
7. भानपुरा (म.प्र.)
8. सिंगोली (म.प्र.)
9. कोटा (राज.)
10. शिवपुरी (म.प्र.)
11. आगरा (उ.प्र.)
12. एटा (उ.प्र.)
13. डूंगरपुर (राज.)
14. अशोकनगर (म.प्र.)
15. बिजयनगर (राज.)
16. भिण्ड (म.प्र.)
17. बड़ौत (उ.प्र.)
18. टीकमगढ़ (म.प्र.)
19. देवेन्द्रनगर (म.प्र.)
20. जबलपुर (म.प्र.)
21. लखनादौन (म.प्र.)
22. छिंदवाड़ा (म.प्र.)
23. दुर्ग (छत्तीसगढ़)
24. फतेहपुर (उ.प्र.)

पंचकल्याणक गजरथ महोत्सव :

1. नेमिनाथ पंचकल्याणक एवं गजरथ महोत्सव-2002 (रजवांस, सागर, म.प्र.)
2. आदिनाथ पंचकल्याणक एवं गजरथ महोत्सव-2003 (महरौनी, ललितपुर, उ.प्र.)
3. आदिनाथ पंचकल्याणक, रथ महोत्सव-2004 (बूँदी, राज.)
4. आदिनाथ पंचकल्याणक, गजरथ महोत्सव-2007 (रामगंजमण्डी, कोटा ,राज.)
5. पार्श्वनाथ पंचकल्याणक, रथोत्सव-2007 (कोटा, राज.)
6. आदिनाथ पंचकल्याणक, गजरथ महोत्सव-2008 (शिवपुरी, म.प्र.)

7. आदिनाथ पंचकल्याणक, गजरथ महोत्सव–2009 (आगरा, उ.प्र.)
8. आदिनाथ पंचकल्याणक, गजरथ महोत्सव–2010 (एटा, उ.प्र.)
9. आदिनाथ पंचकल्याणक, त्रय गजरथ महोत्सव–2012 (जतारा, म.प्र.)
10. आदिनाथ पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव–2013 (तीर्थधाम आदीश्वरम् चंदेरी, म.प्र.)
11. आदिनाथ पंचकल्याणक प्रतिष्ठा, त्रय गजरथ महोत्सव–2015 (पृथ्वीपुर, म.प्र.)
12. आदिनाथ पंचकल्याणक प्रतिष्ठा, गजरथ महोत्सव–2015 (टीकमगढ़, म.प्र.)
13. आदिनाथ पंचकल्याणक प्रतिष्ठा, त्रय गजरथ महोत्सव–2015 (बैरवार, जतारा, म.प्र.)
14. आदिनाथ पंचकल्याणक प्रतिष्ठा, गजरथ महोत्सव–2018 (धनौरा, म.प्र.)
15. आदिनाथ पंचकल्याणक प्रतिष्ठा, रथ महोत्सव–2021 (महमूदाबाद उ.प्र.)
16. आदिनाथ पंचकल्याणक रथोत्सव, 2024 (कृष्णानगर, दिल्ली)

चातुर्मास :

1. मढ़ियाजी जबलपुर (म.प्र.)	—	1996
2. भिण्ड (म.प्र.)	—	1997
3. भिण्ड (म.प्र.)	—	1998
4. भिण्ड (म.प्र.)	—	1999
5. महरौनी (उ.प्र.)	—	2000
6. अंकुर कॉलोनी (सागर, म.प्र.)	—	2001
7. सतना (म.प्र.)	—	2002
8. अशोकनगर (म.प्र.)	—	2003
9. रामगंजमण्डी (राज.)	—	2004
10. सिंगोली (म.प्र.)	—	2005
11. कोटा (राज.)	—	2006
12. शिवपुरी (म.प्र.)	—	2007
13. आगरा (उ.प्र.)	—	2008
14. एटा (उ.प्र.)	—	2009
15. डूंगरपुर (राज.)	—	2010
16. अशोकनगर (म.प्र.)	—	2011
17. बिजयनगर (राज.)	—	2012

18.	भिण्ड (म.प्र.)	—	2013
19.	बड़ौत (उ.प्र.)	—	2014
20.	टीकमगढ़ (म.प्र.)	—	2015
21.	देवेन्द्रनगर (म.प्र.)	—	2016
22.	जबलपुर (म.प्र.)	—	2017
23.	छिंदवाड़ा (म.प्र.)	—	2018
24.	दुर्ग (छत्तीसगढ़)	—	2019
25.	बाराबंकी (उ.प्र.)	—	2020
26.	महमूदाबाद (उ.प्र.)	—	2021
27.	गाजियाबाद (उ.प्र.)	—	2022
28.	जतारा (म.प्र.)	—	2023
29.	कृष्णा नगर (दिल्ली)	—	2024
30.	सहारनपुर (उ.प्र.)	—	2025

वर्तमान संत संस्था में आचार्यश्री विमर्शसागर जी महाराज एक ऐसे श्रेष्ठ संत हैं जिनके पास ज्ञान संस्कार की चर्या एवं चर्चा देखने-सुनने को मिलती है। कम बोलना लेकिन काम का बोलना आचार्यश्री की अपनी विशिष्ट शैली है। प्रवचनों में सकारात्मक चिंतन को परोसने वाले हित-मित प्रियभाषी, ''जिनागम पंथ प्रवर्तक'' आचार्यश्री पंथवाद- संतवाद-जातिवाद की भी खूब खबर लेते हैं। सच्चे संतत्व को प्रकाशित करनेवाले आचार्यश्री कहते हैं, पंथ-संत-जातिवाद को बढ़ावा देनेवाले श्रमण एवं श्रावक जिनधर्म के विनाशक होंगे। आचार्यों की अपनी-अपनी आचार्य परम्परा से श्रावक साधुओं के प्रति अश्रद्धानी होंगे, साथ ही सामाजिक समरसता, एकता नष्ट होगी। सचमुच आचार्यश्री का चिन्तन भविष्य की व्याख्या कर रहा है। आचार्यश्री का सरल-सौम्य व्यक्तित्त्व एवं पूर्वापर चिंतन ही आचार्यश्री की अलग पहचान है। ऐसे युगचेता संत के चरणों में हम बारम्बार नमन करते हैं।

-श्रमण विचिन्त्यसागर (संघस्थ)

पूज्य गुरुदेव से संबंधित अन्य साहित्य

जीवनी साहित्य :

1. राष्ट्रयोगी : लेखक–श्री सुरेश 'सरल' जबलपुर (म.प्र.)
2. आँगन की तुलसी : लेखक–प्राचार्य श्री निहाल चन्द जैन, बीना (म.प्र.)
3. जतारा का ध्रुवतारा : लेखक–श्री कपूर चंद जैन 'बंसल', जतारा (म.प्र.)
4. भावलिंगी संत (महाकाव्य) : लेखक–श्रमण विचिन्त्यसागर मुनि (संघस्थ)
5. विमर्श धाम (महाकाव्य) : लेखक–पं. संकेत जैन 'विवेक', देवेन्द्रनगर (म.प्र)
6. सर्वोदयी संत (महाकाव्य) : लेखक–श्री ज्ञानचन्द जैन 'दाऊ', सागर (म.प्र.)
7. विमर्श महाभाष्य : लेखक–पं. संकेत जैन 'विवेक', देवेन्द्रनगर (म.प्र.)
8. विमर्श वाटिका : लेखक–श्री कपूर चंद जैन 'बंसल', जतारा (म.प्र.)
9. विमर्श भक्ति शतक : लेखिका–श्रीमती स्मृति जैन 'भारत', अशोकनगर (म.प्र.)
10. विमर्श शतक : लेखक–पं. ब्रजेन्द्र जैन, देवेन्द्र नगर (म.प्र.)
11. विमर्श वंदना : लेखक–कवि शशिकर 'खटका', राजस्थानी, बिजयनगर (राज.)
12. विमस्स महाकव्वं : लेखक–डॉ. उदयचन्द्र जैन उदयपुर (राज.)

विधान :

1. आचार्य विमर्शसागर विधान : लेखक–श्रमण विचिन्त्यसागर मुनि (संघस्थ)
2. संकट मोचन तारण हारे-गुरु विमर्श विधान : लेखक–पं. संकेत जैन 'विवेक' देवेन्द्रनगर (म.प्र.)

स्मारिकायें :

1. विमर्श वारिधि (बिजयनगर चातुर्मास 2012, स्मारिका)
2. विमर्श प्रवाह (बड़ौत चातुर्मास 2014, स्मारिका)
3. विमर्श गीतिका (टीकमगढ़ चातुर्मास 2015, स्मारिका)
4. विमर्शानुभूति (देवेन्द्रनगर चातुर्मास 2016, स्मारिका)
5. विमर्श वात्सल्य (जबलपुर चातुर्मास 2017, स्मारिका)
6. विमर्श प्रभा (छिंदवाड़ा चातुर्मास 2018, स्मारिका)



बहुचर्चित 'जीवन है पानी की बूँद' (महाकाव्य) का उद्भव मूल रचयिता की कलम से...

बात 1997 भिण्ड चातुर्मास की है-

सूरज गुनगुनी धूप लेकर क्षितिज पर चमकने लगा। परम पूज्य गुरुदेव आचार्य श्री विरागसागर जी महाराज अपने विशाल संघ के साथ प्रभातकालीन आवश्यक भक्ति क्रिया से निवृत्त हो चुके थे। प्रतिदिन की भाँति परम पूज्य गुरुदेव अपने विशाल संघ के साथ नित्य क्रिया हेतु नसियाँ जी की ओर बढ़ते जा रहे थे।

पूज्य गुरुदेव के साथ मैं भी यथाक्रम ईर्यासमिति से चल रहा था और काव्य में रुचि होने के कारण चिंतन को आध्यात्मिक अनुभूतियों से स्नान करा रहा था। तभी अचानक चिंतन की गर्भस्थली में एक पंक्ति '**जीवन है पानी की बूँद, कब मिट जाये रे**' का प्रसव हुआ, और मैं इस प्रसव की परमानंद अनुभूति का बारम्बार अनुभव करता हुआ स्मृति के दिव्य द्वार तक पहुँच गया। मैंने कभी 'होनी-अनहोनी' सीरियल देखा था, अत: होनी-अनहोनी शब्द को अपने काव्य में स्थान देने का विचार करता था, तभी अचानक नित्य क्रिया से लौटते समय चिंतन की गर्भस्थली से जुड़वाँ पंक्ति '**होनी-अनहोनी, हो-हो-2 कब क्या घट जाये रे**' का प्रसव हुआ। मैं दोनों जुड़वाँ पंक्तियों का अनुभव करता हुआ, अंतरंग में गुरु आशीष की श्रद्धा से भर गया। अत: इस आध्यात्मिक भजन को पूर्ण करने में उपयोग लगाया। भजन की पूर्णता होते ही मैं पूज्य गुरुदेव के श्री चरणों में पहुँचा और विनयपूर्वक अपना चिंतन मधुर स्वर में गुरु चरणों में समर्पित किया। सच कहूँ, गुरुदेव ने अत्यंत आह्लाद से भरकर मुझे शुभाशीष दिया। गुरु का वह मंगल आशीष ही है कि इस आध्यात्मिक भजन ने सभी के कंठ को स्पर्शित किया और इस समय का बहुचर्चित भजन कहलाया। जैन हों या अजैन सभी ने इसे समभाव से स्वीकारा और मुझे अत्यंत श्रद्धा और प्यार से '**जीवन है पानी की बूँद**' चिंतन के प्रणेता, इस नाम से पुकारने लगे।

यद्यपि इस भजन को जब अन्य साधु, विद्वान्, गीतकार, गायक, अपनी प्रशंसा के लिए अपनी रचना कहकर बोलने लगे, तब पूज्य गुरुदेव सूरिगच्छाचार्य श्री विरागसागर जी को यह कहना पड़ा, कि '**जीवन है पानी की बूँद**' भजन तो विमर्शसागर जी की मूल गाथाएँ है जिस पर अन्य साधु, विद्वान्, गायक तो मात्र टीकायें लिख रहे हैं।

-श्रमणाचार्य विमर्शसागर

जीवन है पानी की बूँद (महाकाव्य)

मूल रचयिता : श्रमणाचार्य विमर्शसागर

जीवन है पानी की बूँद, कब मिट जाये रे–ऽऽ
होनी–अनहोनी, हो–हो–2-कब क्या घट जाये रे ऽऽ

साथ निभायेगा बेटा, सोच रहा लेटा–लेटा।
हाय बुढ़ापा आयेगा, पास न आयेगा बेटा।
ख्वाबों में तू क्यों, हो–हो–2 आनन्द मनाये रे ऽऽ

अर्द्धमृतकसम वृद्धापन, झुकी कमर सिकुड़न–सिकुड़न।
गोदी में पोता–पोती, खोज रहा बचपन यौवन।
बीते जीवन के, हो–हो–2 तू गीत सुनाये रे ऽऽ

हाथों में लकड़ी थामी, चाल हो गई मस्तानी।
यम के घर खुद जाने की, जैसे मन में हो ठानी।
बेटा बहु सोचें, हो हो–2 डोकरो कब मर जाये रे ऽऽ

चारपाई पर लेटा है, पास न बेटी–बेटा है।
चिल्लाता है पानी दो, कोई न पानी देता है।
भूखा प्यासा ही, हो–हो–2 इक दिन मर जाये रे ऽऽ

जीवन बीता अरहट में, पुण्य–पाप की करवट में।
चढ़कर अर्थी पर जाये, अन्त समय भी मरघट में।
तेरा ही बेटा, हो–हो–2 तेरा कफन सजाये रे ऽऽ

सिर पर जिसे बिठाया है, गोदी में भी खिलाया है।
लाड़ प्यार से पाला है, सुख की नींद सुलाया है।
तेरा ही बेटा, हो–हो–2 तुझे आग लगाये रे ऽऽ

जिसके लिए कमाता है, जीवन साथी बताता है।
जिसकी चिन्ता कर करके, अपना चैन गँवाता है।
देहरी से बाहर, हो–हो–2 वो साथ न जाये रे ऽऽ

कर तू प्रभु का ध्यान

रचयिता : श्रमणाचार्य विमर्शसागर

कर तू प्रभु का ध्यान - बाबा, कर तू प्रभु का ध्यान।
निज घट में भगवान - बाबा, निज घट में भगवान॥

काँटों में भी जीवन तेरा, फूलों सा खिल जायेगा।
खोज रहा है जिसको तू वह, पलभर में मिल जायेगा।
खुद को तू पहिचान - बाबा, खुद को तू पहिचान ॥ 1 ॥

धन-वैभव यह महल-खजाना, कुछ भी साथ न जायेगा।
सुबह खिला जो फूल बाग में, साँझ समय मुरझायेगा।
कर ले धर्मध्यान- बाबा, कर ले धर्मध्यान ॥ 2॥

कभी किसी का दिल दुःख जाये, ऐसे बोल कभी मत बोल।
घावों पर मल्हम बन जायें, ऐसे बोल बड़े अनमोल।
कहलाता यह ज्ञान - बाबा, कहलाता यह ज्ञान ॥ 3॥

माता-पिता, बड़ों का आदर, धर्ममार्ग पर चलो सदा।
गुरुजन की नित सेवा करना, श्रावक का कर्तव्य कहा।
पाओगे सम्मान - बाबा, पाओगे सम्मान॥ 4॥

हिंसा, झूठ, कुशील, परिग्रह, चोरी यह मत पाप करो।
पाप विनाशक, धर्म प्रकाशक, णमोकार का जाप करो।
हो सम्यक् श्रद्धान- बाबा, हो सम्यक् श्रद्धान ॥ 5॥

राग-द्वेष भावों के कारण, भवसागर में डूब रहा।
गँवा रहा भोगों में जीवन, मन फिर भी न ऊब रहा।
क्यों बनता नादान - बाबा, क्यों बनता नादान ॥ 6॥

जिसको अपना कहा आज तक, हुआ कभी ना वह अपना।
जिसकी खातिर जिया आज तक, निकला वह सुंदर सपना॥
क्यों तू करे गुमान - बाबा, क्यों तू करे गुमान ॥ 7 ॥

मेंढक ने प्रभु ध्यान किया जब, मरकर देव हुआ तत्काल।
समवसरण में प्रभु को ध्याया, जीवन उसका हुआ निहाल।
मिट जाये अज्ञान - बाबा, मिट जाये अज्ञान ॥ 8 ॥

शान्तिनाथ कीर्तन

रचयिता : श्रमणाचार्य विमर्शसागर

जय हो, जय हो, जय हो, जय हो, जय हो, भगवन्–2
जय हो, जय हो, जय हो, जय हो, शान्ति भगवन्।

हम आये हैं – द्वार तुम्हारे–2
दे दो प्रभु जी – हमको सहारे–2
शान्तिनाथ भगवन्–भगवन्–भगवन्ऽऽ
जय हो.....

छवि वीतरागी–प्यारी प्यारी लागे–2
दरश जो पाया–धन्य भाग जागे–2
चरणों करुँ नमन–नमन–नमनऽऽ
जय हो.....

सर्वज्ञ स्वामी–शरण में आया–2,
कहीं न मिला जो–वह सुख पाया
हर्षित हुए नयन–नयन–नयनऽऽ
जय हो.....

हित उपदेशी–आप कहाते–2
हम गुण गाने–भक्त बन जाते–2
छोड़ूँ न अब चरण–चरण–चरणऽऽ
जय हो.....

अहार जी के – बाबा कहाते–2
यक्ष यक्षिणी भी–सिर को नवाते–2
झुकते हैं मुनिगण–मुनिगण–मुनिगणऽऽ
जय हो.....

दुखिया हो कोई–द्वार पे आये–2
हँसता हुआ ही–द्वार से जाये–2
श्रद्धा हो पावन–पावन–पावनऽऽ
जय हो.....

भावलिंगी संत श्रमणाचार्य श्री विमर्शसागर जी महामुनिराज ऐसे प्रथम दिगम्बराचार्य हैं, जिनकी यह रचना म.प्र. शिक्षा बोर्ड ने कक्षा ग्यारहवीं की पुस्तक 'मकरन्द' में शामिल की है।

देश और धर्म के लिये जिओ

देश और धर्म के लिए जिओ - 2

हर कदम-कदम पे सबको साथ ले
एकता अखण्डता की बात ले
शुभ - पवित्र लक्ष्य के लिए जिओ
देश.....

मातृभूमि पर भी हमको गर्व हो
मातृभूमि रक्षा एक पर्व हो
ऐसे राष्ट्र पर्व के लिए जिओ
देश.....

श्रम सभी का एक मूलमंत्र हो
श्रम के लिए हर मनुज स्वतंत्र हो
लोकलाज शर्म छोड़कर जिओ
देश.....

हो अनाथ दुखिया अगर राह में
हो सहानुभूति हर निगाह में
करुणा और प्रेम के लिए जिओ
देश.....

भाईचारा सबके दिल में हो सदा
कटुता घृणा बैरभाव हो विदा
जीना, श्रेष्ठ कर्म के लिए जिओ
देश.....

भावलिंगी संत श्रमणाचार्य श्री विमर्शसागर जी महामुनिराज ऐसे प्रथम दिगम्बराचार्य हैं, जिनकी यह रचना म.प्र. शिक्षा बोर्ड द्वारा कक्षा आठवीं की एटग्रेड अभ्यास पुस्तिका 'भाषा भारती' में प्रकाशित की गई है।

''माँ''–एक सुखद अनुभूति का एहसास

रचयिता : श्रमणाचार्य विमर्शसागर

बेटा हो दु:ख-पीड़ा में, माँ बन जाती दीवार।
माँ के प्यार सा इस दुनियाँ में, नहीं किसी का प्यार।।
ओ - ऽऽ माँ, प्यारी माँ - 2

माँ की गोदी में बेटा जब चैन से सोता है।
बेटा जैसा और किसी का पुण्य न होता है।।
किलकारी भर-भरकर माँ का, करता है दीदार।
माँ के प्यार सा....

बेटा जब-जब रोता है, माँ लोरी गाती है।
भूखी-प्यासी रहकर भी माँ, दूध पिलाती है।।
चंदा-सूरज अश्रु बहाते, पाने माँ का प्यार ।
माँ के प्यार सा.....

कोठी - बँगला रुपया-पैसा, सब ऐशो-आराम।
माँ बिन सूना घर का आँगन, माँ को करो प्रणाम।।
माँ ही घर की तुलसी है, रौनक, घर का शृंगार।
माँ के प्यार सा....

जीवन -संगिनी पाकर माँ का प्यार भुलायेगा।
घर में दीवाली होगी पर खुशी न पायेगा।।
माँ ही घर की दीवाली, होली, घर का त्यौहार।
माँ के प्यार सा.....

अपनी खुशियाँ कर न्यौछावर, देती है खुशियाँ।
बेटा समझे, न समझे, समझे न यह दुनियाँ।।
माँ चलती काँटों पर, देती फूलों का उपहार ।
माँ के प्यार सा....

दुनियाँ छूट भी जाये, माँ का कभी न छूटे साथ।
माँ ने पकड़ा हाथ हमारा, पकड़ो माँ का हाथ।।
सब तीरथ माँ चरणों में, बन जाओ श्रवण कुमार।
माँ के प्यार सा.....

राम, कृष्ण, महावीर ने माँ का मान बढ़ाया है।
जाँ देकर आजाद भगत ने, माँ को पाया है।।
सदा चिरायु, सुखी रहो, भारत माँ करे पुकार ।
माँ के प्यार सा.....

वर्तमान में जातिवाद-पंथवाद में बँटती हुई जैन समाज का ध्यान
आकर्षित करनेवाली और सम्यक् बोध प्रदान करनेवाली
भावलिंगी संत श्रमणाचार्य
श्री विमर्शसागर जी महाराज द्वारा रचित पंक्तियाँ

(1)

तेरा और बीस पंथ, उलझे हैं श्रावक संत,
कोई तेरा कोई बीस करते बढ़ाई हैं।
करते हैं राग-द्वेष, जानें नहीं धर्म लेश,
मंदिरों में खींचतान करते लड़ाई हैं ॥
कर रहे धर्म लोप, मानते हैं धर्म गोप,
एक दूसरे के अहंकार की चढ़ाई है।
तेरा - बीस के बयान, जैसे हिन्द - पाकिस्तान
हाय जैन एकता भी आज लड़खड़ाई है ॥

(2)

कोई हैं बघेरवाल, कोई खण्डेलवाल,
कोई अग्रवाल तो कोई परवार हैं।
कोई-कोई जैसवाल, कोई-कोई ओसवाल,
कोई पोरवाल कोई गोल शृंगार हैं ॥
बंद हुये बोलचाल, वाल की खड़ी दीवाल,
जातियों का भूत सबके ही सिर सवार है।
मंदिरों में अब जैन कहीं दिखते ही नहीं,
मंदिरों पे अब जातियों का अधिकार है ॥

(3)

जातिमद चढ़ रहा, पंथभेद बढ़ रहा,
जहाँ देखो वहाँ राग-द्वेष की ही बात है ।
महावीर हुये खण्डेलवाल, अग्रवाल,
आदि-आदि मंदिरों पे लिखा ये दिखात है ॥
कहीं महावीर हुये तेरा पंथी, बीस पंथी,
धर्मात्माओं ने भी दी क्या सौगात है।
सोचा जब मैं भी महावीर को पहचान दूँ,
तो धरा महावीर रूप, मेरी क्या औकात है ॥

प.पू. भावलिंगी संत श्रमणाचार्य श्री विमर्शसागर जी महामुनिराज ऐसे प्रथम दिगम्बर जैनाचार्य हैं, जिनके द्वारा श्रमण परम्परा के इतिहास में प्रथम बार सन् 2011 में नूतन लिपि का सृजन किया गया, जिसे 'विमर्श लिपी' संज्ञा दी गई

विमर्श लिपि

	अ	आ	इ	ई	उ	ऊ	ए
विमर्श लिपि (स्वर)							
विमर्श लिपि (स्वर मात्रा)							

	एं	ऐ	ओ	ऑ	औ	अं	अः
विमर्श लिपि (स्वर)							
विमर्श लिपि (स्वर मात्रा)							

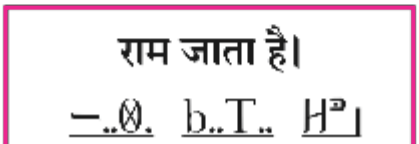
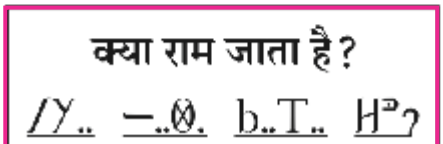
ऋ	ॠ	ऌ	ॡ

व्यंजन

क वर्ग	क	ख	ग	घ	ङ
विमर्श लिपि					
च वर्ग	च	छ	ज	झ	ञ
विमर्श लिपि					
ट वर्ग	ट	ठ	ड	ढ	ण
विमर्श लिपि					
		ड़ →		 ←	ढ़

त वर्ग	त	थ	द	ध	न
विमर्श लिपि					
प वर्ग	प	फ	ब	भ	म
विमर्श लिपि					
अंतस्थ	य	र	ल	व	
विमर्श लिपि					
ऊष्माण	श	ष	स	ह	
विमर्श लिपि					
संयुक्त	क्ष	त्र	ज्ञ		
विमर्श लिपि					

विमर्श लिपि में शब्द के नीचे लाईन होती है।
चिन्ह भी लाईन पर ऊपर नीचे आगे–पीछे रहता है।
जैसे

राम जाता है।	क्या राम जाता है?
	

शांति भक्ति का अतिशय देख रोमांचित हूँ

●श्रमणाचार्य विमर्शसागर

संसारी जीव एक व्यापारी की तरह है, जो नित्य शुभ और अशुभ कर्म का संचय करता है, उनका फल भोगता है। अशुभ कर्म का फल दु:ख है, शुभ कर्म का फल सुख। मोक्षमार्ग शुभाशुभ कर्म से मुक्त अतीन्द्रिय सुख का साधन है। मोक्षमार्गी साधक प्रधानतया अतीन्द्रिय सुख के मार्ग का आश्रय करते हैं। कदाचित् शुभमार्ग का आश्रय कर अशुभ कर्म की शान्ति का उपाय भी करते हैं, जिनधर्म की प्रभावना करते हैं। जैसे 48 कोठरी में बंद आचार्य मानतुंग स्वामी ने आदिनाथ स्तुति की और ताले स्वयमेव खुल गये। आचार्य वादिराज स्वामी ने जिनस्तुति की और कुष्ठ रोग तत्काल ठीक हो गया। आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने शांति स्तुति की और नेत्र ज्योति आ गई। कवि धनंजय ने आदि स्तुति की और पुत्र का विष तत्काल शान्त हो गया, पुत्र मानो सोते से जाग गया, जिनधर्म की भी महाप्रभावना हुई।

सच 25.12.2015 का दिन मैं कभी भूल नहीं सकता जब दोपहर सामायिक हेतु चतुर्दिक् कायोत्सर्ग कर मैं बैठने ही वाला था कि 15 दिन से अत्यन्त अस्वस्थ आँचल दीदी अर्थात् विशु दीदी (वर्तमान में आर्यिका विमर्शिता श्री माताजी) को संघस्थ दीदियाँ व्हीलचेयर से आशीर्वाद हेतु लाईं। पैरालाइसिस जैसी शिकायत होने से पैर-हाथ से तो असमर्थता थी ही, आज आँखों से दिखना एवं कानों से सुनना भी बंद हो गया था। अत्यन्त दयनीय हालत में दीदी को देखकर हृदय करुणा से द्रवित हो उठा। मन ही मन भगवान शांतिनाथ का स्मरण कर प्रभु से बोला– 'हे नाथ! 22 वर्षीय असाध्य रोग से पीड़ित आँचल दीदी की अस्वस्थता आँखों से देखी नहीं जाती। प्रसिद्ध डॉक्टर्स भी स्पष्ट मना कर चुके हैं कि दीदी अब कभी स्वस्थ नहीं हो सकतीं। हमारे मेडिकल साइंस में यह प्रथम केस है कि दीदी की रिपोर्ट नॉर्मल है और अस्वस्थता बढ़ती जा रही है। हे प्रभो! अब तो एकमात्र आपकी भक्ति ही शरण है। सच्चा भक्त आपकी भक्ति के फल से जब पूर्ण निरामय अवस्था को प्राप्त कर सकता है, तो इस रोग से मुक्ति क्यों नहीं मिलेगी।' मैं अत्यन्त करुणा से भरा हुआ आँचल दीदी से बोला–बेटा! मैं तुम्हें शांतिभक्ति सुना रहा हूँ, मेरी आज की यही सामायिक है, मैं भगवान् शांतिनाथ को हृदयकमल पर विराजमान करके आचार्य भगवन् पूज्यपाद स्वामी का भक्ति से स्मरण कर, पूज्य आचार्य गुरुदेव विरागसागर जी का आशीष अनुभव कर अत्यन्त तन्मयता के साथ शांतिभक्ति का

उच्चारण करने लगा। अपूर्व विशुद्धि अनुभव हो रही थी, रोम-रोम भक्ति रस में सराबोर था। तभी अचानक आँचल दीदी की आँखों में नेत्र ज्योति आ गई, कानों से स्पष्ट सुनाई देने लगा, मुख का टेढ़ापन दूर हो गया और निश्चल हाथ की अंगुलियाँ स्वयमेव खुल गईं, हाथ भी सहज चलने लगा। कमरे में जितने लोग थे, सभी जय-जयकार करने लगे। शांतिभक्ति का अतिशय देख सभी रोमांचित हो गये। आँचल दीदी बोलीं—गुरुदेव! मेरा चेहरा पहले जैसा हो गया है। मैं पहले की तरह ही बोल रही हूँ न। मुझे पहले की तरह ही दिखाई एवं सुनाई भी दे रहा है। मैंने कहा—बेटा! यह सब भगवान् शांतिनाथ की कृपा है। आँचल दीदी बोलीं—गुरुदेव! अब तो मैं आहार का शोधन भी कर सकती हूँ, और हाथों से आहार दे भी सकती हूँ। तभी उनका ध्यान अपने संवेदना शून्य पैर पर गया, बोलीं—गुरुदेव! यदि मेरा पैर भी ठीक हो जाता तो मैं आपको जल्दी आहार दे पाती। मैंने कहा—बेटा! भगवान् शांतिनाथ की भक्ति से वह भी शीघ्र ठीक होगा। मैंने पुनः दीदी को शांतिभक्ति सुनाना शुरू किया, दीदी भी साथ पढ़ने लगीं। अहो! अद्भुत आनन्द रस बहने लगा प्रभु की भक्ति करते। तभी दीदी के पैर की अंगुलियाँ चलने लगीं और दीदी अपने पैरों पर खड़ी हो गईं। व्हीलचेयर को पीछे धकेल दिया और कमरे में ही चलने लगीं। अभी शांतिभक्ति पूर्ण नहीं हुई थी, अतः मैंने कहा—बेटा! भक्ति कर लो। सभी ने भावपूर्वक शांतिभक्ति पूर्ण की। आँचल दीदी बोलीं—गुरुदेव! ऐसा लग रहा है मानो सोकर उठी हूँ। गुरुदेव! मैं तो बिल्कुल ठीक हो गई। मैंने कहा—बेटा! शांतिभक्ति के प्रसाद से तुम ठीक हुई हो। दीदी बोलीं—गुरुदेव सब आपकी ही कृपा है।

कमरे में दीदी के माता-पिता भी उपस्थित थे। यह भक्ति का चमत्कार देख उनकी आँखों से खुशी के आँसू ढुलक रहे थे। मैंने कहा—अब सभी लोग भगवान् शांतिनाथ के पास चलेंगे। एक बार वहाँ भी शांतिभक्ति का पाठ करेंगे। दीदी ने कहा—अब मैं व्हीलचेयर से नहीं, पैदल ही चलूँगी। अहो! दीदी को पैदल चलते देख उपस्थित सैकड़ों भक्तजन आश्चर्य करने लगे। हमने शांति जिनालय में पुनः शांतिभक्ति का पाठ किया और भगवान् शांतिनाथ के चरणों का भावपूर्वक स्पर्शकर आँचल दीदी को एवं संघस्थ सभी साधुओं को आशीर्वाद दिया। फिर हम सभी प.पू. सूरिगच्छाचार्य गुरुदेव श्री विरागसागर जी के पास पहुँचे, वहाँ दीदी ने आचार्य वंदना की। पूज्य गुरुदेव ने मंगल आशीर्वाद दिया, और कहा—'अहारजी में घटी यह अतिशयकारी घटना यहाँ चिरकाल तक गुंजायमान होती रहेगी।'

सच, मैं बेहद रोमांचित और आनंदित हूँ। शांतिभक्ति का पाठ करते समय जो विशुद्धि

और आनंद का अनुभव हुआ, वह शब्दों से व्यक्त नहीं किया जा सकता। भक्ति का यह अतिशय चमत्कार स्मृति पटल पर बार-बार आता ही रहता है। जिनेन्द्र भक्ति का माहात्म्य यही तो है-

विघ्नौघा प्रलयं यान्ति, शाकिनी भूत पन्नगाः।
विषं निर्विषतां याति, स्तूयमाने जिनेश्वरे॥

अर्थात् जिनेश्वर की स्तुति करने पर विघ्नों का समूह तथा शाकिनी, भूत, सर्प आदि की बाधाएँ क्षणभर में क्षय को प्राप्त हो जाती हैं और विष भी निर्विषता को प्राप्त होता है।

❑❑❑



जानें, क्या है जिनागम पंथ ?

●श्रमणाचार्य विमर्शसागर

'जिनागम पंथ' अनादि - अनिधन, विश्व मैत्री, प्रेम, एकता का परम पावन संदेश है, जो तीर्थंकर भगवंत,केवली अरिहन्त, गणधर संत, आचार्य- उपाध्याय-निर्ग्रंथ के मुख से अतीतकाल में कहा गया, वर्तमान में कहा जा रहा है और भविष्यकाल में कहा जायेगा।

अहो! तीर्थंकर जिन की वाणी यानि जिनवाणी, जिनश्रुत, जिनागम और इसमें वर्णित आत्महितकारी पंथ, मार्ग। यही है जिनागम पंथ ।

अहो! जिनागम में कथित पंथ अर्थात् मार्ग, यही सच्चा था, सच्चा है और सच्चा रहेगा। तीर्थंकर सर्वज्ञ जिन की वाणी ही जिनागम है। और जिनागम में कथित श्रमण-श्रावक धर्म यह पंथ अर्थात् मार्ग है। जो श्रमण-श्रावक धर्म के मार्ग पर चल रहा है वह जिनागम पंथ का पथिक 'जिनागम पंथी' है।

सचमुच, जिनागम पंथ शाश्वत था, शाश्वत है, शाश्वत रहेगा। जो जिनागम पंथ का पथिक है वह सम्यग्दृष्टि, श्रावक अथवा श्रमण संज्ञा को प्राप्त जिनागम पंथी है। जो जिनागम पंथ की श्रद्धा से रहित है वह मिथ्यादृष्टि है।

अहो! विदेह क्षेत्र में विराजित विद्यमान बीस तीर्थंकरों के मुख से गणधरादि परमेष्ठी भगवंतों के द्वारा आज भी जिनवाणी, जिनश्रुत, जिनागम प्रगट हो रहा है ।

धन्य हैं, वे भव्य जीव जो जिनागम कथित समीचीन पंथ अर्थात् जिनागम पंथ को स्वीकार कर अनादि मोह, राग-द्वेष की परम्परा का विच्छेदन कर आत्मकल्याण कर रहे हैं। अहो!

जिनागम पंथ के अलावा अन्य कोई कल्याण का मार्ग नहीं है। जिनागम पंथ के अलावा अन्य पंथ उन्मार्ग हैं, अकल्याणकारी हैं।

जयदु जिणागम पंथो, रागद्दोसप्पणासगो सेयो।
पंथो तेरह - बीसो, रागादि - वड्ढिओ असेयो ॥

जो रागद्वेष का नाश करनेवाला है, कल्याणकारी है, ऐसा 'जिनागम पंथ जयवंत हो'। इसके अलावा तेरहपंथ, बीसपंथ आदि पंथ, रागद्वेष को बढ़ाने वाले हैं, अकल्याणकारी हैं।

अहो! कालदोष के कारण कतिपय विद्वानों ने तीर्थंकर जिनदेव के मुख से भाषित अर्थात् सर्वांग से खिरनेवाली दिव्यध्वनि में कथित जिनागम पंथ से बाह्य तेरहपंथ, बीसपंथ, शुद्ध तेरहपंथ आदि नाना पंथों की संज्ञाएँ रखकर परस्पर रागद्वेष को जन्म दिया है। कुछ विद्वान एवं श्रमण संज्ञा से भूषित जीवों ने भी ख्याति-पूजा-लाभ के लिए नये-नये पंथ गढ़कर भव्य जीवों का महान अहित किया है।

अहो! अज्ञानता, आज ये जीव इन नाना संज्ञाओं से पंथों का पोषणकर जिनागम पंथ से दूर खड़े हो गये हैं और कल्पित पंथों का पोषणकर अपना आत्मपतन ही कर रहे हैं। तेरह - बीस आदि संज्ञाएँ जिनेन्द्र देव की वाणी से बाह्य हैं। ये जिनागम पंथ से बाह्य पंथ ही वर्तमान में रागद्वेष का कारण बने हुये हैं। चारों तरफ समाज में विघटन, मंदिरों में खींचतान, इन कल्पित तेरह-बीस आदि पंथों की ही देन है। जिनागम पंथ सभी को एक सूत्र में बाँधकर मैत्री, प्रेम, वात्सल्य का संदेश देता है।

अहो! आज भी यदि स्वकल्पित पंथों का दुराग्रह छोड़कर सब जीव जिनेन्द्रदेव की वाणी यानि जिनवाणी, जिनागम में श्रद्धा रखें और जिनागम वर्णित पंथ यानि 'जिनागम पंथ' को सच्ची श्रद्धा से स्वीकारें, तो सर्व समाज में आज भी एकता का सूत्रपात हो सकता है। आपस के रागद्वेष मिट सकते हैं और जिनशासन गौरवान्वित हो सकता है।

'जयदु जिणागम पंथो ।'
'जिनागम पंथ जयवंत हो।'

❑❑❑

आइरिय-विमरससायरेण विरइदा

सरूव थुदी

उवओगमओ अप्पा अहं, जाणगसरूवो मम अहा।
णिद्दंदो अहमणिबंधो हं, आणंदकंद-सहज-महा।।
जाणिय सया दु संतमओ, णिय संतरस-पीउं सया।
णिय संतरस-लीणम्मि हं, णिय चेद-धुवरूवो अहा।।1।।

महसु असंखपदेसेसुं, भयवंत - अप्पा णिवसदि।
हं हुवमि परमप्पा सयं, परमप्प-रूवो विलसदि।।
हं सिद्धकुल-अंसो हुवमि, हु दंसावदि भविदव्वदा।
णिय सत्ति-अंसदो सिद्धो हं, दव्वस्स णिय णिय दव्वदा।।2।।

रागादि-भाव दु विगडीआ, दव्वम्मि णिय णवि दंसणं।
परदव्व-परभावाण दु, रूवम्मि चिद णवि फंसणं।।
पुहु सव्वदो विर सव्वदो, अवियाररूवो मम अहा,
हं पूर-सहजसहावदो, जो हु वीदरागमओ कहा।।3।।

गुण - दव्वदो हं धुवमहा, परिणमं णियदं पत्तो हं।
परिणदं अत्तमओ खलु, सत्तीए णियदओ अत्तो हं।।
कारण सयं हं कज्जमवि, सिवमग्गो मग्गफलं सयं।
हं भावलिंगी संतो जाणग- हुवमि सफल हु जीवणं।।4।।

भावलिंगी संत का स्वरूप

देहादि संग रहिओ, माणकसाएहिं सयल परिचत्तो।
अप्पा अप्पम्मि रओ, स भावलिंगी हवे साहू ।।56।
- अष्टपाहुड

अर्थ – देहादि संग (परिग्रह) से रहित और मान कषाय के साथ सकल कषाय से रहित हो आत्मा अपनी आत्मा में लीन होता है वही भावलिंगी साधु होता है।

आचार्य विमर्शसागर विरचित

स्वरूप स्तुति

हूँ आत्मा उपयोगमय, ज्ञायक स्वभाव मेरा अहा।
निर्द्वन्द हूँ निर्बन्ध हूँ, आनन्दकन्द सहज अहा।।
नित शान्तरसमय जानकर, निज शान्तरस नित पानकर।
निज शांतरस में लीन हूँ, ध्रुवरूप निज अनुभव अहा।।1।।

मेरे असंखप्रदेश में, भगवान् आतम बस रहा।
मैं हूँ स्वयं परमात्मा, परमात्मरूप विलस रहा।।
हूँ सिद्धकुल का अंश मैं, बतला रही भवितव्यता।
मैं सिद्ध शक्ति अंश से, निजद्रव्य की निज द्रव्यता।।2।।

रागादि भाव विकार का, निजद्रव्य में दर्शन नहीं।
परद्रव्य या परभाव का, चित् रूप स्पर्शन नहीं।।
सबसे पृथक् सबसे विलग, अविकार रूप मेरा अहा।
मैं पूर्ण सहज स्वभाव से, जो वीतरागमयी कहा।।3।।

हूँ द्रव्य–गुण से ध्रुव अहा, नित परिणमन को प्राप्त हूँ।
परिणमन निश्चय आप्तमय, शक्ति से निश्चय आप्त हूँ।।
कारण स्वयं हूँ कार्य भी, शिवमार्ग स्वयं हूँ मार्गफल।
मैं भावलिंगी संत हूँ, ज्ञायक हूँ मैं, जीवन सफल।।4।।

दिगम्बर साधु के समान कोई नहीं

साधुश्चारित्रहीनोऽपि समानो नान्यासाधुभिः।
भग्नोऽपि शातकुम्भस्य कुम्भो मृत्सना घटैरिव।।

अर्थ – प्रशंसनीय चारित्र से रहित होने पर भी दिगम्बर साधु अन्य साधुओं के समान नहीं होता जैसे कि सुवर्ण का घट फूट जाने पर भी मिट्टी के घटों के समान नहीं होता।

संपादकीय

डॉ. श्रेयांस कुमार जैन
अध्यक्ष–अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन शास्त्रि परिषद्

अध्यात्म विद्या के पुरस्कर्ता श्रीमदाचार्य कुन्दकुन्द देव प्रणीत विविध रचनाओं में श्रमणों और श्रावकों की चर्या का निरूपण करनेवाले '**रयणसार**' का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

इस ग्रन्थराज की श्रमणों और श्रावकों में लोकप्रियता को अवगत कर प्रशस्त क्षयोपशमी चतुर्विध संघ के अधिनायक श्रमणाचार्य श्री विमर्शसागर महाराज ने संघ और समाज के बीच जो प्रवचन किये उन प्रभावी प्रवचनों का '**रयणोदय**' नाम से संकलन हुआ है। आचार्यश्री के प्रवचन लोकलुभावन और प्रभावना की दृष्टि से विशेष महत्त्व रखते हैं।

रयणसार 167 गाथाओं में निबद्ध है उस पर लोकग्राही जो प्रवचन आचार्य श्री विमर्श सागर महाराज ने किये हैं, उन्हें अनेक भागों में प्रकाशित कराया जा रहा है इससे पूर्व 25 गाथाओं के प्रवचन '**रयणोदय**' के दो भागों में प्रकाशित हुए हैं। स्वाध्यायी समाज ने उनके स्वाध्याय में गहरी अभिरुचि दिखलायी है। अब गाथा–26 से लेकर गाथा–61 तक के प्रवचनों का संकलन तृतीय खण्ड में प्रकाशित किया जा रहा है। इन 36 गाथाओं में वर्णित विषय वस्तु श्रमण और श्रावक दोनों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

प्रवचनकर्त्ता श्रमणाचार्य श्री विमर्शसागर महाराज सूर्य के समान तेजस्वी हैं। उनमें सामर्थ्य है आध्यात्मिक सत्य को उजागर करने की। भौतिकवादी अविवेक के घने कुहरे को हटाने की। वह कुहरा हटते ही ज्ञात होगा कि जीवन क्या है? जगत् क्या है? बन्ध और मुक्ति क्या है? क्यों आत्मा इस विराट विश्व में परिभ्रमण कर रहा है। इन सभी प्रश्नों के जवाब आचार्य श्री के प्रवचनों में मिलता है। उन्होंने मिथ्यात्व के दुष्परिणामों को बतलाया और मिथ्यादृष्टि किन–किन योनियों जाकर दु:ख भोगते हैं यह सब दर्शाया है। इहलौकिक कामना से दिया गया दान निरर्थक होता है। कुछ लोग इस काल में अतिथियों को अहार देने से पूर्व ही कुछ इच्छा रखकर अहारदान

देते हैं। वे सोचते हैं कि साधु यंत्र मंत्र तंत्र के ज्ञाता हैं। इनको किसी भी प्रकार से प्रसन्न रखेंगे तो ये मुनि प्रसन्न होकर मुझे कुछ मंत्र विद्या आदि देंगे जिससे मेरा कल्याण होगा। इस भावना से दिया गया उत्तम अहार फल प्रदान में निमित्त नहीं हो सकता। खुशामद करना, मीठी बातें करना, सेवा करना और यह दिखाना कि मैं धर्मात्मा हूँ। मिथ्यादृष्टियों की उक्त क्रियाएँ उन्हें सुफल प्रदान नहीं करती हैं मिथ्यादृष्टियों के कार्यों पर विस्तार से विवेचना की है।

आज का युग वैज्ञानिक युग है भौतिकवाद की चकाचौंध में मानव सुख-शांति और सन्तोष को प्राप्त करने के लिए लक्ष्यहीन व्यक्ति की तरह भटक रहा है। वैभव विलास में अटक रहा है। विज्ञान ने भौतिक तत्त्वों का विश्लेषण तो किया है किन्तु आन्तरिक सत्य की उपेक्षा की है। अत: वह ज्ञान होते हुए भी सम्यग्ज्ञान नहीं है। जब तक ज्ञान को सम्यग्दर्शन का वरदान प्राप्त न हो, तब तक उसमें परिपूर्णता नहीं आती। सम्यग्दर्शन रहित ज्ञान और विज्ञान अमानवीय पाशविक प्रवृत्तियों को बढ़ाता है। घृणा, प्रतिशोध और प्रतिस्पर्धा की भावना को उभारता है। रुढ़िवाद, परम्परावाद और अन्धविश्वास का पोषण करता है। वह अनास्था, अनाचार और अशान्ति से जनजीवन को पीड़ित करता है, ज्यों ही सम्यग्दर्शन का उद्भव होता है त्यों ही अज्ञान ज्ञान के रूप में बदल जाता है। यह भी संभव हो जाता है कि असदाचार सदाचार के रूप में और मिथ्याचारित्र सम्यक्चारित्र के रूप में भी परिवर्तित हो सकता है।

उक्त परिबोध रयणोदय के प्रवचनों में कराया गया है। आचार्यश्री ज्ञान-विज्ञान के आलोक में ही तत्त्व का निरूपण करते हैं। वे भव्य प्राणियों को पौराणिक उदाहरणों को प्रस्तुत करते हुए इस रयणोदय में जगह-जगह सावधान करते हैं—**ध्यान रखना, जीवन में न कभी अशुभ कर्म करना, न कराना और न अशुभ कार्य की अनुमोदना करना। अशुभकार्य की अनुमोदना भी आत्मा के लिए अहितकारी है। जो व्यक्ति जैसा करता है उसका फल उसे भोगना ही पड़ता है देखो कषायाविष्ट होकर श्रीपाल ने मुनिराज को पानी में फेंका था। वह कर्म जब उदय में आया तो श्रीपाल को भी समुद्र में गिरना पड़ा।**

पूर्व में कषाय की मन्दता होने पर मुनिराज को पानी से बाहर निकाला था उसका परिणाम था कि श्रीपाल को समुद्र में गिरने के बाद भी एक लकड़ी का टुकड़ा मिल गया, जिसके सहारे उसने समुद्र को भी पार कर लिया। पूज्यवर कहते हैं कि कर्म की अदालत में अन्याय नहीं होता। जीव जैसा कर्म करेगा उसका फल उसे ही भोगना पड़ेगा। किसी का किया हुआ कर्म कोई दूसरा नहीं भोग सकता। इसमें प्राचीन आचार्यों के उद्धरण

प्रस्तुतकर अपने वक्तव्य को प्रमाणिक बनाया है। ये प्रवचन अद्भुत हैं। इनमें शास्त्रीय आधार लिया गया है। आगम और अध्यात्म की परिधि में प्रवचन होने से जनकल्याण के निमित्त तो हैं ही साथ में प्रबुद्ध स्वाध्यायियों के लिए तत्त्वज्ञान के विशेष निमित्त हैं।

स्थान-स्थान पर आचार्य प्रवर ने विशेष तत्त्वबोध कराया है। वह कहते हैं—**जीवन में दो प्रकार के सुख प्रत्येक जीव भोग सकता है। एक आत्माश्रित सुख और दूसरा पुण्याश्रित सुख। पुण्योदय में भोगा गया सांसारिक सुख पाप का बीज है और आत्माश्रित सुख शाश्वत सुख का कारण है। ध्यान रखना कभी धर्म और पुण्य के कार्यों में विघ्न मत डालना। धर्म कार्य में विघ्न डालनेवाला परभव तो दूर की बात है, इसी भव में दुर्दशा को प्राप्त हो जाता है। जो पुण्य को भोगता है, वह अन्त में रो-रोकर मरता है और जो पुण्योदय में धर्म का साधन कर लेता है, वह समाधि को उपलब्ध हो जाता है। अगर अपने आपको दु:खों से बचाने की भावना है, तो आज से ही संकल्प कर लेना कि जीवन में कैसी भी परिस्थिति क्यों न आ जाए लेकिन मैं कभी धर्म कार्य में विघ्न नहीं करूँगा।**

ऐसी सद्शिक्षाओं की भरमार है इस 'रयणोदय' ग्रन्थ में, इसलिए यह महान् लोकोपकारी है अद्वितीय है। संपूर्ण मानव समाज के कल्याण का निमित्त है। उसमें सदाचार विद्यमान है। धर्म से जुड़े रहने के लिए विशिष्ट ग्रन्थराज है। व्यवहार रत्नत्रय का प्रतिपादक सहज और सरल भाषाशैली में वर्णित श्रेष्ठ ग्रन्थ है। आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी की अमर रचनाओं की भाँति इसमें भी शुद्ध आत्मतत्त्व को लक्ष्य में रखकर जो रयणसार में प्रतिपादन है उसी श्रमण और श्रावक के संयम चारित्र का निरूपण आकर्षक शैली में ज्ञान-ध्यान-तप में लवलीन रहनेवाले प्रज्ञा-प्रतिभा के धनी आचार्य श्री विमर्शसागर जी द्वारा इस रयणोदय में प्रतिपादन किया है। लौकिक जनों की संगति का साधुओं के लिए निषेध किया गया है क्योंकि लौकिक जनों की संगति से मति वाचाल और कुटिल हो जाती है। भावों से अत्यन्त क्रूर और दुष्ट बन जाता है। अनीति के कार्य भी करने लग जाते हैं। धर्म विरुद्ध आचरण करने में प्रवृत्ति हो जाती है अत: लौकिक जनों की संगति नहीं करना चाहिए।

प्रवचनकर्ता भावलिंगी सन्त आचार्यश्री विमर्शसागरजी ने अपने व्याख्यानों में उन सभी विषयों पर गहन विमर्श किया है जिन पर रयणसार में विवेचन है उसी के आश्रय से दान विषयक जो विवेचना है उसी की मीमांसा करते हुए कहा गया है—

दान के द्रव्य का अपहरण का कुफल का वर्णन करते हुए श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है–

गयहत्थपायणासिय कण्णउरं गुल विहीण दिट्ठीए।
जो तिव्वदुक्खमूलो पूयादाणाइ दव्वहरो।। रयणसार 35।।

इस रयणसार की समस्त गाथाओं का सुन्दरतम छन्दानुवाद प्रस्तुत किया गया है। रयणोदय में चार चाँद लगे हैं आचार्यश्री विमर्शसागर महाराज के सरल सुबोध अनुवाद से। उक्त गाथा का अनुवाद दृष्टव्य है–

पूजा दान द्रव्य हरता, अहो तीव्र दुःख को वरता।
नाक कान छाती अँगुली, दृष्टिहीन हुआ करता।।
हाथों पैरों से, हो हो-2 विकलांग दिखाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रन्थ कहाये रे।
साधु श्रावक की, हो हो-2 संहिता दिखलाये रे।।

आचार्यश्री कुन्दकुन्द देव ने गाथा में स्पष्ट कहा है कि जो मनुष्य पूजा-प्रतिष्ठादि के निमित्त प्रदान किए हुए द्रव्य का अपहरण करता है, वह हाथ, पैर, नासिका, कर्ण, अँगुली आदि रहित हीनांग होता है आँखों से अन्धा होता है और तीव्रतर दुःख को प्राप्त होता है।

'रयणोदय' में आचार्यश्री उक्त बात को विस्तार से बोलते हैं–मन्दिर की कोई भी वस्तु अपने उपभोग में लेना महापाप है। मंदिर की दुकान किराये पर मिल जाये तो उसे अपनी मानकर मत बैठ जाना। ऐसा मत सोचना कि मन्दिर की दुकान अपनी और अपने बाप की। अगर मन्दिर की सम्पत्ति अपनी और अपने बाप की समझ ली तो वह तुम्हारे बाप की नहीं बल्कि पाप की है क्योंकि लोभ पाप का बाप है। समाज में कदाचित् कोई व्यक्ति गरीब है, उसे दुकान की आवश्यकता है तो अवश्य ले किन्तु आवश्यकता के लिए लेकर उसे अपना बना लिया तो मति कुमति हो गई। अगर मन्दिर की वस्तु का उपयोग करो तो उसका उचित किराया अवश्य देना। ये कभी मत सोचना कि ये तो अपना है। विचार करना, वह दान का द्रव्य है। बहुत सारे लोग दान के द्रव्य को अपने व्यापार में लगा देते हैं और उस धन का ब्याज बहुत कम देते हैं। लोग तो दान देकर निर्माण कराते हैं अज्ञानी लोग उसका उपभोग करने लगे। दान के द्रव्य

का उपभोग करने से जीवन में तीव्र दु:खों को भोगना पड़ता है। इसलिए धर्मद्रव्य के भोगने की मति मत करना। सदैव यही भावना रखना कि मैं दान नहीं कर सकता तो कभी दान के पैसों को ग्रहण करने का भाव नहीं रखूँ। यह संकल्प आत्मा में होना ही चाहिए।

इसप्रकार की शिक्षाएँ इस रयणोदय में भरी पड़ी है। समाज कल्याण के लिए जो आवश्यक बातें होतीं हैं उन्हें आचार्यश्री ने अपने प्रवचनों के माध्यम से इस ग्रन्थ में समाहित किया है।

जिनपूजा की प्रेरणा प्रदान की। जिनपूजा में कभी विघ्न नहीं डालना चाहिए क्योंकि जब कोई जीव धर्मकार्यों में विघ्न डालता है उसके दुष्परिणाम विकट होते हैं, यथा–

खयकुट्ठमूलसूलोलूयभयंदर जलोयरक्खिसिरो।
सीदुण्ह बाहिराइ पूजा दाणांतरायकम्मफलं।। रयणसार 36।।

अर्थात् जो व्यक्ति भगवान् की पूजा, रथयात्रा, जलयात्रा, तीर्थयात्रा, जीर्णोद्धार, जिनबिम्ब प्रतिष्ठा इत्यादि धार्मिक कार्यों में बाधा डालता है वह प्राणी क्षयरोग, कुष्ठ रोग, मूलव्याधि, शूल, भगन्दर, जलोदर, सिर, लूता, शीत, उष्ण व्याधि इत्यादि रोगों के समूह से ग्रसित होता है। अत: कभी भी धर्मकार्यों में विघ्न नहीं डालना चाहिए।

भावलिंगी सन्त आचार्यश्री विमर्शसागर जी ने रयणोदय में पात्रदान के वर्णन प्रसंग में स्पष्ट किया है कि निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि आहार के निमित्त श्रावकों के लिए न कहता है और न किसी भी प्रकार का लोभ आदि के वशीभूत होता है, वह तो बिना किसी भेदभाव के वीतराग भाव से ही श्रावक की विनय स्वीकार करता है क्योंकि सच्चा निर्ग्रन्थ योगी वीतरागी होता है। भेदभाव के कटघरों से ऊपर उठकर निर्ग्रन्थ साधु अपनी साधना करते हैं। चाहे अमीर हो या गरीब हो, छोटा हो या बड़ा, सभी के लिए एक सा आशीर्वाद दिया करते हैं। अगर साधु सच्चा होगा तो सभी को बिना भेदभाव के आशीर्वाद देगा और अगर साधु सच्चा नहीं होगा तो आशीर्वाद में भी भेद डाल देगा। आशीर्वाद देते समय साधु की दृष्टि में भेदभाव आ जाये तो समझ लेना उसकी साधुता और साधना खो गई।

ये भाव प्रवचनकार रयणोदय में प्रगट करते हैं। यह बात बिल्कुल सत्य है कि सच्चा साधु न तो किसी प्रकार का निदान करता है और न ऐहलौकिक कामना करता है। प्रवचन में भगवती

आराधना में वर्णित निदान की सम्यक् विवेचना की गई। अगले भव में जो फलाकांक्षा पूर्ति की भावना है वही निदान है वह प्रशस्त, अप्रशस्त और भोग के भेद से तीन प्रकार का है।

प्रशस्त निदान–संयम में निमित्त होने से पुरुषत्व, उत्साह, शरीरगत दृढ़ता, वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से उत्पन्न वीर्य रूप परिणाम, अस्थियों के बंधन विशेष रूप वज्रवृषभनाराच संहनन आदि ये संयम साधन मुझे प्राप्त हो तथा मेरा जन्म दारिद्रहीन श्रावक कुल में हो ऐसी प्रार्थना रूप चित्त में विचार आना प्रशस्त निदान है।

अप्रशस्त निदान–मान कषाय के वश जाति, कुल, रूप आदि आचार्य पद, गणधर पद, जिनपद सौभाग्य, आज्ञा और आदेय की प्राप्ति रूप प्रार्थना करना अप्रशस्त निदान है।

भोग निदान–देवों और मनुष्यों में होनेवाले भोगों की अभिलाषा करना तथा भोगों के लिए नारीपना, ईश्वरपना, श्रेष्ठिपना, सार्थवाह, नारायण, चक्रवर्ती पद प्राप्ति की वाञ्छा करना भोग निदान है।

निदानों की चर्चा में स्पष्ट किया है निदान रत्नत्रय के सम्यक् फल का विरोधी है। कर्मक्षय का कारण न होकर कर्मबन्ध का कारण है अतः श्रमण और श्रावक दोनों को त्याज्य है। व्याख्यानों में आगम और सिद्धान्त का पूरा ध्यान दिया गया है। उदाहरण भी पौराणिक एवं प्रभावक हैं।

दान के महत्त्व को विस्तार से प्रतिपादित किया है। यह भी स्पष्ट किया है कि दान में भावों की विशेष महत्ता होती है। वे कहते हैं महत्त्व द्रव्य का नहीं होता भावों का होता है, जिसके पास द्रव्य हो वह द्रव्य दान करे, अगर द्रव्य न हो तो अनुमोदना करना क्योंकि दान में भाव की प्रधानता है। भावपूर्वक दिया गया दान कल्पवृक्ष के समान फल देता है और लोभी पुरुषों का दान मात्र अर्थी की शोभा जैसा है।

प्रवचन में बताते हैं कि मनुष्य जब अपने जीवन में दान की महिमा को सुनता है, तो उसके मन में भी दान की भावना पैदा हो जाती है। वह सत्पात्रों को दान देता भी है। कहा गया है–

सत्पात्रेषु यथाशक्ति दानं देयं गृहस्थितैः।
दानहीना भवेत्तेषां निष्फलैव गृहस्थता।। प. पञ्च 16/31।।

गृहस्थों को सत्पात्रों के लिए यथाशक्ति दान देना चाहिए क्योंकि उनके लिए दान के बिना उनका गृहस्थपना निष्फल है।

आचार्यश्री ने सम्यग्दृष्टि द्वारा दिए जानेवाले दान की और लोभी मिथ्यादृष्टि द्वारा दिए जानेवाले दान का अन्तर बताया है। सम्यग्दृष्टि का दान कल्पवृक्ष के फलों की तरह शोभा को प्राप्त होता है और लोभी पुरुष का दान अर्थी पर रखे शव के समान शोभाहीन होता है। सम्यग्दृष्टि केवल सुपात्र को दान देता है। लोभी व्यक्ति पात्र का ध्यान न रखकर पात्र-कुपात्र सभी को दान करता है जिससे उसे पुण्यास्रव नहीं होता है। सम्यग्दृष्टि की अनन्त महिमा रयणोदय में बताई गई। सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र उत्पन्न हो नहीं सकते। मूलग्रन्थ कर्ता ने यही लिखा है–

सम्मविणा सण्ठाणं सच्चारित्तं ण होइ णियमेण।
तो रयणत्तयमज्झे सम्मगुणक्किट्ठमिदि जिणुदिट्ठं।। रयणसार 47।।

सम्यक्त्व के अभाव में सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र निश्चय से नहीं होते हैं अतः रत्नत्रय में यह सम्यक्त्व उत्कृष्ट है ऐसा जिनेन्द्र भगवान का उपदेश है। प्रवचनकार रयणोदय में सम्यग्दृष्टि को सांसारिक कामनाओं से दूर बताते हैं वे कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव भावना भाता है–**हे भगवन्! मैं कब क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त करूँ? क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करने के लिए केवली, श्रुतकेवली का पादमूल कब प्राप्त होगा? ऐसी भावना उसके अंतरंग में आती ही है। जब तक सविकल्प दशा है तब तक इच्छापूर्वक ही प्रवृत्ति होती है लेकिन सम्यग्दृष्टि जीव अपनी आत्मा को इच्छारहित जानता है। वह सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीवात्मा अपने आत्मा के निर्विकल्प स्वभाव से उत्पन्न ज्ञानरूपी अमृत को विवेकरूपी अञ्जुलि बनाकर पीता है, पान करता है।**

सम्यग्दर्शन की शुद्धि सम्यग्ज्ञान और चारित्र की शुद्धि में कारण है। आगमनिष्ठ उपदेष्टा आचार्यश्री ने प्रकृत ग्रन्थ में कहा है कि यदि श्रृद्धा को मजबूत करना है तो ज्ञानामृत रूपी पौष्टिक अहार की आवश्यकता होती है। जिनवाणी का पौष्टिक अहार अचार्यों द्वारा भव्यों को दिया जा रहा है। अगर ये श्रेष्ठ ग्रन्थ न होते तो वास्तव में इस क्षितितल पर निर्ग्रन्थ भी नहीं होते लेकिन आगम वाक्य है कि जब तक इस धरती पर निर्ग्रन्थ रहेंगे तब तक ग्रन्थ भी रहेंगे। जितना आनन्द हमें निर्ग्रन्थों को देखकर आता है, उतना ही आनन्द जिनवाणी को देखकर आना चाहिए।

यही तो विशेषता प्रज्ञाशिरोमणि आचार्यश्री विमर्शसागर जी महाराज की है कि वे सरल-सरल दृष्टान्त के माध्यम से गूढ़ से गूढ़ विषय का बोध करा देते हैं। उन्होंने साधुओं की अहार संबंधी क्रिया का सबको सरल भाषा में बोध करा दिया है।

अहारदान देव, शास्त्र, गुरु पूजा का उपदेश दिया है जो प्राणी इन क्रियाओं को नहीं करता वह बहुत दु:ख पाता है। वे कहते हैं–

पूजा दान नहीं करता, शील मूलगुण नहीं धरता।
मानव जीवन पाकर भी, सम्यक्चारित्र न वरता।।
नारक कुमानुष, हो हो-2 पशुगति को पाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रन्थ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो हो-2 संहिता दिखलाये रे।।

इसप्रकार से रयणसार की गाथाओं को जीवन है पानी की बूँद की तरह छन्दों में प्रस्तुत करके ग्रन्थ को सुबोध सुग्राह्य बनाकर गुरुवर ने बड़ा उपकार किया है।

इसी रयणोदय में रयणसार में वर्णित मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि की व्याख्या बेजोड़ है। हेयोपादेय के ज्ञान से शून्य मिथ्यादृष्टि ही होता है कहा भी है–

ण वि जाणइ कज्जमकज्जं सेयमसेयं च पुण्णपावं हि।
तच्चमतच्चं धम्ममधम्मं सो सम्म उम्मुक्को।। रयणसार 40।।

जो मनुष्य कार्य-अकार्य को हित-अहित को अर्थात् सेवन करने योग्य व असेवन करने योग्य क्या है? पुण्य क्या है? पाप क्या है? धर्म क्या है? अधर्म क्या है? तत्त्व क्या है? अतत्त्व क्या है? इसका विवेक नहीं रखता है, वह मनुष्य सम्यक्त्व से रहित है अर्थात् मिथ्यादृष्टि है।

मानव जीवन में विवेक की सर्वाधिक आवश्यकता है। यह समझाते हुए मानवीय मूल्यों के परिज्ञाता उद्भट मनीषी परम तपस्वी आचार्यश्री विमर्शसागर जी समझाते हैं कि हे भव्य! तू विवेक रूप उस कल्पवृक्ष की सेवा कर जिसकी मूल विषयों से विरक्ति है, जिसका स्कन्धबन्ध सम्यक्त्व है, जिसकी शाखाएँ सब प्रकार की विनय है, जिसके पत्ते ज्ञान विज्ञान हैं जिसके पुष्प निर्दोष समितियाँ हैं, जो मुक्तिरूपी फल से सहित है। विवेकशील सम्यग्दृष्टि है और विवेकहीन मिथ्यादृष्टि होता है। जब तक हमें कर्तव्य-अकर्तव्य का ज्ञान नहीं होगा तब

तक अकर्तव्य को कर्तव्य और कर्तव्य को अकर्तव्य मानते रहेंगे। यही सम्यक्त्वविहीन प्राणी की सोच रहती है किंतु सम्यग्दर्शन प्राप्त होने पर आत्मा में विवेक की ज्योति जागृत हो जाती है। वह अनात्मा और आत्मा के अन्तर को समझने लगता है। अभी तक पररूप में जो स्वरूप की भ्रान्ति थी वह दूर हो जाती है, उसकी गति अतथ्य से तथ्य की ओर, असत्य से सत्य की ओर, अबोधि से बोधि की ओर अमार्ग से सन्मार्ग की ओर हो जाती है। उसका संकल्प ऊर्ध्वमुखी और आत्मलक्ष्मी हो जाता है।

सम्यग्दर्शन की उपलब्धि दर्शनमोह के परमाणुओं के नष्ट होने से होती है। दर्शन मोह के परमाणुओं का विलय ही इस दृष्टि की प्राप्ति का हेतु है। सम्यग्दर्शन की अलौकिक विलक्षण अकल्पनीय मीमांसा 'रयणोदय' में वर्णित है। **समाज और राष्ट्र को नया चिन्तन प्रदान करने वाले भावलिंगी संत पंथभेद को मिटाने वाले देव-शास्त्र-गुरु के प्रति श्रद्धावनत आचार्यश्री विमर्शसागर जी ने 'रयणोदय' में जो विशेष दृष्टि दी है वह सुधी स्वाध्यायियों के लिए महान् उपकारी है।** यह ग्रन्थ स्वाध्याय करने वालों के लिए महत्वपूर्ण है। इसके पढ़ने से अज्ञान का अन्धेरा दूर होगा, ज्ञान की रोशनी बढ़ेगी और आत्मबोध का निमित्त बनेगा क्योंकि आध्यात्मिक साधना के भव्य भवन में प्रवेश करने के लिए द्वार के सदृश सम्यग्दर्शन है, बिना सम्यग्दर्शन के साधना के भव्य भवन में प्रवेश नहीं हो सकता। दर्शन आत्मा का गुण है। सम्यक् और मिथ्यात्व ये दोनों पर्याय हैं। अनन्तकाल से दर्शन मिथ्यात्व के साथ होने से वह मिथ्यादर्शन के रूप में रहा है, जब उसका संस्पर्श सम्यक्त्व के साथ होता है तो वही दर्शन सम्यग्दर्शन बन जाता है। मिथ्यादर्शन का फल संसार है और सम्यग्दर्शन का फल मोक्ष है। जैसे अंधकार में कुछ भी दिखाई नहीं देता पर ज्यों ही प्रकाश जगमगाने लगता है त्यों ही सारे पदार्थ स्पष्ट दिखाई देते हैं, वैसे ही सम्यग्दर्शन का प्रकाश होते ही जड़-चेतन का भेद स्पष्ट दिखाई देता है।

सम्यग्दर्शन वह अद्भुत शक्ति है जिसके उत्पन्न होने पर हर्ष-विषाद से दूर हो जाता है। सम्यग्दृष्टि के मानस रूपी गगन पर अनुकूलता प्रतिकूलता का प्रभाव नहीं पड़ता। मोक्षलक्ष्मी को प्राप्त करने के प्रथम कारण सम्यग्दर्शन की सम्यक् मीमांसा जिस ग्रन्थ रत्न 'रयणोदय' में है, वह समस्त लोककल्याण का निमित्त बने यही मंगल कामना और व्याख्यान कर्ता परमपूज्य आचार्यश्री विमर्शसागर जी महाराज के प्रति गहरी आस्था, नमोस्तु के साथ कृतज्ञता।

❑❑❑

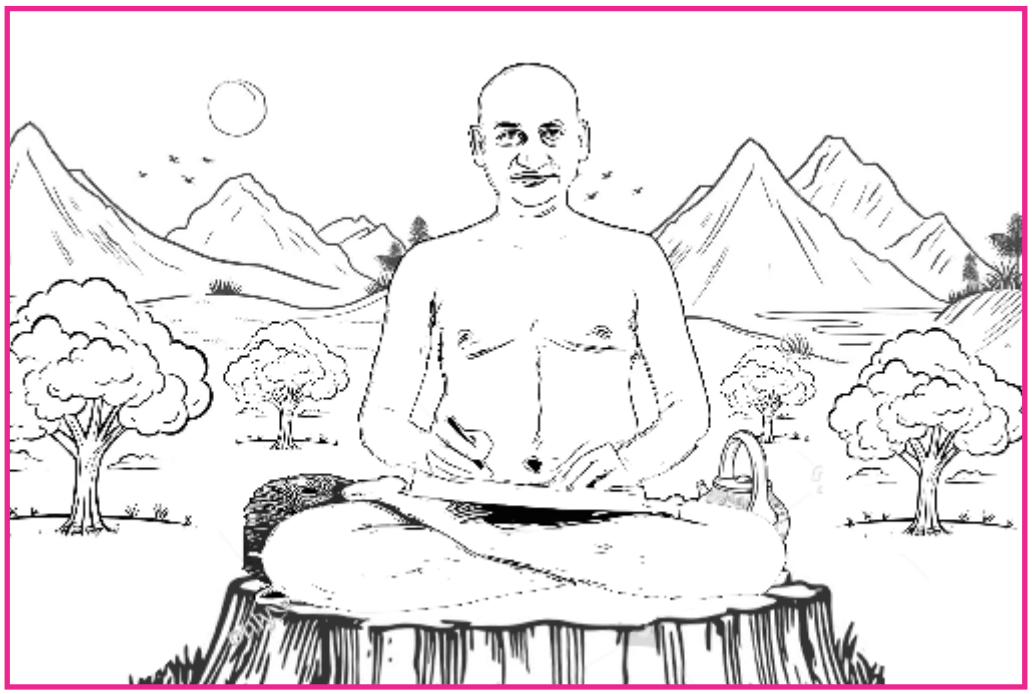
रयणोदय दर्शन

क्रमांक	रयणोदय प्रवचन	रयणसार गाथा	रयणोदय पृष्ठांक
1.	निर्ग्रंथ मुनि कल्पवृक्ष के समान	गाथा - 26 (प्रवचन)	1
2.	पुण्याकांक्षा से दान, लोभी की पहिचान	गाथा - 27 (प्रवचन)	17
3.	निर्ग्रंथ मुद्रा में यंत्र-विक्रय, अहो दुर्भाग्य	गाथा - 28 (प्रवचन)	29
4.	दानी दरिद्र, लोभी ऐश्वर्यवान क्यों	गाथा - 29 (प्रवचन)	46
5.	पात्रदान, समृद्धि का कारण	गाथा - 30 (प्रवचन)	61
6.	अपात्रदान, घाटे का सौदा	गाथा - 31 (प्रवचन)	68
7.	ब्रह्मचारी, मुनि बनें प्रतिष्ठाचार्य नहीं	गाथा - 32 (प्रवचन)	79
8.	दानद्रव्य का भोग विकलांगता का कारण	गाथा - 33 (प्रवचन)	96
9.	पूजादि द्रव्य का भोगी, व्याधियों का घर	गाथा - 34 (प्रवचन)	107
10.	मंदिर की दुकान बाप की या पाप की	गाथा - 35 (प्रवचन)	119
11.	धर्मकार्य में विघ्न से असाध्य रोग	गाथा - 36 (प्रवचन)	126
12.	मोक्षमार्गी साधुओं में भेद डालना मिथ्यादर्शन शल्य	गाथा - 37 (प्रवचन)	137
13.	पंचमकाल में धर्महीनता का कारण	गाथा - 38 (प्रवचन-I)	144
14.	पापी श्रमण कौन	गाथा - 38 (प्रवचन-II)	160
15.	ज्वार के दाने बने उत्तमोत्तम रत्न	गाथा - 39 (प्रवचन)	170
16.	पुण्य वह जो आत्मा को पवित्र करे	गाथा - 40 (प्रवचन)	186
17.	मोह विजय का पथ नित्य स्वभाव का आश्रय	गाथा - 41 (प्रवचन)	202
18.	लौकिकजनों की संगति साधना में बाधक	गाथा - 42 (प्रवचन)	209
19.	कषायानुभूति संसारानुभूति है	गाथा - 43 (प्रवचन)	228
20.	क्षुद्रभाव सम्यक्त्व में बाधक	गाथा - 44 (प्रवचन)	241
21.	धर्म के नाशक नहीं प्रकाशक बनें	गाथा - 45 (प्रवचन)	251
22.	अहो! महिमा सम्यक्त्व की	गाथा - 46 (प्रवचन)	260
23.	सम्यक्त्व हानि के निमित्त	गाथा - 47 (प्रवचन)	274

क्रमांक	रयणोदय प्रवचन	रयणसार गाथा	रयणोदय पृष्ठांक
24.	सद्गुणों का विनाशक, मिथ्यात्व	गाथा - 48 (प्रवचन)	290
25.	जैन एकता जिनागम पंथ से	गाथा - 49 (प्रवचन)	302
26.	सच्चा आलोचक कौन	गाथा - 50 (प्रवचन)	315
27.	अनादिनिधन गूगल कौन	गाथा - 51 (प्रवचन)	328
28.	सिग्नल प्रभुवाणी के	गाथा - 52 (प्रवचन)	338
29.	वैराग्य जम्बूस्वामी का	गाथा - 53 (प्रवचन)	349
30.	मुक्ति का सोपान समभाव	गाथा - 54 (प्रवचन)	359
31.	प्रतिष्ठाचार्य एवं त्यागी व्रती कौन	गाथा - 55 (प्रवचन)	368
32.	साधु एकलविहारी न हों	गाथा - 56 (प्रवचन)	385
33.	भावों से उत्थान-पतन	गाथा - 57 (प्रवचन)	402
34.	पक्षपात अशुभभाव है	गाथा - 58 (प्रवचन)	416
35.	तनाव (Tension) का कारण ईर्ष्याभाव	गाथा - 59 (प्रवचन)	426
36.	मुक्ति योग्य शुभभाव दुर्लभ	गाथा - 60 (प्रवचन)	433
37.	रत्नत्रय शुभ भाव है	गाथा - 61 (प्रवचन)	444

रयणोदय

(तृतीय भाग)



भावलिंगी संत श्रीमद् आचार्य विमर्शसागर मुनिराज

शास्त्र स्वाध्याय का प्रारंभिक मंगलाचरण

ॐ नमः सिद्धेभ्यः, ॐ नमः सिद्धेभ्यः, ॐ नमः सिद्धेभ्यः।

ओंकारं बिन्दु संयुक्तं, नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
कामदं मोक्षदं चैव, ओंकाराय नमो नमः।।1।।

अविरल-शब्द-घनौघ-प्रक्षालित सकल-भूतल-मल-कलंका।
मुनिभि-रुपासित-तीर्था-सरस्वती हरतु नो दुरितान्।।2।।

अज्ञान-तिमिरान्धानां, ज्ञानांजन-शलाकया।
चक्षु-रुन्मीलितं येन, तस्मै श्री गुरवे नमः।।3।।

श्री परम गुरवे नमः, परम्पराचार्य-गुरवे नमः। सकल-कलुष-विध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसंबंधकं, भव्यजीव-मनः प्रतिबोध-कारकं, इदं शास्त्रं 'श्री रयणसार' नामधेयं, अस्य मूलग्रंथ-कर्तारः श्री सर्वज्ञदेवाः तत् उत्तरग्रंथ-कर्तारः श्री गणधरदेवाः प्रतिगणधर-देवाः तेषां वचनोनुसार- मासाद्य श्री कुन्दकुन्द-आचार्येण विरचितं, तस्य 'रयणोदय' प्रवचनवृत्तिं भावलिंगी संत श्रमणाचार्य श्री विमर्शसागरेण जिनागम-पंथानुसारं विरचितम्।

''सर्वश्रोतारः सावधानतया शृण्वन्तु।''

मंगलं भगवान् वीरो, मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो, जैन-धर्मोऽस्तु मंगलं।।

मंगलं भगवान् अर्हन्, मंगलं वृषभो जिनः।
मंगलं पूज्यपादार्यो पंथो जिनागमोस्तु तं।।

सर्वमंगल मांगल्यं, सर्व कल्याणकारकम्।
प्रधानं सर्व-धर्माणां, जैनं जयतु शासनम्।।

ग्रंथ मंगलाचरण

णमिदूण वड्ढमाणं परमप्पाणं जिणं तिसुद्धेण।
वोच्छामि रयणसारं सायारणयार - धम्मीणं।।

जयदु जिणागम पंथो
जिनागम पंथ जयवंत हो।

(सम्यग्दृष्टि और लोभी पुरुष के दान में अंतर)

सप्पुरिसाणं दाणं, कप्पतरूणं फलाण सोहा वा।
लोहीणं दाणं जदि, विमाण सोहा सवं जाणे।।26।।

*** अन्वयार्थ ***

(**सप्पुरिसाणं**) सत्पुरुषों सम्यग्दृष्टि जनों का (**दाणं**) दान (**कप्पतरूणं**) कल्पवृक्ष के (**फलाण**) फलों की (**सोहा**) शोभा के (**वा**) समान होता है; (**लोहीणं**) लोभी पुरुषों का (**जदि**) जो (**दाणं**) दान है, वह (**विमाण सवं**) अर्थी के शव की (**सोहा**) शोभा के समान है (**जाणे**) ऐसा जानो।

अर्थ–सत्पुरुषों (सम्यग्दृष्टि) का दान कल्पवृक्ष के फलों की शोभा के समान है और लोभी पुरुषों का जो दान है, वह अर्थी के शव की शोभा के समान है ऐसा जानो।

गाथा - 26

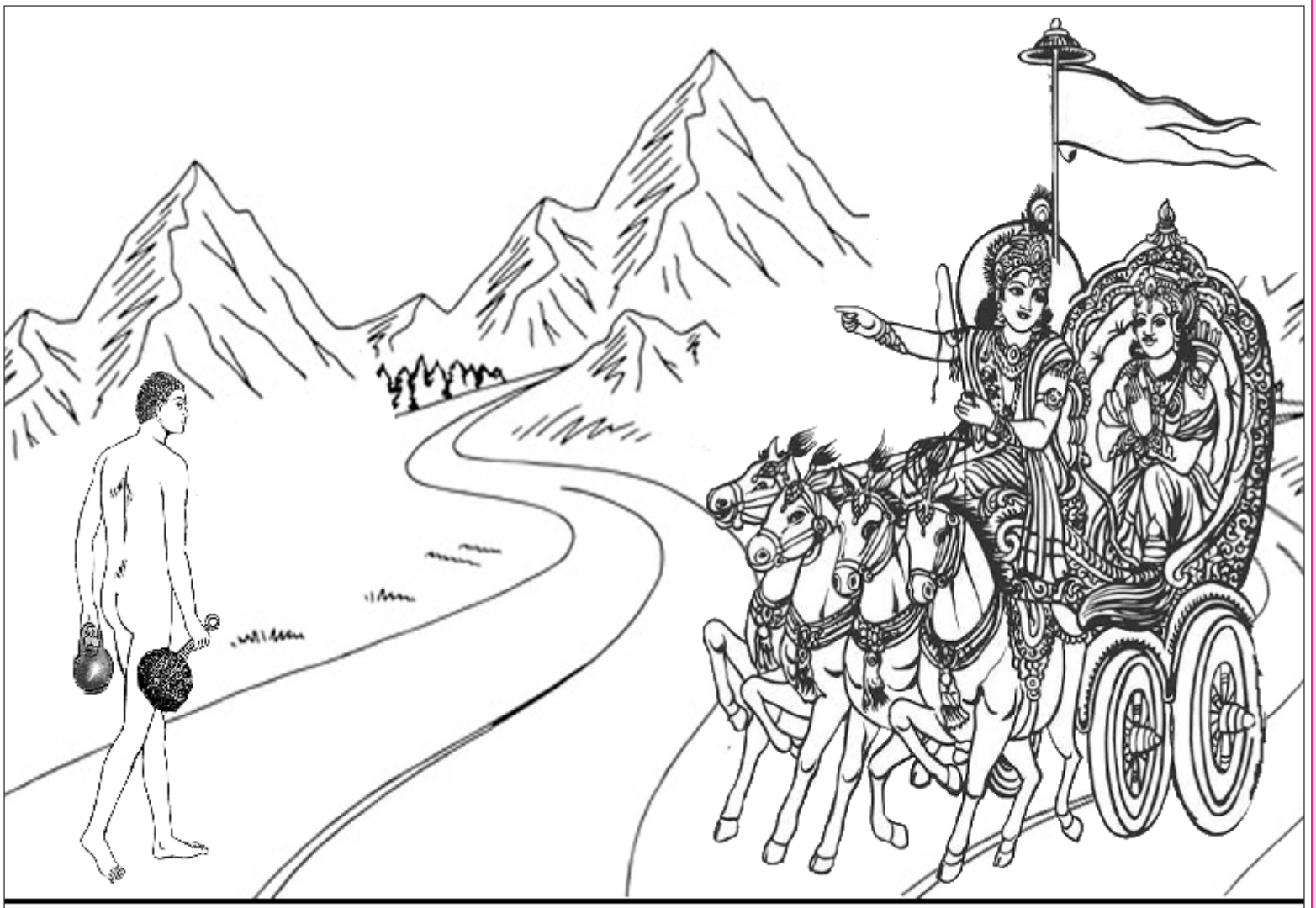
(प्रवचन)

●

निर्ग्रंथ मुनि कल्पवृक्ष के समान

19.09.2013

भिण्ड (म.प्र.)



भो पार्थ! मार्ग में मुनिदर्शन विजय श्री का द्योतक है।

36

रयणोदय

सत्पुरुषों का दान सदा, कल्पवृक्ष फल सम शोभा।
लोभीजन का दान अरे, जैसे अर्थी की शोभा।।
लोभीजन उत्तम,हो-हो-2, नहिं पुण्य कमाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो- 2 संहिता दिखलाये रे।।

'**जयदु जिणागमपंथो**' अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

तीर्थंकर भगवंत की दिव्यध्वनि जिनश्रुत है, जिनागम है। जिनागम में वर्णित आत्मकल्याणकारी मार्ग, आत्महितकारी पंथ '**जिनागम पंथ**' है, परस्पर रागद्वेष को बढ़ानेवाले आगमबाह्य पंथ उन्मार्ग हैं। वीतरागता को देनेवाला, '**परस्परोपग्रहो जीवानाम्**' का प्रतीक '**जिनागम पंथ**' सन्मार्ग है।

जीवन दान से महान बनता है। दान के दो ही प्रयोजन हो सकते हैं—(1) आत्महित (2) सांसारिक सुख। जो आत्महित के प्रयोजन से दान करता है उसके सांसारिक सुख का प्रयोजन स्वयं सिद्ध हो जाता है।

आचार्य भगवन् पद्मनंदीस्वामी पंचविंशतिका में लिखते हैं–

सौभाग्य शौर्य सुख रूप विवेकिताद्या,
विद्यावपुर्धन गृहाणि कुले च जन्म।
सम्पद्यतेऽखिलमिदं किल पात्रदानात्,
तस्मात् किमत्र सततं क्रियते न यत्नः ।।2-44।।

अर्थात् सौभाग्य, शौर्य, सुख, रूप, विवेक आदि, विद्या, सुंदर शरीर, धन, गृह और उच्चकुल में जन्म, यह सब सुपात्रदान से प्राप्त होता है। अतः इसमें निरंतर प्रयत्न क्यों नहीं किया जाता है? अर्थात् दान में निरंतर प्रयत्न करना चाहिये।

आचार्य भगवन् पद्मनंदी स्वामी ने श्रावक के कर्तव्यों का बोध कराते हुये उपासक संस्कार में कहा है–

देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानञ्चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने।।6-7।।

अर्थात् श्रावक के षट् कर्तव्य हैं–देवपूजा, गुरु उपासना, स्वाध्याय, संयम पालन, तप और दान। इन कर्तव्यों का पालन श्रावक को प्रतिदिन करना चाहिये। षट्कर्तव्यों में दान नाम का कर्तव्य भी कहा गया है। श्रावक को लोभी बनकर दान नहीं देना चाहिये।

वसुनंदी श्रावकाचार में कहा है–

सद्धा भत्ती तुट्ठी विण्णाण मलुद्धया खमा सत्ती।
जत्थेदे सत्त गुणा तं दायारं पसंसंति।।224।। वसु.श्रा.।।

जिस दातार में श्रद्धा, भक्ति, संतोष, विज्ञान, अलुब्धता, क्षमा और शक्ति ये सात गुण होते हैं, विद्वान् भी उसकी प्रशंसा करते हैं अर्थात् उसे ही दातार कहते हैं।

आचार्य भगवन् कुंदकुंददेव इस छब्बीसवीं गाथा में बता रहे हैं–

'सत्पुरुषों का दान कल्पवृक्ष की शोभा के समान है और लोभी पुरुषों के द्वारा दिया गया दान अर्थी पर रखे शव की शोभा के समान जानना चाहिये।'

जब इस वसुधा पर भोगभूमि का काल प्रवर्तमान था उस समय पुण्यात्मा जीव कल्पवृक्ष

के समीप जाकर जिस वस्तु की कामना करते थे, वह इच्छानुकूल वस्तु कल्पवृक्ष से उन्हें प्राप्त हो जाती थी। धीरे-धीरे पुण्यात्माओं का अभाव होने से कल्पवृक्ष समाप्त हो गये और कर्मभूमि प्रारंभ हुई।

भोगभूमि में अचेतन कल्पवृक्ष पुण्यात्मा जीव को इच्छानुसार फल प्रदान करते थे। जब चतुर्थकाल प्रारंभ हुआ तब चेतन कल्पवृक्षों का जन्म हुआ अर्थात् चतुर्थ काल और पंचमकाल में निर्ग्रंथ मुनिराज ही कल्पवृक्ष के समान हैं। **यदि पात्र के प्रति सच्ची श्रद्धा है तो पात्र के निमित्त से आज भी आपको कल्पवृक्ष के समान फल प्राप्त हो सकते हैं।**

अगर अपने घर में कल्पवृक्ष देखना हो तो हाथों में मंगलद्रव्य लेकर किसी निर्ग्रंथ तपोधन का पड़गाहन करने पहुँच जाना और पड़गाहन कर अपने घर ले आना। जैसे ही वो सुपात्र घर में कदम रखेंगे, समझ लेना आज मेरे घर में चलता-फिरता कल्पवृक्ष आया है।

अरे! वे अचेतन कल्पवृक्ष तो याचना करने पर, विचार करने पर, चिंतन करने पर कुछ देते हैं लेकिन यह रत्नत्रय-धर्मस्वरूप चेतन कल्पवृक्ष बिना याचना और बिना चिंतन के सब कुछ प्रदान कर दिया करते हैं।

कविवर भूधरदास जी ने बारह भावना में कहा है–

जाँचे सुरतरु देय सुख चिंतत चिंता रैन।
बिन जाँचे बिन चिंतये धर्म सकल सुख दैन।।

जिस दिन भगवान् आदिनाथ का प्रथम आहार हुआ, वह तृतीया तिथि भी धन्य-धन्य हो उठी, वह भी अक्षय तृतीया बन गई। अहो! दान के प्रभाव से राजा श्रेयांस ने 'दानतीर्थ प्रवर्तक' जैसा यश इस लोक में प्राप्त किया।

एक श्रावक भावना भाता है–हे गुरुदेव! आपके निमित्त से मुझे रत्नत्रय की प्राप्ति हो। जब वह ऐसी उत्कृष्ट भावना भाता है तो उसके अन्य प्रयोजन तो स्वयं ही सिद्ध हो जाते हैं।

आगमविद् आचार्यों ने कहा है–

पात्रदाने फलं मुख्यं मोक्षः सस्यं कृषेरिव।
पलालमिव भोगास्तु फल स्वादानुषंगितम्।।

अर्थात् जैसे कृषि का असली फल धान्य प्राप्ति है और अनुषङ्गिक फल उसका भूसा आदि

है, उसीप्रकार पात्रदान का मुख्य फल मोक्ष प्राप्ति है और स्वर्गादि के भोग यह सब अनुषङ्गिक फल हैं। जब किसान धान्य की चाह में कृषि करता है तो उसे भूसा आदि की प्राप्ति तो स्वयं हो जाया करती है।

भो भव्य! कभी निर्ग्रंथों को देखकर अपनी आत्मा में लोभ कषाय पैदा मत करना। कहीं ऐसे लोभ में आकर किसी निर्ग्रंथ मुनि के पास मत जाना कि महाराज श्री! मेरी कुण्डली देख लीजिये। अरे अज्ञानी! कुण्डली देखने से फल नहीं मिलेगा, जो तू पूर्व में कर्म बाँधकर आया है फल उसी का भोगना पड़ेगा।

एक व्यक्ति किसी ज्योतिषी के पास पहुँचा। बोला—मेरी ग्रहदशा ठीक नहीं चल रही है, आप जरा मेरी कुण्डली देखकर समस्या का समाधान बता दीजिये। ज्योतिषी ने कहा—आप अपनी कुण्डली यहीं छोड़ जाइये बाद में बतला देंगे। वह घर चला गया। शाम को ज्योतिषी का फोन (Phone) आया, बोला—कल आपका समय ठीक नहीं है, आपके साथ दुर्घटना घट सकती है, इसलिये कल आप घर से बाहर न जायें। वह व्यक्ति अगले दिन ज्योतिषी के अनुसार पूरे दिन घर पर रहा। अगले दिन ज्योतिषी को फोन (Phone) लगाया, बोला—धन्यवाद! आपने मुझे होनेवाली दुर्घटना से बचा लिया। मैं आपका बहुत अभारी हूँ। ज्योतिषी ने कहा—मेरे भाई! दुर्घटना तो घट चुकी है, कल मैंने गलती से तुम्हें अपनी कुण्डली का फल बता दिया था, और मैं अभी अस्पताल से बोल रहा हूँ। ध्यान रखना, जिनधर्म का पालन करनेवाले को कभी कोई मूर्ख नहीं बना सकता, क्योंकि वह यथार्थ में जीता है। ये दुनिया उन्हीं को सताती है जो परिस्थिति के मारे होते हैं।

सच्चा निर्ग्रंथ योगी वीतरागी होता है। भेदभाव के कटघरों से ऊपर उठकर निर्ग्रंथ साधु अपनी साधना करते हैं। चाहे अमीर हो या गरीब, छोटा हो या बड़ा, सभी के लिये एक सा आशीष दिया करते हैं। अगर साधु सच्चा होगा तो सभी को बिना भेदभाव के आशीर्वाद देगा और अगर साधु सच्चा नहीं होगा तो आशीर्वाद में भी भेद डाल देगा।

आशीर्वाद देते समय साधु की दृष्टि में भेदभाव आ जाये तो समझ लेना उसकी साधना खो गयी।

एक नगर में एक सेठजी रहते थे। वे बड़े ही धर्मात्मा और सरल स्वभावी थे। उनकी सेठानी बड़ी क्रोधी थी। एक दिन सेठजी ने अपनी सेठानी से कहा—मुझे किसी कार्यवशात् देशान्तर को जाना है तुम मेरे लिये मार्ग का पाथेय तैयार कर दो। तभी सेठजी को एक निर्ग्रंथ मुनिराज आहारार्थ जाते हुये दिखाई दिये। सेठजी आनंद विभोर हो उठे, सोचने लगे—आज मुनिराज का दर्शन हुआ है निश्चित ही मेरा कार्य सफल होगा। ध्यान रखना, किसी कार्य के पूर्व अगर निर्ग्रंथ गुरु का दर्शन हो जाये तो उस कार्य की सिद्धि अवश्य ही जानना चाहिये।

एक बार श्रीकृष्ण और अर्जुन युद्ध के लिये रणभूमि की ओर जा रहे थे, तभी सन्मुख दिगम्बर मुनिराज का दर्शन हुआ। श्री कृष्ण ने कहा—भो अर्जुन! आज युद्ध में हमारी जीत सुनिश्चित है, वो देखो सामने से दिगम्बर मुनिराज आ रहे हैं।

सेठजी मुनिराज को देखकर रोमांचित हो उठे, सोचने लगे— व्यापार के लिये बाद में जाऊँगा पहले मुनिराज को आहार दूँगा। सेठजी आहार देने पहुँच गये। सेठानी सोच रहीं थीं— कहाँ चले गये मुझे परेशान करके? सेठजी मुनिराज को आहार देकर आये और भोजन के लिये पाटे पर बैठ गये। सेठानी से कहा—भोजन लगाओ। सेठानी को तो पहले से ही क्रोध आ रहा था, बोली—कहाँ गये थे? सेठानी ने सेठजी को खूब बातें सुना डालीं। सेठजी मुस्कुराते रहे, पुनः भोजन माँगा। सेठानी ने गुस्से में आकर चूल्हे से जलती हुई लकड़ी निकाली और सेठजी के सिर पर दे मारी। अहो आश्चर्य! आहारदान के पुण्य से लकड़ी के अंगारे भी रत्न बन गये। सेठानी को बहुत पश्चाताप हुआ। जब पड़ोसिन को इस बात का पता चला तो उसने सेठानी से पूछा—रातोंरात तुम्हारे दिन कैसे बदल गये? तब सेठानी ने रोते हुए कहा—क्या बताऊँ बहिन! सेठजी मुनिराज को आहार देने गये थे, जब आये तो मैंने गुस्से में जलती हुई लकड़ी उनके सिर पर मार दी, तभी अंगारे रत्न बन गये।

पड़ोसिन ने भी यह रत्न बनाने की विधि अपने पति पर प्रयोग करने की ठान ली। पति को समझा दिया कि देखो जी! आज मैं अमीर बनने का फॉर्मूला (Formula) सीखकर आई हूँ, बस आपको जैसा बताऊँ वैसा करते जाना। मैं कल चौका तैयार करूँगी, तुम तब तक मुनिराज को आहार देकर आना, फिर भोजन की थाली लगाने को कहना, मैं गुस्से में आकर जलती हुई लकड़ी तुम्हारे सिर पर मारूँगी, तब देखना वो अंगारे रत्न बन जायेंगे और हमारे

भी दिन बदल जायेंगे।

ध्यान रखना, कभी भी स्त्रियों का विश्वास नहीं करना चाहिये। स्त्रियों पर विश्वास करना यानि अपने आप को संकट में डालना है।

आचार्य अमितगति स्वामी ने मरणकण्डिका में कहा भी है–

व्याघ्रे विषे जले सर्पे, शत्रौ स्तेनेऽनले गजे।
स विश्वसिति नारीणां, यो विश्वसिति दुर्मनाः।।988।।

जो पुरुष, नारियों पर विश्वास करता है उसे समझ लेना चाहिये कि वह व्याघ्र, विष, गहरे जलाशय, सर्प, शत्रु, चोर, अग्नि और हाथी पर विश्वास करता है।

अहो! जैसे व्याघ्र आदि का विश्वास करना घातक है वैसे ही स्त्रियों का विश्वास करना भी घातक है। बेचारा पति, स्त्री की बातों में आ गया, जैसा उसे बताया गया उसने वैसा ही किया। स्त्री ने सिर पर जलती हुई लकड़ी मारी, रत्न तो न बरसे लेकिन पति के सिर से खून बरसने लगा, सिर फट गया।

आचार्य भगवन् कहते हैं– दान करना लेकिन कभी निदान मत करना क्योंकि निदान के साथ दिया गया दान, संसार का अनुदान करता है।

अपराजितसूरि ने भगवती आराधना गाथा-1208 की 'विजयोदया टीका' में निदान की परिभाषा दी है–

रत्नत्रयत्वान्मुक्तेः अनन्तज्ञानादिकाच्चान्यत्र चित्तप्रणिधानं इदमेतत्फलं स्यादिति निदानं।

अर्थात् रत्नत्रयरूप अथवा अनन्तज्ञानादिरूप मुक्ति से अन्यत्र चित्त का उपयोग लगाना कि मुझे इसका यह फल मिले, निदान है।

निदान तीन प्रकार का है–प्रशस्त निदान, अप्रशस्त निदान और भोग निदान।

श्री भगवती आराधना ग्रंथ में आचार्यश्री शिवार्य मुनिराज ने त्रिविध निदान का स्वरूप इस प्रकार कहा है–

प्रशस्त निदान–

संजमहेदुं पुरिसत्तसबलविरियसंघदणबुद्धी।
सावअबंधुकुलादीणि णिदाणं होदि हु पसत्थं।।1210।।

अर्थात् संयम में निमित्त होने से पुरुषत्व, उत्साह, शरीरगत दृढ़ता, वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से उत्पन्न वीर्यरूप परिणाम, अस्थियों के बंधन विशेषरूप वज्रवृषभनाराच संहनन आदि, ये संयम साधन मुझे प्राप्त हों, तथा मेरा जन्म दारिद्रहीन श्रावककुल में हो ऐसी प्रार्थना रूप चित्त में विचार होना प्रशस्त निदान है।

अप्रशस्त निदान–

माणेण जाइकुलरूवमादि आइरियगणधर जिणत्तं।
सोभग्गाणादेयं पत्थंतो अप्पसत्थं तु।।1211।।

अर्थात् मानकषाय के वश जाति, कुल, रूप आदि तथा आचार्यपद, गणधर पद, जिनपद, सौभाग्य, आज्ञा और आदेय की प्राप्तिरूप प्रार्थना करना अप्रशस्त निदान है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है–रत्नत्रय में अतिशय लाभ की भावना से मैं आचार्य, गणधर आदि बनूँ, ऐसी प्रार्थना अप्रशस्त क्यों है? इसके उत्तर में शिवार्य महाराज कहते हैं–

आयरियत्तादिणिदाणे वि कदे णत्थि तस्स तम्मि भवे।
धणिदं पि संजमं तस्स सिज्झणं माणदोसेण।। 1234।।

अर्थात् आचार्यपद आदि का निदान करने पर जिस भव में निदान किया है उस भव में अत्यंत संयम का पालन करने पर भी मानकषाय के दोष के कारण उसकी मुक्ति नहीं होती, क्योंकि वह 'मैं पूज्य होऊँ' इस संकल्प से आचार्य आदि होने की प्रार्थना करता है, इससे उसका अहंकार प्रगट होता है।

भोग निदान–

देविग-माणुस-भोगे णारिस्सर-सिट्ठि-सत्थवाहत्तं।
केसव-चक्कधरत्तं पत्थंते होदि भोगकदं।।1213।।(भ.आ.)

अर्थात् देवों और मनुष्यों में होनेवाले भोगों की अभिलाषा करना, तथा भोगों के लिये नारीपना, ईश्वरपना, श्रेष्ठिपना, सार्थवाहपना, नारायण और सकलचक्रवर्तीपना प्राप्त होने की बाञ्छा करना भोग निदान है।

चूँकि निदान रत्नत्रय के सम्यक् फल का विरोधी है और कर्मक्षय का कारण न होकर कर्मबंध का ही कारण है अतः श्रावक और श्रमण दोनों के लिये त्याज्य कहा है। अतः दान की प्रशस्त भावना रखनेवाला श्रावक विवेकपूर्वक दान करे किन्तु निदानपूर्वक दान न करे।

ध्यान रखना, दान दो प्रकार से दिया जाता है, एक तो छिपाकर और दूसरा छपाकर। आहार दान कभी छिपाकर नहीं दिया जाता। यह जैनकुल है इस कुल में दानी पैदा होते हैं।

भगवान् बाहुबली की प्रतिमा बनकर तैयार थी। बड़े-बड़े धनपति, राजा-महाराजा, भगवान् के मस्तक पर प्रथम कलश की धारा छोड़ने के लिये तैयार थे। सारे धनपति सोने, चाँदी और रत्नों के कलशों में जल भरकर लाये थे लेकिन भावों में यह मान भी भरा था कि भगवान् के मस्तक पर प्रथम जलधारा मैं ही छोडूँगा। सभी ने स्वर्ण और रत्नों के विशाल कलशों से भगवान् के मस्तक पर जल की मोटी-मोटी धारायें छोड़ीं, लेकिन वो धारायें भगवान् के पूरे बदन को स्नपित न कर सकीं। जो जल की धारायें मस्तक पर छोड़ी जा रहीं थीं वो कोई भी भगवान् बाहुबली के पावन चरणों तक नहीं पहुँच पा रहीं थीं। जब अभिषेक का जल चरणों तक नहीं आया, तब एक बूढ़ी माँ जिसका नाम था गुल्लिका। उस माँ के पास स्वर्ण और रत्नों के कलश नहीं थे, हाथ में एक नारियल की नरेली थी। उस माँ का पुण्य तो देखो, पूरा नारियल भी हाथ में नहीं था लेकिन भावों में बड़ी पवित्रता थी, भाव बड़े निर्मल थे। निर्मल भावों से उस वृद्धा माँ ने जब नरेली का जल भगवान् बाहुबली के मस्तक पर डाला तो वह जल प्रभु के पूरे शरीर को स्नपित करता हुआ पावन चरणों तक जा पहुँचा।

ध्यान रखना, महत्त्व द्रव्य का नहीं होता भावों का होता है। जिसके पास द्रव्य हो वो द्रव्य दान करे, अगर द्रव्य न हो तो अनुमोदना करना क्योंकि दान में भाव की प्रधानता है। भावपूर्वक दिया गया दान कल्पवृक्ष के समान फल देता है और लोभी पुरुषों का दान मात्र अर्थी की शोभा जैसा है।

मनुष्य जब अपने जीवन में दान की महिमा को सुनता है तो उसके मन में भी दान की

भावना पैदा हो जाती है। क्या दान की ऐसी महिमा है?–

तू एक पैसा देगा, वो दस लाख देगा।

ऐसा सुनकर जो दान करता है वह लोभ का दान है क्योंकि उसकी आत्मा में दान का नहीं लोभ का भाव है। व्यापार में भी थोड़ा सा पैसा इनवेस्ट (Invest) करके लाखों पाने की उम्मीद रखते हो।

अगर एक पैसा देकर दस लाख पाने का भाव मन में है तो समझ लेना ये दान नहीं है ये तो व्यापार है। दान देनेवाला दाता निर्लोभी होता है, इसलिये कभी भी भोगों की आकांक्षा से दान नहीं करना चाहिये।

आचार्य भगवन् अमितगति श्रावकाचार में लिखते हैं–

भिदन्ति सूत्राय मणिं महार्घ्यं,
काष्ठाय ते कल्पतरुं लुनन्ति।।
नावं च लोहाय विपाटयन्ते,
भोगाय दानं ननु ये ददन्ते।।11-68।।

अर्थात् जो मनुष्य भोग के लिये दान देते हैं वे सूत्र (धागा) के लिये महामूल्यवान् मणिहार को भेदते हैं, काठ के लिये कल्पवृक्ष को काटते हैं और लोहा पाने के लिये नाव को तोड़ते हैं।

ध्यान रखना, दान निर्लोभी बनाता है। दान की महिमा सुनकर यदि कोई लोभ से दान देता है तो उसका दान "**विमाण सोहा सवं जाणे**" अर्थी पर रखे हुये शव की शोभा की तरह होता है। जिसप्रकार अर्थी पर रखे शव की कोई शोभा नहीं होती उसीप्रकार लोभी द्वारा दिये गये दान की भी कोई शोभा नहीं होती।

दान उत्साहपूर्वक अपनी शक्ति को ध्यान में रखकर दिया जाता है। जितनी शक्ति हो उतना ही दान करना चाहिये।

आचार्य श्री पद्मनंदीस्वामी ने पंचविंशतिका में कहा है–

सत्पात्रेषु यथाशक्ति दानं देयं गृहस्थितैः।
दानहीना भवेत्तेषां निष्फलैव गृहस्थता।।6-31।।

अर्थात् गृहस्थों को सत्पात्रों में यथाशक्ति दान देना चाहिये क्योंकि दान के बिना उनका गृहस्थपना निष्फल ही है।

अत: अपने गृहस्थ जीवन को सफल बनाने के लिये निरंतर सत्पात्रों को आहार देते रहना चाहिये लेकिन आहार देते समय अपनी शक्ति का विचार अवश्य करना चाहिये।

किसी के पास 5000 रूपये दान की सामर्थ्य है और 5 रूपये देता है, तो वह लोभी है और किसी के पास शक्ति तो 5 रूपये दान की है लेकिन 5000 दान की भावना रखता है तो उसे भी विवेक रखना चाहिये। **न लोभी बन और न उतावलापन रख।**

दान देनेवाले तीन प्रकार के लोग होते हैं– एक वे जो भावपूर्वक दान करते हैं, दूसरे वे जो बड़े दानपूर्वक दान करते हैं और तीसरे वे जो दानियों को देखकर दान करते हैं।

भावपूर्वक दान करनेवाला यह जानता है कि जो धन आज मेरे पास है वह अतीत पर्याय में कृत पुण्य से मिला है। वह अपने धन के सदुपयोग की भावना से दान करता है और सुपात्र को दान करने का विचार करता है।

मैंने कहा था कि इस पंचमकाल में भी कल्पवृक्ष होते हैं। अगर कल्पवृक्ष देखना है तो धोती-दुपट्टा पहिनकर हाथों में मंगलद्रव्य लेकर घर के द्वार पर खड़े हो जाना, कोई निर्ग्रंथ मुनिराज मिल जायें तो समझ लेना कल्पवृक्ष मिल गया। अपने घर में कल्पवृक्ष देखना है तो किन्हीं निर्ग्रंथ साधक को अपने घर ले आना और उनकी अंजुलि में शुद्ध प्रासुक आहार का एक ग्रास रख देना आपके घर में ही कल्पवृक्ष लग जायेगा, क्योंकि सत्पात्रों को दिया गया दान कल्पवृक्ष के फलों के समान शोभा को प्राप्त होता है। इस दान में लोभ नहीं होता बस भावना होती है कि ये श्रेष्ठ पात्र हमारे घर-आँगन को पवित्र करें। दान के बदले में कुछ पाने की भावना नहीं होती।

दान ऐसे करो कि एक हाथ दान करे तो दूसरे हाथ को भी पता न चले। यदि पुरुष दान करे तो स्त्री से पूछने की आवश्यकता नहीं है। अगर पूछ लिया तो क्या होगा? स्त्री लोभी होगी तो तुरंत मना कर देगी। अगर स्त्री दान करे तो पुरुष से पूछने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि जो दान करेगा, उसी को फल मिलेगा। जो प्रेशर (Pressure) में आकर, दबाब में आकर, किसी के कहने से दान देता है उसके मन में विकल्प उत्पन्न होने लगते हैं।

किसी श्रावक के भाव बने मैं भी चौका लगाऊँ। उसने चौका लगाया, लेकिन महाराज का पड़गाहन सात दिन तक नहीं हुआ। उसके मन में विकल्प उत्पन्न होने लगा। अगर आपने शक्ति से ज्यादा खर्च किया होगा तो चौका खाली जाते ही मन में विकल्प उत्पन्न होने लग जायेगा, अगर शक्ति के अनुसार चौका लगाया तो कोई विकल्प नहीं होगा।

पत्नि ने कहा–सुनो जी! सात दिन हो गये, आचार्यश्री का पड़गाहन नहीं हुआ। जाओ, थोड़ा महाराज के पास जाकर अपनी पॉजीशन (Position) बनाओ, महाराज तुम्हें पहिचान लेंगे तो आ जायेंगे। रात को वैयावृत्ति बंद हो चुकी थी, तब डॉक्टर (Doctor) पति पॉजीशन (Position) बनाने आये। आचार्यश्री लेट चुके थे। दरवाजा बजाया, ब्रह्मचारी जी ने दरवाजा खोला। कहने लगे–दर्शन करना है? ब्रह्मचारी जी ने कहा–सुबह आना, अब समय पूर्ण हो चुका है। डॉक्टर (Doctor) साहब ने ब्रह्मचारी जी की एक न सुनी और कमरे के अंदर पहुँच गये। आचार्यश्री विश्राम कर रहे थे, आकर जोर-जोर से पैर दबाना शुरू कर दिया। ब्रह्मचारी जी ने कहा–भैया! धीरे-धीरे करलो। डॉक्टर (Doctor) साहब ने कहा–सात दिन हो गये भैया जी! अब तक पड़गाहन नहीं हुआ, आज तो पॉजीशन (Position) बनाकर ही जाऊँगा।

बंधुओ, सम्यग्दृष्टि जीव लोभ से दान नहीं करता। लोभी व्यक्ति लाखों का दान करे तो भी उसे कुछ फल नहीं मिलता और एक निर्लोभी व्यक्ति भावपूर्वक थोड़ा भी दान करे तो घर में कल्पवृक्ष की शोभा पाता है। लोभ से दिया गया दान नष्ट हो जाता है जैसे शव पर चढ़े फूल नष्ट हो जाते हैं। फूल अगर भगवान् के चरणों में समर्पित हो जाये तो धन्य-धन्य हो उठता है। श्रावक का मुख्य कर्तव्य दान है। दान का फल कर्मों की निर्जरा, कर्मों का क्षय और परम्परा से मोक्ष की प्राप्ति है। अतः निष्कांक्ष भाव से भावपूर्वक दान देकर सच्चे श्रावक बनने का प्रयास करो। आचार्य भगवन् श्री कुंदकुंदस्वामी के बताये मार्ग के अनुसार दाता बनो।

श्रावकधर्म का पालन गृहस्थ अवस्था में किया जाता है और गृहस्थ जीवन में उसको परिवार के साथ रहना होता है। परिवार के साथ जीवन जीने के लिये तीन चीजों की आवश्यकता होती है– रोटी, कपड़ा और मकान। जीवन संचालन के लिये भोजन अर्थात् रोटी चाहिये। समाज में रहने के लिये कपड़ों की आवश्यकता होती है और परिवार के साथ निवास के लिये मकान की जरूरत हुआ करती है। इन तीन चीजों की पूर्ति के लिये श्रावक को धन का अर्जन

करना होता है, क्योंकि ये सभी काम धन से ही संचालित होते हैं। धन की प्राप्ति पुण्य से होती है। दुनिया में अनेक लोग दिन-रात श्रम करते हैं फिर भी उनके जीवन संचालन की व्यवस्था नहीं बन पाती। श्रम तो करते हैं लेकिन उस श्रम के बदले उन्हें पर्याप्त सुख-साधन नहीं मिल पाते, अतः दुःखी बने रहते हैं।

बंधुओ, श्रम के साथ पुण्य की भी आवश्यकता होती है। जिसे अक्षर ज्ञान ही न हो उसे कॉपी, पेन (Copy-Pen) देकर कहा जाये कि लिखो, तो वह क्या लिखेगा? वो जो भी लिखेगा उसमें समय खराब होगा, पेन (Pen) खराब होगा, कॉपी (Copy) खराब होगी, लेकिन उपलब्धि कुछ भी नहीं होगी। उसीतरह पुण्य के बिना सारा श्रम व्यर्थ है। इसीलिये कहा जाता है कि गृहस्थ जीवन में पुण्यार्जन के कार्य करते रहना चाहिये।

गृहस्थ अवस्था में सुबह से शाम तक एकमात्र पापार्जन के कार्य होते हैं। पानी भरो तो पापार्जन, झाडु लगाओ तो पापार्जन, अग्नि जलाओ तो पापार्जन, व्यापार करो तो पापार्जन, भोजन पकाओ तो पापार्जन, न चाहते हुये भी हर क्रिया में प्रमाद के कारण पापार्जन होता ही होता है। भव्य जीव आरम्भ के कार्य करता हुआ अंतरंग में दुःखी बना रहता है, खेद-खिन्न होता रहता है। रोज भगवान् के दरबार में जाकर कहता है–

सुनिये जिन अरज हमारी, हम दोष किये अतिभारी।
तिनकी अब निवृत्ति काजा, तुम शरण लही जिनराजा।।

हे भगवन्! मैं आपके पास बिना विचारे नहीं आया हूँ, कुछ प्रयोजन लेकर आया हूँ। जब कोई बीमार व्यक्ति मेडीकल शॉप (Medical shop) पर जाता है तो उसका रोग शमन का प्रयोजन होता है उसीप्रकार जब श्रावक मंदिर में जाता है, पूजा करता है तो उसका भी प्रयोजन होता है। वह प्रयोजन क्या है?

सुनिये जिन अरज हमारी...

हे भगवन्! आज आपको मेरी अर्ज सुननी ही पड़ेगी। लोक में सब यही कहते हैं कि जिनेन्द्र भगवान् किसी की सुनते नहीं, लेकिन भव्यजीव कहता है कि मैं आज अपनी व्यथा आपको सुनाकर ही जाऊँगा। जिसकी अर्जी सब सुनते हैं उसकी भगवान् नहीं सुनते, जिसकी

कोई नहीं सुनता उसकी भगवान् सुनते हैं। भक्त कहता है–हे प्रभु! मैं अपनी अर्ज सुनाने आया हूँ, आपसे कुछ माँगने नहीं आया हूँ। अपनी विनती सुनाने आया हूँ। विनती में और माँगने में अंतर होता है। विनती में माँगा नहीं जाता, अपने दोषों को भगवान् के समक्ष निर्मलभावों से बोलकर प्रभु जैसे गुणों को प्राप्त करने का भाव संजोया जाता है। एक भक्त विनती करते हुये भगवान् से कहता है–

मैली चादर ओढ़ के कैसे, द्वार तुम्हारे आऊँ।
हे पावन परमेश्वर मेरे, मन ही मन शर्माऊँ।।

भक्त की विनती है कि हे पतित पावन! मैं कैसे आपके द्वार पर आऊँ? मैं रोज अपने मन को मलिन करता हूँ, रोज पाप करता हूँ, रोज राग, द्वेष, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ करके अपनी मनरूपी चादर में दाग लगाता हूँ, आप रोज मेरी चादर को स्वच्छ करते हैं। मंदिर से जब जाता हूँ तो स्वच्छ चादर लेकर जाता हूँ और जब आता हूँ तो रोज गंदी चादर लेकर आता हूँ, हे प्रभु! शर्म आती है, लेकिन आना तो पड़ेगा ही। भक्त भगवान् को अपनी अर्ज सुना रहा है–

सुनिये जिन अरज हमारी, हम दोष किये अतिभारी।

संसार में दो तरह के लोग हुआ करते हैं। एक वे जिनको मलिनता में जीने की आदत है, उनको गंदे कपड़ों से कोई फर्क नहीं पड़ता। दूसरे वे जो सफेद, उज्ज्वल, धवल वस्त्र पहिनते हैं, उनको अपने वस्त्रों पर लगा छोटा सा दाग भी भारी लगता है। जो दोषों में ही जीने के आदि हो जाते हैं उन्हें अपने दोष नजर ही नहीं आते, लेकिन जो निर्मल मनवाला होता है, उज्ज्वलता में रहना ही जिसे अच्छा लगता है, उसे अपने छोटे-छोटे दोष भी बहुत भारी नजर आते हैं। वह अपने दोषों की निवृत्ति के लिये रोज भगवान् के दर पर आता है।

ध्यान रखना! 'परदोष दर्शन दृष्टि' सरल होती है लेकिन 'स्वदोष दर्शन दृष्टि' मुश्किल है। निर्ग्रंथों की 'स्वदोष दर्शन दृष्टि' होती है। अपने दोष अपने अंदर खोजनेवाला ही साधु होता है।

जो साधुओं का उपासक श्रावक होता है, वह उन जैसा बनने की भावना भाता है, और सतत् साधुचर्या में सहयोगी बनता है, दान देता है, सेवा करता है, उस दान के प्रभाव से वह

अपने इच्छित लक्ष्य को क्रमशः प्राप्त कर लेता है। श्रावक दान करे लेकिन निर्लोभ भाव से करे, तो वह दान उसके जीवन में कल्पवृक्ष सम फलदायक होता है। जिनेन्द्र देव ने गृहस्थ श्रावकों के लिये यह कल्याणकारी उत्तम मार्ग बताया है। आप सब जिनागम पंथी श्रावक इसे श्रद्धा से स्वीकारें और मानव जीवन सफल करें, इसी सद्भावना के साथ...।

सत्पुरुषों का दान सदा, कल्पवृक्ष फल सम शोभा।
लोभीजन का दान कहा, जैसे अर्थी की शोभा।।
लोभीजन उत्तम, हो-हो-2, नहिं पुण्य कमाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2, संहिता दिखलाये रे।।

अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

❑❑❑

(लोभी का दान)

जस-कित्ति-पुण्णलाहे देदि सुबहुगं पि जत्थ तत्थेव।
सम्मादि-सुगुणभायण पत्तविसेसं ण जाणंति।।27।।

*** अन्वयार्थ ***

(**जस-कित्ति-पुण्णलाहे**) लोभी पुरुष यश, कीर्ति और पुण्यलाभ के लिए (**जत्थ तत्थेव**) यत्र-तत्र कुपात्र आदि को (**सुबहुगं पि**) बहुत (**देदि**) दान देता है, वह (**सम्मादि सुगुण भायण**) सम्यक्त्व आदि उत्तम गुणों के आधार (**पत्तविसेसं**) सुपात्र को (**ण जाणंति**) नहीं जानता।

अर्थ–लोभी पुरुष यश, कीर्ति और पुण्य-लाभ के लिये यत्र-तत्र कुपात्र आदि को बहुत दान देता है। वह सम्यक्त्वादि उत्तम गुणों के आधार सुपात्र को नहीं जानता।

गाथा - 27

(प्रवचन)

●

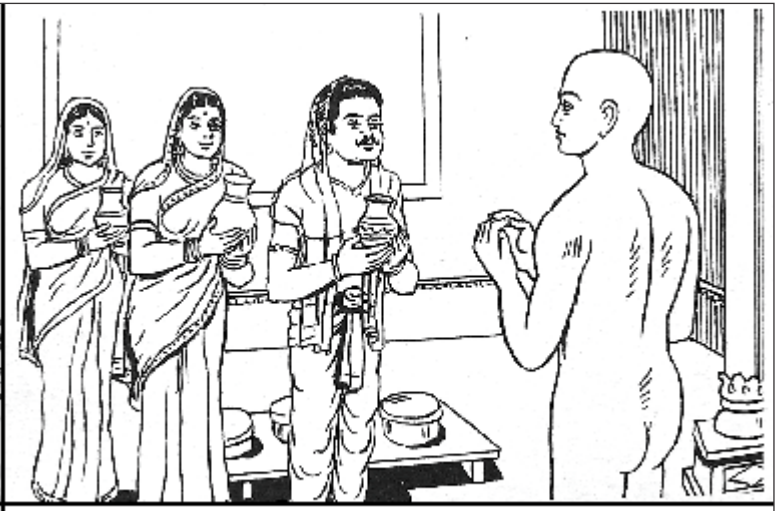
पुण्याकांक्षा से दान, लोभी की पहिचान

20.09.2013

भिण्ड (म.प्र.)



उत्तम भूमि में अल्प बीज भी बहु फलदायी



उत्तम पात्र के लिये दिया गया दान अनंत गुणाफल दायी



ऊसर भूमि में बोया गया बीज व्यर्थ



अपात्र को दिया गया दान निरर्थक

37

रयणोदय

यश:कीर्ति मिल जाये, पुण्यलाभ कुछ फल जाये।
लोभी दान किया करता, शायद किस्मत खुल जाये।।
सत्पात्र को वह, हो-हो-2, कभी जान न पाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो- 2 संहिता दिखलाये रे।।

'**जयदु जिणागमपंथो**' अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

तीर्थंकर भगवंत की दिव्यध्वनि जिनश्रुत है, जिनागम है। जिनागम में वर्णित आत्मकल्याणकारी मार्ग, आत्महितकारी पंथ '**जिनागम पंथ**' है, परस्पर रागद्वेष को बढ़ानेवाले आगमबाह्य पंथ उन्मार्ग हैं। वीतरागता को देनेवाला, '**परस्परोपग्रहो जीवानाम्**' का प्रतीक '**जिनागम पंथ**' सन्मार्ग है।

आचार्य भगवन् कुन्दकुन्ददेव ने हम सभी की आत्मा को निर्मल करने के लिए यह मार्ग बताया कि लोभ का परित्यागकर सम्यक् श्रद्धा के साथ हमें सत्पात्रों को दान देना चाहिए।

आचार्य भगवन् ने पूर्व गाथा में सम्यग्दृष्टि और लोभी पुरुष के दान में अंतर बताया था। सम्यग्दृष्टि का दान कल्पवृक्ष के फलों की तरह शोभा को प्राप्त होता है और लोभी पुरुष का

दान अर्थी पर रखे शव के समान शोभाहीन होता है, उसके द्वारा दिया गया दान मुर्दे की तरह नष्ट होनेवाला है, वह दान कोई भी फल प्रदान करनेवाला नहीं है।

किसी ने प्रश्न किया–लोभी पुरुष का दान किस निमित्त होता है अर्थात् वह लोभी किस कारण से दान करता है?

आज हम आचार्य भगवन् कुंदकुंददेव कृत रयणसार ग्रंथ की 27 वीं गाथा से जानने का प्रयास करेंगे कि लोभी पुरुष किन प्रयोजनों से दान करता है और अपने दान को निरर्थक करता है, नष्ट करता है।

जसकित्ति-पुण्णलाहे देदि सुबहुगं पि जत्थ तत्थेव।
सम्मादि-सुगुणभायण पत्तविसेसं ण जाणंति।।27।।

लोभी पुरुष दान क्यों करता है? आचार्य कहते हैं–'**जसकित्ति-पुण्ण लाहे**' दान करने से मुझे यश की प्राप्ति होगी। लोग कहेंगे, ये बहुत बड़े दानी हैं इसप्रकार के यश की आकांक्षा से लोभी पुरुष दान करता है।

'**जसकित्ति**' हमारी लोक में सुकीर्ति फैलेगी, सारी दुनिया हमारे नाम का यशगान करेगी, इसप्रकार यश प्राप्ति के लिये लोभी पुरुष दान करता है। मुझे पुण्य की प्राप्ति होगी इस आकांक्षा से लोभी पुरुष दान करता है। मुझे सभी अनुकूल साधन सामग्री की प्राप्ति होगी इस निमित्त लोभी पुरुष दान करता है।

वह लोभी पुरुष कहाँ दान करता है? '**जत्थ तत्थेव**' यत्र-तत्र कुपात्र आदिकों के लिये भी दान करता है। यह विचार नहीं करता कि यह कुपात्र है, मुझे यहाँ दान नहीं करना चाहिये। पात्र का विचार न करके वह मात्र अपने यशकीर्ति, पुण्यलाभ के लिये यत्र-तत्र कुपात्रादिकों के लिये भी दान करता रहता है।

'**सुबहुगं पि**' अर्थात् दान भी बहुत करता है। '**सम्मादिसुगुणभायण**' किन्तु जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र आदि उत्तम गुणों के आधार हैं ऐसे '**पत्तविसेसं ण जाणंति**' पात्र विशेष अर्थात् सुपात्र को नहीं जानता है।

आचार्य कुंदकुंददेव कह रहे हैं—लोभी पुरुष एक तो दान करता ही नहीं है और कदाचित् वह दान करे भी, तो यशकीर्ति के लिये दान करता है। अज्ञानी सोचता है, मैंने सुपात्र को दान दिया तो इसे कौन देखेगा? कौन जानेगा? और मैंने वहाँ दान किया जहाँ हमारे लिये माला पहिनायी जाती हो, जहाँ हमारा नाम बड़े आदर और सम्मान के साथ लिया जाता हो, जहाँ हमारे लिये बहुत बहुमान दिया जाता हो, तो लोक में मेरी ख्याति होगी, मैं तो ऐसे ही स्थान पर दान दूँगा। किसलिये दान कर रहा है? सिर्फ अपने सम्मान के लिये दान कर रहा है।

आचार्य कुंदकुंद स्वामी कहते हैं—ऐसे लोभी पुरुष का बहुत दान भी अर्थी पर पड़े शव की शोभा के समान है। यहाँ दान तो दिया जा रहा है लेकिन उस दान से उसे कुछ भी फल की प्राप्ति नहीं होगी।

सम्यग्दृष्टि और लोभी के दान में सिर्फ इतना ही अंतर होता है कि सम्यग्दृष्टि सुपात्र को दान करता है और लोभी पुरुष सुपात्र, कुपात्र कुछ भी नहीं जानता है। वह तो सिर्फ इतना जानता है कि जहाँ मुझे सम्मान मिलेगा, आदर मिलेगा, माला पहनायी जायेगी, लोग हमारी प्रशंसा में गीत गायेंगे, हमारे लिये प्रशंसा भरे शब्द बोलेंगे मैं वहाँ दान करूँगा।

धर्मक्षेत्र में दान करना हो तो आदमी 50 रुपया देने के लिये भी विचार करता है और यत्र-तत्र कहीं से चमत्कार की आशा लगी हो तो वहाँ आदमी 50 रुपये तो ठीक है 50 हजार और 5 लाख भी दान करने को तैयार हो जायेगा। वहाँ दान करने को वह तैयार क्यों है? क्योंकि वहाँ बहुत बड़े चमत्कार की आशा है। सोचता है—अगर मैं वहाँ इतना दान करूँगा तो उससे कई गुना ज्यादा मुझे प्राप्त हो जायेगा।

लोभी यह नहीं जानता कि पात्र और कुपात्र में कितना बड़ा अंतर होता है? कोई व्यक्ति आपसे अपना बीज बंजर भूमि में बोने के लिये कहे, तब क्या आप अपना बीज उस खोटी भूमि में बोने के लिये तैयार होंगे? भले ही कितना भी सम्मान आपको मिले लेकिन आप तैयार नहीं होंगे। क्योंकि आप जानते हैं कि यह भूमि बंजर है, इस भूमि में बीज डालूँगा तो हमारा बीज नियम से समाप्त हो जायेगा, नष्ट हो जायेगा, फलित नहीं होगा। आप कहेंगे कि भले ही कोई मुझे कितना भी सम्मान दे, कितना भी आदर-सत्कार दे लेकिन मैं इस बंजर भूमि में अपना बीज नहीं डालूँगा। और भूमि यदि उत्तम हो तो भले ही कोई आपको सम्मान दे अथवा न दे,

फिर भी आप अपना बीज उसमें वपन करने को तैयार हो जायेंगे क्योंकि आप इस बात को अच्छी तरह से जानते हैं कि उत्तमभूमि में बोया गया बीज बहुत फल देनेवाला होता है।

लोभी पुरुष को इस बात का परिज्ञान नहीं होता। वह धर्मक्षेत्र में दान कम करता है, जबकि सम्मान आदि लौकिक फलों की चाह में यत्र-तत्र खूब दान करता है।

अगर किसी को किसी बड़े आयोजन में मुख्य अतिथि बना दिया जाये, उसके बड़े-बड़े फ्लेक्स (Flex) फोटो (Photo) पत्र-पत्रिकाओं में फोटो (Photo) प्रिन्ट करा दिये जायें तो व्यक्ति लाखों रुपया दान देने को तैयार हो जाता है। क्यों? क्योंकि जिससे लोग जानें कि मैं मुख्य अतिथि हूँ और यदि सुपात्र को दान देने का अवसर आ जाये तो वह व्यक्ति पीछे हट जाता है, क्योंकि वह लोभी है। अपनी लोभ प्रवृत्ति के कारण वह सुपात्र को नहीं पहिचान पाता। जबकि शुभ फल सुपात्रदान का ही मिलता है। कुपात्रदान का कोई भी सम्यक् फल प्राप्त नहीं होता। ध्यान रखना, मुनिराज आदि ही सुपात्र होते हैं, अन्य लिंगी जितने भी हैं वे सब कुपात्र हैं। उन्हें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र का पता ही नहीं है, समीचीन मोक्षमार्ग का ज्ञान ही नहीं है। जो रत्नत्रयवान् सच्चे साधक हैं वे ही पात्रों की गणना में आते हैं, ऐसे सुपात्रों का प्राप्त होना बड़ा दुर्लभ है। सुपात्र की दुर्लभता का कथन करते हुये आचार्य कहते हैं–

दुक्खेण लहइ वित्तं लद्धेवि दुल्लहं चित्तं।
लद्धे चित्ते वित्ते सुदुल्ल हो पत्त लंभो य ।।प्रा.भा.सं.।।

अर्थात् इस संसार में धन बड़े दु:ख से प्राप्त होता है, धन के प्राप्त होने पर दान देने का मन में भाव होना दुर्लभ है, यदि धन और मन दोनों का योग भी मिल जाये तो सुपात्र का लाभ होना बहुत दुर्लभ है।

अहो! सुपात्र की दुर्लभता को समझो। पात्र और कुपात्र में भेद जानकर आत्मोत्थान के लिये दान का पथ अपनाना चाहिये। लेकिन कभी लोभी बनके दान मत करना, कि मुझे यहाँ दान करने से यशकीर्ति की प्राप्ति होगी। दुनिया में अधिकांश लोग मात्र यशकीर्ति या पुण्यलाभ के लिये ही दान किया करते हैं।

दान करते हुये मन में कभी पुण्य की आकांक्षा नहीं करना चाहिये। सम्यग्दृष्टि जीव दान करते हुये भी पुण्य नहीं चाहता। जो दान करता है उसे पुण्य तो मिलता ही है। सम्यग्दृष्टि पुण्य

की इच्छा नहीं करता जबकि लोभी पुरुष दान के बदले में पुण्य की चाह करता है। उसे पुण्य मिल भी जाये, तो वह पुण्य उसे मात्र बाहरी वैभव की प्राप्ति करायेगा, वह उसे संसार में ही बाँधकर रखेगा।

ध्यान रखना, सम्यग्दृष्टि जीव सुपात्र को दान देकर उत्तमपुण्य कमाता है। लोभी पुरुष कुपात्र आदि को दान देकर निरतिशय पुण्य, तुच्छ पुण्य कमाता है, उस पुण्य के फल से उसे किंचित् बाहरी धन-संपदा आदि अनुकूल साधन तो प्राप्त हो जाते हैं, लेकिन वह उनका भोग अत्यंत आसक्तिपूर्वक करता है। उससे कभी धन, सम्पदा, परिवार छूटता नहीं है और उसी धन, भोग, वैभव में आसक्त होकर जब वह मरण करता है तो नियम से दुर्गति का पात्र होता है। नियम से वह नरक आदि कुगतियों में जाता है।

दान करने से पुण्य मिलेगा ही, अत: पुण्य की चाह नहीं करना चाहिये। लोभी दान करते हुये सोचता है अगर मैं दान करूँगा तो मुझे दोगुने और चौगुने धन की प्राप्ति होगी। अगर सच्चा दान करना है तो दोगुने और चौगुने का भाव मन में मत लाना, सिर्फ ये भाव रखना कि दान करना मेरा कर्तव्य है। सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा दानी श्रावक विचार करता है कि पुण्योदय से मुझे सबकुछ प्राप्त हुआ है, और आगे भी प्राप्त होता रहेगा। मैं इसलिये दान नहीं दे रहा हूँ, कि दान के पुण्यफल से मुझे और अधिक धन लाभ प्राप्त हो जाये, मुझे नहीं चाहिये। यह तो मेरा कर्तव्य है, मैं तो अपने कर्तव्य का पालन कर रहा हूँ। बस, इतना ही उसकी आत्मा में ज्ञान होता है और इसी का नाम है सम्यग्ज्ञान।

लोभी कैसे दान करता है? अगर उससे कहो कि भाईसाहब! अमुक श्रेष्ठ कार्य के लिये आप कुछ दान दे दीजिये तो कहेगा– विचार करेंगे, सोचेंगे, बाद में बतायेंगे। और कहीं दूसरी जगह उसे ऐसा महसूस हुआ कि अगर मैं इनको दान करूँगा तो मुझे छप्पर फाड़ कर मिलेगा। वह वहाँ लोभ में आकर कहता है मेरी तरफ से 50 नहीं, 5000 लिखो। वह केवल लोभ में दान कर रहा है। किसलिये? शायद कोई चमत्कार घटित हो जायेगा। लेकिन वह ये नहीं जानता कि चमत्कार हमेशा पुण्यात्माओं के जीवन में ही घटित होता है, पापियों के जीवन में कभी कोई चमत्कार घटनेवाला नहीं है। आदमी निरन्तर पाप कार्य करे और चाहे कि हमारे साथ भी चमत्कार हो जाये तो ध्यान रखना, विपरीत चमत्कार हो सकता है लेकिन श्रद्धा का चमत्कार नहीं हो सकता। उसकी संपदा नष्ट तो होगी है लेकिन वृद्धि को प्राप्त नहीं हो सकती।

इस पंचमकाल में लोभी पुरुष पात्रों को देखकर भी, पात्रों को प्राप्त करके भी दान की भावना नहीं कर पाता। जहाँ श्रेष्ठ फल की प्राप्ति होना है वहाँ दान नहीं कर पाता और जब देखा, कि इन संतजी के पास तो बड़े-बड़े राजनेता आते हैं, बड़े-बड़े उद्योगपति आते हैं, मैं यहाँ दान करूँगा तो इन संतजी के निमित्त से इन राजनेताओं के माध्यम से अथवा उद्योगपतियों के माध्यम से हमारा भी कुछ काम बन जायेगा, उस स्थान पर वह लोभी खूब दान करता है और जो सच्चे वीतरागी निर्ग्रंथ मुनिराज हैं, जिनके पास कोई राजनेता आदि नहीं आते हैं तो वहाँ यह सोचता है कि यहाँ दान करूँगा तो मुझे कुछ मिलनेवाला नहीं है। कुछ पाने के लोभ में वह कुपात्रों के पास जाता है, उनके चरण पूजता है, उनकी वंदना करता है लेकिन वह अज्ञानी नहीं जानता कि उसका यह दान केवल अर्थी पर रखे शव के समान नष्ट होनेवाला है। इस दान से उसे किसी भी प्रकार के श्रेष्ठ फल की प्राप्ति होनेवाली नहीं है।

आचार्य भगवन् कुंदकुंददेव कह रहे हैं—लोभी पुरुष यशकीर्ति पुण्यलाभ के लिये यत्र, तत्र, कुपात्र आदि को बहुत दान देता है किन्तु जो सम्यक्त्वादि उत्तम गुणों के आधार हैं ऐसे सुपात्र को नहीं जानता। सम्यग्दृष्टि श्रावक कुपात्र आदि से दूर रहता है और सुपात्र को दान देने के लिये हमेशा तत्पर रहता है। उसकी रुचि सुपात्र में होती है, सुपात्र के प्राप्त होने पर उसकी आत्मा का एक-एक प्रदेश हर्ष से भर उठता है।

धर्मसंग्रह श्रावकाचार में कहा है—सुपात्र लाभ होने पर उसकी मनः परिणति कैसी होती है?

अद्याहं सफलो जातः फलितो मे शुभद्रुमः।
कल्पवृक्षादयो लब्धाः प्राप्तं पात्रं यदीदृशम् ।।7-97।।

वह सम्यग्दृष्टि जीव सोचता है—आज मेरा जीवन सार्थक हुआ। आज मेरा पुण्यरूपी वृक्ष फलित हुआ। अहो! आज मानो कल्पवृक्ष, चिन्तामणिरत्न, कामधेनु आदि मनोभिलाषित उत्तम-उत्तम वस्तुएँ ही प्राप्त हुईं हैं जो आज मेरे भाग्य से तपस्वी रत्न मेरे गृह में आहार के लिये पधारकर मुझ मन्दभागी के घर को अपने चरणकमलों की रज से पवित्र कर रहे हैं।

एवमानंद पूर्वो यो निदानादि विवर्जितः।
दत्ते पात्राय सद्भक्तिं तत्पुण्यं केन वर्ण्यते।।7-98।।

इसप्रकार आनंदपूर्वक निदानादि से रहित आगामी सुखों की अभिलाषा से रहित, जो भव्य पुरुष भक्ति सहित उत्तम पात्रों को प्रासुक आहार देता है, उस महादान के प्रभाव से होनेवाली पुण्यराशि का कहाँ तक वर्णन करें। उस श्रावक के हर्ष का तब पारावार नहीं रहता जब कोई उत्तम पात्र उसके द्वार पर आता है। वह खुशी से झूम उठता है। वह इस बात की श्रद्धा रखता है कि सुपात्र को दान देने से ही मुझ आत्मा का हित होगा। वह आत्मकल्याण के भाव से दान देता है। वह जानता है कि पात्रदान से लोभकषाय का नाश तथा तृष्णा समाप्त होगी और जिनधर्म की प्रभावना के साथ-साथ आत्मा का हित भी प्राप्त होगा।

सम्यग्दृष्टि जीव दान देते हुये यह नहीं सोचता है कि मैं महाराज को दान दूँगा तो महाराज श्री हमारे लिये आशीर्वाद देंगे जिससे हमारे भी दिन बदल जायेंगे, धन-संपदा की प्राप्ति होगी, हमारे सब संकट दूर हो जायेंगे, कष्ट दूर हो जायेंगे। ध्यान रखना, जो इन लौकिक प्रयोजनों से दान करता है वह उत्तम फलों को प्राप्त करने के योग्य होकर भी तुच्छ फलों में संतुष्ट होता है। कहाँ तो पारमार्थिक उत्तम फलों की प्राप्ति और कहाँ सांसारिक तुच्छ फलों में ही संतुष्टि।

एक सेठजी के पास बहुत धन-सम्पदा थी। सेठजी ने अपनी सारी सम्पदा अपने पुत्र के नाम कर दी। पुत्र छोटा था उसे कुछ पता ही नहीं था। किसी बीमारी के कारण सेठजी की असमय में मृत्यु हो गई। अब पुत्र अपने को अनाथ समझने लगा, दीन-हीन और गरीब समझने लगा। सेठजी के मुनीम को सब पता था कि सेठजी ने सारी संपदा अपने पुत्र के नाम कर रखी है, लेकिन उस बच्चे को कुछ भी पता नहीं था। अपनी संपदा का पता न होने के कारण वह बालक मुनीम जी के आगे बार-बार हाथ फैलाता था। आप हमें कुछ खर्च पानी के लिये पैसे दे दो। मुनीम थोड़ा कुछ रुपया-पैसा दे देता था। वह बालक यह समझता था ये मुनीम हमारा बहुत बड़ा उपकारी है, ये मुझे पैसे देता है, धन देता है। वास्तव में उस धन का मालिक वह बेटा ही था, लेकिन उसे ज्ञात नहीं था कि मुझे मेरे पुण्य से इतने धन की प्राप्ति हुई है। वह तो मुनीम के द्वारा जो कुछ दिया जाता था, उतने में ही संतुष्ट रहा करता था। इसीप्रकार की स्थिति अज्ञानीजनों की हुआ करती है। सुपात्रदान के फल से उन्हें बहुत बड़े फल की प्राप्ति हो सकती है, लेकिन उस विशिष्ट फल को न समझकर तुच्छफल की इच्छा करते हैं और तुच्छफलों को पाकर ही संतुष्टि का अनुभव करते रहते हैं।

तात्पर्य यह है कि अगर दान करने का भाव आत्मा में आये तो सिर्फ सुपात्रदान करना चाहिये। अपना बीज उत्तमभूमि में ही समर्पित करना चाहिये। मनीषियों ने कहा है–

पात्रे स्वल्प वयपं पुंसामनंतफल भाग्भवेत्।
भुक्त्वा दत्तं यथायुक्ति शुद्धक्षेत्रोप्त बीजवत् ।।15।।

जिसतरह उत्तम खेत में थोड़ा भी धान्य बहुत फल को देनेवाला होता है, उसीतरह पात्रों के लिये थोड़ा भी व्यय किया हुआ द्रव्य अनंतगुणा फल देनेवाला होता है।

यश:कीर्ति, पुण्य, पूजा-प्रतिष्ठा, सम्मान के लिये दान करना ये लोभी का दान कहलाता है और यह दान नियम से नष्ट होनेवाला है। परभव में इस दान से विशेष फल की प्राप्ति होनेवाली नहीं है। व्यक्ति दान इसलिये करता है कि इस भव में तो मुझे सबकुछ प्राप्त हुआ ही है, यह भव तो मेरा सुखपूर्वक व्यतीत हो ही रहा है, परभव में भी मेरे जीवन में कोई प्रतिकूलता न आये, इसलिये दान आदि करके सहज ही पुण्य को प्राप्त करना चाहिये।

ज्ञानी, विज्ञ पुरुष यह भाव रखता है कि मुझे दान के फल से आत्महित की प्राप्ति हो। मैं नि:कांक्षित, निर्लोभी बन सकूँ। मैं इतना अनासक्त हो सकूँ कि एक दिन सच्चे मार्ग को प्राप्त करके अपने आत्मकल्याण के लक्ष्य को साध लूँ, अपनी आत्मा को हमेशा के लिये सुखी बना लूँ। ऐसा परिणाम दानी पुरुष का होना चाहिये।

ध्यान रखना, कभी लोभ के वशीभूत होकर मात्र यशकीर्ति के लिये दान नहीं करना चाहिये। यह मत सोचना कि मैं दान दूँगा तो लोग कहेंगे, ये बहुत दान करते हैं, बहुत बड़े दानी हैं। भैया! बहुत भी दान दिया लेकिन यश की इच्छा से दिया तो तुम्हारे द्वारा दिया गया सारा दान पत्थर हो गया, मिट्टी हो गया। वही दान यदि सुपात्र को आत्महित, आत्मकल्याण की भावना से दिया होता, तो परभव में भी आपको सुख और शान्ति प्रदान करनेवाला होता। तात्पर्य यह है कि जीवन मिला है, उच्चकुल, श्रेष्ठकुल मिला है, सुपात्रदान की योग्यता आपको मिली है, तो अपनी योग्यता का सही उपयोग करना। लोभी बनकर दान करने का भाव मन में कभी मत लाना।

इसप्रकार आचार्य भगवन् कुंदकुंददेव ने इस गाथा के माध्यम से बोध कराया है कि लोभी का दान सिर्फ ऐहिक कामना की पूर्ति के लिये होता है। ऐहिक कामना का अर्थ है–संसार के सुखों की चाहना। अधिकांश लोगों का भाव यही होता है कि हम यदि अमुक स्थान पर दान

करेंगे तो हमारा अमुक-अमुक कार्य बन जायेगा। हमारे लिये सभी प्रकार के सुख प्राप्त हो जायेंगे, हमारे संकट दूर हो जायेंगे। अरे भाई! अगर तू ये कामना न भी करे तो भी तुझे फल की प्राप्ति होगी। जैसे कोई व्यक्ति पूर्व दिशा की ओर मुख करके, पूरबमुखी घर का दरवाजा खोलकर बैठा है और चाह कर रहा है कि मेरे घर में सूरज की रोशनी आ जाये। अरे भाई! जब तू पूर्व दिशा की ओर मुख करके बैठा हुआ है, पूर्व दिशा की ओर तेरे मकान का दरवाजा है, तू जब भी दरवाजा खोलेगा तो रोशनी अपने आप आयेगी ही। तू व्यर्थ की चाह क्यों कर रहा है?

जिन्हें जैनधर्म का ज्ञान नहीं है, जिन्हें जैनधर्म का श्रद्धान् नहीं है, दान के स्वरूप का जिन्हें विचार-विवेक नहीं है ऐसे अज्ञानीजन मात्र ऐहिक कामना से प्रेरित होकर दान करते हैं। वे सोचते हैं कि हम महाराज को दान करेंगे तो महाराज हमारे लिये कोई ऐसा मार्ग बता देंगे, कोई ऐसा मंत्र बता देंगे जिससे घर में बेटा-बेटी या एक-दो संतान का जन्म हो जायेगा। हमारा व्यापार ठीक चलने लगेगा। हमारे पतिदेव जब देखो तब लड़ते-झगड़ते रहते हैं उनकी बुद्धि थोड़ी ठीक हो जायेगी। अरे भाई! तू इतनी सारी ऐहिक कामना के साथ दान कर रहा है, तेरा यह दान निष्फल है।

अच्छा होता अगर तू वह दान परमार्थ की भावना से करता, तो वह अवश्य तेरे कल्याण का हेतु बन जाता। तेरा पुण्य उदय होगा, तो स्वतः ही तुझे सब अनुकूलतायें प्राप्त होंगी। तू जहाँ भी जायेगा हर वस्तु तेरे अनुकूल होगी। अगर तूने ऐहिक कामना से दान किया तो तेरा वह दान भी चला जायेगा और तुझे कोई फल भी प्राप्त नहीं होगा। ऐहिक कामना से दिया गया दान निरर्थक है, ऐसे दान से आत्महित का प्रयोजन सिद्ध होनेवाला नहीं है।

अगर आपसे कहा जाये कि पंचकल्याणक का आयोजन हो रहा है, आप इसमें दान देकर अपने जीवन को सार्थक कीजिये। आप उस समय विचार करने लग जाते हो, सोच में पड़ जाते हो, चिंतन करने लग जाते हो जबकि वहाँ आपको उत्तम फल की प्राप्ति होनेवाली है। और कहीं लोभ दिखाया जा रहा हो, प्रलोभन दिया जा रहा हो कि आप यदि यहाँ पर अपना धन लगायेंगे तो तुरंत आपके व्यापार में वृद्धि होगी आदि। ध्यान रखना, ये मात्र प्रलोभन है।

अगर आप व्यापार वृद्धि का पुरुषार्थ नहीं करेंगे तो न आपके व्यापार में वृद्धि होगी और न ही कुछ विशेष फल प्राप्त होगा। यह लोभ मात्र है कि आप यहाँ पर आयेंगे, कलश रखेंगे

तो आपके व्यापार की वृद्धि होगी, घर में सुख-शांति रहेगी। ओ हो! जिस मार्ग से शांति आती है उसके विपरीत मार्ग पर चलकर तू शांति चाहता है, तो शांति मिलनेवाली नहीं है, भले ही तू कितने भी कलश रख ले, उपाय करले, न व्यापार में वृद्धि होगी और न घर में शांति होगी।

बंधुओ! सांसारिक अनुकूलतायें तो पुण्याधीन हैं अगर आपकी झोली में पुण्य है तो ये सब चीजें स्वयमेव ही प्राप्त हो जाती हैं।

कोई कहे–सूरज आयेगा और तेरा भाग्य चमक जायेगा, तेरी किस्मत चमक जायेगी। अरे भाई! सूरज आयेगा, लेकिन तेरी किस्मत तो तभी चमकेगी जब तू सूरज की रोशनी में धनार्जन के लिये परिश्रम करेगा। ये मत समझ लेना, कि सूरज आयेगा, रोशनी हो जायेगी तो तेरा भाग्य चमक जायेगा। ध्यान रखना, कुछ भी होनेवाला नहीं है। जब तक तू स्वयं परिश्रम नहीं करेगा, तब तक तेरा भाग्य चमकनेवाला नहीं है।

बंधुओ! लोभी बनकर अथवा ऐहिक कामना से दिया हुआ दान कभी फलीभूत नहीं होता है। आप सभी अज्ञानता से छूटकर समीचीन मार्ग, यथार्थमार्ग, सत्यमार्ग को समझने का प्रयास कीजिये। अपने जीवन को वास्तविक हित के मार्ग से जोड़ने का कार्य कीजिये। अपने हित और अहित का निर्णय आपको स्वयं करना होगा। आप अहित से बचें, अपना हित करें इसी भावना के साथ...।

यशः कीर्ति मिल जाये, पुण्यलाभ कुछ फल जाये।
लोभी दान किया करता, शायद किस्मत खुल जाये।।
सत्पात्र को वह, हो-हो-2, कभी जान न पाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2 संहिता दिखलाये रे।।

अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

❑❑❑

(ऐहिक कामना से दिया दान निरर्थक है)

जंतं मंतं तंतं, परिचरिदं पक्खवाद पियवयणं।
पडुच्च पंचमयाले भरहे दाणं ण किं पि मोक्खस्स ॥28॥

*** अन्वयार्थ ***

(**पंचमयाले**) इस पंचमकाल में (**भरहे**) भरतक्षेत्र में (**जंतं**) यंत्र, (**मंतं**) मंत्र, (**तंतं**) तंत्र, (**परिचरिदं**) सेवा-परिचर्या (**पक्खवाद**) पक्षपात, (**पियवयणं**) प्रियवचन और (**पडुच्च**) प्रतीति के लिए दिया हुआ (**किं पि**) कोई भी (**दाणं**) दान (**मोक्खमग्गस्स**) मोक्षमार्ग का कारण (**ण**) नहीं है।

अर्थ–इस पंचमकाल में भरतक्षेत्र में, यंत्र-मंत्र-तंत्र की प्राप्ति के लिये, सेवा-परिचर्या के लिये, पक्षपात से, प्रियवचन और प्रतीति अर्थात् मान-प्रतिष्ठा के लिये दिया हुआ कोई भी दान मोक्ष का कारण नहीं है।

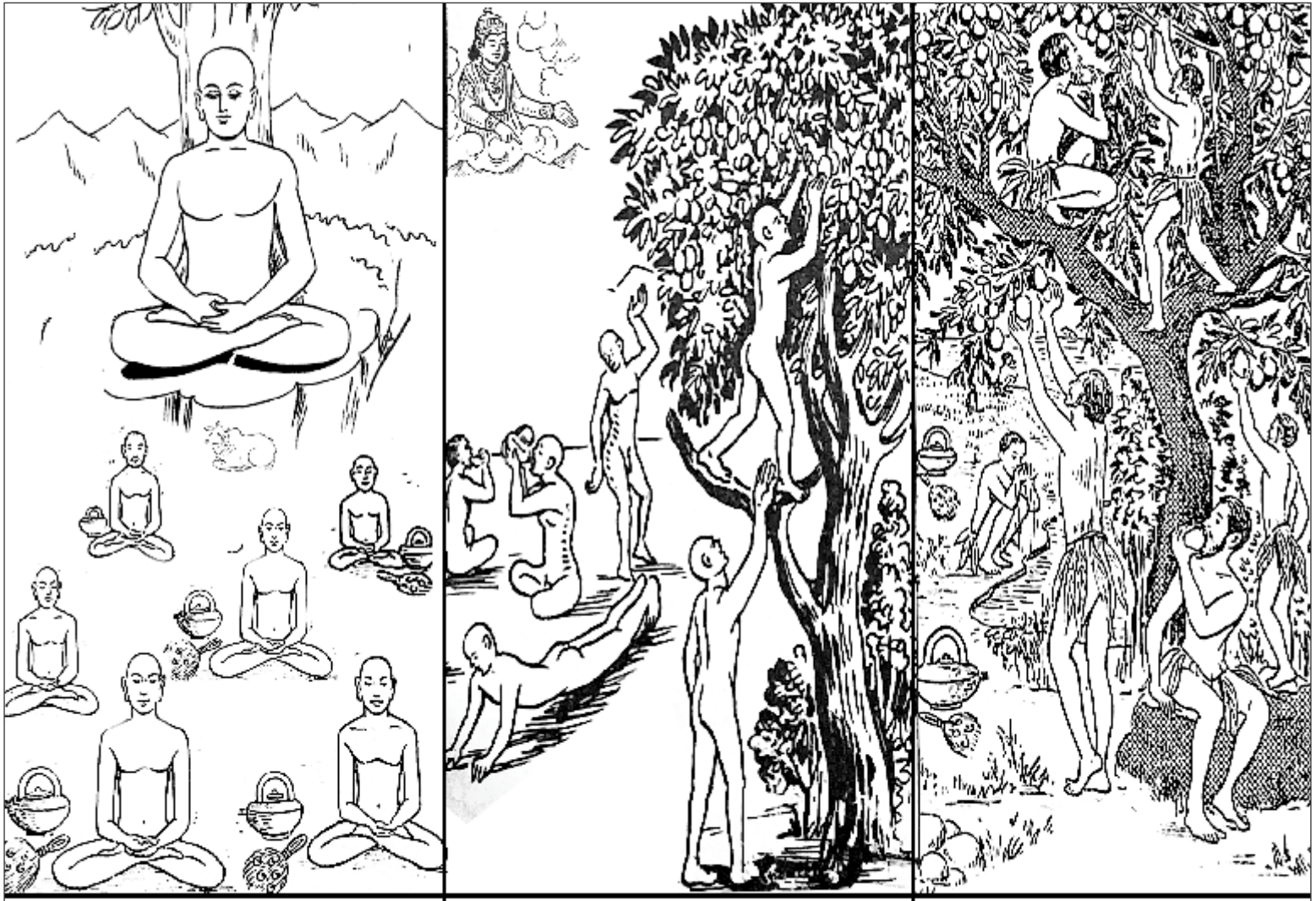
गाथा - 28

(प्रवचन)

●

निर्ग्रंथ मुद्रा में यंत्र-विक्रय, अहो दुर्भाग्य।

21.09.2013
भिण्ड (म.प्र.)



महामुनि आदिनाथ के साथ 4000 राजाओं ने दीक्षा ग्रहण की।

भूख-प्यास से व्याकुल मुनि जल-फल ग्रहण करने लगे। तब देववाणी हुई। इस मुनिमुद्रा में ऐसी चर्या नहीं कर सकते।

आत्मज्ञान से रहित मुनि भेष बदलकर क्षुधा मिटाने लगे। जिससे अन्यमत उत्पन्न हुये।

38

रयणोदय

यंत्र-मंत्र-तंत्रादि मिले, मान-प्रतिष्ठा खूब मिले।
पक्षपात प्रियवचन सहित, सेवा करता दान अरे।।
मुक्ति का कारण, हो-हो-2 नहिं दान कहाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2 संहिता दिखलाये रे।।

'**जयदु जिणागमपंथो**' अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

तीर्थंकर भगवंत की दिव्यध्वनि जिनश्रुत है, जिनागम है। जिनागम में वर्णित आत्मकल्याणकारी मार्ग, आत्महितकारी पंथ '**जिनागम पंथ**' है। परस्पर रागद्वेष को बढ़ानेवाले आगमबाह्य पंथ उन्मार्ग हैं। वीतरागता को देनेवाला, '**परस्परोपग्रहो जीवानाम्**' का प्रतीक '**जिनागम पंथ**' सन्मार्ग है।

इस पंचमकाल में धर्म का पालन करना बहुत कठिन है। श्रावक जो गृहस्थ जीवन में रहता है, सुबह से लेकर शाम तक घर गृहस्थी के आरम्भ, व्यापार आदि कार्यों में उलझकर निरंतर पाप का उपार्जन करता है। गृहस्थी में रहते हुये कभी श्रावक विचार करता है कि इस पापकर्म से छूटने का कोई उपाय है अथवा नहीं? भगवान् महावीर स्वामी कहते हैं–यदि गृहस्थ, घर

गृहस्थी धारण करते हुए, व्यापार आदि कार्य करते हुए उत्तम, मध्यम और जघन्य पात्र के लिए आहारदान देता है तो उसका वह पापकर्म धुल जाता है। उस दान की परम्परा से वह एक दिन ऐसा पुण्य और पुरुषार्थ प्राप्त करता है कि स्वयं भी मोक्षमार्गी होकर निर्वाण को प्राप्त कर लेता है।

बंधुओ! जैन श्रावक जिनमंदिर क्यों आते हैं? क्या प्रयोजन है जिनमंदिर आने का? आप कहेंगे, जिनेन्द्र भगवान् के दर्शन करने आते हैं। हम सभी ने यही सुना है, सीखा है कि प्रत्येक जैनी श्रावक को प्रतिदिन जिनेन्द्र भगवान् का दर्शन करना चाहिए। लेकिन हम जिनमंदिर मात्र जिनेन्द्र भगवान् का दर्शन करने ही नहीं आते अपितु हम भी जिनेन्द्र भगवान् जैसी पर्याय प्राप्त कर सकें, इस भाव से आते हैं। मात्र दर्शन करना प्रयोजन नहीं है अपितु दर्शन के साथ भगवान् बनने का प्रयोजन है। भगवान् के दर्शन करने में भगवान् बनने का प्रयोजन छुपा हुआ है।

ध्यान रखना, हम मंदिर किसलिए आते हैं? भगवान् बनने के लिए आते हैं। पूजा किसलिए करते हैं? भगवान् बनने के लिए करते हैं। स्वाध्याय किसलिए करते हैं? भगवान् बनने के लिए करते हैं। संयम का पालन किसलिये करते हैं? भगवान् बनने के लिए करते हैं। दान किसलिए करते हैं? भगवान् बनने के लिए करते हैं। गुरु भक्ति, गुरु की उपासना, सेवा परिचर्या क्यों करते हैं? भगवान् बनने के लिए करते हैं। हमारे द्वारा सम्पादित सभी शुभ कार्यों का एकमात्र यही प्रयोजन है कि हम भी एक दिन अपनी आत्मा को परमात्मा बना सकें।

हम भगवान् बनने के प्रयोजन से इन पूजादि शुभ कर्तव्यों को करते हैं लेकिन ये शुभकर्म किसी को भगवान् नहीं बनाते। क्या समझे? शुभ कर्तव्य किसी को भगवान् नहीं बनाते और शुभ कर्तव्य किये बिना भी कोई भगवान् नहीं बनते। अनादि से जीवात्मा अशुभ कर्मों का बंध करता आया है। जब तक सच्चे देव-शास्त्र-गुरु जैसे शुभ निमित्त प्राप्त नहीं होते तब तक जीव को यह भान ही नहीं होता कि मैं कौन हूँ? मेरा कर्तव्य क्या है? मेरा मार्ग क्या है? और मेरी मंजिल कौन सी है?

दर्शनार्थी जब भगवान् को देखता है तो सोचता है कि भगवान् पर्याय से पहले अहो! ये भी मनुष्य ही थे। जैसे हम अपना सादा जीवन जीते हैं ऐसे ही ये भी पूर्व पर्याय में अपना जीवन जीते थे। घर गृहस्थी इनकी भी थी। परिवार, धन, सम्पदा, वैभव इनके पास भी था। कभी मेरी तरह ये भी राग-द्वेष-मोह को प्राप्त हुए थे। लेकिन इन्होंने यह समझ लिया कि यह जो रागादि रूप परिणाम हैं, ये हमारी आत्मा के लिए अहितकारी हैं। हमें आत्महित के लिये अपनी आत्मा

के शुद्धस्वभाव का ज्ञान करना होगा। जब आत्मा के शुद्धस्वभाव का ज्ञान होगा, उसका आश्रय होगा तो एक दिन हम भी भगवान् बन जायेंगे। इन्होंने निज शुद्धात्मज्ञान के साथ समीचीन पुरुषार्थ किया जिसके फलस्वरूप आज ये भगवान् पर्याय को प्राप्त हुए हैं।

आप सोना चाहते हों, और घर में शिशु रो रहा हो तो नींद नहीं आती। अगर शिशु न रोये तो आप नींद ले लेते हो। आप नींद लेने के लिए पूर्णतया योग्य हैं, फिर नींद क्यों नहीं ले पा रहे हैं? कारण क्या है? कारण है शिशु। वह रातभर घर में रोता रहता है, आपको उसकी चिंता रहती है। इसीप्रकार आप निज शुद्धात्मा का ध्यान कर सकते हैं, आप अपने निज शुद्धात्मा का ज्ञान कर सकते हैं, आप अपने निज शुद्धात्मा में लीन हो सकते हैं, लेकिन जो विषयसुखरूपी शिशु है वह आपको अपनी आत्मा की ओर जाने से रोकता है, बाधा डालता है। अगर बालक रो रहा हो, भूखा हो, प्यासा हो, तो उसे दूध या पानी पिलाते ही वह शांत हो जायेगा और आप सुखपूर्वक सो सकेंगे। इसीतरह जितने भी शुभकर्म हैं, शुभोपयोगरूप क्रियायें हैं ये बालक को दूध पिलाकर शांत करनेवाला कार्य है।

अहो! शिशु के शांत होने पर भी नींद नहीं आ जाती, जब आप निद्रा लोगे तभी आयेगी। यदि बालक रोता रहेगा तो भी आपको नींद नहीं आयेगी। इसलिए हमें शुभकार्य करना भी अत्यन्त आवश्यक हैं जिससे हम आत्महित में इन पापकर्मों से होनेवाली बाधा से विमुक्त हो सकें।

श्रावकों के लिए आचार्य भगवन् श्री पद्मनंदीस्वामी ने षट् कर्तव्यों के पालन का मार्ग बताया है –

देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानञ्चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने।। 6-7।। (प.पं.)

श्रावक को देवदर्शन, देवपूजा करना चाहिए। गुरुजनों की सेवा, परिचर्या, उपासना करना चाहिए। संयम का पालन, स्वाध्याय, तप और यथाशक्ति दान भी करना चाहिए। इन कर्तव्यों का पालन श्रावक को प्रतिदिन आवश्यक रूप से करना चाहिए। अगर वह देवपूजा आदि शुभ कार्य नहीं करेगा तो अपने लक्ष्य की सिद्धि, अर्थात् साधना नहीं कर पायेगा। इन शुभ क्रियाओं को किये बिना वह अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता।

गृहस्थ जीवन में जीव अनेक पापों का उपार्जन करता रहता है। आचार्य कहते हैं, गृहस्थ निरन्तर पापार्जन, आरम्भ के कार्यों में लगकर अपना समय व्यतीत करता है।

खण्डनी पेषणी चुल्ली उदकुम्भः प्रमार्जनी।
पंचसूना गृहस्थस्य तेन मोक्षं न गच्छति।।भा.प्रा.टीका-81।।

गृहस्थ के कूटना, पीसना, चूला सुलगाना, पानी के घट भरना और बुहारी लगाना ये पाँच हिंसा के कार्य होते हैं अतः वह मोक्ष को प्राप्त नहीं होता।

आरम्भ के कार्यों में सिर्फ पापकर्म का उपार्जन होता है। श्रावक सोचता है-अरे रे! इतने पाप का बंध करके न जाने मुझे कौन सी दुर्गति में जाना पड़ेगा? भगवान् महावीर स्वामी कहते हैं-भो भव्य! यदि तेरे हृदय में सुपात्रदान का परिणाम है, तू अपने कर से निर्ग्रंथ योगी के करपात्र में दान देता है तो भले ही घर गृहस्थी में रहते हुए कितना भी पापकर्म किया हो, परंतु ये निश्चित है कि अभी खोटी आयु का बंध नहीं हुआ है। यदि जीव को खोटी आयु का बंध हो जाये तो वह चाहकर भी सुपात्र को दान नहीं दे सकता। अगर अपना निर्णय करना है तो पहुँच जाना पवित्रभाव लेकर विशुद्धिपूर्वक किसी निर्ग्रंथ के चौके में और एक ग्रास हाथ में लेकर कहना-हे स्वामिन्! मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि, आहार-जल शुद्ध है, हे स्वामिन्! आहार ग्रहण कीजिये।

तुम आहार देते समय मुनिराज के पाणिपात्र में सिर्फ ग्रास ही नहीं देते हो अपितु इस बात का निर्णय भी कर रहे होते हो कि अभी मुझे खोटी आयु का बंध नहीं हुआ है। खोटी आयु का बंधक निर्ग्रंथ मुनि के करपात्र में ग्रास नहीं रख पाता।

राजा श्रेणिक ने भगवान् महावीर के समोशरण में जाकर प्रश्न किया-भगवन्! आपके इस दिव्य समोशरण में हमारे सन्मुख अनेक भव्यजीवों ने मुक्ति प्रदायिनी दीक्षा अंगीकार की, बहुत से साधर्मियों ने संयम को धारण कर लिया, लेकिन हमारे भाव संयम को धारण करने के क्यों नहीं होते? हम अपने आपको संयम धारण करने में असमर्थ पाते हैं, आखिर कारण क्या है?

भगवान् महावीर की देशना में आया-भो श्रेणिक! तुझे नरक आयु का बंध हो चुका है इसलिए संयम ग्रहण नहीं हो सकता।

प्राकृत पंचसंग्रह में कहा भी है–

चत्तारि वि छेत्ताइं आउग बंधेण होइ सम्मत्तं।
अणुवद महव्वदाइं ण लहइ देवायुगं मोत्तुं।।1-20।।

चारों गति संबंधी आयुकर्म के बंध हो जाने पर भी सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो सकता है, परन्तु देवायु के बंध को छोड़कर शेष तीन आयुकर्म के बंध होने पर यह जीव अणुव्रत और महाव्रत को ग्रहण नहीं करता।

भो श्रेणिक! आप निर्ग्रंथ मुनिराज के लिए आहारदान भी नहीं दे सकते क्योंकि आपको नरक आयु का बंध हो चुका है।

बंधुओ! एक श्रावक, अपने श्रावक धर्म का पालन करता हुआ नित प्रति अपने आप का निर्णय करता रहता है कि कहीं मुझे किसी अशुभ आयु का बंध तो नहीं हुआ? जिस श्रावक की आत्मा में कर्तव्यपालन का पवित्र भाव बना हुआ है उस श्रावक को कभी अशुभ आयु का बंध हो ही नहीं सकता। इसीलिए कहा जाता है–

भो श्रावक! तू नित्य अपने कर्तव्य का पालन कर और निर्ग्रंथ आदि सुपात्रों के लिए दान देने के प्रति उत्साही रह। कदाचित् नगर में निर्ग्रंथ मुनिराज न हों तो भी तू हाथ में मंगलकलश लेकर द्वाराप्रेक्षण करते हुए अपने द्वार पर खड़े हो जाना और भावना करना कि आज कोई सुपात्र का लाभ मुझे मिल जाये तो मैं दान देकर अपनी पर्याय को सार्थक कर लूँ।

पंडित आशाधर जी सागारधर्मामृत के पाँचवे अध्याय के श्लोक 51, 52 में कहते हैं–

कृत्वा माध्यान्हिकं भोक्तु मुधुक्तोऽतिथिथये ददे।
स्वार्थं कृतं भक्तमिति ध्यायन्नतिथि मीक्षताम्।।5-51।।

अतिथिसंविभाग व्रतधारी व्रती श्रावक मध्यान्हकालीन स्नान करके, देवपूजा आदि क्रियाओं को करने के बाद भोजन करने को तत्पर अपने लिए बनाये हुए भोजन को 'पात्र को देने के बाद मैं भोजन करूँ' इसप्रकार चिंतवन करता हुआ अतिथि की प्रतीक्षा करे।

अगली गाथा में कहते हैं–

द्वीपेष्वर्धतृतीयेषु पात्रेभ्यो वितरन्ति ये।
ते धन्या इति च ध्यायेदतिथ्यन्वेषणोद्यतः।।5-52।।

अतिथि के लिए द्वाराप्रेक्षण करनेवाला श्रावक अपने मन में चिंतन करे कि अहो! जम्बूद्वीप, धातकी खण्ड, तथा पुष्करार्द्ध इन ढाईद्वीपों में जो श्रावक शास्त्रोक्त विधि के अनुसार सत्पात्रों को आहारदान देते हैं वे ही इस जगत में धन्य हैं, पुण्यवंत हैं।

अहो! ऐसी पात्रदान की भावना से भरा हुआ श्रावक, अपने कर्तव्य का पालन करनेवाला श्रावक, अशुभ आयु का बंध नहीं कर सकता। इसीलिए आचार्य भगवन् कुंदकुंददेव बता रहे हैं कि हमें सुपात्र के लिए दान अवश्य देना चाहिए। मुनिदान के प्रभाव से गृहस्थ के आरम्भ से पैदा हुए पापों का प्रक्षालन हो जाता है।

पं. आशाधर जी सागारधर्मामृत में समझाते हैं–

पञ्चसूनापरः पापं गृहस्थः सञ्चिनोति यत्।
तदपि क्षालयत्येव मुनिदान विधानतः।।5-49।।

अर्थात् पाँच सूना हैं प्रधान जिसके ऐसा गृहस्थ जिन पापों को संचित करता है उन सब पापों को भी वह गृहस्थ मुनियों के लिए विधिपूर्वक दान देने से अवश्य ही धो डालता है, नष्ट कर देता है।

कदाचित् कोई सुपात्र के लिए दान देते हुये अपने अंतरंग में कुछ लौकिक प्रयोजन रखे हुए है तो आचार्य भगवन् कहते हैं कि लौकिक प्रयोजन से दिया गया दान मोक्षमार्ग में कारण नहीं है। वे लौकिक प्रयोजन कौन-कौन से हैं? ध्यान से सुनना, आचार्य भगवन् कुंदकुंददेव कह रहे हैं–

जंतं मंतं तंतं, परिचरिदं पक्खवाद पियवयणं।
पडुच्च पंचमयाले, भरहे दाणं ण किं पि मोक्खस्स।।28।।

इस पंचमकाल में भरत क्षेत्र में यंत्र, मंत्र, तंत्र की प्राप्ति के लिए, सेवा परिचर्या के लिए, पक्षपात से, प्रियवचन और प्रतीति (मान, प्रतिष्ठा) के लिए दिया हुआ कोई भी दान मोक्ष का कारण नहीं है।

जंतं, मंतं, तंतं–निर्ग्रंथ योगीराज के चरणों में कोई श्रावक आता है कहता है–भगवन्! मैं आपके चरणों की उपासना करता हूँ। भक्ति दिखलाता है, श्रद्धा दिखलाता है और श्रद्धा दिखाते हुए पुनः कहता है–गुरुदेव! कभी किसी प्रकार की कोई आवश्यकता हो तो आप मुझे ही आशीर्वाद देना। मैं आपके लिए, आपके संघ के लिए, साधु समाज के लिए कुछ न कुछ दान करना चाहता हूँ। लेकिन दान के पीछे उसका प्रयोजन है। क्या है? **जंतं**-महाराज के माध्यम से कोई ऐसा यंत्र मिल जाये, जिसके द्वारा मेरे परिवार के सारे संकट दूर हो जायें, सारे कष्ट, सारी विपदायें मिट जायें। ध्यान रखना, यंत्र के प्रयोजन से अगर कोई दान देता है तो आचार्य कुंदकुंददेव कहते हैं–वह दान निरर्थक है, उसका वह दान मोक्षमार्ग का कारण नहीं है।

निर्ग्रंथ गुरुओं के पास तीन चीजें मिलती हैं–पिच्छि, कमण्डलु, शास्त्र तथा दीक्षा और शिक्षा यानि उपदेश। इनके अलावा दिगम्बर जैन साधक और कुछ न देते हैं और न ही कुछ लेते हैं। वर्तमान में पंचमकाल चल रहा है, निर्ग्रंथ गुरुओं का और श्रावकों का स्वरूप बदलता जा रहा है। आचार्य कुंदकुंददेव बतला रहे हैं कि पंचमकाल में भरतक्षेत्र में अगर कोई यंत्र के लोभ से दान देता है तो उसका दान निरर्थक है।

कहा भी है–''लोभी गुरु लालची चेला, होय नरक में ठेलम ठेला।'' अगर गुरु लोभी है तो वह मोक्षमार्गी नहीं है। बाहर से नग्न हो सकता है लेकिन दिगम्बर संत नहीं हो सकता। क्यों? क्योंकि वह लोभ से ग्रसित है। लोभी गुरु के चेले भी कैसे होंगे? ''लोभी गुरु लालची चेला।'' ध्यान रखना, गुरु लोभी हो और चेला भी लालची मिल जाये, तो गुरु को भी लगता है कि चेले के लिए कुछ न कुछ तो करना चाहिये। फिर क्या करता है? वो अपने पास यंत्र रखता है, यंत्रों का लोभ दिखाता है। क्या कहता है? शनि अमावस्या को इतने-इतने बजे यंत्रों की विशेष पूजा होगी, इसलिए जिन्हें भी विशेष यंत्र

चाहिये हों, वो इतने बजे रात को प्राप्त कर सकते हैं। घर परिवार में सुख-शान्ति यन्त्र, विद्यार्थियों के लिए ज्ञानवर्धन यंत्र, रोगी-बीमार लोगों के लिए समस्त प्रकार के रोगों की शांति का उपाय एक मात्र यह यंत्र। वाह रे निर्ग्रंथ गुरु! तुम्हारे पास तो सारे रोगों की ''मास्टर की'' है। तुम्हारे पास तो ऐसी ''मास्टर औषधि'' है कि एक औषधि लो और सारे रोगों को दूर करो। वाह रे लोभी गुरु! दुकान लगाकर बैठा है, दुकान लगा दी यन्त्रों की। अरे भाई! अगर तुझे यंत्र ही बेचना थे तो निर्ग्रंथ क्यों बना?

आदिनाथ भगवान् को वैराग्य हुआ। चार हजार राजाओं ने भी देखा-देखी में नग्नता अंगीकार कर ली। उनको बोध नहीं था कि दिगम्बरत्व किस प्रयोजन से धारण किया जाता है, इसकारण उन्होंने देखादेखी में निर्ग्रंथ मुनि जैसा भेष धारण कर लिया परंतु अंतर का परिवेष न बदल सके। दीक्षा के स्वरूप से अनभिज्ञ वे राजा केवल नग्न हो गये। देखने लगे अपने स्वामी की ओर कि हमारे स्वामी तो बिल्कुल शांत बैठे हैं, कुछ बोलते ही नहीं। अब हम क्या करें? उन्हें भूख, प्यास सताने लगी। उन्होंने उस नग्न दिगम्बर भेष में ही दिगम्बर स्वरूप के विपरीत कार्य करना चाहा तो देववाणी हुई– ध्यान रखो! इस दिगम्बर स्वरूप में इसतरह के कार्य करना उचित नहीं है। इस स्वरूप में यह कार्य नहीं किया जाता। यदि आप ऐसा कार्य करते हो तो आपको दण्डित किया जायेगा। अहो! दिगम्बरत्व धारण करने के बाद, दिगम्बर चर्या का पालन किया जाता है। कोई वृक्षों के फल तोड़कर नहीं खा सकता। कोई नदी, सरोवर, झील या झरनों पर जाकर पानी नहीं पी सकता। जो साधु परिचर्या है वही करना होगी।

अरे भाई! जब दिगम्बर साधु दिगम्बरत्व धारण करके यह कार्य नहीं कर सकता तो एक दिगम्बर साधु यंत्रों की दुकान कैसे लगा सकता है? ध्यान रखना, इस पंचमकाल में साधुओं के स्वरूप को बिगाड़नेवाला और साधुओं को सँभालनेवाला श्रावक है।

कौन श्रावक साधुओं को सँभालनेवाला होता है?

जो श्रावक धर्म का पालन करता है वह श्रावक ही साधु को संरक्षित करता है। जो श्रावक लोभी है, लालची है वह साधु के साधुत्व को नष्ट करनेवाला है।

ध्यान रखना! कभी साधु के साधुत्व की हत्या मत करना। यह नियम अपने जीवन में जरूर लेना कि मैं कभी किसी साधु को उसके साधुत्व से गिराने का कार्य नहीं करूँगा अर्थात्

साधु के साधुत्व की हत्या नहीं करूँगा। आप कहोगे–महाराज श्री! हम तो जैनी हैं, पानी भी छानकर पीते हैं, हम साधु की हत्या कैसे करेंगे? तुम साधु की हत्या तो नहीं करते लेकिन साधु के साधुत्व को तो नष्ट करते हो। ध्यान रखना, किसी दिगम्बर साधु के पास जाकर कभी यन्त्र की चाह मत करना कि हे गुरुदेव! आप मुझे कोई यंत्र दे दीजिये।

'लोभी गुरु लालची चेला' जब दोनों मिल जायें तो फिर क्या होगा? क्या जिनधर्म सुरक्षित रहेगा? ऐसे लोभी गुरु और लालची चेलों से क्या जिनशासन सुरक्षित रह सकता है? ध्यान रखना, इनके द्वारा कभी जिनधर्म सुरक्षित और संरक्षित नहीं रह सकता है, इनके द्वारा मात्र जिनधर्म का विनाश होगा। जिनधर्म का संरक्षण तो वही करेगा जो आगम के अनुसार अपनी परिचर्या करेगा। अगर कोई साधु यंत्रों की दुकान लगाकर बैठा हो, ये यंत्र 250 रुपये में, ये 500 रुपये में, ये 1000 रुपये में और ये यंत्र 2500 रुपये में। कहता है–विशेष मंत्रों द्वारा मंत्रित किये गये सिद्ध यंत्र हैं। कहीं ऐसा देखने को मिल जाये तो यंत्रों के लोभ में मत आ जाना, अन्यथा तुम भी जिनशासन में अपराधी माने जाओगे।

रात-रात भर यंत्रों की पूजा चल रही है। रात भर साधु जाग रहा है। हे भगवान्! किसके लिए कर रहा है ये सब? श्रावकों के लिये। भो साधक! जरा विचार तो कर। तू क्या यंत्रों की साधना करने के लिए, उनकी पूजा करने के लिए साधु बना था? जिस समय तूने दीक्षा ली थी, उस समय तूने कौन से कर्तव्यों को पालन करने की प्रतिज्ञा की थी। भो मुनिवर! ध्यान करो, स्मरण करो, उस समय आपने प्रतिज्ञा की थी कि मैं निर्ग्रंथ बनकर अपनी आत्मा की साधना करूँगा। ध्यान रखना, सच्चे साधक के मुख से निकला हुआ आशीर्वाद का एक शब्द भी श्रद्धावान् श्रावक के लिए यंत्र बन जाता है। सच्चे निर्ग्रंथ साधु के दर्शन मात्र से ही श्रावक का बिगड़ा हुआ काम बन जाता है।

यदि लोभी गुरु के पास गया, वह तो पहले से ही दुकान सजाकर बैठा है। भक्त बोला–महाराज श्री! एक यंत्र हमें भी चाहिये। साधु कहता है–तू पहले बगल में जा और रसीद लेकर आ, कितना दान करेगा? भो लोभी साधु! तेरी दृष्टि उस श्रावक के हित पर नहीं है, तेरी दृष्टि तो उस श्रावक के धन पर है, कि तू कितना देगा? तू जितना देगा उसी क्वालिटी का तुझे यंत्र मिलेगा।

एक व्यक्ति मेरे पास आया और बोला–महाराज श्री! मैं पर्स में एक यंत्र रखता हूँ? लेकिन

मैंने जब से यह रखा है तब से मैं कुछ परेशान सा रहने लगा हूँ। मैंने कहा–भैया! पर्स में यंत्र रखे जाते हैं क्या? बोला–नहीं, लेकिन हमारे गुरु महाराज ने कहा था कि इसको तुम अपने पर्स में रखोगे तो हमेशा तुम्हारा पर्स भरा रहेगा। मैंने कहा–वो कोई जैनसाधु नहीं हो सकता, कोई निर्मल बाबा होगा जो ये बताता होगा कि पर्स में यदि तू ये रखेगा, वो रखेगा तो तेरा पर्स गर्म रहेगा।

अरे भाई! तू क्यों पर्स में यंत्रों को रखकर उन बीजाक्षरों की अवमानना करता है। एक वह धर्मी श्रावक है जो यंत्र का अभिषेक करता है, पूजा करता है, नमस्कार करता है, आदर और सम्मान करता है और एक तू अज्ञानी है जो यंत्र को पेंट की जेब में रखकर घूमता है। मैंने कहा–यंत्र को जेब में रखने से तेरा कभी भी भला नहीं हो सकता। तुझे पता ही नहीं है कि यंत्र बीजाक्षरों से बनते हैं। जिन बीजाक्षरों के द्वारा एक प्रतिमा भी पाषाण से परमात्मा का स्वरूप प्राप्त कर लेती है, तू उन बीजाक्षरों का अनादर करता है और कहता है मुझे सुख चैन मिलेगा। ध्यान रखना, तुझे सिवाय दु:ख के कुछ भी मिलनेवाला नहीं है। लेकिन करे क्या? लोभी गुरु है, जो चाहता है कुछ न कुछ हमारे लिए प्राप्त हो।

भो जिनागम पंथी उपासको! कभी यंत्र की लाइन में खड़े मत होना। अगर कहीं कोई यंत्र बाँट रहा हो तो कहना मुझे नहीं चाहिए। मुझे तो सिर्फ आपका आशीर्वाद चाहिए। आपका आशीर्वाद ही हमारे लिए काफी है। कभी भी यंत्रों की चाह में दान मत करना। लोभी व्यक्ति एक यंत्र के लोभ में कुछ भी दान करने को तैयार हो जाता है और सम्यक् आयतनों में दान करने को कहा जाये तो कुछ भी निकालने के लिए जेब में हाथ भी नहीं जाता। वर्तमान में कुछ लोभी साधुओं ने यंत्रों का बहुत बड़ा व्यापार खड़ा कर दिया गया है। व्यापार वृद्धि यंत्र, लक्ष्मी प्राप्ति यंत्र, गृह शान्ति यंत्र, मनोकामना पूर्ण यंत्र। भो भगवान् महावीर! आप बताओ, आपने कितने यंत्रों की रचना की थी? क्या आपने भी व्यापार वृद्धि यंत्र बनाये थे? क्या आपने भी समोशरण सभा में बैठकर भक्तों को यंत्र बाँटे थे? ध्यान रखना, भगवान् महावीर का मार्ग यंत्र-तंत्र का मार्ग नहीं, आत्मा के स्वातन्त्र्य का मार्ग है।

वर्तमान में कुछ लोभी गुरुओं के द्वारा यह तंत्र, मंत्र,यंत्र मार्ग प्रचलित किया गया और लालची चेलों के द्वारा मोक्षमार्ग को बिगाड़ने में अपनी भूमिका अदा की गई। आचार्य भगवन् कुंदकुंददेव बता रहे हैं–इस पंचमकाल में भरतक्षेत्र में यंत्र के लिए दिया गया दान मोक्ष का

अर्थात् आत्महित का कारण नहीं है। इसलिए कभी किसी के पास यंत्र लेने मत जाना, अन्यथा तुम साधुत्व के हत्यारे कहलाओगे। तुम साधुत्व को बिगाड़ने में कारण बनोगे। **तुम यंत्र लेने यदि साधु के पास जाओगे, तो वह साधु बेचारा बैठा-बैठा रातभर यंत्रों की पूजा करता रहेगा। उसको करना क्या चाहिये था? सामायिक करता, प्रतिक्रमण करता, स्वाध्याय करता, अपने आवश्यक कर्तव्यों का पालन करता। आवश्यक कर्तव्यों को भूल गया और याद रहा कि फलाने भक्त को यंत्र बनाकर देना है, ताबीज बनाकर देना है।** क्या? ताबीज। बहुत सारे लोग महाराज के पास आते हैं और कहते हैं—महाराज श्री! कोई ताबीज दे दीजिये। अरे भिखारी! माँगा भी तो किससे माँगा, जो सब कुछ छोड़ चुका है।

निर्ग्रंथ साधु आहार चर्या के लिए निकलता है, तो अपने आप में शर्मिंदित होता है कि मुझे दूसरों के सामने हाथ फैलाने के लिए जाना पड़ रहा है और लोभी भक्त उस साधु से कहता है कि महाराज श्री! कुछ तो दे दो। एक ताबीज ही दे दो। यदि गुरु लोभी हुआ, तो वो अपने स्वाध्याय, सामायिक, प्रतिक्रमण छोड़कर ताबीज बनाने में लग जाता है। ये योगी नहीं, ये तो जोगी हो गया। कौन हो गया? जोगी। बुन्देलखण्ड में जोगी उन्हें कहते हैं जो ताबीज बनाते हैं, धागा बनाते हैं उनको जोगी कहते हैं। निर्ग्रंथ साधक भी अगर ये काम करने लगा तो योगी नहीं रहा, जोगी हो गया। इसलिए कभी किसी निर्ग्रंथ मुनि से न तो यंत्र की याचना करना और न ही यंत्र के लिए कोई दान देना।

मंतं—दूसरा हेतु है मंत्र। बहुत सारे लोग निर्ग्रंथ मुनियों के पास आते हैं, महाराज श्री! कोई मंत्र दे दीजिये? महाराज ने कहा—णमोकार मंत्र जपा करो। बोला— णमोकार मंत्र जपते-जपते तो जिंदगी गुजर गयी उससे कुछ नहीं हुआ। जिसके मुख से णमोकार मंत्र के प्रति ऐसे शब्द निकल रहे हों कि णमोकार मंत्र जपते-जपते जिंदगी गुजर गयी उससे कुछ नहीं हुआ, समझ लेना उसको पंच परमेष्ठी की श्रद्धा नहीं है। श्रद्धा के बिना नमस्कार मात्र करने से कुछ भी होनेवाला नहीं है। आचार्य भगवन् कहते हैं—

भाव विहुणउ जीव तुहं जइ जिणु वहहि सिरेण।
पत्थरि कमलु किं निप्पजइ जइ सिंचहि अमिएण।।

।।भा.प्रा. टीका-162।।

अर्थात् हे जीव! यदि तू भाव से विहीन होकर सिर से जिन भगवान् को धारण करता है तो इससे क्या होनेवाला है? क्या अमृत के सींचने से पत्थर पर कमल उत्पन्न हो सकता है अर्थात् नहीं हो सकता।

जिसे पंच परमेष्ठी के प्रति श्रद्धा नहीं है उसे णमोकार मंत्र की श्रद्धा कैसे हो सकती है? क्योंकि णमोकार मंत्र में पंच परमेष्ठियों के लिये श्रद्धापूर्वक नमस्कार किया गया है। कोई कहता है– णमोकार मंत्र पढ़ने से कुछ नहीं होता, तो इसका तात्पर्य यह है कि अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु परमेष्ठियों की आराधना, श्रद्धा, उपासना उनका आश्रय लेने से कुछ नहीं होता। अरे अज्ञानी! तेरी श्रद्धा ही विपरीत है। ऐसे श्रद्धाविहीन जीव के लिए कोई भी मंत्र काम करनेवाला नहीं है। सबसे पहले पंच परमेष्ठियों की सच्ची श्रद्धा होनी चाहिए।

अधिकांशत: लोग साधुजनों के पास जाकर कहते हैं– महाराज श्री! हमारे लिए कोई विद्या प्राप्ति का मंत्र दे दीजिये, कोई लक्ष्मी प्राप्ति का मंत्र माँगता है। लोभी गुरु कहता है– बेटा! दीपावलि की रात को लाल कपड़े पहिनकर, दीपक जलाकर, मंगल कलश स्थापित करके, धूप खेते हुए, फलाने-फलाने वृक्ष की जड़ से बनी माला से तू जाप करना, तेरा मनोरथ अवश्य ही पूर्ण होगा। बेटा! पहले दान-दक्षिणा तो दे। ये सारे उपाय किसलिए हैं? एकमात्र दान-दक्षिणा के लिए हैं।

ध्यान रखो! दिगम्बर जैनमुनि आहारदान के अलावा और कुछ भी स्वीकार नहीं करता। आहारदान, शास्त्रदान, उपकरण दान स्वीकार करता है, इसके अलावा वह कुछ भी स्वीकार नहीं करता। कभी पहुँच मत जाना मुनि महाराज के पास कि महाराज श्री! हमने सुना है कि आप मंत्र दे रहे हैं? हमारे पड़ोसी ने कहा था कि हमने 1100 रुपये दिये थे मंत्र के लिये। ये पकड़ो 1100 रुपये और हमें भी एक मंत्र दे दीजिये। अगर तुमने नोट दिया, और मुनि महाराज ने हाथ में नोट ले लिया तो समझ लेना उसी समय उस साधु के साधुत्व में खोट आ गया। **जब तक साधु के साधुत्व में खोट नहीं आता तब तक उसके हाथ में कभी नोट नहीं आता।** साधुत्व में खोट आने पर ही अंतरंग में नोट की आकांक्षायें पैदा होती हैं।

ध्यान रखना! निर्ग्रंथ साधु पिच्छी, कमण्डलु और शास्त्र के अलावा किसी धन-संपदा को अपने हाथ से नहीं छूता। आचार्य भगवन् विमलसागर जी महाराज भी आचार्य थे। उनके पास कोई भव्य पहुँचा और कहने लगा-भगवन्! आप मुझे कोई मंत्र दे दीजिए। आचार्य विमलसागर जी महाराज ने उसको सवा लाख णमोकार मंत्र जाप करने का आशीर्वाद दिया। आचार्य विमलसागर जी महाराज सभी को णमोकार मंत्र दिया करते थे। उन्होंने सवा लाख णमोकार मंत्र का जाप करने का आशीर्वाद दे दिया। वह श्रावक बोला-गुरुदेव! ये वाला मंत्र तो मैं बहुत समय से जपता आ रहा हूँ, लेकिन इससे कोई फायदा नहीं हुआ। आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज ने कहा-बेटा! अब तुझे किसी भी मंत्र से कोई फायदा नहीं होगा, क्योंकि जो महामंत्र है, जिससे सारे मंत्र निकले हुए हैं अगर उसी से कोई फायदा नहीं हुआ तो फिर अन्य मंत्रों से फायदा कैसे हो सकता है?

कोई सोचे कि मेरे नगर में नहर आ जाये लेकिन मुझे तालाब से कोई मतलब नहीं है। नहर में पानी तो तभी आयेगा जब तालाब होगा। अगर तालाब ही नहीं है तो नहर में पानी कैसे आयेगा? जिसे तालाब की श्रद्धा नहीं है, उसके पास नहर आ भी जाये तो भी कोई फायदा होनेवाला नहीं है। क्योंकि पानी तो तालाब से ही आता है। उसीप्रकार सारे मंत्र इसी णमोकार महामंत्र से निकले हैं। इसलिए णमोकार मंत्र की श्रद्धा तो प्रथमतः अनिवार्य है। पंचपरमेष्ठी महामंत्र की श्रद्धा करने से पापकर्म क्षय को प्राप्त हो जाते हैं। ये भगवान् महावीर का मार्ग है। इस मार्ग की जो यथार्थ श्रद्धा करता है उसके पापकर्म स्वयमेव ही क्षय को प्राप्त हो जाते हैं।

तीसरी है तंत्र विद्या। जब यंत्र, मंत्र से काम नहीं बनता तब व्यक्ति तंत्र विद्या का आश्रय लेता है। तंत्र विद्या के लिए आदमी किसी भी प्रकार का खोटा कार्य करने को तैयार हो जाता है। जितने भी नींबू मिर्ची आदि धागे में पिरोकर लोग दुकान आदि पर लटका देते हैं, ये सब तंत्र विद्या है। इतना तक विवेक नहीं है कि ये जैनधर्म है। जैनधर्म में ये कहा गया कि सम्यक् रीति से दान करना, कभी यंत्र, मंत्र, तंत्र के लिए दान मत करना क्योंकि इसप्रकार का दान मोक्षमार्ग से बाह्य है, निष्फल है, निरर्थक है।

परिचरिदं-सेवा परिचर्या। एक व्यक्ति मुनिराज की सेवा में लग गया। सुबह, दोपहर, शाम, रात बिल्कुल ऐसे जैसे कि पक्का चेला हो। मुनिराज की खूब सेवा की। सेवा करने का

प्रयोजन क्या है? मेरी सेवा परिचर्या से महाराज प्रसन्न हो जायेंगे, खुश हो जायेंगे और मेरे लिए कोई मंत्र, तंत्र अथवा यंत्र दे देंगे। अहो! इन प्रयोजनों से किसी ने सेवा, वैयावृत्ति की, तो आचार्य भगवन् कहते हैं उसकी ये सेवा परिचर्या निष्फल है, निरर्थक है, क्योंकि ऐहिक कामना से की गई है।

पक्खवाद–वर्तमान में श्रावक पक्षपाती होते जा रहे हैं। चाहे पक्षपात श्रावक करे या साधु दोनों ही मोक्षमार्ग से बाह्य हैं।

'अमुक साधु को आहार देना और अमुक साधु को आहार मत देना' अगर साधु के मुख से ऐसे वचन निकलें तो वह साधु पक्षपाती है।

'अमुक साधु को चौका लगाऊँगा और अमुक साधु को चौका नहीं लगाऊँगा' अगर ऐसा विचार श्रावक करे तो वह श्रावक पक्षपाती है।

ध्यान रखना, कभी सत्पात्रों में भेद मत करना। जो भी पात्र पुण्ययोग से मिल जाये उसे पाकर अपना कर्तव्य पालन करना चाहिए। श्रावक का कर्तव्य है दान देने का और साधु का कर्तव्य है धर्मोपदेश देने का। अमुक मंदिर हमारा, अमुक मंदिर तुम्हारा। ये भगवान् हमारे, ये भगवान् तुम्हारे। ये महाराज हमारे, ये महाराज तुम्हारे। ये पक्षपात की दीवारें धर्म को विभाजित करने में कारण बन रही हैं।

पियवयणं–प्रियवचन के लिए दिया गया दान, कुछ विशेष पाने की चाहत में दिया गया दान व्यर्थ है। लौकिक प्रयोजन लेकर कभी साधु के पास नहीं जाना चाहिये। साधु को लौकिक प्रयोजनों से कोई प्रयोजन नहीं है। निर्ग्रंथ मुनि को सिर्फ आत्मा का प्रयोजन रहता है। वह तो सिर्फ भगवान् के भरोसे रहता है और जब साधक भगवान् के भरोसे रहता है तो श्रावक अपने आप उसकी परिचर्या करने आ जाता है।

सम्यक् प्रकार से किया गया दान उत्थान का कारण है और निदान के साथ दिया गया दान मात्र संसार के सृजन का कारण है। अगर तूने पूर्व में पुण्य का यंत्र बनाया है, तो सारी अनुकूलतायें अपने आप ही बन जायेंगी। **निर्ग्रंथों से अगर तंत्र पूछना ही है तो संसार के नाश का तंत्र पूछना। अगर यंत्र पूछना है तो संसार सागर से पार होने का यंत्र पूछना, और मंत्र**

पूछना है तो संसार को सुखानेवाला मंत्र पूछना।

सभी श्रावकों को चाहिये कि वे विवेकी बनें और सुपात्र के लिए जो आगम में दान की स्वस्थ व्यवस्था दी गई है उसके अनुरूप दान करके, अपने कर्तव्यों का पालन करके, आत्महित का सम्यक् पुरुषार्थ करें। इसी शुभ भावना के साथ...।

यंत्र मंत्र तंत्रादि मिले, मान प्रतिष्ठा खूब मिले।
पक्षपात प्रियवचन सहित, सेवा करता दान अरे।।
मुक्ति का कारण, हो-हो-2, नहिं दान कहाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2 संहिता दिखलाये रे।।

अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

❑❑❑

प्रश्न – एक आचार्य क्या अन्य आचार्य बना सकता है?

भ्रान्तजन देखें, श्री मूलाचार जी का प्रमाण

• **श्रमणाचार्य विमर्शसागर**

अहो! जिनके मुख और लेखनी से शुद्ध ज्ञानमय भगवान आत्मा की चर्चा होना चाहिए उनके द्वारा अवर्णवाद और विसंवाद की चर्चा सुन देखकर लगता है कलिकाल से ये जीव कितने प्रभावित हैं। काश... इनके पास ठोस स्वाध्याय और सम्यक् चिन्तन की शक्ति होती, तो जिनशासन कितना उन्नत होता। स्वात्मयोग और सामायिक संयम की प्रतिज्ञा करने वाले कतिपय साधु जब भाषा समिति का परित्याग कर स्वमुख से साधु निन्दा जैसा कर्म करते देखे–सुने जाते हैं, तब प्रश्न आता है क्या इनके पास स्वात्मयोग है? सामायिक संयम है? अथवा देह का दिगम्बरत्व लेकर जिनाज्ञा का मात्र उल्लंघन कर रहे हैं। अहो! स्वात्मयोगी, सामायिक संयमी जीव को नीच गोत्र का बंध कराने वाली परनिंदा कहाँ सुहाती है। हाँ, कुंठा में जीने वाले विवेक का त्याग अवश्य कर देते हैं।

वर्तमान में कतिपय पत्रकार और उनके पत्र जैन पत्रकारिता की दुहाई देते देखे जाते हैं। लेकिन जब उनके पत्रों को देखते हैं तो जैन पत्रकारिता के नाम पर मात्र ज्ञान की विमूढ़ता ही परिलक्षित होती है साथ ही कषाय का सम्प्रेषण। पत्रकारिता के साथ यदि 'जैन' शब्द जुड़ा है तो इसका आधार सम्यग्दर्शन होना चाहिए किन्तु कतिपय पत्रों में सम्यग्दर्शन का दर्शन तो कहीं भी नहीं होता। हाँ, अवर्णवाद का मार्गदर्शन जरूर नजर आता है। कतिपय पत्र तो अवर्णवाद और विसंवाद की विषयवस्तु को साभार प्रस्तुत करने में भी काफी उल्लास दिखाते हैं, काश... इनके द्वारा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की स्वपर–हितकारी अर्हत् अवधारणा का प्रस्तुतीकरण में साभार उल्लास होता, तो शायद जैनत्व का कोमल स्पर्श साधर्मी विसंवाद के माध्यम से होने वाली चौर्य पाप की भावना को महिमामंडित न कर पाता। आज कतिपय पत्र एवं जैन–पत्रकार रत्नत्रय–धर्म का संदेश न देकर मात्र सधर्मी अवर्णवाद और विसंवाद का सलीका सिखा रहे हैं। लेखनी हाथ में लेने के पहले चार अनुयोग रूप स्वाध्याय का नियम अवश्य करना चाहिए तभी सच्ची जैन पत्रकारिता की खुशी मिल सकती है।

वर्तमान में एक प्रश्न चल रहा है–

"**एक आचार्य क्या अन्य आचार्य बना सकता है?**"

इस प्रश्न ने कई साधु, विद्वान और पत्रकारों की ज्ञान विमूढ़ता को जग–जाहिर किया है।

चलो मूलाचारजी के प्रमाण का रसास्वादन कर सामायिक संयम की प्रतिज्ञा का पालन करते हैं, एवं ज्ञान विमूढ़ता से विदाई लेते हैं।

श्री मद्वट्टकेराचार्य कृत **मूलाचार की गाथा**–183 में श्री वसुनंदी सिद्धांतचक्रवर्ती कृत आचारवृत्ति संस्कृत टीका में आचार्य परमेष्ठी के अनुग्रह गुण का कथन करते हुये आया है–

'अणुग्गह–अनुग्रहः प्रतिपालनं आचार्यत्वादिदानं।'

अर्थात् शिष्यों का प्रतिपालन करना, आचार्यपना (आचार्य पद) आदि प्रदान करना आचार्य परमेष्ठी का अनुग्रह है।

इस आगम प्रमाण से हम जान सकते हैं कि एक श्रेष्ठ आचार्य यदि अपने शिष्यों को पंचाचार में निष्णात आचार्य पद के योग्य देखता है तो अनेकों भव्य जीवों के हितार्थ आचार्य पद प्रदान कर सकता है।

मैं अपेक्षा करता हूँ – आगम प्रमाण देखकर कषायवर्द्धन न करें। हाँ, यदि आचार्य को योग्य शिष्यों को आचार्य पद न देने का प्रमाण जिनागम में मिले, तो सादर प्रेषित करें, मैं अनुग्रहीत होऊँगा। किन्तु स्वचिंतन को आगम प्रमाण न बनायें।

आगम प्रमाण देखकर भी यदि किसी का दिल दु:खे तो क्षमाभाव रखता हूँ, और यदि जिनागम में श्रद्धा बढ़े तो कृतार्थ अनुभव करता हूँ।

'जयदु जिणागम पंथो।'
'जिनागम पंथ जयवंत हो।'

(पूर्वोपार्जित कर्म का फल)

दाणीणं दारिद्दं, लोहीणं किं हवदि महइसरियं।
उहयाणं पुव्वज्जिद कम्मफलं जाव होदि थिरं।।29।।

* अन्वयार्थ *

(**दाणीणं**) दानी पुरुषों के (**दारिद्दं**) दरिद्रता और (**लोहीणं**) लोभी पुरुषों के (**महइसरियं**) महान ऐश्वर्य (**किं**) क्यों (**हवदि**) होता है? (**जाव**) जब तक (**उहयाणं**) दोनों के (**पुव्वज्जिद**) पूर्वोपार्जित (**कम्मफलं**) कर्मफल (**थिरं**) स्थिर-उदय में (**होदि**) रहता है।

अर्थ–दानी पुरुषों के दरिद्रता और लोभीपुरुषों के महान ऐश्वर्य क्यों होता है अर्थात् क्यों देखा जाता है? इसका उत्तर है कि जब तक दोनों का पूर्वोपार्जित कर्मफल स्थिर अर्थात् उदय में रहता है।

गाथा - 29

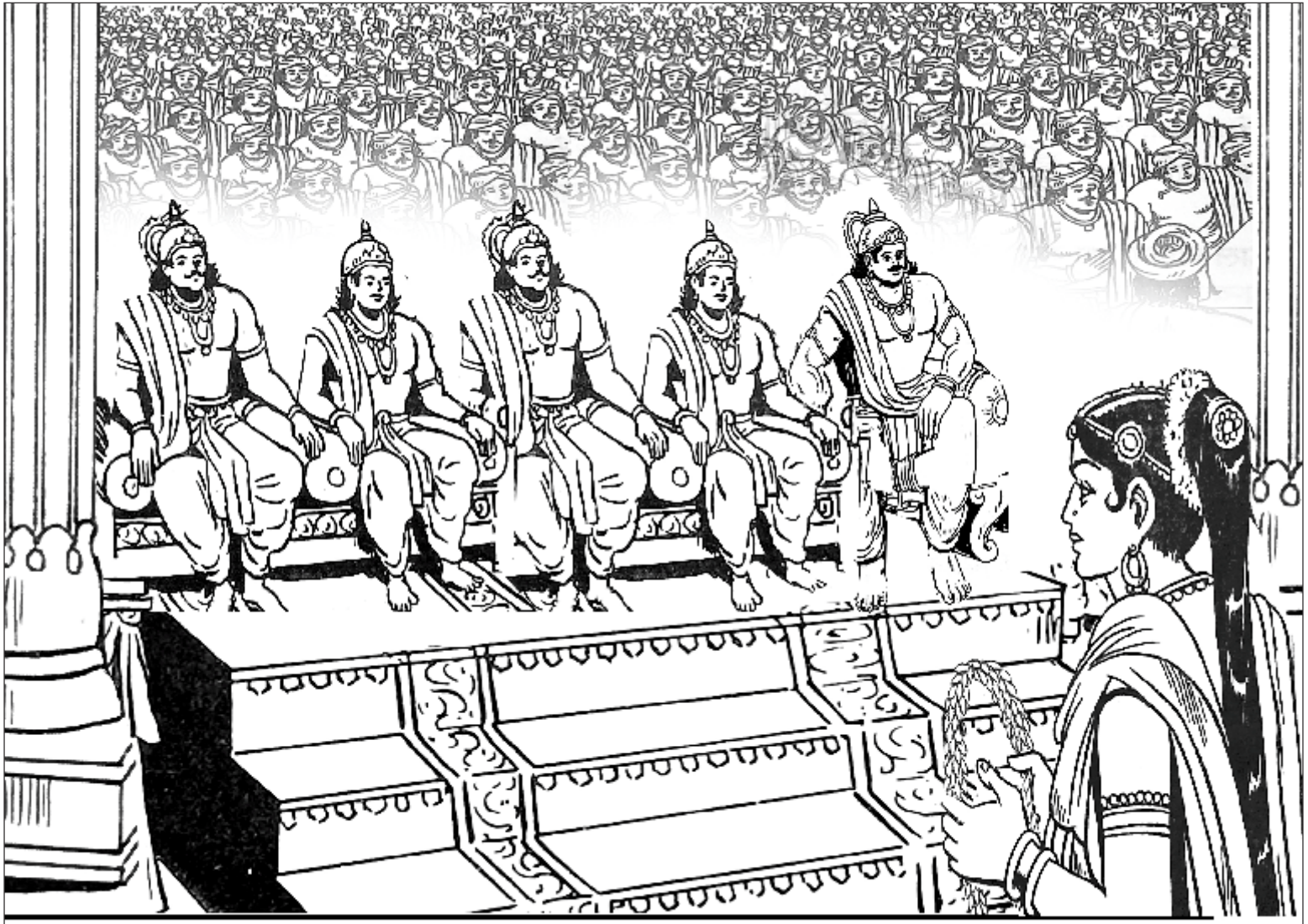
(प्रवचन)

●

दानी दरिद्र
लोभी ऐश्वर्यवान क्यों?

22.09.2013

भिण्ड (म.प्र.)



द्रोपदी का स्वयंवर।

39

रयणोदय

जैसा कर्म सजायेगा, वैसा जीवन पायेगा।
शुभकर्मों का शुभफल है, अशुभ अशुभफल लायेगा।।
ऐश्वर्य लोभी, हो-हो-2, दानी दारिद्र पाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2 संहिता दिखलाये रे।।

'**जयदु जिणागमपंथो**' अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

तीर्थंकर भगवंत की दिव्यध्वनि जिनश्रुत है, जिनागम है। जिनागम में वर्णित आत्मकल्याणकारी मार्ग, आत्महितकारी पंथ '**जिनागम पंथ**' है। परस्पर रागद्वेष को बढ़ानेवाले आगमबाह्य पंथ उन्मार्ग हैं। वीतरागता को देनेवाला, '**परस्परोपग्रहो जीवानाम्**' का प्रतीक '**जिनागम पंथ**' सन्मार्ग है।

जीवन को हम जैसा बनाना चाहें वैसा बना सकते हैं। जीवन अच्छा भी बनाया जा सकता है और बुरा भी बनाया जा सकता है। कोरे कागज पर मंत्र भी लिखा जा सकता है और गाली-अपशब्द भी लिखे जा सकते हैं। हम जो लिखना चाहें, जैसा लिखना चाहें, वैसा लिखा जा सकता है। लिखना सरल है, लेकिन लिखने के बाद जब पढ़ने का अवसर आता है उसी के

अनुरूप हमें सुख-दुःख की अनुभूति होती है। यदि आपने अपनी कलम से णमोकार मंत्र लिखा है तो आपको पढ़ने के लिए णमोकार मंत्र मिलेगा। जब आप श्रद्धापूर्वक णमोकार मंत्र पढ़ोगे तो खुशी का अनुभव होगा, प्रसन्नता होगी, शांति मिलेगी।

यदि आपने कागज पर अपशब्द लिखे हैं, गाली लिखी हैं, तो आप अपने द्वारा लिखी गाली ही पढ़ेंगे। बोलो, क्या आपको सुकून मिलेगा? क्या आपको शांति मिलेगी? नहीं मिलेगी, अपितु आपको खेद खिन्नता होगी। उससमय कोई दूसरा आपको गाली नहीं दे रहा, आप स्वयं अपने लिए गाली पढ़ रहे हैं, यानि आप स्वयं अपने लिए गाली दे रहे हैं। इसमें किसी दूसरे ने आपके साथ अच्छा या बुरा नहीं किया है वास्तव में इसके जिम्मेदार आप स्वयं हैं।

एक विद्यार्थी परीक्षा हॉल में अपनी उत्तर-पुस्तिका पर जो लिखता है, कॉपी (Copy) जाँचनेवाला वही पढ़ता है और उसी के अनुसार उस विद्यार्थी का रिजल्ट (Result) तैयार करता है। यदि रिजल्ट पास (Result Pass) के रूप में आता है, सफलता के रूप में आता है तो प्रसन्नता होती है, खुशी मिलती है और यदि रिजल्ट फेल (Result Fail) के रूप में आता है, असफलता के रूप में आता है, तो दुःख होता है, कष्ट होता है, पीड़ा होती है। रिजल्ट (Result) जो भी प्राप्त हुआ है, वह जो लिखा था उसी का मिला है।

हमारे जीवन में भी ऐसे क्षण आते हैं। कुछ कर्म ऐसे हैं जो एक पर्याय में किये जाते हैं और दूसरी पर्याय में उदय में आते हैं इसकारण जीव को यह बोध ही नहीं रहता कि यह कर्म मेरे द्वारा ही किया हुआ है, और कुछ कर्म ऐसे भी होते हैं जो इसभव में किये जायें तो इसी भव में उदय में आ सकते हैं। उनका कदाचित् व्यक्ति को एहसास भी रहता है और वह सोचता भी है कि यह कर्म मैंने ही किया था इसकारण मुझे ही इनका फल भोगना पड़ रहा है। ये जिनशासन का अकाट्य सिद्धान्त है कि जीव अकेला ही कर्मों का अर्जन करता है और अकेला ही उन कर्मों के फलों को भोगता है।

आचार्य भगवन् कुंदकुंदस्वामी बारसाणुपेक्खा ग्रंथ में लिखते हैं–

एक्को करेदि कम्मं एक्को हिंडदि य दीह संसारे।
एक्को जायदि मरदि य, तस्स फलं भुंजदे एक्को।।14।।

जीव अकेला कर्मों को बाँधता है, अकेला ही संसार में परिभ्रमण करता है, अकेला ही

जन्मता है, अकेला ही मरता है और अकेला ही अपने कर्मों का फल भोगता है। कोई विरला भव्यात्मा जिसका संसार अल्प रह गया है वह कदाचित् बोध को प्राप्त होकर अपने कर्मों को सुधार भी लेता है।

जैसे किसी डाकू ने 30 वर्ष तक डकैत बनकर जीवन जिया। पुलिस उसके पीछे भागती रही, वो भी इधर-उधर भागता रहा, छिपता रहा, और जैसे-तैसे अपना जीवन जीता रहा। यद्यपि उस डाकू को इस बात का अहसास है कि मैं डाकू हूँ, मैं गलत मार्ग पर हूँ, मैं समाज से हटकर अपना जीवन जी रहा हूँ, मैं दूसरों के घर में डकैती डालता हूँ, उनका धन छीनता हूँ, उनका घर बर्बाद करता हूँ, इन बातों को वह जानता है लेकिन जिस समय वह कर्म कर रहा है उस समय उसके पास इतनी सद्बुद्धि नहीं है जो वह समझ सके कि मेरा यह कर्म करना अच्छा नहीं है। उस समय वह अहंकार में रहता है, अपने आपको बलवान समझता है, शक्तिमान समझता है।

ध्यान रखना, दुनिया में सबसे ज्यादा पापकर्म शारीरिक बल के अहंकार के कारण ही होते हैं। आदमी दूसरों के प्रति दादागिरि कब तक करता है? जब तक उसके पास शारीरिक बल है, जिस दिन शरीर का बल क्षीण हो जाता है उसी दिन से वह दादा से दादाजी बन जाता है। फिर दादागिरी नहीं कर पाता, क्योंकि अब शरीर की ताकत उसका साथ छोड़ चुकी है। आदमी जितने भी पाप करता है वह बल के अहंकार में चूर होकर करता है। अगर व्यक्ति अपने आप को बलवान न समझकर सामान्य समझे तो एकबार फिर भी बहुत से पापकर्म करने से बच सकता है।

डाकू अपने आप को शक्तिमान समझता है, बलवान समझता है। कई राज्यों की पुलिस (Police) मेरे पीछे पड़ी है तो भी मेरा क्या बिगाड़ लेगी, उसके अंदर ऐसा अहंकार रहता है। उसी अहंकार के वशीभूत होकर वह खोटा कर्म निरंतर करता रहता है। जो पाप आज वह कर रहा है वह कभी न कभी तो उदय में आयेगा। निशानेबाज कितना भी अचूक निशाना लगाता हो कभी न कभी तो उसका निशाना अवश्य ही चूकता है। जिस दिन वह निशाना चूकेगा बस उसी दिन उसका जो पौरुष था वह समाप्त हो जायेगा।

कई बार देखा जाता है कि किसी डाकु को डकैती करते-करते 20-25 साल गुजर गये, फिर उसे एहसास हुआ कि मैंने गलत कार्य किया है, मैं गलत मार्ग पर चल रहा हूँ, इसमें हमारे बच्चों का भविष्य उज्ज्वल नहीं है। सोचता है, हमने तो बीहड़ों में भागते-भागते अपना जीवन जी लिया लेकिन मेरे बच्चों का, मेरे परिवार का भविष्य ऐसा न हो इसलिये मुझे आत्मसमर्पण कर देना चाहिए। वह वीर पुरुष की भाँति आत्मसमर्पण कर देता है। यदि आत्मसमर्पण नहीं करता तो किसी की बंदूक की गोली द्वारा मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि व्यक्ति अपनी वर्तमान पर्याय में भी कभी-कभी बोध को प्राप्त हो जाता है कि मैंने गलत कर्म किया है। विवेक जागृत होता है कि यह जो भी फल मुझे मिल रहा है वह मेरे ही कर्म के कारण मिल रहा है। डाकू के पीछे अगर पुलिस (Police) लगी है तो किस कारण से? वो इस बात को जानता है कि मेरे ही कर्म के कारण आज पुलिस (Police) मेरे पीछे लगी हुई है। कहने का तात्पर्य यह है कि हर आदमी को अपने किए हुए कर्म का फल अवश्य भोगना पड़ता है।

आज यदि किसी को भागना पड़ रहा है तो उसके अपने कर्म के कारण भागना पड़ रहा है। जीवन में जो दु:खों का सामना करना पड़ रहा है उसमें उसका ही कर्म कारण है। कोई यशस्वी होकर, राज-सम्मान के साथ, प्रतिष्ठा के साथ जी रहा है तो सम्मान और प्रतिष्ठा भी उसके शुभकर्म के कारण ही मिल रही है।

आचार्य श्री रविषेणस्वामी श्री पद्मपुराण जी में कहते हैं-

यन्नाम दृश्यते लोके दु:खं तत्पाप संभवम्।
सुखं च चरितात्पूर्वं सुकृतादिति विद्यताम्।।17/182, प.पु.।।

अर्थात् यह निश्चित जानो कि संसार में जो भी दु:ख दिखाई देता है वह पाप से उत्पन्न हुआ है और जो भी सुख दृष्टिगोचर हो रहा है वह पूर्वोपार्जित पुण्यकर्म से उपलब्ध है। हमारे द्वारा किये गये पुण्य एवं पापकर्म ही हमारे सुख और दु:ख के मूल कारण हैं, अन्य कोई हमारे सुख और दु:ख का कारण नहीं है।

ध्यान रखना, केवल धन से कुल की प्रतिष्ठा नहीं होती। केवल वैभव मात्र से कोई प्रतिष्ठित नहीं होता। रावण के पास तीन खण्ड का वैभव था। बड़ी सम्पदा थी। बड़े-बड़े राजा रावण के चरणों में नमस्कार करते थे लेकिन प्रतिष्ठा सत्कर्म से होती है। रावण ने अपने जीवन में एक ऐसा खोटा कर्म किया जिसके कारण उसकी प्रतिष्ठा धूमिल हो गई। अगर कोई सोचे कि धन-सम्पदा, वैभव से ही लोक में प्रतिष्ठा और सम्मान होता है तो रावण तीन खण्ड का अधिपति था, तीन खण्ड के समस्त राजा उसके चरणों में नतमस्तक था, फिर भी इतिहास साक्षी है किसी ने अपने पुत्र का नाम रावण नहीं रखा। क्यों नहीं रखा? क्योंकि रावण ने एक ऐसा खोटा कर्म किया जिसके कारण उसकी प्रतिष्ठा, सम्मान समाप्त हो गया। उस समय राम के पास क्या था? राम तो तीन खण्ड के अधिपति नहीं थे, वन-वन घूम रहे थे, जंगल-जंगल भ्रमण कर रहे थे। रहने और खाने की भी कोई व्यवस्था नहीं थी। ऐसे वनवासी बनकर घूमनेवाले राम को आज भी लोग बड़े आदर-सम्मान के साथ याद करते हैं। उनको पूज्य मानते हैं, भगवान् मानते हैं, उनका नाम जपते हैं। क्यों? उनके सत्कर्म के कारण। राम का हर कर्म श्रेष्ठ था इसलिए उनका नाम आज तक श्रद्धा से लिया जाता है।

व्यक्ति के जीवन में जो कुछ भी सम्मान है, वह उसके अपने सत्कर्म के कारण है। यदि किसी का सम्मान खोता है तो वह उसके अशुभ कर्म के कारण ही खोता है इसलिए सत्कर्म को लिखना सीखो। अपने दुष्कर्म को, अशुभ कर्म को शुभ कर्म में बदलना सीखो। यह कर्म परिवर्तन की कला जिसके पास होती है वह मनुष्य ही महान् और श्रेष्ठ हुआ करता है। यदि आपने कर्म को बदलने की कला नहीं सीखी तो कदम-कदम पर आपको दु:ख उठाने पड़ेंगे। आपका सम्मान खो जायेगा। आपको हर जगह अपशब्द और बुराईयाँ मिलेंगी। लोग आपको देखकर टेड़ी निगाह कर लेंगे। आपको सम्मान और बहुमान की दृष्टि से नहीं देखा जायेगा।

आचार्य भगवन् कुंदकुंदस्वामी कहते हैं—इस जगत में इस जीव को जो कुछ भी फल मिल रहा है वह उसके कर्म के कारण ही मिल रहा है। अगर आपके शरीर में बल है, इन्द्रियाँ आपकी स्वस्थ हैं, बुद्धि आपकी ठीक है, और पुण्य उदय से आपके पास धन-सम्पदा और परिवार आदि की अनुकूलता है तो अच्छा यही है कि आगामी जीवन में इन सबकी पुन: प्राप्ति

के लिये सत्कर्म करें। इन कर्मों का फल लौटकर आपको ही प्राप्त होनेवाला है।

आचार्य भगवन् कुंदकुंददेव कह रहे हैं–''**दाणीणं दारिद्दं**'' दानी जीवों के लिए दरिद्रता की प्राप्ति और ''**लोहीणं महइसरियं**'' लोभी जीवों के महान ऐश्वर्य '**किं हवदि**' क्यों देखा जाता है? '**जाव उहयाणं**' जब तक दोनों के '**पुव्वज्जिय कम्मफलं**' पूर्वोपार्जित कर्मों का फल '**थिरं होदि**' स्थिर होता है अर्थात् उदय में आता है, तब तक ही ऐसा देखा जाता है। इस गाथा में आचार्य देव एक पंक्ति में प्रश्न कर रहे हैं और दूसरी पंक्ति में उसका समाधान प्रस्तुत कर रहे हैं।

किसी ने पूछा–हे भगवन्! आपने दान की बड़ी महिमा बतलाई है, लेकिन कभी-कभी दानी जीवों के भारी दरिद्रता दिखाई देती है और लोभी पुरुषों को महान ऐश्वर्य की प्राप्ति होती हुई देखी जाती है इसका कारण क्या है? कई बार आप लोगों के मन में भी यह प्रश्न आता होगा कि कोई व्यक्ति खूब धर्म का पालन करता है, धर्मध्यान करता है, स्वाध्याय, देवपूजा, गुरुजनों की उपासना, संयम, तप, दान सबकुछ करता है फिर भी उसके जीवन में कष्ट क्यों आते हैं? किसी का कोई प्रिय व्यक्ति किसी दुर्घटना में मरण को प्राप्त हो जाये तो आदमी यह कहता हुआ देखा जाता है कि हमने तो सदैव ही अच्छे कार्य किये, सद्कार्य किये, कभी किसी का बुरा नहीं किया, लेकिन मेरे साथ इसप्रकार की दुर्घटना क्यों हुई? हमारे साथ ही इतना बुरा क्यों हुआ? अक्सर व्यक्ति ऐसा सोचने लग जाता है।

अरे भाई! तुम जिनधर्म को समझो, कर्म सिद्धान्त को समझो, भगवान् जिनेन्द्र की वाणी को समझो। कर्म सिद्धान्त ये कहता है कि यहाँ जिसके साथ जो कुछ भी हो रहा है उसका कारण कोई दूसरा नहीं अपितु वो खुद है और उसका कर्म है। उसके अच्छे-बुरे में वो खुद कारण है कोई दूसरा नहीं। अगर तुम ये सोचते हो कि उसका अच्छा-बुरा मेरे कारण हो रहा है, तो ये तुम्हारी विपरीत सोच है। यहाँ जो कुछ भी हो रहा है जीवों के अपने-अपने कर्म के कारण हो रहा है। किसी का मरण हुआ है तो उसका आयुकर्म इतना ही शेष था, कोई किसी के आयुकर्म को क्षणमात्र भी बढ़ाने में समर्थ नहीं है।

ध्यान रखना, किसी व्यक्ति में किसी के आयुकर्म को बढ़ाने की क्षमता नहीं है। जिसका जब आयुकर्म समाप्त होगा, उसको देह से विदाई लेनी ही होगी। लेकिन अज्ञानतावश व्यक्ति

सोचने लगता है कि हमने तो सदैव अच्छा कर्म किया, सबका भला सोचा, फिर हमारे ऊपर ही इतनी बड़ी विपदा क्यों आई? हमने तो कभी किसी का बुरा नहीं सोचा, लगता है भगवान् को भी हम पर दया नहीं आई। भगवान् भी हमसे रूठ गया है।

ध्यान रखना, भगवान् न तो कभी किसी से रूठता है और न ही कभी किसी पर प्रसन्न होता है। जैसे वृक्ष खड़ा हुआ है, वह न किसी को फल देता है और न ही कभी किसी को फल लेने से मना करता है। वृक्ष पर फल लगा है वृक्ष स्वयं किसी को फल नहीं देता, जो उसका आश्रय करता है उसको फल की प्राप्ति हो जाती है। फल प्राप्त करनेवाले को ही कर्म करना पड़ता है।

कोई ऐसा सोचे कि भगवान् ने हमारे साथ बुरा किया है, तो भगवान् न कभी किसी का अच्छा करते हैं और न कभी किसी का बुरा करते हैं। भगवान् के निमित्त से होनेवाले शुभकर्म से तेरा अच्छा होता है और विपरीत कर्म से तेरा बुरा होता है। कभी भगवान् को उलाहना मत देना कि भगवान् ने हमारे साथ बुरा किया। हमारे ऊपर बिल्कुल भी दया नहीं की।

भगवान् उस अवस्था का नाम है जहाँ न राग है, न द्वेष है। जो रागद्वेष से मुक्त पूर्ण वीतराग हो चुके हैं। अब वो किसी से राग नहीं करते, किसी पर प्रसन्न नहीं होते, किसी पर द्वेष नहीं करते, किसी का बुरा नहीं सोचते। जो पूर्ण वीतरागी हैं उन्हें भगवान् कहते हैं। जो ऐसे वीतरागी भगवान् का आश्रय करता है, उनका गुणानुवाद करता है उसको भगवान् के गुणानुवाद के निमित्त से सातिशय पुण्य की प्राप्ति होती है। उस पुण्य के प्रभाव से उसके बिगड़े काम अपने आप बन जाते हैं। यदि कोई भगवान् के प्रति विपरीत आचरण करे, विपरीत प्रवृत्ति करे, तो उसे अपने विपरीत आचरण के निमित्त से अर्जित अशुभ कर्मों का फल भी अवश्य भोगना पड़ता है।

लोक में ऐसा देखा जाता है कि जब किसी दानी पुरुष के जीवन में भी दरिद्रता का उदय होता है, तब व्यक्ति सोचने लगता है हमने तो जीवनभर खूब दान किया, खूब पुण्य किया, फिर भी हमारे लिए यह दरिद्रता के दिन देखने पड़ रहे हैं। आचार्य भगवन् कुंदकुंददेव उसको समझाते हुए कहते हैं—पूर्वोपार्जित कर्म का जब तक उदय चल रहा है, तब तक दानी को भी दरिद्रता भोगनी पड़ती है, और लोभी को भी अपार ऐश्वर्य की प्राप्ति होती हुई देखी जाती है।

क्या राम कम दानी थे? क्या राम पुण्यवान नहीं थे? अरे, राम के पास सबकुछ था, लेकिन पूर्व में किया हुआ कर्म जब उदय में आया तो राम के लिए भी चौदह वर्ष का वनवास भोगना पड़ा।

द्रोपदि के जीव ने पूर्व पर्याय में आर्यिका के पवित्र व्रत अंगीकार किये थे। वह रास्ते से विहार करते हुए कहीं जा रही थी। उसके आगे एक वेश्या जा रही थी। उस वेश्या के पीछे पाँच पुरुष चल रहे थे। आर्यिका के मन में ऐसे परिणाम हुए, ओ हो! इस वेश्या के साथ पाँच-पाँच पुरुष चल रहे हैं और मेरे साथ कोई भी नहीं है। तभी उसने निदान कर लिया कि हमारे साथ भी ऐसे पाँच-पाँच पुरुष होते तो कितना अच्छा होता। यद्यपि उस आर्यिका के मन में कोई विकार का भाव नहीं था। केवल इतना-सा परिणाम था कि हमारे साथ भी ऐसे पाँच पुरुष चल रहे होते तो कितना अच्छा होता। वह भाव भी विकार के कारण नहीं आया अपितु उसे वहाँ अपना अकेलापन महसूस हुआ। वह श्रेष्ठ आर्यिका के व्रतों को पालन करती थी लेकिन छोटा-सा भाव उसके आत्मा में ऐसे कर्म का सृजन कर गया कि जब वह द्रोपदि की पर्याय को प्राप्त हुई, उसका स्वयंवर हुआ तब पाँचों पाण्डव स्वयंवर में क्रमशः अपने योग्य आसनों पर बैठे हुए थे। द्रोपदि अपने हाथों में वरमाला लेकर अपना वर खोजने आगे बड़ी और पाण्डवों के सन्मुख जाकर उसके कदम थम गये। अर्जुन को वरमाला पहिनाने के लिए ज्यों ही अपने हाथ आगे बढ़ाये कि माला टूट गई। ये महज एक संयोग नहीं था अपितु उसके द्वारा पूर्व में किये गये कर्म का विपाक था। क्या हुआ? जैसे ही अर्जुन को चुनने उसने माला आगे की तभी अचानक वह माला टूट गई, उसके पुष्प बिखर गये और पाँचों पाण्डवों के ऊपर जा गिरे। लोगों ने देखा, अरे! माला के पुष्प पाँचों पाण्डवों पर गिरे हैं। पाञ्चाल देश की थी सो पाञ्चाली कहलाई। और उसने पूर्व में जो पाँच पुरुषों का निदान किया था वो कर्म उदय में आया। वह द्रोपदि लोक में पाँच पतिवाली कहलाने लगी।

लोक परम्परा में इसप्रकार से यह कथा प्रचलित है कि पाण्डव द्रोपदि को लेकर जब अपने घर पहुँचे, तो माता कुन्ती घर के अंदर काम में व्यस्त थी। उन्होंने कहा—माँ! देखो बाहर आकर, हम क्या वस्तु लाये हैं। माँ ने अंदर से बिना देखे ही कह दिया कि जो भी लाये हो पाँचों भाई आपस में बाँट लो।

बंधुओ, कहने का तात्पर्य यह है कि द्रोपदि पर, पाञ्चालि अथवा पाँच पतिवाली, ऐसा आक्षेप क्यों आया? वर्तमान में तो द्रोपदि ने ऐसा कोई कर्म नहीं किया था। पूर्व में उसने जो निदान

किया था उसी पूर्वोपार्जित कर्म के उदय से वर्तमान में उसके ऊपर ऐसा आक्षेप खड़ा हुआ।

आचार्य कुंदकुंददेव समझा रहे हैं– **दानी के जीवन में भी कभी दरिद्रता देखी जाती है तो इसका कारण उसका वर्तमान में दान-धर्म में स्थित रहना नहीं है अपितु पूर्व में किये हुये पापकर्म का उदय ही है। दान का फल दरिद्रता नहीं है, दान का फल तो महान ऐश्वर्य की प्राप्ति है। अगर कोई वर्तमान में दान करता है तो भविष्य में उसे अवश्य ही महान ऐश्वर्य प्राप्त होगा। धन-सम्पदा की प्राप्ति अथवा नाश में हमारे पूर्वकृत कर्म ही कारण बनते हैं।**

आचार्य भगवन् अमितगतिस्वामी ने मरणकण्डिका में कहा है–

अर्थः पापोदये पुंसो, हस्तप्राप्तोऽपि नश्यति।
दूरतो हस्तमायाति पुण्यकर्मोदये सति।। 1816।।

अर्थात् जब जीव के पाप का उदय आता है तब हाथ में आया हुआ धन भी नष्ट हो जाता है और पुण्योदय के होने पर बहुत दूर देशान्तर में स्थित धनादि वैभव हाथ में आ जाता है अर्थात् प्राप्त हो जाता है।

वर्तमान में दिया गया दान भविष्य में अपार धन-वैभव की प्राप्ति में कारण बनता है। जिसप्रकार भूमि को एक बीज दान दिया जाता है तो अनेक बीजों की प्राप्ति होती है उसीप्रकार सत्पात्रों को दिये गये दान का फल अतिशय महान होता है।

कभी लोभी पुरुष भी ऐश्वर्य को प्राप्त होता देखा जाता है। जो कभी दान नहीं करता, महान कंजूस है, एक पैसा भी जिससे भावपूर्वक दान में नहीं दिया जाता फिर भी उसका ऐश्वर्य बढ़ता हुआ देखा जाता है।

आचार्य भगवन् कुंदकुंददेव कहते हैं– यह उस जीव के पूर्व में किये गये पुण्य का फल है। उसने पूर्व में ऐसा कोई सत्कर्म, पुण्यकर्म किया हुआ है जो वर्तमान में उदय आ रहा है। उसी पुण्यकर्म के कारण उसे वर्तमान में ऐश्वर्य की प्राप्ति हो रही है, लेकिन लोभी के ऐश्वर्य को बढ़ता हुआ देखकर कभी दानीजनों को अपना दिल छोटा नहीं करना चाहिए।

किसी धनपति का बेटा किसी विद्यालय में पढ़ता है। सभी बच्चे उसका सम्मान करते हैं। टीचर (Teacher) भी यथायोग्य उसके प्रति सरल व्यवहार रखते हैं। उसी विद्यालय में एक गरीब का बेटा भी पढ़ता है। वह गरीब का बेटा उस धनपति के बेटे को इतना सम्मान प्राप्त करते हुए देखकर यह विचार न करे कि परीक्षा में मुझे कॉपी (Copy) में कुछ लिखना चाहिये या नहीं लिखना चाहिए। ध्यान रखो, गरीब का बेटा अगर कॉपी (Copy) में लिखेगा तो वह पास होगा। धनपति का बेटा कितना भी ऐश्वर्य, सम्मान, बहुमान प्राप्त कर ले, अगर कॉपी (Copy) में कुछ नहीं लिखेगा तो परीक्षा परिणाम फेल (Fail) ही होगा।

इसीप्रकार लोभी वर्तमान में कितना ही ऐश्वर्य, वैभव, मान, सम्मान प्राप्त कर ले किन्तु वह दान नहीं देता है तो अंत समय में वह अवश्य ही फेल (Fail) होगा। उसका परिणाम बुरा ही होगा। किसी दानी जीव को वर्तमान में भले ही दरिद्रता आकर घेर ले तो भी वह एक न एक दिन सम्मान का पात्र अवश्य होगा, इसलिए कभी भी घबराना नहीं चाहिए। दूसरों के ऐश्वर्य को देखकर अपना दिल छोटा नहीं करना चाहिये। अरे धर्म संस्कृति वह है, जहाँ किसी के पास अगर एक रोटी भी है तो चार टुकड़े करके चार लोगों को खिला देता है और उसका पेट भर जाता है। उसका पेट भरे या न भरे लेकिन उसको जीवन में शांति अवश्य मिलती है। जो व्यक्ति अपनी एक रोटी खाकर के दूसरे की भी आधी रोटी छीन लेता है, डेढ़ रोटी खाकर भी उसका पेट नहीं भरता और न कभी उसको जीवन में शान्ति प्राप्त होती है।

बंधुओ, दानी बनना। एक संकल्प जीवन में जरूर कर लेना कि हमारे पास जितना है हम उसमें से थोड़ा सा दान अवश्य करेंगे। हाथ तभी शोभा को प्राप्त होते हैं जब इनका उपयोग दान करने में किया जाये।

नीतिकार कहते हैं– ''**दानेन पाणिर्न तु कङ्कणे**'' अर्थात् हाथ की सच्ची शोभा दान से है, कंगन धारण करने से नहीं।

जब तक व्यक्ति दान करता है तब तक उसे जीवन में कदम-कदम पर सफलता मिलती है। किसी नगर में दो मित्र थे। एक दान करने में विश्वास रखता था और दूसरा लोभी था। दोनों मित्र एक दिन किसी नदी किनारे पहुँचे। केवट को बुलाकर कहा–भैया! तुम हमें नदी के उस

पार पहुँचा दो। केवट ने कहा–ठीक है। दोनों मित्र नदी पार करने के लिए नौका में सवार हो गये। केवट ने नौका चलाई और दूसरे किनारे पर जाकर नौका लगा दी। दोनों मित्र नौका से उतरे। उतरने के बाद जो दानी मित्र था उसने एक रुपये का सिक्का केवट को दे दिया। 50-50 पैसे में दोनों मित्र नदी पार करके किनारे पर आ गये। अब वह लोभी मित्र बोला–देखा, मैंने कुछ भी नहीं दिया फिर भी मैं पार हो गया? दानी मित्र ने कहा–तूने कुछ नहीं दिया इसलिए तू पार नहीं हुआ, मैंने दिया है इसलिए तू पार हुआ है। अगर मैं नहीं देता तो तू पार नहीं हो पाता। मैंने त्याग किया इसलिए मैं भी पार हुआ और मेरे साथ तू भी पार हुआ। अगर मैं भी तेरे साथ लोभी बनकर बैठा रहता तो न तू पार होता और न मैं। हम दोनों अभी उसी किनारे पर बैठे होते।

कहने का तात्पर्य यह है–जीवन में हमारे पास जो है, जितना है उसमें संतोष रखना सीखो और उसमें से भी थोड़ा सा दान, थोड़ा सा त्याग करने का भाव अपनी आत्मा में अवश्य रखो। थोड़ा सा दान भी जीवन में बहुत बड़े सम्मान में कारण बनता है। जीवन दान से ही श्रेष्ठ बनता है।

लोक में हम देखते भी हैं कि संग्रह करनेवाला हमेशा नीचा होता है और त्याग करनेवाला, दान करनेवाला हमेशा ऊँचाई को प्राप्त होता है। समुद्र के अंदर जलसंग्रह की प्रवृत्ति है इसकारण से समुद्र नीचा है और मेघों में त्याग की प्रवृत्ति होने के कारण वो वायु की पीठ पर सवार होकर खुले आकाश की ऊँचाईयों से बात करते हैं। मेघ जब तक जल ग्रहण करते हैं तब तक निरंतर काले होते चले जाते हैं और वही काले-काले मेघ जब जल का त्याग करना प्रारम्भ कर देते हैं तो धीरे-धीरे धवल होते जाते हैं, उज्ज्वल होते जाते हैं।

बंधुओ! जीवन में धवलता, उज्ज्वलता दान से आती है। लोक में कदाचित् दानी जीव दरिद्री भी देखा जाये तो भी दानियो! परमात्मा से यह प्रार्थना करना कि हे परमात्मा! मुझे ऐसी दरिद्रता भी स्वीकार है जिस दरिद्रता के होने पर आत्मा में दान का परिणाम बना रहता है लेकिन मुझे ऐसा ऐश्वर्य स्वीकार नहीं है जिस ऐश्वर्य को प्राप्त करने के बाद आत्मा में लोभ का राक्षस जन्म लेता हो, अर्थात् मुझे वो ऐश्वर्य नहीं चाहिए जिसके आने पर आत्मा में लोभ का परिणाम आ जाये। मुझे ऐसा ऐश्वर्य कभी प्राप्त न हो।

बन्धुओ! एक दरिद्री दान कर सकता है लेकिन लोभी धनवान भी दान नहीं कर पाता। एक नगर में दो व्यक्ति हैं। एक गरीब और दूसरा धनपति है। जब कोई धार्मिक अनुष्ठान का, धर्मध्यान का अवसर आया, तो पता चला जिसकी उतनी सामर्थ्य नहीं थी, उसने दिल खोलकर दान दिया और जिसकी सामर्थ्य करोड़ों दान करने की थी, वो सभा में मौन लिए बैठा रहा। वह चुपचाप इसलिए बैठा है क्योंकि उसके अंदर लोभरूपी पाप बैठा है। एक के अंदर दान की विशुद्धि है और दूसरे की आत्मा में लोभ की अशुद्धि है। लोभ की अशुद्धि के कारण वह लोभी रंचमात्र भी दान नहीं कर पाता और दानी के पास थोड़ा होने पर भी वह दूसरों को देने का भाव रखता है।

बंधुओ! जीवन एक थाली की तरह है। किसी थाली में हलुवा, पूड़ी, पराठे और नाना प्रकार के व्यंजन सजे होते हैं और किसी थाली में मात्र सूखी रोटी होती है। एक व्यक्ति उस व्यञ्जनों से भरी थाली को खुद खाता है पर कभी किसी भूखे को नहीं खिला पाता और दूसरा व्यक्ति उस सूखी रोटी को भी पहले दूसरों को खिलाकर फिर स्वयं खाता है। दोनों में श्रेष्ठ कौन है? दोनों में किसका जीवन श्रेष्ठ है? ध्यान रखना, जिसने सूखी रोटी भी दूसरों को खिलाई है उसका समय ऐसा होगा कि उसकी थाली जिसमें आज मात्र सूखी रोटी है कल नाना प्रकार के मनोज्ञ व्यञ्जनों से भरी होगी और जिसने आज मनोज्ञ व्यञ्जनों से भरी थाली को सिर्फ खाना तो सीखा है पर खिलाना नहीं सीखा, एक दिन उसके पास थाली तो होगी लेकिन खाने के लिए थाली में सूखी रोटी भी नसीब न होगी।

आचार्य भगवन् पद्मनंदीस्वामी उपासक संस्कार में श्रेष्ठ दान की महिमा बताते हुये कहते हैं –

समर्थोऽपि न यो दद्याद् यतीनां दानमादरात्।
छिनत्ति स स्वयं मूढः परत्र सुखमात्मनः।।6-34।।

अर्थात् जो समर्थ होकर भी मुनियों के लिए आदरपूर्वक दान नहीं देता है वह मूर्ख परभव में अपने सुख को स्वयं छोड़ देता है। इसलिए सद्गृहस्थों को यथाशक्ति दान आदि देते रहना चाहिए।

हमें आज जो भी प्राप्त हुआ है वह पूर्वोपार्जित कर्मों का फल है। वर्तमान में तुम जो भोग

रहे हो वह पूर्व में किये गये कर्मों का फल है। वर्तमान में आप कितना श्रेष्ठ कर्म कर रहे हो इसका चिंतन-मनन अवश्य करते रहना, क्योंकि यही आपका भविष्य बन रहा है। जो आज आप कर रहे हैं भविष्य में वही आपको प्राप्त होनेवाला है।

नल आने का समय हुआ। एक व्यक्ति ने अपनी टंकी भर ली और दूसरे व्यक्ति ने पानी बिल्कुल भी नहीं भरा, नल आने का समय पूरा हो गया। दोपहर में गर्मी तेज हुई। दोनों ने सोचा, गर्मी मिटाने के लिए शीतल जल से स्नान कर लिया जाये। जिसने टंकी में पानी भर लिया था वो आनंद मनायेगा। जिसने अपनी टंकी में पानी भरा ही नहीं है उसे दु:खी होना पड़ेगा।

बंधुओ! यह मनुष्य जीवन मिला है इस जीवन में सत्कर्म के द्वारा, श्रेष्ठ कर्म के द्वारा, शुभ कर्म के द्वारा, अपने भविष्य के लिए अपनी टंकी में पुण्य का जल अवश्य भर लेना। खाली मत रखना, अन्यथा पानी आकर चला जायेगा, तुम रिक्त के रिक्त खड़े रह जाओगे। इसलिए अपने आगामी भविष्य को सुन्दर बनाने के लिए अपने सुन्दर-सुन्दर हाथों से दान करना सीखो, निश्चित ही आपका भविष्य सुन्दर होगा। इसी शुभ भावना के साथ...।

जैसा कर्म सजायेगा, वैसा जीवन पायेगा।
शुभकर्मों का शुभफल है, अशुभ अशुभफल लायेगा।।
ऐश्वर्य लोभी, हो-हो-2, दानी दारिद्र पाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2, संहिता दिखलाये रे।।

अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

❑❑❑

जैन समाज और आर्थिक सम्पन्नता : एक चिंतन

• श्रमणाचार्य विमर्शसागर

जैनधर्म एक अहिंसक जीवन शैली है। जिसमें भेदभाव के काँटे नहीं अपितु सभी जीवों के प्रति मैत्रीभाव के फूल खिलते हैं। जिसमें द्वेष की दुर्गन्ध नहीं अपितु प्रेम की सौरभ महकती है। जिसमें अंधविश्वास की आँधी नहीं अपितु आत्मविश्वास की कोमल अनुभूति है।

जैन धर्म में अहिंसा का अर्थ है मानवता, परस्पर सहयोग, उदारता, अकृत्रिम वात्सल्य, करुणा, दया, सादगी और संतोष। सच तो यह है कि जैनधर्म गुणवादी धर्म है। जिन गुणों के पालन से जीवमात्र सुखी होता है वे सब गुण जैन धर्म की विशेषता हैं। जैनधर्म के आद्य तीर्थंकर आदिनाथ भगवान ने जीवमात्र को सुखी जीवन जीने के लिए अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह पालन करने की शिक्षा दी थी, तो अंतिम तीर्थेश महावीर ने इन्हीं का संक्षिप्त सूत्र दिया, 'जिओ और जीने दो'।

तीर्थंकर वाणी और हमारा कर्तव्य

जब व्यक्ति के जीवन में परस्पर सहयोग की भावना होती है तब वह परिवार एवं समाज का अंग बनकर सम्मानीय जीवन जीता है। जैन समाज को अहिंसक समाज के रूप में जाना जाता है अत: हमें अपनी अहिंसा की वृत्ति को सहयोग और उदारता के क्षेत्र में विस्तृत करना होगा। जिस प्रकार शरीर के किसी अंग में पीड़ा होने पर हमें उसका ज्ञान होता है साथ ही उस अंग की पीड़ा को दूर करने का प्रयास किया जाता है। उसी प्रकार समाज के अंग-अंग की पीड़ा को जानकर हमें उसे दूर करने का प्रयास करना होगा। जैन समाज में कुछ धनिक वर्ग है कुछ मध्यम वर्ग है तो कुछ निम्न वर्ग भी है जिसे निर्धन कहा जाता है। यद्यपि जैन समाज सभ्य और ईमानदार है। सो हमें कर्तव्यशील भी बनना होगा। समाज के ही अंग, निर्धन वर्ग की खोज कर हमें उन्हें सम्मानीय जीवन के योग्य बनाना होगा अर्थात् अर्थ सम्पन्न बनाना होगा। ''यह सच है कि आर्थिक समानता होना संभव नहीं है लेकिन अर्थाभाव को दूर करना असंभव भी नहीं है'' तीर्थंकर वाणी ''जिओ और जीने दो'' का हमें आचरण करना होगा और समाज के निर्धन वर्ग की सही परिस्थिति का आंकलन कर उन्हें अर्थ सम्पन्न बनाने का कर्तव्य निर्वाह करना होगा तभी हम सच्चे जैन धर्मानुयायी कहला सकेंगे।

गर्भ-जन्मकल्याणक-आर्थिक सम्पन्नता के परिचायक

जैनधर्म में जब तीर्थंकर गर्भ में आते हैं उसके छह माह पूर्व से जन्म पर्यन्त अर्थात् 15 महीने राजमंदिर के प्रांगण में रत्नों की वर्षा होती है जिसे नगर वासी हँसी-खुशी के साथ ले जाने हेतु स्वतंत्र होते हैं। अत: वास्तव में तीर्थंकर के गर्भ-जन्मकल्याणक नगरवासियों की आर्थिक सम्पन्नता के परिचायक सिद्ध होते हैं। मेरा मानना है जबतक गृहस्थ/श्रावक अर्थ सम्पन्न नहीं होगा, तबतक वह धर्म सम्पन्न भी नहीं हो सकता। यद्यपि इसका कोई अविनाभावी संबंध नहीं है लेकिन जबतक व्यक्ति अर्थ सम्पन्न नहीं होगा, तबतक वह अपने कर्तव्य पालन भी ठीक से नहीं कर सकता। अत: जैन समाज के प्रबुद्ध वर्ग मनीषी, चिंतक, समाज हितैषी संस्थाओं को, संगठनों को इस दिशा में कदम उठाने होंगे।

जैन समाज का धर्मांतरण एक विचारणीय बिन्दु

अभी सुनने को मिला है कि कुछ जैन परिवारों ने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया है क्योंकि ईसाईयों ने उन्हें आर्थिक सहयोग किया है ऐसा सुनकर हम ईसाईयों के इस कार्य की निंदा तो करने लग जाते हैं लेकिन कभी इस विषय पर विचार नहीं करते कि हमारे समाज बंधुओं को ऐसा किस कारण से करना पड़ा। यदि आर्थिक विपन्नता के कारण ऐसा हुआ है तो हम भी उन्हें अर्थ सम्पन्न बनाने की दिशा में कदम उठायें। जैन व्यक्ति श्रेष्ठ धर्म को छोड़ने की भावना नहीं कर सकता लेकिन परिस्थिति से घिरा व्यक्ति कुछ भी करने को तैयार हो जाता है। अत: हमें अर्थाभाव, लघु धंधा विकास की परिस्थिति को समझने का प्रयास करना होगा। तभी जैन धर्म और गृहस्थ धर्मी सुरक्षित रह पायेंगे। ईसाई मानव धर्म का पालन करते हैं तो हम मानवता का पालन करने का संकल्प बढ़ायें। ऐसा होने पर क्षेत्र की निंदा करने की अपेक्षा निदान करना ही श्रेयस्कर माना जाता है।

समाजोद्धारक बनने का साहस और संकल्प लें

यदि जैन समाज देश में सर्वाधिक टैक्स (कर) दे सकता है तो जैन समाज निर्धन वर्ग का सहयोग भी कर सकता है जिसकी आवश्यकता है नि:स्वार्थी समाजोद्धारक बनकर आगे आने की।

'जयदु जिणागम पंथो।'
'जिनागम पंथ जयवंत हो।'

(मुनि दान से सुख होता है)

धण-धण्णादि-समिद्धे, सुहं जहा होदि सव्वजीवाणं।
मुणिदाणादि-समिद्धे, सुहं तहा तं विणा दुक्खं।।30।।

*** अन्वयार्थ ***

(**जहा**) जिसप्रकार (**धण-धण्णादि-समिद्धे**) धन-धान्य आदि की समृद्धि से (**सव्वजीवाणं**) सब जीवों को (**सुहं**) सुख (**होदि**) होता है (**तहा**) उसी प्रकार (**मुणिदाणादि समिद्धे**) मुनिदान आदि की समृद्धि से (**सव्व जीवाणं**) सब जीवों को (**सुहं**) सुख (**होदि**) होता है (**तं**) इस दान (**विणा**) बिना (**दुक्खं**) दु:ख होता है।

अर्थ–जैसे धन-धान्यादि की समृद्धि से समस्त जीवों को सुख होता है, उसीप्रकार मुनिदान आदि की समृद्धि से सुख होता है और उसके बिना दु:ख होता है।

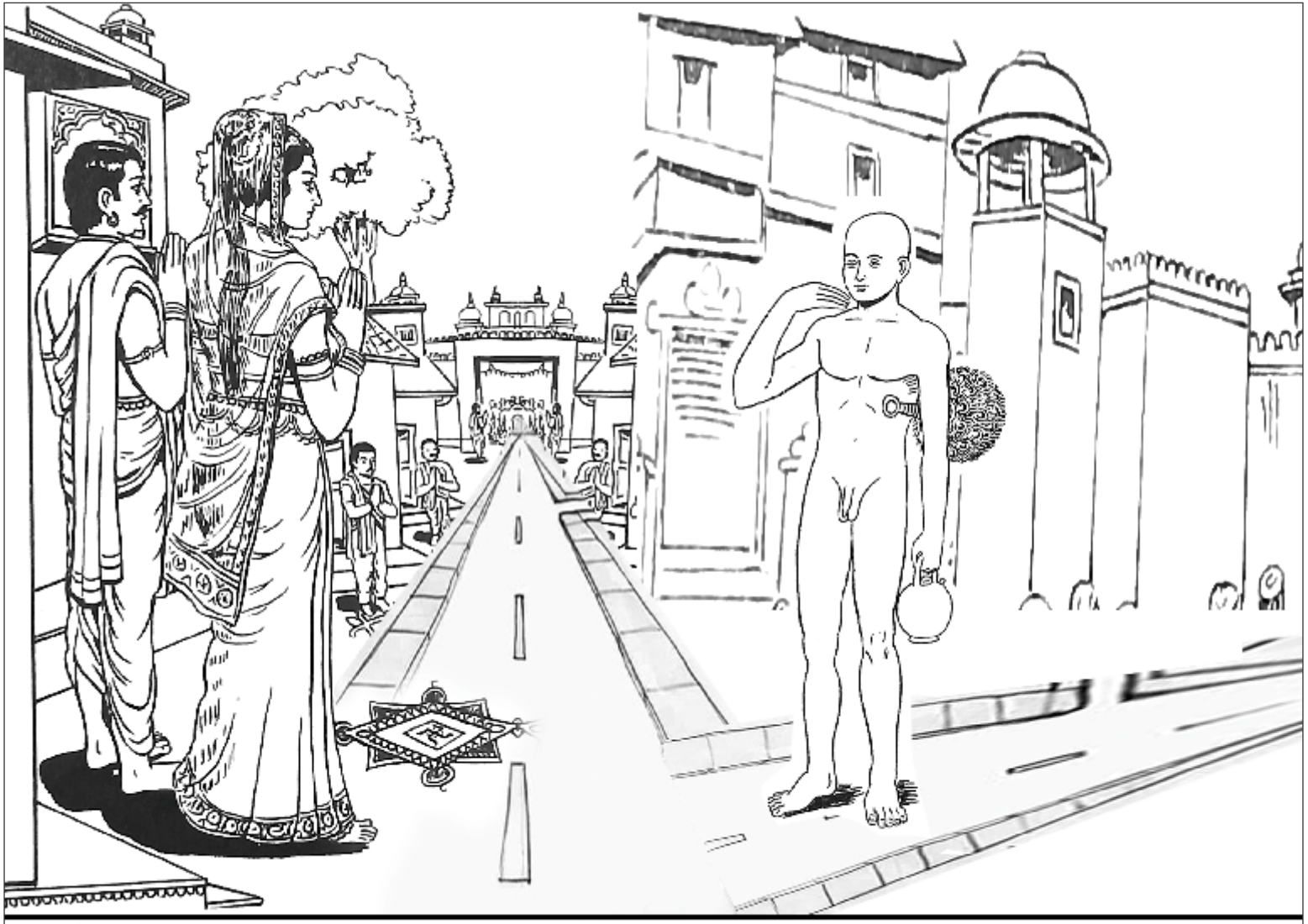
गाथा - 30

(प्रवचन)

●

पात्रदान, समृद्धि का कारण

06.10.2013
भिण्ड (म.प्र.)



चक्रवर्ती भरत पटरानी सुभद्रा के साथ मुनिराज का पड़गाहन करते हुये।

40

रयणोदय

कर लो आगमज्ञान जरा, कर सुपात्र को दान जरा।
जैसे धन से जीव सुखी, वही दान से मान जरा।।
मुनिदान बिन तू, हो-हो-2, दुःख ही दुःख पाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2 संहिता दिखलाये रे।।

'**जयदु जिणागमपंथो**' अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

तीर्थंकर भगवंत की दिव्यध्वनि जिनश्रुत है, जिनागम है। जिनागम में वर्णित आत्मकल्याणकारी मार्ग, आत्महितकारी पंथ '**जिनागम पंथ**' है। परस्पर रागद्वेष को बढ़ानेवाले आगमबाह्य पंथ उन्मार्ग हैं। वीतरागता को देनेवाला, '**परस्परोपग्रहो जीवानाम्**' का प्रतीक '**जिनागम पंथ**' सन्मार्ग है।

पापक्षयकारिणी, आत्महितकारिणी भगवान् अर्हंत की यह पावन देशना सातिशय पुण्य से सुनने को प्राप्त होती है। एक अर्हंत वाणी में ही आत्मा का पूर्ण हित निहित है। जब कभी आत्मा के हित की बात सुनने को मिलती है तो ज्ञानी भव्यात्माओं को ऐसा लगता है जैसे आत्मा में ही विहार करने का अवसर मिला हो। भगवान् की वाणी साक्षात् मोक्ष का हेतु है और परम्परा

से भी मोक्ष प्राप्ति के मार्ग का दिग्दर्शन कराती है।

संसारी जीव दस प्राणाश्रित जीवन जीता है। इस जीवन में कर्म करना व्यक्ति की नियति है। संसार में हर व्यक्ति कर्म करता है। जब तक संसार में है बिना कर्म किये नहीं रह सकता। जो सत्कर्म को धर्म मानकर करने लगता है, वह निरंतर आत्मोन्नति के मार्ग पर आगे बढ़ता चला जाता है। संसार में रहनेवाला हर जीव सुगति और मुक्ति इन दो की चाह अवश्य रखता है, कोई भी व्यक्ति संसार में दुर्गति की चाह नहीं करता, दुर्गति में जाना नहीं चाहता।

मुक्ति पाने के लिए निर्ग्रंथ बनना पड़ता है अर्थात् निर्ग्रंथता ही मोक्ष का साक्षात् कारण है। निर्ग्रंथता जब तक नहीं आती तब तक मोक्षमार्ग की भावना हो सकती है लेकिन साक्षात् मोक्षमार्ग नहीं हो सकता। साक्षात् मोक्षमार्ग का सग्रंथता के साथ विरोध है।

आचार्य भगवन् कुंदकुंददेव सूत्रपाहुड में कहते हैं–

णवि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासणे जइ वि होइ तित्थयरो।
णग्गो वि मोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे।।23।।

अर्थात् जिनशासन में वस्त्रधारी कभी भी सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता, चाहे तीर्थंकर भी क्यों न हों। नग्न दिगम्बर यथाजात रूप ही मोक्षमार्ग है, शेष सभी उन्मार्ग हैं।

आचार्य श्री कुंदकुंददेव ने सूत्रपाहुड में कहा–

णिच्चेल पाणिपत्तं उवइट्ठं परम जिणवरिंदेहिं।
एक्को वि मोक्खमग्गो सेसा य अमग्गया सव्वे।।10।।

अर्थात् परमोत्कृष्ट श्री जिनेन्द्र भगवान् ने वस्त्ररहित दिगम्बर मुद्रा और पाणिपात्र का जो उपदेश दिया है वही एक मोक्षमार्ग है और अन्य सब अमार्ग हैं।

श्रावक धर्म साक्षात् मोक्षमार्ग नहीं है। श्रावक सुगति और परम्परा से मुक्ति के मार्ग को स्वीकार करता है। भो जिनागमपंथी सजग श्रोताओ! अगर दुर्गति से बचना चाहते हो तो सुगति का मार्ग अपनाओ। दान और पूजा का मार्ग श्रावक के लिए सुगति का मार्ग है। यह मार्ग सिर्फ सुगति का ही कारण नहीं, अपितु परम्परा से मोक्षमार्ग भी है।

आचार्य भगवन् कुंदकुंदस्वामी श्री रयणसार जी में कहते हैं–

''दाणं पूया मुक्खं सावयधम्मे ण सावया तेण विणा''।।11।।

अर्थात् दान और पूजा करना ये श्रावक का मुख्य धर्म है, इसके बिना वह श्रावक संज्ञा को प्राप्त नहीं होता।

जैनकुल में जन्म लेनेवाले हर श्रावक का कर्तव्य है कि वह दान परम्परा का प्रतिदिन संवर्धन करे। श्रावक के अन्दर इस बात का विवेक होना चाहिए कि वह दान करे तो किसको करे और कैसे करे?

सम्पूर्ण जगत् दान की इच्छा करता है, दान की कामना करता है। किसी को कुछ भी देना चाहो सब लेने को तैयार हैं। देनेवाला एक है, लेनेवाले हजारों लोग हैं। लेकिन सच्चा दान वही है जिसमें लेनेवाला दान को स्वीकार नहीं करता, देनेवाला निवेदन करता है, प्रार्थना करता है कि हे भगवन्! आप मेरे हाथ से दान स्वीकार कीजिये और मेरे इन हाथों की शोभा बढ़ाइये।

छहखण्ड का सम्राट चक्रवर्ती भरत अपूर्व वैभव होने के बाद भी नित्प्रति दान करता था। रोज हाथों में मंगल द्रव्य लेकर राजमहल के द्वार पर खड़ा होता था, निहारता था कि शायद कोई निर्ग्रंथ मुनिराज आ जायें और मैं उनको आहारदान देकर अपने आपको धन्य कर लूँ। एक दिन सम्राट भरत द्वाराप्रेक्षण करने के लिए द्वार पर खड़े थे लेकिन पात्रलाभ नहीं हुआ। ध्यान रखना, उत्तम पात्र के करपात्र में ग्रास रखने के लिए बहुत पुण्य चाहिए। उस दिन चक्रवर्ती भरत को अपना सम्पूर्ण पुण्य व्यर्थ नजर आ रहा था। भरतजी वापिस राजमहल में आये, रानियों ने उत्तमोत्तम व्यञ्जनों से युक्त भोजन के थाल परोस दिये। पटरानी सुभद्रा पंखा झल रही है पर चक्रवर्ती उदास है। पटरानी ने पूछ लिया–स्वामी! क्या बात है? आप कुछ परेशान नजर आ रहे हैं? चक्रवर्ती भरत कहता है–भो सुभद्रे! आज मेरे इन हाथों की कोई शोभा नहीं है। पटरानी ने कहा–स्वामिन्! आपके कर-पल्लव तो अत्यंत सुन्दर हैं और उस पर ये उत्तमोत्तम रत्नों की मुद्रिकायें आपके करकमलों की शोभा को और अधिक बढ़ा रही हैं, फिर भी आप कहते हैं मेरे हाथों की आज शोभा नहीं है। सम्राट भरत कहता है–भो महारानी! इन जड़ रत्नों से इन हाथों की कोई शोभा नहीं है। जब तक इन हाथों से निर्ग्रंथ तपोधन के करपात्र में ग्रास नहीं रखा जाता तब तक ये हाथ अशोभनीय हैं। आज मेरे हाथ शोभा को प्राप्त नहीं हो रहे हैं।

ध्यान रखना, सम्यग्दान वही है, जिसमें लेनेवाला दान को तभी स्वीकार करता है जब देनेवाला बार-बार निवेदन करता है तब पात्रदान का पुण्योदय होता है। निर्ग्रंथ योगियों को दान देनेवाला तत्पर है, फिर भी वो लेने के लिए तत्पर नहीं हैं, क्योंकि निर्ग्रंथ मुनिराज अयाचकवृत्ति का पालन करते हैं, वो किसी से कुछ याचना नहीं करते। फिर भी श्रावक देने को तत्पर रहता है, यही श्रावक धर्म है।

इच्छा रखनेवालों को, माँगनेवालों को, याचना करनेवालों को दिया गया दान कथंचित् स्वर्ग का कारण तो हो सकता है, लेकिन परम्परा से मुक्ति का कारण नहीं हो सकता। दान परम्परा से मुक्ति का कारण तब बनता है जब वह दान सुपात्र के करपात्र में दिया जाता है।

आचार्य भगवन् कुंदकुंदस्वामी बारसाणुपेक्खा में पात्रों के भेदों का निरूपण करते हुए लिखते हैं –

उत्तमपत्तं भणियं, सम्मत्तगुणेण संजुदो साहु।
सम्मादिट्ठी सावय, मज्झिमपत्तो हु विण्णेओ।।17।।
णिद्दिट्ठो जिणसमए अविरदसम्मो जहण्णपत्तो त्ति।
सम्मत्तरयणरहिदो अपत्तमिदि संपरिक्खेज्जो।।18।।

अर्थात् सम्यक्त्वरूपी गुण से युक्त साधु को उत्तमपात्र कहा है। सम्यग्दृष्टि श्रावक को मध्यम पात्र जानना चाहिए और जिनागम में अविरत सम्यग्दृष्टि को जघन्य पात्र कहा गया है। जो सम्यग्दर्शनरूपी रत्न से रहित हैं वह अपात्र हैं। इसप्रकार पात्र और अपात्र की अच्छी तरह परीक्षा करना चाहिए, उपरान्त दान सुपात्रों के लिए ही देना चाहिए।

श्रावक का कर्म ही धर्म होना चाहिए, कर्म में धर्म होना चाहिए। श्रावक सम्पूर्ण कर्मों की क्षयकारिणी निर्ग्रंथ जिनदीक्षा को अंगीकार नहीं कर पाता, इसलिए एकदेश कर्मनाश और पुण्य विकास के पथ को स्वीकार करता है। श्रावक धर्म पूर्ण कर्मनाश का मार्ग नहीं, पुण्य विकास का मार्ग है और साधु धर्म पूर्ण कर्म विनाश का मार्ग है।

''धण-धण्णादि-समिद्धे सुहं जहा होदि सव्वजीवाणं'' जिसप्रकार धन-धान्य आदि की समृद्धि-वृद्धि होने पर संसार के सभी जीव सुख का अनुभव करते हैं उसीप्रकार वीतरागी श्रमणों को औषध, शास्त्र, अभय, आहार, ये चार प्रकार का दान देने से जिनागम पंथी उपासकों

को उत्कृष्ट सुख की प्राप्ति होती है। **तं विणा दुक्खं**–और पात्रदान के बिना मात्र दु:खों की ही प्राप्ति होती है। जिसप्रकार लोक में संसारी जीवों को धन आदि की वृद्धि सुख का कारण है उसीप्रकार पात्रदान से भी सुख होता है।

मात्र धन होने से सम्मान नहीं होता, धन का दान करने से सम्मान होता है। यश को पाने के लिए सदैव दान करना चाहिए क्योंकि दान से यशस्वी जीवन की प्राप्ति होती है।

संसार का प्रत्येक प्राणी सुख की यात्रा पर निकला है। सुखी होने के दो ही उपाय हैं, एक बाह्य साधनों के माध्यम से सुखी हुआ जाये और दूसरा अंतर्यात्रा करके सुखी हुआ जाये। संसारी जीवों को धन-धान्यादि की समृद्धि से सुख होता है और मोक्षमार्गी जीवों को आत्मयात्रा करने में सुख की प्राप्ति होती है। जो पर पदार्थों से सुखी होना चाहता है, वह सुखी होने के लिये पर पदार्थों की ओर यात्रा करता है और यह यात्रा उसे दु:ख की ओर ले जाती है। किन्तु जिसे निज स्वरूपलीनता में सुख की अनुभूति हुई है, जो सुख पाने के लिये अंतर्यात्रा पर निकला है वह यात्रा उसे परम सुख तक ले जाती है। बाह्य सुख-साधन हमें सुख नहीं, सुख का भ्रम देते हैं। इस भ्रम में जीव अनादि से भटक रहा है। धन-धान्यादि की समृद्धि मात्र पुण्य से प्राप्त होती है लेकिन मुनिदान आदि की समृद्धि सातिशय पुण्य से प्राप्त होती है। सुपात्र मिल जाये तो समझना तीन लोक की समृद्धि आज मेरे द्वार पर आई है। धन, वैभव, सम्पदा सब कुछ हो और पात्रदान की भावना न हो तो समझना सारा वैभव व्यर्थ है।

ध्यान रखना, पात्र मिले बिना और पात्र बने बिना आत्मा की परमात्मा बनने रूप पात्रता प्रगट नहीं होती।

कर लो आगमज्ञान जरा, कर सुपात्र को दान जरा।
जैसे धन से जीव सुखी, वही दान से मान जरा।।
मुनिदान बिन तू, हो-हो-2, दु:ख ही दु:ख पाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2 संहिता दिखलाये रे।।

अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

❑❑❑

लघु पीछी जीवदया का उपकरण, भारी नहीं

• श्रमणाचार्य विमर्शसागर

श्री भगवती आराधना ग्रंथ में आचार्य भगवन् शिवार्य महाराज ने संयमोपकरण पीछी सहित जिनलिंग का महत्व दर्शाते हुये कहा है-

पडिलेहणेण पडिलेहिज्जइ चिण्हं च होइ सगपक्खे।
विस्सासियं च लिंगं संजदपडिरूवदा चेव।।96।।

अर्थात् पीछी के द्वारा प्रतिलेखना करनी चाहिए। अपनी प्रतिज्ञा में पीछी चिन्ह होती है और प्रतिलेखना रूप लिंग मनुष्यों को विश्वास करानेवाला है तथा प्राचीन मुनियों का प्रतिबिम्ब रूप है।

पुन: प्रतिलेखन कहाँ करना चाहिए? इसके उत्तर में कहते हैं-

इरियादाणणिखेवे विवेगठाणे णिसीयणे सयणे।
उव्वत्तणपरिवत्तण पसारणाउंटणामरसे।।95।।

अर्थात् गमन में, ग्रहण में, रखने में, मलत्याग में, स्थान में बैठने में, शयन में, ऊपर को मुख करके शयन में, करवट लेने में, हाथ-पैर फैलाने में, संकोचने में, और स्पर्शन में पीछी से प्रतिलेखन (परिमार्जन) करना चाहिए।

पुन: प्रतिलेखना का लक्षण निरूपित करते हैं-

रयसेयाणमगहणं मद्दव सुकुमालदा लघुत्तं च।
जत्थेदे पंच गुणा तं पडिलिहणं पसंसंति।।97।।

अर्थात् रज और पसीने को ग्रहण न करती हो, कोमल स्पर्शवाली हो, सुकुमार हो, हल्की हो। जिसमें ये पाँच गुण होते हैं उस प्रतिलेखना की प्रशंसा करते हैं।

जिनसूत्र में अहिंसा को परमधर्म कहा है। धन्य हैं निर्ग्रंथ तपोधन जो पंचमहाव्रत का पालन करते हुये सतत् अहिंसा धर्म में स्वयं को स्थित करते हैं। सचमुच पीछी मुनिराजों का अंहिसोपकरण है। जिसका आगम के परिप्रेक्ष्य में पालन करना ही कर्तव्य है।

यदि पीछी हल्की, सुकुमार, कोमल स्पर्शवाली न हो तो क्या दोष होगा? इसका समाधान करते हुये आचार्य भगवन् भगवती आराधना ग्रंथ में कहते हैं-

'अमृदुना, असुकुमारेण, गुरुणा च प्रतिलेखनेन जीवानामुपघात एव कृतो न दयेति भाव:।'

अर्थात् कठोर, असुकुमार और भारी प्रतिलेखना से जीवों का घात ही होता है, दया नहीं।

दीक्षोपरान्त कुछ कारण ऐसे बने, जिसे देखकर मन में विचार आया कि जिनागम में जो पीछी का हल्का होना गुण बताया गया है, वह धारण करना योग्य है।

मैंने देखा एक साधु महाराज विहार काल में अपनी पीछी लौकिक देवता हनुमान की गदा की तरह अपने काँधे पर रखकर चल रहे थे।

यह देख मन में विचार आया कि पाँच सौ पंख की पीछी भी जब भारभूत लग रही है तब 1000-1200 पंखों की पीछी कितनी भारी हो जाती होगी। यद्यपि वीतराग पथ के पथिक साधकों के लिए पीछी रूप संयम का उपकरण भारभूत नहीं भव उद्धारक है तो भी संहनन की हीनता एवं जिनागम की आज्ञा के चलते पीछी का हल्का होना ही श्रेयोमार्ग की निर्बाध साधना में श्रेष्ठ है।

अत: हमने संघ में लघु पिच्छी (200 पंख) का विचार रखा। संघस्थ साधुओं ने प्रसन्नता से स्वीकार किया और कहा- गुरुदेव! आपका चिन्तन जिनागम की परिपालना एवं अनर्थदण्ड से बचानेवाला है। आज संघ में सभी साधु लघु पिच्छी (200 पंख) को धारण कर रहे हैं। यद्यपि समाज में श्रावकों को बड़ा आश्चर्य होता है, सभी लोग चर्चा करते हैं, इतनी छोटी-छोटी पिच्छी, किन्तु जब समाधान पाते हैं तो सराहना किये बिना नहीं रहते। उन्हें भी पिच्छी के गुण-दोष का ज्ञान होता है।

यद्यपि लोग कहते हैं बड़े महाराज की तो बड़ी पीछी होना चाहिये, तो मैं यही कहूँगा-छोटी पीछी रखकर मैं छोटा साधु ही ठीक हूँ। जैनम् जयतु शासनम्।

'जयदु जिणागम पंथो।'
'जिनागम पंथ जयवंत हो।'

(सुपात्र के बिना दान निष्फल है)

पत्तविणा दाणं च सुपुत्तविणा बहुधणं महाखेत्तं।
चित्तविणा वय-गुण-चारित्तं णिक्कारणं जाणे।।31।।

*** अन्वयार्थ ***

(**पत्तविणा**) सुपात्र के बिना (**दाणं**) दान (**च**) और (**सुपुत्त विणा**) सुशील पुत्र के बिना (**बहुधणं**) बहुत धन और (**महाखेत्तं**) महाक्षेत्र-जमीन-जायदाद (**चित्त विणा**) भावों के बिना (**वय-गुण-चारित्तं**) व्रत, गुण और चारित्र (**णिक्कारणं**) ये सभी निष्फल (**जाणे**) जानो।

अर्थ–सुपात्र के बिना दान, सुशील पुत्र के बिना बहुत धन और महाक्षेत्र (जमीन-जायदाद) तथा भावों के बिना व्रत, गुण और चारित्र, ये सभी निष्फल जानो।

गाथा - 31

(प्रवचन)

●

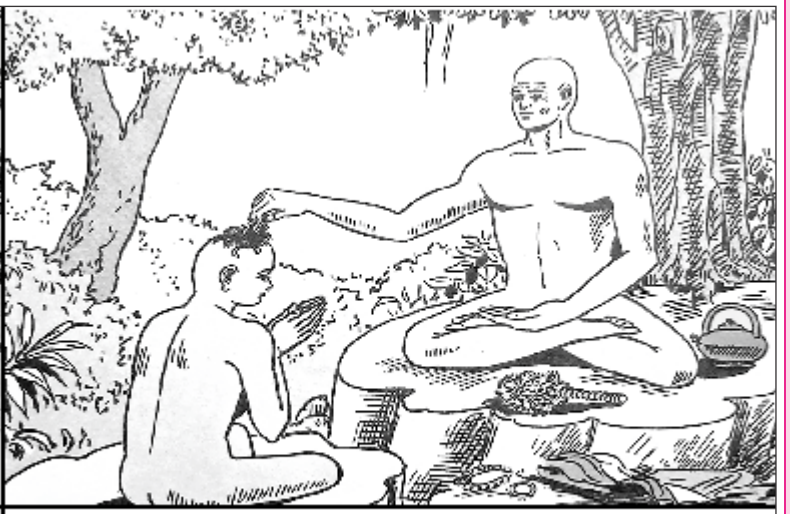
अपात्रदान, घाटे का सौदा

07.10.2013

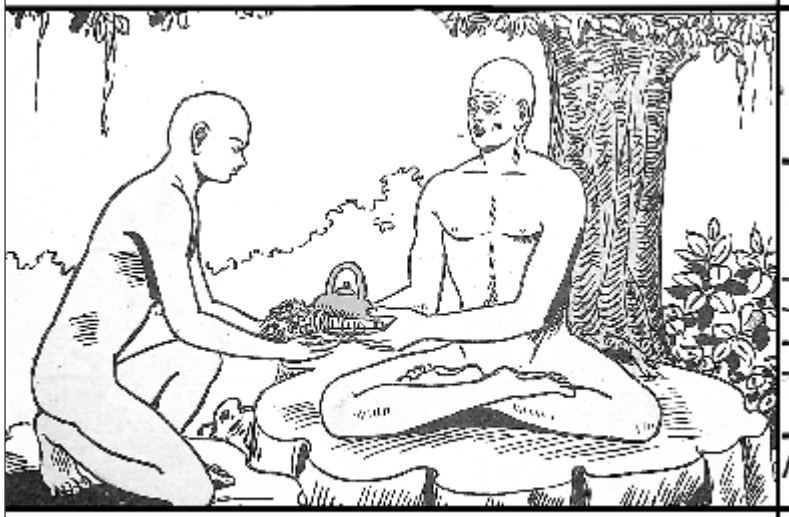
भिण्ड (म.प्र.)



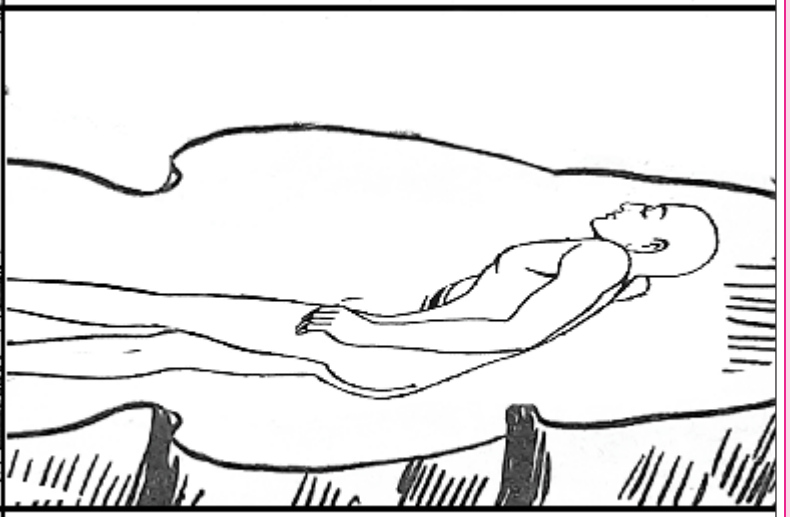
जिनागम में भगवती जिनदीक्षा, वस्त्र त्याग।



केशलोंच।



आचार्य श्री से संयमोपकरण ग्रहण करते हुए।



जमीन पर शयन।

41

रयणोदय

है सुपात्र बिन निष्फल दान, बिन सुपुत्र धन क्षेत्र मकान।
उसीतरह व्रत गुण चारित्र, शुद्धभाव बिन निष्फल जान।।
भावों से जीवन, हो-हो-2 में सुख-दुःख पाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2 संहिता दिखलाये रे।।

'**जयदु जिणागमपंथो**' अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

तीर्थंकर भगवंत की दिव्यध्वनि जिनश्रुत है, जिनागम है। जिनागम में वर्णित आत्मकल्याणकारी मार्ग, आत्महितकारी पंथ '**जिनागम पंथ**' है। परस्पर रागद्वेष को बढ़ानेवाले आगमबाह्य पंथ उन्मार्ग हैं। वीतरागता को देनेवाला, '**परस्परोपग्रहो जीवानाम्**' का प्रतीक '**जिनागम पंथ**' सन्मार्ग है।

एक सम्राट था, बहुत बड़ा दानी था। नित्य सुपात्रदान करता था। रोज द्वाराप्रेक्षण करता था। द्वाराप्रेक्षण में लाभ ज्यादा है और घाटा कुछ भी नहीं है। सम्राट रोज अपने राजमहल के द्वार पर शुद्ध वस्त्र धारणकर हाथों में मंगल द्रव्य लेकर खड़ा होता था और पात्रलाभ की भावना करता था। पात्रलाभ हो, न हो लेकिन पात्रदान का फल अवश्य प्राप्त हो जाता था। द्वाराप्रेक्षण करनेवाले

के पास सत्पात्र आ पायें अथवा न आ पायें लेकिन पात्रदान का पुण्य उसके पास जरूर आ जाता है।

सम्राट खड़ा था, सुपात्र नहीं आये। अन्य लोगों के लिये धन-धान्यादि का दान कर भी सम्राट का मन प्रसन्न नहीं था। सोचता था, मेरा दान अपात्र के हाथों में जा रहा है, सुपात्र का आज मुझे लाभ नहीं हुआ। तभी मन में विचार आया, क्यों न पात्र को खोजा जाये? सम्राट निकल पड़ा पात्र की खोज में, पात्र तो नहीं मिला लेकिन मलिन वस्त्रों में एक सुन्दर युवक मिल गया। सम्राट ने पूछा–देखने में तो बहुत सुन्दर लगते हो, कोई राजकुमार प्रतीत होते हो फिर भी भीख माँगने को खड़े हो? आपके चेहरे पर तो सम्राटों जैसा तेज है। वह युवक बोला– आपने ठीक पहिचाना। मैं भी पहले राजा था और आपकी तरह दान करता था। अपात्रदान के फल के कारण आज ये हालत है। ध्यान रखना, अपात्रदान निष्फल होता है।

सम्यक्त्व कौमुदी में कहा है–

उप्तं यथोषरे क्षेत्रे, बीजं भवति निष्फलम्।
तथाऽपात्रेषु यद् दत्तं तद् दानं निष्फलं भवेत्।।304।।

जिसप्रकार ऊसर भूमि में बोया गया बीज निष्फल होता है उसीप्रकार अपात्र में जो दान दिया जाता है वह निष्फल हो जाता है। अपात्र को दिया गया दान जाता तो है लेकिन आता नहीं है। ज्यादा जाये और कम आये यह तो घाटे का सौदा है, कम जाये तथा ज्यादा आये वह व्यापार ही श्रेयस्कर है।

आचार्य भगवन् कहते हैं–

पत्तविणा दाणं च, सुपुत्तविणा बहुधणं महाखेत्तं।
चित्तविणा वय-गुण-चारित्तं णिक्कारणं जाणे।।31।।

अर्थात् सुपात्र के बिना दान निष्फल जानना चाहिए। सुपुत्र के बिना बहुत धन, जमीन-जायदाद और भावों के बिना व्रत, नियम, गुण, चारित्र ये सभी निष्फल जानो।

हमें चंद साँसें प्राप्त हुई हैं इनसे हम बहुत कुछ उपलब्धि भी हासिल कर सकते हैं और

बहुत कुछ खो भी सकते हैं। आचार्य कहते हैं–सुपात्र के बिना दान का कोई फल प्राप्त नहीं होता। हम अपनी सम्पदा का उपयोग अपात्रों के लिए करते रहते हैं, लेकिन सुपात्रों की खोज नहीं करते। जैनकुल हमें कोई प्रथम बार प्राप्त नहीं हुआ है, लेकिन जब भी प्राप्त हुआ उसका उपयोग नहीं कर पाये। धन भी मिला, दान भी किया, लेकिन पात्र नहीं मिला। दान करनेवालों की दुनिया में कोई कमी नहीं है अगर कमी है तो इस ज्ञान की कमी है कि हमारे द्वारा दिया गया दान कहाँ सफल होगा और कहाँ निष्फल होगा।

जब आकाश से काले-काले मेघ बरसते हैं तो पानी भूमि पर भी पड़ता है और पत्थर पर भी पड़ता है। पत्थर को प्राप्त पानी व्यर्थ हो जाता है लेकिन भूमि को प्राप्त पानी भूमि को मृदुता प्रदान कर देता है। ऐसे ही सुपात्रदान के फल से आत्मा का कल्याण होता है और अपात्र को दिया गया दान व्यर्थ हो जाता है, खो जाता है, अकल्याण में कारण बन जाता है।

मिथ्यात्व आत्मा का सबसे ज्यादा अहितकारी है। पाँच पापों में भी मिथ्यात्व महापाप है। सम्यग्दृष्टि भी कदाचित् पापी है क्योंकि वो पापों का त्यागी नहीं है, लेकिन मिथ्यादृष्टि नियम से महापापी है।

आचार्य भगवन् श्री अमितगतिस्वामी मरणकण्डिका में कहते हैं–

अहिंसादिगुणाः सर्वे, व्यर्था मिथ्यात्वभाविते।
कटुकेऽलाबुनि क्षीरं, सफलं जायते कुतः।।62।।

अर्थात् मिथ्यात्व युक्त जीव में पाये जानेवाले अहिंसा आदि सर्व गुण उसीप्रकार निरर्थक हो जाते हैं जिसप्रकार कड़बी तूम्बड़ी में रखा हुआ दूध कड़वा हो जाता है, उस दूध से कुछ लाभ नहीं होता।

सम्यग्दृष्टि जीव पापसहित होता है लेकिन निरंतर पापों से छूटने के लिये छटपटाता रहता है। वह सम्पदा का अर्जन पाप से बच-बचकर करता है और भावना करता है कि हमारी सम्पदा कहीं पाप में न लग जाये। हमने अपनी सम्पदा को अनेक बार बर्बाद किया लेकिन सुपात्रदान के साथ उसे आबाद नहीं किया। धर्म यह सिखाता है कि पहले अपना भला करो फिर सबका

भला करो। पहले धर्म पुरुषार्थ करो, धर्म पुरुषार्थ 100 प्रतिशत अपना भला करने के लिए होता है। अर्थ पुरुषार्थ में अपना भला कम और दूसरों का भला ज्यादा होता है।

अपने बेटों को योग्य बनाकर, उनको अपने पैरों पर खड़ा करके उनकी चिंता करना छोड़ देना चाहिए। चिड़िया का बच्चा जब तक उड़ना नहीं जानता तब तक ही चिड़िया उसके मुँह में दाना लाकर देती है। जब वह थोड़ा सा बड़ा हो जाता है, उड़ने के योग्य हो जाता है तब वही चिड़िया उस बच्चे को डाल से नीचे गिरा देती है। जैसे ही वह गिरता है तो अपने पंख खोल लेता है, और धीरे-धीरे जब वह उड़ना सीख जाता है तो फिर वह चिड़िया उसकी चिंता करना छोड़ देती है। उसीप्रकार जब बेटे योग्य हो जायें तो फिर उनकी चिंता करना छोड़ देना चाहिये। चारों गतियों में एकमात्र मनुष्य गति ही ऐसी है जिसमें संतान का उचित रीति से पालन करने की व्यवस्था है।

देवगति में वैभव तो विपुल है लेकिन उस वैभव का कोई उत्तराधिकारी नहीं है। नरकगति में भी संतान का सुख नहीं मिलता, क्योंकि नरक में रहनेवाले सभी नारकी नपुंसक होते हैं। तत्त्वार्थसूत्र में कहा भी है –**''नारकसम्मूर्च्छिनो नपुंसकानि''।।2-50।।** अर्थात् सम्मूर्च्छन जीव और नारकी नियम से नपुंसक ही होते हैं। तिर्यंचगति में संतानों को जन्म तो दिया जाता है लेकिन संस्कार देने की योग्यता नहीं है मनुष्य गति ही एकमात्र ऐसी है जहाँ संतानों को जन्म देने के साथ संस्कार भी दिये जाते हैं। जहाँ संतान का सुख नहीं है वहाँ संतान सम्बन्धी दु:ख भी नहीं होता। देवों के पास न संतान का सुख है और न ही संतान सम्बन्धी कोई दु:ख।

मनुष्य गति में एक पिता को अगर संतान का सुख है तो दु:ख भी है। दु:ख का कारण क्या है? दु:ख का मूल कारण है उचित संस्कार नहीं देना। जो जन्म ले रहा है उसको कुछ भी पता नहीं होता कि हमें कैसे, किसप्रकार से, क्या करना चाहिए। अगर जन्म बुंदेलखण्ड में होता तो वह बुंदेलखण्डी भाषा सीख जाता है। अगर जन्म पंजाब में होता है तो पंजाबी सीख जाता है। अगर जन्म कर्नाटक में हुआ तो कन्नड़ भाषा में बोलना सीख जाता है। जिस क्षेत्र में जन्म लेता है वहीं की भाषा सीख जाता है। उसे जन्म से जैसा परिवार का या आसपास का वातावरण मिलता है वह उसी वातावरण के अनुसार अपना जीवन निर्माण करने लगता है। अगर घर का वातावरण संस्कारित होता है तो उसका जीवन संस्कारों की छाँव तले सुन्दर बनने लग जाता है और यदि परिवार का वातावरण, आसपास का माहौल कुसंस्कारित है तो उस नवागन्तुक के

जीवन में भी कुसंस्कार अपना प्रभाव डालना शुरू कर देते हैं। यदि संस्कारों के बीच पली-बड़ी सुशील संतान है तो घर में, परिवार में खुशियाँ ही खुशियाँ, शांति ही शांति रहती है और अगर कुसंस्कारों के प्रभाव से संतान व्यसनी हो जाये तो उन घरवालों से पूछना, न दिन में चैन आता है न रात को नींद आती है। घर में हमेशा दुःख, अशांति और क्लेश ही बना रहता है। **मैं आपसे सिर्फ इतना कहना चाहता हूँ–अगर आपने संतान को जन्म दिया है, आप वास्तव में संतान-सुख का अनुभव करना चाहते हैं तो अपनी संतान को श्रेष्ठ संस्कारों से संस्कारित अवश्य करें। बच्चों की आवश्यकताओं की पूर्ति मात्र करने का नाम उचित संस्कारों से पालन करना नहीं है। उनके अंदर दान-पूजा के संस्कार डालना ही उनके जीवन का निर्माण है।**

अगर कहीं रिश्तेदारी में आपको **''पई पाओने चूल''** का निमत्रंण आता है तो आप अपने पूरे परिवार को साथ लेकर जाते हो। आपने जैनकुल में जन्म लिया है, आपको रोज भगवान् जिनेन्द्र का **'पई पाओने चूल'** से निमत्रंण मिलता है, कि अपने पूरे परिवार के साथ मंदिर आओ। लेकिन न हम मंदिर जाते हैं न अपने बच्चों को ले जाते हैं। ध्यान रखना, प्रीतिभोज में जाओगे तो थाली मिलेगी। मंदिर में आओगे तो भी थाली मिलेगी। प्रीतिभोज में सिर्फ खाने को मिलेगा और मंदिर में खाने के साथ-साथ खिलाने को भी मिलेगा। इसलिए रोज पूरे परिवार के साथ, अपने छोटे-छोटे बच्चों के साथ जिनालय आकर पुण्य विकास की कारणभूत जिनार्चना करना चाहिए। अपने परिवार के प्रति हमारे क्या कर्तव्य हैं इसको समझना होगा। बच्चों को धर्म संस्कार देना ये हर माता-पिता की जिम्मेदारी है। आपका बेटा जन्म से कुछ सीखकर नहीं आता। आप उसे जैसी दिशा देते हैं वो उस दिशा में अपने कदम रखना शुरू कर देता है। उसको इस बात का ज्ञान नहीं है कि ये दिशा सही है या गलत।

आपका बच्चा जिस विषय का अध्ययन करता है उसी में वह विशेषज्ञ बन जाता है। जब आप उसे डॉक्टर (Doctor) बनाना चाहते हैं तो वह बॉयोलॉजी (Biology) विषय से आगे बढ़ता है और एक दिन डॉक्टर (Doctor) बन जाता है। जब गणित विषय लेकर आगे बढ़ता है, तो इंजीनियर (Engineer) बन जाता है। जब एल.एल. बी. (L.L.B.) करता है तो वकील बन जाता है, ऐसे ही जब आप अपने बच्चे को बचपन से ही संस्कारों के विषय में सिखायेंगे

तो क्या वो संस्कारों का विशेषज्ञ नहीं बन सकता? अवश्य बन सकता है। **घर भी हमारा एक विद्यालय है। लौकिक विद्यालय में शिक्षा मिलती है तो घर के विद्यालय में संस्कार मिलते हैं। अगर घर के विद्यालय में उसे संस्कार नहीं दिये और सिर्फ विद्यालय में पढ़ाते रहे तो वह बुद्धिमान तो बन जायेगा, लेकिन संस्कारवान नहीं बन पायेगा।**

वर्तमान भौतिक युग में बुद्धिमान लोग ही सबसे ज्यादा खतरनाक हैं। कौन से बुद्धिमान? संस्कारहीन बुद्धिमान। इसलिए सिर्फ पुत्र को जन्म मत देना अपितु पुत्र को जन्म देने के बाद एक सुपुत्र का निर्माण भी करना, ये आपकी बहुत बड़ी जिम्मेदारी है, अन्यथा उसका प्रतिफल आपके सामने अच्छा आनेवाला नहीं है। विचार कीजिये, यदि आपका संस्कारित सुशील पुत्र घर पर हो और आप बाहर से थके हारे घर आये हों, आपको देखकर आपका बेटा यदि विनम्रता से आपसे पूछ ले– पापा! पानी लायें? तो सुनकर आपको कैसा लगेगा? आपकी सारी थकान तुरन्त उतर जायेगी और अगर आपका बेटा संस्कारहीन हो। आप थके हुए घर पर आये, आपने कहा–बेटा! एक गिलास पानी लाना, बेटा उस समय कह दे कि पापा आप ही भरकर पी लो, तो आपको कैसा लगेगा? आपका दिल रो पड़ेगा, आपको अच्छा नहीं लगेगा। अगर आप अपने बेटों से अच्छे व्यवहार की उम्मीद रखते हैं तो बच्चों को अच्छे संस्कार देना न भूलें। संतान तो आँख बंद करके आती है, आप उसे जैसा दिखाते हो वह अपना वैसा विकास करने लग जाती है। व्यक्ति जीवनभर कठोर परिश्रम करके धन कमाता है। क्या सोचता है? पुत्र को सुखी बनाऊँगा। पुत्र को सुखी बनाने की तो सोचता है, लेकिन संस्कारित बनाने की नहीं सोचता। मनीषियों ने कहा भी है–

पूत कपूत तो का धन संचय।
पूत सपूत तो का धन संचय।।

अगर पूत कपूत निकला तो आपकी सारी धन-सम्पदा के साथ आपकी प्रतिष्ठा को भी नष्ट कर देगा और यदि पुत्र सुपुत्र होगा तो वह इतना योग्य है कि यदि जंगल में भी जायेगा तो भी वहाँ से कुछ लेकर ही लौटेगा।

दो परिवार थे। एक राजा दशरथ का परिवार और दूसरा राजा रत्नस्रवा का परिवार। एक

राम का परिवार था और दूसरा रावण का परिवार था। राम को अच्छे संस्कार मिले। हर माता-पिता का दायित्व है कि वो अपने बच्चों को अच्छे संस्कार दें, फिर उस संतान का भी अपना पुण्य और पाप साथ चलता है। हमने संस्कार दिये और उसका पुण्य का उदय हुआ तो वह अच्छे संस्कारों को शीघ्र ग्रहण कर लेगा। यदि उसका पाप का उदय हुआ तो वह अच्छे संस्कार ग्रहण नहीं कर पाता। दो राजघराने, दोनों ही श्रेष्ठ कुल, संस्कारित कुल। राम की तरह रावण को भी अच्छे संस्कार दिये गये थे लेकिन हर जीव का अपना-अपना पुण्य और पाप भी साथ चलता है।

पढ़ानेवाला टीचर (Teacher) एक होता है और विद्या अध्ययन करनेवाले स्टूडेन्ट (Student) अनेक होते हैं। क्लास (Class) में सबको एक सा अध्ययन कराये जाने पर भी सबका परीक्षा परिणाम एक सा नहीं होता, अपनी-अपनी योग्यतानुसार सबके अलग-अलग परिणाम दिखाई देते हैं।

रावण भी राम की तरह ही संस्कारित हुआ, लेकिन पूर्व के निदान के कारण वह अधिक भोगासक्त, अहंकारी और क्रूर था। रावण को तीन खण्ड का वैभव मिला ये उसका पुण्य था। राम के हाथ में आता हुआ राज्य भी उनके हाथ से छिन गया, साथ ही 14 वर्ष का वनवास भी मिला। राम जंगल में हैं लेकिन संस्कारवान हैं इसीलिये जंगल में भी मंगल को प्राप्त हो गये और रावण सोने की लंका में है लेकिन वहाँ भी दु:ख को प्राप्त हुआ।

''पूत कपूत तो का धन संचय'' रावण को तीन खण्ड का राज्य मिला था वह भी नष्ट हो गया, सारा परिवार खत्म हो गया। यदि पुत्र, सुपुत्र नहीं है तो आप कितना भी धन दे जाना, वह सारा धन नष्ट कर देगा। खुद भी दु:खी होगा और दूसरों को भी दु:खी करेगा। गृहस्थ की धन सम्पदा तभी कार्यकारी है जब संतान संस्कारित हो अन्यथा बहु सम्पदा भी व्यर्थ ही जानना चाहिये।

इसीप्रकार भावों के बिना व्रत, गुण, चारित्र निष्फल जानना चाहिए। व्रत, गुण, चारित्र से जीवन में पारमार्थिक मार्ग प्रशस्त होता है लेकिन तभी होता है जब भावशुद्धि हो। यदि पात्र गंदा हो और उसमें दूध डाला जाये तो सारा दूध बेकार हो जायेगा। उसीप्रकार भावों का पात्र अगर गंदा हो तो व्रत, गुण, चारित्र का दूध भी बेकार हो जाता है अर्थात् व्रत, गुण, चारित्ररूपी दूध

तभी कार्यकारी है जब भावों का पात्र शुद्ध हो। आत्मा के हित के लिए व्रत, गुण, चारित्र को धारण किया जाता है, धारण करने से पहले अपने शुद्धभावों का विचार अवश्य करना चाहिए।

आचार्य भगवन् कुंदकुंदस्वामी भावपाहुड में लिखते हैं–

पंचविह चेल चायं खिदिसयणं दुविह संजमं भिक्खू।
भावं भाविय पुव्वं जिणलिंगं णिम्मलं सुद्धं।। 79।।

जहाँ पाँच प्रकार के वस्त्रों का त्याग किया जाता है, जमीन पर शयन किया जाता है, दो प्रकार का संयम धारण किया जाता है, भिक्षा से भोजन किया जाता है, इससे पहले आत्मा के शुद्धभावों का विचार किया जाता है।

आत्मा के हित के लिए व्रत, गुण और चारित्र को धारण करना चाहिये लेकिन भावशुद्धि के बिना ये सब कोरा श्रम है, निष्फल है। व्रत के साथ भावशुद्धि भी होनी चाहिए। हम गुणों का पालन अर्थात् मूलगुणों का पालन क्यों कर रहे हैं? चारित्र को ग्रहण हमने क्यों किया है? इसका विचार सतत करते रहना चाहिए। चारित्र को धारण करने से पूर्व अपने भावों का निर्णय अवश्य करना चाहिये। भावों का निर्णय करके भावविशुद्धि का प्रयास करना चाहिए। व्रत, गुण, चारित्र, संयम सभी भावशुद्धि के लिए ही धारण किये जाते हैं।

आचार्य भगवन् कुंदकुंदस्वामी कहते हैं–

''भावविसुद्धिणिमित्तं बाहिरगंथस्स कीरए चाओ।''।। 3।।

भावशुद्धि के लिये ही बाह्य परिग्रह का त्याग किया जाता है अर्थात् व्रत को स्वीकार किया जाता है।

भावशुद्धि के बिना गुण, चारित्र, व्रत आदि निष्फल हैं। भावों के बिना चारित्र पालन, मात्र प्रदर्शन है, आत्मदर्शन में कारण नहीं है। अतः भावशुद्धि के साथ निज शुद्धात्मा का ज्ञान, श्रद्धान् करके स्वभाव की सिद्धि का, प्रसिद्धि का पुरुषार्थ करना चाहिये।

इसी भावना के साथ...

है सुपात्र बिन निष्फल दान, बिन सुपुत्र धन क्षेत्र मकान।
उसीतरह व्रत गुण चारित्र, शुद्धभाव बिन निष्फल जान।।
भावों से जीवन, हो-हो-2 में सुख-दुःख पाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2 संहिता दिखलाये रे।।

अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

❑❑❑

जो कर्म से श्रेष्ठ वह वर्ण से श्रेष्ठ

श्रमणाचार्य विमर्शसागर

इस धरती पर सभी जीव अपना जीवन एक जैसा व्यतीत करते हैं, चाहे राजा हो या रंक, अमीर हो या गरीब, चाहे शूद्र हो या उच्च, ये सभी भेद सिर्फ बाह्य चोले के हैं अंतस् में जीवन की प्रक्रिया तो सभी की एक सी है। इन भेदों से ऊपर उठकर जीना ही आध्यात्मिक जीवन है। अध्यात्म को सर्वश्रेष्ठ क्यों कहा जाता है, क्योंकि वहाँ भेद नहीं है। धर्म के दो पहलु हैं एक क्रियाकाण्ड से जुड़ा धर्म और दूसरा अध्यात्म से जुड़ा धर्म। दोनों ही धर्म जीवन में आवश्यक हैं पर अध्यात्म का स्थान सर्वोपरि है।

क्रियाकाण्ड रूप धर्म का भेद होता है। धर्म का काम जोड़ना है। धर्म अखण्ड करता है। अधर्म विखण्डन है, और धर्म सृजन है। दुनियाँ में एक ही वस्तु ऐसी है जहाँ स्पर्श-अस्पर्श का भेद नहीं किया जाता, वो है पैसा। अगर आप शुद्ध सोले के वस्त्र पहिने हों और उसी समय कोई आपको पैसे देने आ जाये तो आप क्या करोगे? आप उससे पैसे सीधे न लेकर नीचे रखवाकर फिर उठा लेंगे और आप अपने आपको अशुद्ध भी नहीं मानोगे। नोट को हमेशा शुद्ध मानते हो। जब धन हमें स्पर्श अस्पर्श के भेद में नहीं डालता, तो धर्म भेद कैसे डालेगा। धर्म तो धन से बहुत ऊँचा है। धन, जो आत्मा को मलिन करता है, उसमें भेद नहीं करते और धर्म, जो आत्मा को निर्मल करता है, उसमें भेद करते हो। ये भेदरूप धर्म क्रियाकाण्ड में होता है लेकिन जब आत्मा की बात करते हैं, तो आत्मा तो सभी जीवों में एक जैसा है सभी का स्वरूप भी एक जैसा है। अध्यात्म उसी आत्मा को ग्रहण करता है। अध्यात्म यानि आत्मा की यात्रा और क्रियाकाण्ड यानि पुण्य-पाप की यात्रा। पुण्य-पाप से ही भेद होता है, जिसे पुण्यात्मा और पापात्मा कहते हैं। पुण्य करने वाला शुद्ध और पाप करने वाला अशुद्ध माना जाता है, जो पुण्य करता है वह स्पृश्य-और जो पाप करता है वह अस्पृश्य माना जाता है। आत्मा का स्वरूप पुण्य और पाप दोनों से रहित है। पुण्य-पाप संसार के सेतु हैं जबकि निजात्म बोध मोक्ष का कारण है। आचार्य भगवन् योगीन्दु देव योगसार में लिखते हैं-

पुण्णि पावइ सग्ग जिउ, पावाएँ णरय-णिवासु।
वे छंडिवि अप्पा मुणइ, तो लब्भइ सिववासु।।32।।

अर्थात्-पुण्य से जीव स्वर्ग पाता है और पाप से नरक में जाता है। जो इन पुण्य-पाप दोनों को छोड़कर आत्मा को जानता है, वह मोक्ष प्राप्त करता है।

पुण्य और पाप दोनों ही कर्म के भेद है। जब आत्मा कर्मों के इन भेदों से ही रहित है तो फिर आत्मा में कर्म प्रदत्त इन उच्च, नीच, स्पृश्य और अस्पृश्य के भेद कैसे हो सकते हैं। लेकिन व्यवहारिक जीवन में पापकर्म करने वाले को शूद्र और पुण्य कर्म करने वाले को उच्च वर्ण वाला कहा जाता है। सिर्फ उच्च और नीच कर्मों के आधार पर वर्णों की स्थापना हुई थी। लेकिन वर्ण कोई जाति नहीं है। वर्तमान में वर्णों को जाति का नाम दे दिया गया।

(शेष पृष्ठ नं. 100 पर)

(धर्मद्रव्य के भोग का दुष्परिणाम)

जिण्णुद्धारपदिट्ठा जिणपूया तित्थवंदणावसेसधणं।
जो भुंजदि सो भुंजदि, जिणदिट्ठं णरयगदिदुक्खं।। 32।।

* अन्वयार्थ *

(**जो**) जो (**जिण्णुद्धार**) जीर्णोद्धार (**पदिट्ठा**) प्रतिष्ठा (**जिणपूया**) जिनपूजा (**तित्थवंदणा**) तीर्थ वंदना (**अवसेसधणं**) से शेष बचा हुआ धन (**भुंजदि**) भोगता है (**सो**) वह (**णरयगदिदुक्खं**) नरकगति के दु:ख को (**भुंजदि**) भोगता है (**जिणदिट्ठं**) ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।

अर्थ–जो व्यक्ति जीर्णोद्धार, प्रतिष्ठा, जिनपूजा और तीर्थयात्रा के अवशिष्ट धन को भोगता है, वह नरकगति के दु:ख को भोगता है, ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।

गाथा - 32

(प्रवचन)

●

ब्रह्मचारी,
मुनि बनें
प्रतिष्ठाचार्य नहीं।

08.10.2013
भिण्ड (म.प्र.)


ब्रह्मचारी
मुनि बनें
प्रतिष्ठाचार्य
नहीं

42

रयणोदय

हाय-हाय क्या आसक्ति, भव-भोगों में अनुरक्ति।
धर्मद्रव्य का भोग करे, लोभभाव की अभिव्यक्ति।।
नरकों में जाकर, हो-हो-2 दुःख ही दुःख पाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2 संहिता दिखलाये रे।।

'**जयदु जिणागमपंथो**' अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

तीर्थंकर भगवंत की दिव्यध्वनि जिनश्रुत है, जिनागम है। जिनागम में वर्णित आत्मकल्याणकारी मार्ग, आत्महितकारी पंथ '**जिनागम पंथ**' है। परस्पर रागद्वेष को बढ़ानेवाले आगमबाह्य पंथ उन्मार्ग हैं। वीतरागता को देनेवाला, '**परस्परोपग्रहो जीवानाम्**' का प्रतीक '**जिनागम पंथ**' सन्मार्ग है।

तीर्थंकर महावीर की सर्वोदयी देशना भव्यजीवों के हित में कारण है। रागी-द्वेषी जीवों के शब्द आत्महित में कारण नहीं हो सकते, एकमात्र वीतरागी देव के अमृत वचन ही आत्महित में कारण होते हैं। हम सभी पुण्यात्मा हैं जो भगवान् की अमृत वाणी को श्रवण करने के लिए नित्प्रति उत्सुक होकर बैठते हैं। आचार्य भगवन् कुंदकुंदस्वामी जैसे महान् साधकों के द्वारा

भगवान् महावीर की अमृतदेशना हम तक पहुँची है, जो पुण्य के उदय से आज हमें सुनने को मिल रही है।

विचार करना, मारीचि कितना पुण्यशाली था जिसे साक्षात् प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ जैसे परमगुरु का पादमूल मिला। कितना महान पुण्य था उसका, जो भगवान् आदिनाथ के समोशरण में बैठकर प्रभु की दिव्यवाणी को साक्षात् सुनने का उसे सुअवसर प्राप्त हुआ था। अहो! उस मारीचि से भी ज्यादा पुण्यशाली तुम हो, क्योंकि वह भगवान् के समोशरण में बैठकर भी कर्मोदय से प्रभावित होकर भगवान् की देशना को श्रवण नहीं कर पाया, समोशरण से निकल गया। वह तो भगवान् के देशना स्थल से भागा था और तुम भगवान् की देशना सुनने 'विराग देशना स्थल' पर भाग-भागकर आते हो। मारीचि से भी ज्यादा पुण्य आप सबका है। ध्यान रखना, भगवान् आदिनाथ के समोशरण में जो आत्म हितकारी सूत्र प्राप्त हुये थे, भगवान् अजितनाथ से लेकर पार्श्वनाथ पर्यंत सभी तीर्थंकर भगवंतों के समोशरण में भी वही आत्मोन्नति कारक सूत्र प्राप्त हुये। जब मारीचि भगवान् महावीर की पर्याय को प्राप्त हुआ तब भगवान् महावीर के समोशरण में भी वही कल्याणकारी सूत्र जनमानस को प्राप्त हुये। वे जिनकथित धर्मसूत्र ही आत्मा को परमात्मा बनाने में सूत्रधार हैं।

कोई भव्यजीव भगवान् से पूछने लगा—भगवन्! धर्म कहाँ पाया जाता है? भगवान् ने कहा—धर्म, धर्मी में पाया जाता है। उसने फिर पूछा—भगवन्! धर्म का पालन करनेवाला कौन है? भगवान् ने कहा—धर्म का पालन करनेवाला धर्मी है। संसार में अनेक मतानुयायी अहंकार में चूर होकर इस धरती पर विचरण करते हैं, कहते हैं—हम ही धर्म का पालन करनेवाले हैं। जैन कहता है—धर्म का पालन करनेवाला मैं हूँ। वैष्णव कहता है—धर्म का पालन करनेवाला मैं हूँ। सिक्ख कहता है—धर्म का पालन मैं करता हूँ। मुस्लिम कहता है—धर्म का पालन मैं करता हूँ। लेकिन भगवान् महावीर स्वामी कहते हैं—धर्म का पालन करनेवाला धर्मी है। क्यों? क्योंकि धर्म, धर्मी को छोड़कर नहीं पाया जाता।

आचार्य भगवन् समन्तभद्रस्वामी रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहते हैं—

'न धर्मो धार्मिकैर्विना'

अर्थात् धर्मात्मा के बिना धर्म नहीं होता है इसलिए धर्म का पालन करनेवाला धर्मी है।

शक्कर का धर्म मिठास है, शक्कर द्रव्य उसका धर्मी है। यहाँ मिठास गुण को धारण करनेवाला शक्कर द्रव्य धर्मी है। ऐसे ही धर्म का पालन करनेवाला धर्मी होता है।

लोक में जो लोग ऐसा कहते हैं– 'मैं धर्म का पालन करनेवाला हूँ।' ऐसे लोगों से भगवान् महावीर कहते हैं– तू पहले धर्म और धर्मी का निर्णय कर। धर्म और धर्मी का निर्णय होने पर निश्चित रूप से तू धर्म का पालन करनेवाला बन जायेगा। जब तक धर्म और धर्मी का निर्णय नहीं है, तब तक धर्म के नाम पर सम्प्रदाय तो मिल सकते हैं लेकिन धर्म की प्राप्ति नहीं हो सकती। अधिकांश लोग धर्म के नाम पर सम्प्रदायों की आराधना करते हैं, धर्म के नाम पर सम्प्रदायों की पूजा करते हैं, धर्म के नाम पर सम्प्रदायों की उपासना करते हैं, किन्तु यथार्थ धर्म से वंचित रह जाते हैं।

जैनमती हों या वैष्णव, धर्मी सब हैं। सभी की धर्मी आत्मा में धर्म है, सिर्फ धर्म और धर्मी को समझने की बात है। भगवान् महावीर स्वामी कहते हैं–आत्मा धर्मी है और आत्मा के जितने भी गुण हैं वे सब आत्मा के गुणधर्म हैं। उन गुणधर्मों को पाना ही धर्म की आराधना है। आत्मगुणों का अनुभव होना और उन गुणों में रुचि का होना ही धर्म की रुचि है। धर्मी और उसके गुणधर्म को जाने बिना अगर हम ये सोचते हैं कि हमें धर्म में रुचि है तो जब तक धर्मी और धर्म का पता नहीं है तब तक धर्म में रुचि कैसी? ये तो वैसे ही हो गया कि न शक्कर का पता है, न मिठास का पता है, फिर भी कोई कहे कि मुझे मिठास धर्म में अनुरक्ति है। भैया! ध्यान रखना, धर्म और धर्मी का निर्णय किये बिना धर्म में अनुरक्ति के परिणाम नहीं हो सकते। पहले धर्म और धर्मी का निर्णय करो, फिर मैं कौन हूँ और मेरा धर्म क्या है? इस बात का निर्णय करना। मैं आत्मा धर्मी हूँ और मेरे ज्ञान-दर्शन गुणधर्म हैं, ऐसा निर्णय अगर जीव को हो जाये तो फिर चाहे वो जैनमती हो या जैनेतर सबको धर्म की प्राप्ति हो सकती है।

भगवान् महावीर के समोशरण में केवल जैन ही हों ऐसा नहीं था अपितु वहाँ जो भी भव्यजीव पहुँचे वे सब जैन हो गये। जो भी समोशरण में पहुँचा था वह धर्म का पालन करनेवाला धर्मात्मा जीव था। कोई तिर्यंच भी वहाँ पहुँचा तो वह भी जैन बन गया। वहाँ कोई गतियों और जातियों का भेद नहीं था, वहाँ हर जीवात्मा धर्म और धर्मी को पहिचाननेवाला जैन था। जैनधर्म बस इतना ही तो कहता है कि धर्म और धर्मी की पहिचान करो, जिसने धर्म और धर्मी को पहिचान लिया उसने जिनधर्म को पहिचान लिया। किसी ने जैन होकर भी धर्म और

धर्मी को नहीं पहिचाना तो वह जैन होकर भी जैनमत से दूर है। अहो! जिनशासन की महिमा अगम्य है यहाँ तो किसी सिंह ने भी यदि धर्म और धर्मी को पहिचान लिया तो वह भी सच्चा जैन हो गया।

संसार में प्रत्येक वस्तु अपने गुणधर्म को अपने में धारण किये हुए है। शक्कर का गुणधर्म मिठास है, नमक का गुणधर्म खारापन है, नींबू का गुणधर्म खट्टापन है। जिसे धर्म और धर्मी का सम्बन्ध बोध है वही लोक में धर्म का पालन करनेवाला है। जिसे धर्म का ज्ञान है उसे धर्मी का ज्ञान भी अवश्य होगा और जिसे धर्मी का ज्ञान है उसे धर्म का ज्ञान भी अवश्य ही होगा क्योंकि धर्म और धर्मी कभी एक दूसरे के बिना नहीं रहते हैं। जिसे उष्णता रूप धर्म का ज्ञान हो, क्या उसे अग्निरूप धर्मी का ज्ञान नहीं होगा? और जिसे अग्नि रूप धर्मी का ज्ञान हो, क्या उसे उष्णता रूप धर्म का ज्ञान नहीं होगा? अवश्य ही होगा।

भगवान् महावीर स्वामी से किसी ने पूछा–भगवन्! धर्म का पालन करनेवाला कौन है? भगवान् ने कहा–धर्म का पालन करनेवाला धर्मी है? पुनः प्रश्न किया–भगवन्! वह धर्मी कौन है? जैन धर्मी है या वैष्णव धर्मी है? भगवान् ने कहा–ये तो विवाद के स्थान हैं। जब धर्म और धर्मी का ज्ञान होता है तो फिर कोई जैन, वैष्णव या अन्य कोई दिखाई नहीं देता, वहाँ तो केवल धर्म और धर्मी दिखाई देता है। भगवान् महावीर कहते हैं–अपने धर्म और धर्मी आत्मा को पहिचानो क्योंकि दोनों को पहिचाननेवाला ही निश्चय धर्म का पालन करनेवाला है। आचार्य भगवन् कहते हैं–जिसने निश्चय धर्म को प्राप्त कर लिया, उसे दुनिया के कोई भी भेद नजर नहीं आते क्योंकि निश्चय के साथ भेद की संगति बैठती ही नहीं है, निश्चय तो अभेद को स्वीकार करता है। निश्चय भी हो और भेद भी हो, यह बात समझ नहीं आती। अगर भेद दिखाई दे रहा है तो व्यवहार अवश्य ही होगा।

यथार्थ वस्तुस्वरूप को जानने के लिए निश्चय और व्यवहार दोनों आवश्यक हैं। निश्चय को निश्चय से और व्यवहार को व्यवहार से जानो। जब व्यवहार में रहो तो व्यवहार की मर्यादाओं का पालन करना और जब निश्चय में रहो तो निश्चय की मर्यादाओं का पालन करना। जब निश्चय में लीनता की दशा हो तब व्यवहार की मर्यादाओं का स्मरण भी मत करना, क्योंकि वहाँ यदि व्यवहार की मर्यादायें स्मरण रहेंगी तो तुम निश्चय को उपलब्ध नहीं कर सकोगे। इसलिये जब निश्चय में रहो तो निश्चय से रहो और जब व्यवहारिक जीवन में रहो तो व्यवहार की मर्यादाओं का पालन करना भी आवश्यक है।

आचार्य भगवन् कहते हैं–जिन निमित्तों के माध्यम से हमें निश्चय धर्म का बोध होता है वे निमित्त भी धर्म कहे जाते हैं अत: उस धर्म के अनुसार ही हमें अपनी प्रवृत्ति करना चाहिए। उस धर्म की मर्यादाओं का भी हमें यथायोग्य पालन करना चाहिये।

हमारे जीवन में दो चीजें बहुत आवश्यक हैं– एक तो वर्तमान दशा का ज्ञान होना और दूसरा दिशा का ज्ञान होना। हमारी दशा क्या है? जब तक हमें अपनी दशा का ज्ञान न हो तब तक दिशा का ज्ञान व्यर्थ है। इसलिए सर्वप्रथम हमें अपनी दशा का ज्ञान होना चाहिये। दशा भी दो प्रकार की है। एक दशा वह है जिसे आगम शास्त्र बताते हैं–तुम मनुष्य हो, तुम देव हो, तुम नारकी हो, तुम तिर्यंच हो इत्यादि। दूसरी दशा है जो इन चार गतियों से विलग है, जिसे हम निज शुद्धात्मदशा या मोक्षदशा कहते हैं, वह भी हमारी ही दशा है। मैं मनुष्यादि रूप ही हूँ यह ही दशा मेरी है यह अज्ञान है, यही संसार है और कदाचित् मैं मनुष्यादि रूप हूँ यह व्यवहार ज्ञान है।

जब निश्चय से धर्म और धर्मी का ज्ञान होता है तब अंतरंग में यह प्रश्न आता है कि मैं तो ज्ञान-दर्शनादि अनंतगुणों का अक्षय पिण्ड धर्मी आत्मा हूँ फिर ये मनुष्यादि पर्यायरूप मेरी दशा क्यों है? मैं ही मनुष्य बन जाता हूँ, मैं ही नारकी बन जाता हूँ, मैं ही देव बन जाता हूँ और मैं ही क्षुद्र कीट आदि की अवस्था को प्राप्त हो जाता हूँ। अहो! मुझ चैतन्यस्वभावी आत्मपिण्ड की यह क्या दशा हो रही है? जब अपनी दशा का बोध अपने को होता है, तब अंतरंग में धर्मी आत्मा का सच्चा ज्ञान होता है। मैं इन मनुष्यादि पर्यायों से सर्वथा पृथक् शुद्ध धर्मी आत्मा हूँ। यह निर्णय होने के बाद भव्य आत्मा विचार करता है कि मैं अपनी उस धर्मी आत्मा को प्राप्त कैसे करूँ? धर्मी आत्मा को प्राप्त करने के लिए मैं क्या करूँ? जब यह प्रश्न हमारे ज्ञान में आता है, तब हमें दिशा चाहिये। कौन सी दिशा? मोक्ष की नहीं। **मोक्ष तो दशा है, निज शुद्धात्मा का आश्रय दिशा है।** जब हमें अपनी मनुष्यादि दशा का और सुखमय मोक्षदशा का बोध होता है तो निज शुद्धात्मा का आश्रय अपने आप दिशा बन जाती है। ज्ञानी जीव को यह निर्णय हो जाता है कि मुझे अब किस दिशा की ओर जाना है। निज शुद्धात्मा ही उसका एक मात्र लक्ष्य है इसलिये शुद्धात्मा की दिशा में ही उसका प्रयत्न होता है। **शुद्धात्मा की ओर बढ़ा हुआ उसका हर कदम मोक्षमार्ग पर अग्रसर होता है।**

एक दशा वह होती है जिसमें व्यक्ति अपने आपको गरीब, अमीर आदि रूप मानता है। बहुत से लोग संतों के पास आकर कहते हैं–महाराजश्री! हमारे जीवन का अधिकांश समय गरीबी में व्यतीत हो गया, क्या हमारा पूरा जीवन ऐसे ही व्यतीत होगा? जीवों की इस दशा की दिशा धन का अर्जन करना, व्यापार करना है। मनुष्य संसार में अपनी दशा को सुधारने के लिए दो प्रकार के धर्मों का पालन करता है, श्रमणधर्म और श्रावकधर्म।

श्रावकधर्म का पालन करने से पूर्व निश्चयधर्म और धर्मी का ज्ञान भी आवश्यक है। निश्चयधर्म और धर्मी का ज्ञान होने पर व्यवहार धर्म का पालन अवश्य होता है। व्यवहार धर्म का पालन करते हुए हमें किन-किन मर्यादाओं का ध्यान रखना चाहिए? आचार्य भगवन् कहते हैं–अगर तुम संसारी अवस्था में हो, श्रावक अथवा गृहस्थ की अवस्था में हो तो निश्चित रूप से तुम्हें धनोपार्जन भी करना पड़ेगा। पाँच इन्द्रिय विषयों से भी तुम्हारा जुड़ाव अवश्य होगा। लेकिन उन इन्द्रिय भोगों को तुम सुख मत मान लेना। सुख तो धर्मी आत्मा में है, इसलिए धर्मी आत्मा को पाने की भावना रखना। संसार अवस्था में पाँच इन्द्रिय विषयों में लीन होते हुये भी यदि जीव को धर्म का बोध हो तो वह उन इन्द्रियजन्य विषयों को कभी सुख का कारण नहीं मानता, अपने आपको यथाशक्ति व्यवहार धर्म में लगाता है। व्यवहार धर्म क्या है? **''दाणं पूया मुक्खं सावयधम्मे''** दान और पूजा ये दो श्रावक के मुख्य धर्म हैं। दान करना श्रावक का मुख्य कर्तव्य है अतः उसे पाप प्रक्षालन के लिए सतत् दान करना चाहिए।

सुभाषित सहस्रम् में धन की तीन गतियाँ बताई गईं हैं–

दानं भोगो नाशस्तिस्त्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति न भङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति।। नी. श. 43।।

धन की तीन गतियाँ हैं दान, भोग और नाश। जो न दान करता है और न भोग करता है उसके धन की तीसरी गति होती है अर्थात् वह धन नष्ट हो जाता है।

अपने परिवार आदि का ठीक तरह से संचालन करने के लिये व्यक्ति धन का अर्जन करता है। परिवार के संचालन में जितने धन का उपयोग हुआ, वह धन भोग में लग गया और जो धन भोग में लगने के बाद भी उसके पास संग्रहीत है उस धन का उसे दान करना चाहिये। यही बुद्धिमत्ता है।

प्रत्येक श्रावक को अपने परिवार के संचालन में जितना धन लगता हो उतना वर्षभर का बजट (Budget) बना लेना चाहिये। एक वर्ष के बजट (Budget) में हमारे लिये इतने धन की आवश्यकता पड़ती है। अचानक कोई रोग बीमारी आदि के लिए भी आप एक लिमिट (Limit), एक प्रमाण निश्चित कर लो कि इतने धन का उपयोग रोगादि के लिये वर्षभर में हो सकता है। इन सबका प्रमाण बनाकर उनके योग्य धन अलग निकाल दो। अब इसके ऊपर जो धन तुमने संचय कर रखा है, आचार्य कहते हैं–उस धन की अब दो ही गतियाँ शेष हैं, या तो उसका दान करो, अन्यथा उसका नाश तो अपने आप हो ही जायेगा। श्रावक को जब यह बोध होता है तो वह दान को स्वीकार करता है, क्योंकि दान से कुल की मर्यादा, कुल का यश, कुल की प्रतिष्ठा बढ़ती है। वह अपने धन का उपयोग जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा बताये हुए उन स्थानों में करता है जिनके द्वारा धर्म और धर्मी का ज्ञान कराया जाता है।

संसार में कुछ लोग जो भोगों में आसक्त होते हैं उन्हें इतना भी विवेक नहीं रहता कि हमें कौन सा द्रव्य भोग करने योग्य है और कौन सा द्रव्य कदापि उपभोग करने योग्य नहीं है। जीव में अनादि से भोग के संस्कारों की प्रचुरता है। ऐसे भोगासक्त जीवों को आचार्य कुंदकुंद देव बतला रहे हैं कि किस द्रव्य का भोग करना चाहिए और किस द्रव्य का भोग कदापि नहीं करना चाहिए? जीव को धर्मद्रव्य का भोग कभी नहीं करना चाहिए।

जिण्णुद्धार पदिट्ठा जिणपूया तित्थवंदणावसेसधणं।
जो भुञ्जदि सो भुंजदि जिणदिट्ठं णरयगदिदुक्खं।।

जीर्णोद्धार, पंचकल्याण प्रतिष्ठा, जिनपूजा, तीर्थवंदना इनमें संचित धन का व्यय उपरांत जो शेष है, जो उसे भोगता है वह नरकगति के दुःख को भोगता है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

लोक में जैनधर्म ही एक ऐसा धर्म है जिसमें श्रावकों के लिए यह ज्ञान कराया जाता है कि जिनेन्द्रदेव के लिये, जिनालय के लिये, धर्म के लिए द्रव्य समर्पित किया है तो उसका कभी उपभोग मत करना। ये शिक्षा एकमात्र जैनधर्म में सिखाई जाती है इसीलिए जैनधर्म का अनुयायी, उपासक जिनालय में भरे हुए थाल लेकर आता है लेकिन मंदिर से जाते समय कुछ भी अपने साथ वापिस लेकर नहीं जाता, सब प्रभु को समर्पित करके जाता है। जैनधर्म में सबकुछ समर्पित करने की बात कही गई है। अगर धर्म के लिए किसी ने कुछ देने की भावना

भी कर ली तो फिर उस वस्तु पर उसका अधिकार नहीं रह जाता। क्योंकि उसने उस वस्तु के प्रति दान की भावना की है। ध्यान रखना, उस वस्तु पर फिर उसका अधिकार नहीं है।

जिनेन्द्र देव के मंदिर में श्रावक जो भी द्रव्य लेकर आता है वह सब वहीं समर्पित करके जाता है। जिनेन्द्र भक्त यह नहीं कहता—भगवन्! कुछ प्रसाद मुझे दे देना। अन्य सम्प्रदायों में प्रसाद की व्यवस्था है, अन्य सम्प्रदायों में प्रसाद चढ़ाया जाता है, अगर पुजारी उसका पूरा प्रसाद रख ले तो लानेवाला कहेगा—क्यों पुजारी जी! पूरा प्रसाद रख लिया क्या? जैन अनुयायी यह नहीं कहेगा, क्योंकि वह जानता है यह द्रव्य अब मैं धर्मकार्य में अर्पित कर चुका हूँ। **धर्म के लिए समर्पित द्रव्य भोग के योग्य नहीं होता। यही कारण है कि जैनधर्म सबसे ऊँचा है, सबसे श्रेष्ठ है, सबसे महान है। जैन अनुयायी कभी धर्मद्रव्य का भोग नहीं करता। वह भूखा रह सकता है लेकिन धर्मद्रव्य का उपभोग नहीं करता।** विचार करता है, अगर मेरा पुण्य होगा तो मुझे सहज ही भोग के योग्य वस्तु की प्राप्ति हो जायेगी। यदि मेरा पुण्य नहीं है तो धर्मद्रव्य को भोगने का विचार भी करूँ फिर भी वह वस्तु मेरे भोगने में नहीं आ सकती।

जब पाप का उदय होता है तो आँखों के सामने रखी हुई थाली हाथों से छीन ली जाती है और जब पुण्य का उदय होता है, तो अजनबी व्यक्ति भी आपके लिये थाली लेकर उपस्थित हो जाता है। आप किसी अजनबी शहर में जिनमंदिर के दर्शन हेतु गये, वहाँ एक अजनबी श्रावक आया पूछने लगा—भाई साहब! आप कहाँ से पधारे हैं? आपका भोजन हुआ या नहीं? आप मेरे साथ मेरे घर भोजन के लिए चलिये। अब विचार करो, अजनबी शहर, अजनबी लोग, न कोई पूर्व परिचय फिर भी आपको वह भोजन के लिए आमंत्रित कर रहा है। वास्तव में आपको आमंत्रित करनेवाला वो व्यक्ति नहीं है, अपितु आपका पुण्य ही आपको इनवाइट (Invite) कर रहा है। आपका पुण्य है तो भोगोपभोग के साधन आपको अवश्य मिलेंगे, छूट नहीं सकते।

धर्मद्रव्य के भोग का परिणाम कभी अपने अंदर नहीं आना चाहिये। किसी ने लोभासक्त होकर धर्मद्रव्य को भोगने के परिणाम कर लिये। अब उसके द्वारा धर्मद्रव्य का भोग हो या न हो, तो भी धर्मद्रव्य के भोग का कर्म तो उसकी आत्मा के साथ बँध ही गया। इसलिए कभी भी धर्म के लिए समर्पित की हुई वस्तु के भोग का परिणाम नहीं करना चाहिये।

जिनागम में सात स्थानों में दान करने के लिये कहा गया है। उन सात स्थानों में एक स्थान है जीर्णोद्धार। आचार्य कुंदकुंददेव कहते है– **''जिण्णुद्धार पदिट्ठा''** अर्थात् जीर्णोद्धार और प्रतिष्ठा आदि कार्यों में श्रावकों को दान करना चाहिये। किसी मंदिर की अवस्था जीर्ण-शीर्ण हो गई हो, जिनवाणी जीर्ण-शीर्ण हो गई हो अथवा अन्य किसी धर्मायतन में कोई आवश्यक वस्तु खराब होने लगी हो तो उनका जीर्णोद्धार कराना चाहिए। 'जीर्णोद्धार का अर्थ है–जिस शिल्पकला में मंदिर का निर्माण हुआ था, उसी शिल्पकला का कारीगर बुलवाकर उसी प्राचीन शिल्पकला में उसका उद्धार कराना, जीर्णोद्धार कहलाता है।' जो प्राचीन जिनालय हैं उनका उसी शिल्पकला में पुनः जीर्णोद्धार कराना चाहिए।

किसी जिनालय के अत्यंत जीर्ण-शीर्ण होने पर उसका जीर्णोद्धार कराने की समाज में भावना उत्पन्न हुई। जीर्णोद्धार की व्यवस्थायें की गईं। धन की सुलभता के लिए भी यथायोग्य चिंतन किया गया। जिनधर्म का पालन करनेवाले दानी श्रावकों ने अपना सौभाग्य समझा कि हमारा धन जिनालय जीर्णोद्धार के कार्य में लग रहा है। किसी दानी श्रावक ने पवित्र भावों से दान दिया और किसी लोभासक्त अज्ञानी जीव ने जीर्णोद्धार के नाम पर धन का उपयोग जिनालय के जीर्णोद्धार में न करके अपने परिवार और व्यापार के कार्यों में कर लिया। अज्ञानी जीव निर्माल्य द्रव्य का भी भोग करने से डरते नहीं हैं, लेकिन वो नहीं जानते कि धर्मद्रव्य के भोग का दुष्परिणाम **''णरयगदि दुक्खं भुञ्जदि''** नरकगति के दुःखों को भोगना है। जो दान के धन को भोगता है वह नियम से नरकगति के दुःखों को भोगता है। जीर्णोद्धार के नाम पर दानी श्रावक खुले हाथ से दान करता है। जीर्णोद्धार के लिए अपना धन अवश्य देना चाहिये, यह श्रावक का कर्तव्य है, लेकिन इस बात का विचार भी अवश्य करना चाहिये कि कहीं आपके जीर्णोद्धार के लिए दिये गये धन का दुरुपयोग तो नहीं हो रहा है। दान देनेवालों को सावधान भी रहना चाहिए, दान देने के बाद यह अवश्य पूछना चाहिये कि आपने पैसे का उपयोग कहाँ किया।

वर्तमान में तीर्थक्षेत्रों के विकास के नाम पर कुछ व्यक्ति दानराशि लेने नगर-नगर, गाँव-गाँव जाते हैं। ऐसा कोई व्यक्ति आपके पास दानराशि लेने आये तो राशि देने से पूर्व उस क्षेत्र की समिति से, वहाँ के व्यवस्थापकों से सम्पर्क अवश्य करें, उसके बाद ही उसे यथायोग्य राशि प्रदान करें। जीर्णोद्धार के नाम पर अपनी शक्ति के अनुसार दान अवश्य देना चाहिये लेकिन पूरी जानकारी प्राप्त करने के बाद ही देना चाहिये। आचार्य कहते हैं–अगर कोई

अज्ञानी जीर्णोद्धार के नाम पर धन लेकर उस धर्मद्रव्य का उपभोग करता है तो वह नरकगति के दु:खों को भोगता है। व्यवस्थापकों को चाहिये कि जीर्णोद्धार के लिए प्राप्त धन का एक रुपया भी कभी अपनी जेब में न चला जाये। अपनी जेब से चला जाये तो अच्छा है। हमारे परिणामों से ही हमारी गति का निश्चय होता है।

वर्तमान में कुछ नामधारी धर्मात्मा नाम के लिए बड़ी-बड़ी बोलियाँ तो ले लेते हैं लेकिन उस दान के पैसे को बहुत समय तक न देकर अपने व्यापार आदि के उपयोग में लेते रहते हैं। कुछ अज्ञानी तो बोली का पैसा ही नहीं देते हैं। ध्यान रखना, बोली लगाकर अगर दान का पैसा नहीं दिया तो नरक का पात्र बनना पड़ता है। बोली लगाने के बाद फिर उस पैसे पर आपका कोई अधिकार नहीं रहता। यदि परिस्थितिवश बोली का पैसा कुछ समय तक न भी दे पायें तो पैसे जब तक नहीं दिये तब तक के ब्याज के साथ दान की राशि देना चाहिए। जीवन में कभी भी धर्मद्रव्य के भोग की बात तो दूर, भोग के भाव भी मत आने देना अन्यथा वे भाव तुम्हें नियम से नरक की यात्रा करवायेंगे।

''**पदिट्ठा**'' अर्थात् कभी किसी ने पंचकल्याणक प्रतिष्ठा या वेदी प्रतिष्ठा के महान आयोजन किये। आयोजन में बड़े पवित्र भाव रखे और आयोजन के बाद जो शेष धन बचा, उस पर भोग की दृष्टि बन गई। उस द्रव्य का भोग वह करे या न करे परंतु अपने लिये उसने दुर्गति का योग अवश्य कर लिया है। इसलिये धर्मद्रव्य पर कभी गिद्धदृष्टि मत करना, अगर धर्मद्रव्य में गृद्धता बन गई, तो ध्यान रखो गिद्ध ही बनोगे।

किसी ने प्रतिष्ठा के बड़े-बड़े आयोजन करवाये, पवित्र भावों से खूब दान आया, आयोजन के बाद अवशेष धन को देखकर किसी की मति कुमति हो गई, विवेक खो गया और मन में विचार आया—ओहो, इतना धन। मेरा तो जीवन ही सँवर जायेगा। अहो! ये पंचमकाल चल रहा है इस काल में धन को देखकर मति जल्दी बदल जाती है। इस काल की यह विशेषता है कि धन को निहारते ही मति, कुमति में परिवर्तित हो जाती है, इसलिए कभी भी धर्मद्रव्य की ओर दृष्टि ही मत डालना। पता नहीं कब मति कुमति हो जाये। आचार्य कहते हैं—प्रतिष्ठा के निमित्त आये हुए धन का उपभोग करना नरकगति का कारण है।

''**जिणपूया**'' अर्थात् किसी ने जिनेन्द्र भगवान् की पूजा का महा उत्सव किया। बड़े-बड़े

विधानों का आयोजन किया। आयोजन के बाद यदि अवशेष धन के प्रति भोग की भावना हो गई तो नरकगति के दु:खों को भोगने का कार्य हो गया। जिनेन्द्रदेव की पूजा तो अवश्य कराना लेकिन अवशिष्ट धन पर कभी अपनी दृष्टि मत रखना।

''**तित्थवंदणा**'' अर्थात् तीर्थवंदना के निमित्त से वर्तमान में अनेक लोग तीर्थयात्रा संघ निकालते हैं और तीर्थयात्रा के नाम पर धन का संग्रह करते हैं। आचार्य भगवन् कहते हैं– तीर्थयात्रा अवश्य करो, कराओ, लेकिन तीर्थयात्रा कराने के बाद यदि कुछ धन बचा रहे तो उसको कभी भोगने के भाव मत बनाना। वर्तमान में कुछ अज्ञानियों ने तीर्थयात्रा के कार्य को व्यापार बना लिया है। शायद वो नहीं जानते कि तीर्थयात्रा के धन से जीवन निर्वाह यात्रा की तो नरक की यात्रा करना पड़ेगी। लोगों ने तीर्थयात्रा जैसे पवित्र कार्यों को भी जीवनयापन का साधन बना लिया। तीर्थयात्रा को अपनी आय का साधन बना लिया। उन्हें इस बात का ध्यान ही नहीं है कि यह जो धन आ रहा है वह धन नहीं, धनभोग की इच्छारूप पापकर्म आ रहा है जो नियम से दुर्गति का हेतु बनेगा। या तो सभी के सामने स्पष्ट बात रखो कि भाई ! यह जो मैं तीर्थयात्रा संघ लेकर जा रहा हूँ इसका मैं व्यापार की तरह ही संचालन कर रहा हूँ, इसे कोई ऐसा न समझे कि ये समाज के बंधु कितने अच्छे हैं, कितने उदार स्वभावी हैं, इतने सारे लोगों को तीर्थयात्रा करा रहे हैं। सामान्य लोग तो यही सोचते हैं कि ये उदार दृष्टिवाले दानी व्यक्ति हैं। जबकि उसके अंतरंग में उस दान के धन को हड़पने का भाव है। अगर कोई तीर्थयात्रा कराता है तो उसे चाहिये कि तीर्थयात्रा का जो बचा हुआ धन है उसे समाज के खाते में जमा करा दे और जो धन इस पवित्र कार्य में लगा उससे खूब अच्छी सुविधायें देकर पवित्र भावों से तीर्थवंदना कराये। तीर्थयात्रा जैसे पुण्य कार्य को कभी अपनी आय का साधन मत बनाना। धर्म कभी भी आय का साधन नहीं होता। आचार्य भगवन् कहते हैं–जो तीर्थयात्रा में बचे हुए धन का जीवन में उपभोग करते हैं, ऐसे जीव नियम से नरकगति के दु:खों को भोगनेवाले होते हैं।

''**असेसधणं जो भुञ्जदि**'' अर्थात् जो धर्मकार्य से बचे हुए द्रव्य को भोगने का परिणाम मन में लाता है, भव-भव तक उसकी झोली में दुर्गति आती है। भव-भव तक वह दरिद्रता का दु:ख भोगता रहता है।

'अकृत पुण्य' की कथा सभी को मालूम है। उसने अपने भोगों के लिए जिनेन्द्रपूजा आदि

के द्रव्य का उपभोग किया था, परिणाम क्या हुआ? जन्म होते ही पिता का देहावसान हो गया, पूरा परिवार बिखर गया। माँ की ऐसी दीन-हीन हालत हो गई कि उसे भी एक सेठ के यहाँ नौकरी करनी पड़ी। इसलिए कभी किसी दूसरे के धन पर बुरी दृष्टि मत रखना। जो दूसरे के धन पर भी बुरी दृष्टि न रखता हो, वह धर्मद्रव्य पर बुरी दृष्टि कैसे रख सकता है?

भैया! तुमको धन अपने जीवन के संचालन के लिए ही तो चाहिए, कोई गठरिया बाँध के तो ले नहीं जाओगे। सब यहीं रह जायेगा। जब सब कुछ यहीं छूटना है तो फिर अपनी मति खोटी क्यों करते हो? धर्मक्षेत्र में अपनी जेब से एक रुपया ज्यादा लग जाये तो कोई बात नहीं, चलेगा। लेकिन ऐसा न हो जाये कि धर्मक्षेत्र का एक रुपया निकालकर तुम अपनी जेब में रख लो। ऐसा कार्य कभी मत करना। आचार्य कहते हैं–

अन्यक्षेत्रे कृतं पापं धर्मक्षेत्रे विनश्यति।
धर्मक्षेत्रे कृतं पापं वज्रलेपो भविष्यति।।

यदि किसी ने किसी का धन अपहरण कर लिया हो तो वह अन्य क्षेत्र कहलाता है, "**अन्य क्षेत्रे कृतं पापं धर्मक्षेत्रे विनश्यति**" अर्थात् अन्यक्षेत्र में किया गया पापकर्म, धर्मक्षेत्र में आने पर क्षणमात्र में क्षय को प्राप्त हो सकता है। "**धर्मक्षेत्रे कृतं पापं**" अगर किसी ने धर्मक्षेत्र में कोई पाप किया है तो "**वज्रलेपो भविष्यति**" वह भविष्य में वज्रलेप की तरह हो जाता है। उस कर्म का फल जीव को अवश्य भोगना पड़ता है।

आचार्य कहते हैं–कौन सा फल भोगना पड़ेगा? "**णरयगदिदुक्खं भुञ्जदि**" अर्थात् नरकगति के दु:खों को भोगना पड़ता है।

ध्यान रखना, अगर चारों गतियों की दशा समझ में आ जाये कि मनुष्य गति में कैसी दशा होती है, तिर्यंचगति में कैसी दशा होती है, देवगति में कैसी दशा होती है और नरकगति में कैसी दशा होती है? नरकगति की दशा का वर्णन पं. दौलतराम जी ने छहढाला में इसप्रकार किया है–

सिन्धु नीर तैं प्यास न जाय, तौ पण एक न बूँद लहाय।
तीनलोक को नाज जु खाय, मिटै न भूख कणा न लहाय।।

अहो! इतनी भूख, इतनी प्यास लगती है फिर भी अन्न का एक दाना और पानी की एक

बूँद भी नहीं मिलती। नारकी जीव दूसरे नारकी के शरीर के तिल-तिल के बराबर टुकड़े कर डालते हैं। नरकों में ऐसी दशा होती है जीव की। नरक आदि गतियों की दशा का सम्यक् बोध प्राप्तकर कभी धर्मद्रव्य के भोग की भावना मन में मत लाना। धर्मद्रव्य के भोग का फल नरक गति की प्राप्ति है।

मंदिर की दुकान को लोग अपनी मानकर बैठ जाते हैं। सोचते हैं–''मंदिर की दुकान अपनी, अपने बाप की।'' वास्तव में वह न तेरी होगी, न तेरे बाप की होगी, वह दुकान तेरे लिये पाप की होगी। मंदिर की सम्पदा कभी हड़पने की कोशिश मत करना। सम्पदा कभी किसी की नहीं हुई, यहीं छूट जायेगी। मंदिर की संपदा को अपना बनाने की कोशिश की तो अवश्य ही उसकी आत्मा भव-भव में दु:ख की पात्र बनेगी। भूखे रह जाना लेकिन कभी मंदिर के लिये बोले गये अथवा मंदिर के धन का अपने लिए उपभोग मत करना, अन्यथा भव-भव में दुर्गति का पात्र बनना पड़ेगा। आप कभी किसी की सहायता कर पाओ या न कर पाओ, किसी की सेवा कर पाओ या न कर पाओ, बहुत बड़ा दान दे पाओ या न दे पाओ, कोई बात नहीं। लेकिन इतना संकल्प अवश्य कर लेना कि मैं कभी धर्मद्रव्य का भोग नहीं करूँगा।

हम समाज में रहते हैं तो हमारे अंदर समाज सुधार की भावना भी होनी चाहिए। समाज में जो भी कुरीतियाँ चल रही हैं उनका विचारपूर्वक उन्मूलन अवश्य होना चाहिए। समाज में समय-समय पर प्रतिष्ठा आदि के आयोजन होते हैं, विद्वान् आते हैं। विद्वानों का भी अपना परिवार होता है, वो भी अपने साधर्मी भाई हैं। उनको आप कुछ न कुछ भेंट अवश्य देते हैं, देना भी चाहिए। यह उनका सम्मान है, सम्मान अवश्य देना चाहिए। यह बात अलग है कि आज के विद्वान् लोभी नहीं महालोभी हो गये हैं।

कुछ विद्वान् तो पहले से ही फिक्स (Fix) करके चलते हैं कि आप इतनी-इतनी राशि देंगे तो हम आयेंगे। समाज के प्रबुद्ध वर्ग को स्वयं चाहिए कि वो आगन्तुक विद्वान् को इतनी धनराशि अवश्य दें जिससे उनके परिवार का ठीक तरह से संचालन हो सके। लेकिन कभी-कभी कुछ परिस्थितियाँ इसप्रकार की भी बनती हैं कि समाज उदारता का परिचय देती है और उचित राशि द्वारा सम्मान भी करना चाहती है लेकिन आजकल के लोभी विद्वान् कहते हैं–अभी

तो भैया सीजन (Season) का टाइम (Time) है। विद्वानों के भी सीजन (Season) होते हैं, गजब हो गया। क्या कहता है, सीजन (Season) का टाइम (Time) है, अभी मैं इतने रुपये में नहीं आ सकता। पहले तो मैं ग्यारह हजार रुपये में आ जाता था लेकिन भैया! अब तो इक्यासी हजार से कम नहीं लगेंगे। अहो! कैसी मति हो गई? एक प्रकार के विद्वान् इसप्रकार माँग-माँग कर लेते हैं।

कुछ इसप्रकार से लेते हैं—मुझे तो कुछ नहीं चाहिये लेकिन संस्था के लिए आप जो भी करना चाहें, कर सकते हैं। ये किसी को पता नहीं होता कि संस्था से उन्हें कितना कमीशन (Commission) मिलेगा। फोकट में तो कोई काम करता नहीं है।

तीसरा सिस्टम (System) कुछ इसप्रकार से भी चलता है—प्रधान विद्वान् बोलता है कि मैं धर्मानुष्ठान कराने के बदले में कुछ भी रुपया-पैसा नहीं लेता। संचालक महोदय एवं समाजबंधु प्रधान विद्वान् जी की निर्लोभता एवं निष्पृहता की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं और जब धर्मानुष्ठान की समाप्ति होती है तो सहयोगी विद्वान् धीरे से समाज बंधुओं को संकेत कर देते हैं कि यदि सम्मान में आप प्रधान विद्वान् अथवा भैयाजी को सोना-चाँदी चढ़ाओगे तो चलेगा।

आजकल श्वेत वस्त्रधारी ब्रह्मचारी भी प्रतिष्ठाचार्य बन गये हैं। ध्यान रखना, ब्रह्मचारी यदि मुनि बनें तो मोक्षमार्ग की उन्नति है अगर ब्रह्मचारी भी प्रतिष्ठाचार्य, विधानाचार्य बनें तो जिनशासन की, मोक्षमार्ग की अवनति है। लोभी विद्वान् का निर्लोभी बनकर समाज से धन लेने का यह भी एक तरीका है। समाज को चाहिये कि किसी भी विद्वान् का दान की राशि से सम्मान न करे। प्रतिष्ठा आदि में जो दान का धन आया है उस धन को कभी हाथ भी नहीं लगाना चाहिए।

प्रतिष्ठाचार्य को सम्मान राशि देने के लिए पहले क्या व्यवस्था होती थी?

समाज के प्रतिष्ठित लोग इकट्ठा हो करके प्रतिष्ठाचार्य को हम क्या देंगे, उसके लिए अपनी तरफ से राशि फिक्स (Fix) कर देते थे। इतनी राशि हम सब एकत्रित करके प्रतिष्ठाचार्य जी को देंगे। इस व्यवस्था से आपने एक साधर्मी को दुर्गति से बचा लिया, अन्यथा उसकी मति कुमति भी हो सकती है।

कुछ लोभी विद्वान् ऐसे भी होते हैं कि उनको आप कितना भी दो, उनका पेट नहीं भरता। फिर वो हवाला देते हैं कि मैं अमुक जगह गया था, वहाँ इतना-इतना सम्मान हुआ था। अब यह बात यहाँ बताने की क्या आवश्यकता है? अरे भाई! तुम धर्मकार्य कराने आये हो या व्यापार करने आये हो? विद्वानों को भी चाहिए कि वे संतोष धारण करना सीखें। विद्वानों के सम्मान का सबसे अच्छा तरीका तो यह है कि जैसे तीन हजार घर की समाज है। अगर प्रत्येक परिवार से 100 रूपये भी सहयोग में दिये गये, तो कितने हो जायेंगे? आचार्य श्री नमोस्तु! 3 लाख रूपये। मान लीजिये समाज में कुछ ऐसे भी परिवार हों जो इतनी राशि देने की भी हैसियत न रखते हों, उन्हें छोड़ भी दें तो भी पर्याप्त राशि प्राप्त हो जाती है। अब सोचो, क्या विद्वान् का आराम से सम्मान नहीं हो सकता? अवश्य हो सकता है। क्या हम ऐसी सम्यक् सोच रख पाते हैं? समाज के लोग तो ये सोचते हैं कि कमेटीवाले जानें, ये हमारी व्यवस्था नहीं है। अरे भैया! कमेटी भी समाज ही है, और समाज भी कमेटी है। ये समाज की जिम्मेदारी है कि कोई विद्वान् आता है तो आप उसकी व्यवस्था कीजिए। खूब आराम से व्यवस्था हो सकती है। इसलिये आचार्य कहते हैं—धर्मकार्यों से, अर्थात् प्रतिष्ठा, जीर्णोद्धार, जिनपूजा, तीर्थयात्रा आदि से अवशिष्ट धन का जो भोग करता है वह नरकगति का पात्र होता है। इसलिए कभी भी दुर्गति के पात्र बनने की चेष्टा मत करना। अहो! बड़े-बड़े स्वाध्यायी विद्वान् भी धर्मद्रव्य का उपभोग कर नरकगति के पात्र बन जाते हैं। ध्यान रखो, जिनधर्म भोग का नहीं, योग और उपयोग सँभालने का धर्म है।

इसी भावना के साथ...

हाय-हाय क्या आसक्ति, भव-भोगों में अनुरक्ति।
धर्मद्रव्य का भोग करे, लोभभाव की अभिव्यक्ति।।
नरकों में जाकर, हो-हो-2 दुःख ही दुःख पाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2 संहिता दिखलाये रे।।

अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

❑❑❑

(पृष्ठ नं. 82 का शेष)

चार प्रकार के वर्णों की व्यवस्था कर्मानुसार की गई थी। भगवान आदिनाथ के पूर्व इस भरत क्षेत्र में भोगभूमि थी तब कर्म व्यवस्था नहीं थी। सारी आवश्यकताओं की पूर्ति कल्पवृक्षों से हो जाती थी। जब भोगभूमि का अंत हो चला और कर्म भूमि का प्रारंभ था, तब भगवान आदिनाथ स्वामी ने कर्मों के अनुसार तीन प्रकार के वर्णों का वर्गीकरण किया था। भोगभूमि के काल में कोई वर्ण नहीं थे, सभी एक ही वर्ण के थे।

जैसे परिवार में किसी क्रोधी व्यक्ति को राक्षस कह दिया जाता है, वो कोई जन्म से राक्षस नहीं है, उसकी प्रवृत्ति के कारण उसको राक्षस कह दिया जाता है। इसी प्रकार भोगभूमि में कोई वर्ण नहीं थे बाद में कर्मों के आधार पर वर्गीकरण किया गया। कर्म के अनुसार वर्गीकरण होने के बाद उनके घरों में जो संतानें जन्मीं वो संतानें जन्म से ही वर्गीकृत हो गई। कोई बालक जन्म से शूद्र हो गया तो कोई बालक उच्च वर्ण का हो गया।

जो कर्म से श्रेष्ठ है वह वर्ण से भी श्रेष्ठ है और जो कर्म से नीच है वह वर्ण से भी नीच है। यही था आदिनाथ का वर्गीकरण। वर्णों की व्यवस्था कर्मों के आधार पर थी, लेकिन धर्म व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं है धर्म तो आत्मा की निर्मल भावदशा का नाम है जब शिशु का जन्म होता है तो वो जन्म से शूद्रादि नहीं होता, जैसा उसे वातावरण मिलता है उसी कुलानुरूप हो जाता है। संस्कार कोई परमानेंट नहीं होते संस्कारों को बदलना स्वयं पर निर्भर है। अगर संस्कार बदलना है तो अपने ज्ञान को निर्मल बनाओ। अध्यात्म के धरातल पर सभी की एक जैसी आत्मा है। वहाँ कोई भेद नहीं होता लेकिन जब हम क्रियात्मक पहलु पर दृष्टि डालते हैं तो भेद नजर आते हैं।

एक माता-पिता के युगल संतान का जन्म हुआ और जन्म होते ही दोनों संतानों का माता-पिता से विछोह हो गया। एक संतान का पालन पोषण एक संस्कारवान कुल में हुआ, समाज ने उसे श्रेष्ठ कुलीन कह दिया, और दूसरी संतान का पालन पोषण एक नीच कुल में हुआ और समाज ने उसे शूद्र कह दिया। अब बताओ कौन शूद्र है और कौन कुलीन है? अध्यात्म की दृष्टि मूल पर होती है। मूल में कोई भेद नहीं है। अध्यात्म की दृष्टि से जल के अंदर मात्र उसकी शीतलता नजर आती है। अगर जल ऊष्ण नजर आ रहा है तो निश्चित ही वहीं कोई क्रियाकाण्ड रूप अग्नि का संयोग होगा। अध्यात्म की दृष्टि से प्राणीमात्र में एक आत्मा ही दृष्टिगोचर होता है, जब हर जीव में एक जैसा आत्मा दिखाई दे रहा है तो भेद किसमें करूँ? आत्मा में शान्ति भी तभी आयेगी जब भीतर अध्यात्म की दृष्टि प्रगट हो जायेगी। शान्ति भेद में नहीं अभेद में है। शान्ति खण्ड-खण्ड में नहीं अखण्डता में है। जब तक दृष्टि में खण्ड-खण्ड हैं तब तक ही जीवन में पाखण्ड है।

जीवन का प्रथम परिचय क्रियाकाण्ड से ही होता है, सा लोक व्यवहार क्रियाकाण्ड है लेकिन इससे परमार्थ मार्ग प्रारंभ नहीं होगा। परमार्थ मार्ग प्रारंभ करना है तो अध्यात्म से जुड़ना होगा। क्रियाकाण्ड मात्र पुण्य और पाप देगा पर मुक्ति नहीं दे सकता। सम्यक् क्रियाकाण्ड पुण्य देता है। और मिथ्या क्रियाकाण्ड पाप देता है। पिच्छि लेना कोई अध्यात्म नहीं है। अध्यात्म में तो पिच्छि भी बाधक हो जाती है। पर पिच्छी ग्रहण करना

(शेष पृष्ठ नं. 112 पर)

(धर्मद्रव्य के भोग का दुष्परिणाम)

पुत्त-कलत्त-विदूरो, दारिद्दो पंगु-मूक-बहिरंधो।
चाण्डालादि-कुजादो, पूयादाणादि दव्वहरो।।33।।

* अन्वयार्थ *

(**पूयादाणादि**) पूजा, दान आदि के (**दव्वहरो**) द्रव्य का अपहरण करनेवाला (**पुत्त-कलत्त विदूरो**) पुत्र, स्त्री रहित (**दारिद्दो**) दरिद्री (**पंगु मूक बहिरंधो**) लंगड़ा, गूँगा, बहरा, अंधा और (**चांडालादि-कुजादो**) चाण्डाल आदि कुजाति में उत्पन्न होता है।

अर्थ–पूजा, दान आदि के द्रव्य का अपहरण करने वाला पुत्र-स्त्री रहित, दरिद्री, लंगड़ा, गूँगा, बहरा, अन्धा और चाण्डाल आदि कुजाति में उत्पन्न होता है।

गाथा - 33

(प्रवचन)

●

दान द्रव्य का भोग विकलांगता का कारण

09.10.2013

भिण्ड (म.प्र.)



आष्टाह्निक पर्व में महाराज दशरथ स्वर्ण-चाँदी के पुष्पों से महार्चना करते हुये।

43

रयणोदय

कौन दरिद्री होता है, स्त्री पुत्र को रोता है।
मूक बधिर पंगु अन्धा, निम्न जाति को ढोता है।।
पूजा दानादि, हो-हो-2 का द्रव्य जो खाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2 संहिता दिखलाये रे।।

'**जयदु जिणागमपंथो**' अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

तीर्थंकर भगवंत की दिव्यध्वनि जिनश्रुत है, जिनागम है। जिनागम में वर्णित आत्मकल्याणकारी मार्ग, आत्महितकारी पंथ '**जिनागम पंथ**' है। परस्पर रागद्वेष को बढ़ानेवाले आगमबाह्य पंथ उन्मार्ग हैं। वीतरागता को देनेवाला, '**परस्परोपग्रहो जीवानाम्**' का प्रतीक '**जिनागम पंथ**' सन्मार्ग है।

जब इस सम्पूर्ण आर्यावर्त को भगवान् महावीर अपनी पद रज से पावन कर रहे थे, तब एक दिन सम्राट श्रेणिक प्रभात की बेला में निद्रा से जागकर पवित्र मन से भगवान् महावीर का स्मरण करने लगा। भावना भाने लगा कि संसार में रहनेवाले कोई भी जीव दु:खी न हों, कोई भी प्राणी अस्वस्थ न हों, सभी जीव निरोगी हों, सभी जीव सुखी रहें। प्राणीमात्र के प्रति ऐसी

कल्याण की भावना वो ही भा सकता है जिसके हृदय में प्राणीमात्र के प्रति मैत्री का भाव हो।

सुभाषित सहस्रम् में कहा भी है–

मा कार्षीत् कोऽपि पापानि मा च भूत् कोऽपि दुःखितः।
मुच्यतां जगदत्येषा मतिर्मैत्री निगद्यते।।166।।

अर्थात् कोई पाप न करे, कोई दुःखी न रहे, समस्त संसार मुक्ति को प्राप्त करे, ऐसी भावना मैत्री कहलाती है।

राजा श्रेणिक मैत्री की भावसरिता में स्नान कर रहे थे, तभी मन में एक प्रश्न आया– संसार में कोई दरिद्र कोई अमीर क्यों होता है? सभी जीव एक जैसे वैभव को प्राप्त क्यों नहीं होते? जीवन में यह भिन्नता क्यों देखी जाती है? किसी के पास छियानवे हजार रानियाँ हैं और कोई एक स्त्री के लिये भी लालायित है। किसी के पास **''इक लख पूत सवा लख नाती''** और कोई एक पुत्र की प्राप्ति के लिये भी निरंतर दुःखी रहता है। संसार में कोई अंधा है, कोई बहरा है, कोई गूंगा है, कोई विकलांग है, कोई उच्च जाति में उत्पन्न हुआ है तो कोई निम्न जाति में जन्मा है। सम्राट श्रेणिक सोच रहा था कि इन सब अवस्थाओं का कारण क्या है? कोई शरीर से दुःखी है, कोई धन से दुःखी है, कोई मन से दुःखी है और कोई अनेक प्रकार की व्याधियों से पीड़ित है, आखिर इनका कारण क्या है? धर्मात्मा जीव सदैव प्राणीमात्र के सुख की भावना करता है। वह अपने को भी सुखी देखना चाहता है और संसार के समस्त जीवों को भी सुखी देखने की भावना करता है।

धन्य हैं वे जीव जो अपने सुख के साथ-साथ दूसरे के सुख की भी कामना करते हैं। अन्यथा संसार में भाव-दरिद्री लोग बहुत ज्यादा हैं। संसार में जितने व्यक्ति धन से दरिद्र नहीं हैं उससे भी ज्यादा भाव से दरिद्र हैं। धन से दरिद्र जीव कम मिलेंगे, भाव से दरिद्र जीव ज्यादा हैं। बड़े धनपति, वैभववान व्यक्ति भी भाव से दरिद्र देखे जाते हैं। वो कभी दूसरों को सम्पन्न देखने का भाव भी नहीं बना पाते और कदाचित् कोई जीव अपने पुण्य से सुखी-सम्पन्न दिखाई दे जाये तो उनके भावों में आकुलता पैदा होने लगती है, वे दुःखी हो जाते हैं कि यह व्यक्ति इतना सुखी क्यों है, इतना सुखी कैसे है?

ध्यान रखना, दुनिया में धन से दरिद्र व्यक्ति तो कोई-कोई ही होते हैं अधिकांशत: लोग भावों से दरिद्र हैं। धन से सम्पन्न व्यक्ति दुनिया में बहुत से मिल जायेंगे लेकिन भावों से सम्पन्न व्यक्ति को ढूँढना मुश्किल है। भावों में जितनी संकीर्णता बढ़ती जाती है भावों में उतनी ही विपन्नता और दरिद्रता बढ़ती जाती है।

मैं सुखी रहूँ और संसार के सभी जीव सुख से जियें ऐसी भावना करनेवाले जीव दुनिया में विरले हैं। ऐसे विरले जीव वे ही हो सकते हैं जो परमात्मा की श्रद्धा करते हैं। ध्यान रखना, केवल परमात्मा के द्वार पर उपस्थित होना श्रद्धा का परिचायक नहीं है, वास्तविक श्रद्धावान् वह है जो परमात्मा के गुणों को अपने जीवन में स्वीकार करता है, आचरण में लाता है, प्राणीमात्र के हित और सुख की चाह रखता है, ऐसे भव्यजीव बहुत विरले हैं। आचार्य भगवन् कहते हैं—जो अपने सुख के साथ-साथ प्राणीमात्र के सुख की भावना करता है वही वास्तव में भगवान् बनने के योग्य होता है। जिसके अंदर परमात्मा सी करुणा ही पैदा नहीं हुई वह परमात्मा कैसे बन सकता है? जो दूसरे के सुख की कामना नहीं कर पाता उसे जीवन में कभी सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। जो अपने सुख के साथ-साथ दूसरों के सुख की कामना करता है उसके लिये सुख स्वयमेव स्वीकार कर लेता है।

जो दूसरों के सुख की चाह रखता है, सुख उस व्यक्ति की चाह रखता है। दूसरों को दु:खी करनेवाला कभी सुखी नहीं हो सकता। आज तक जितने भी तीर्थंकर भगवंत हुये हैं वे सभी स्व-पर कल्याण की भावना से, प्राणीमात्र के प्रति करुणा की भावना से, तीर्थंकरत्व को प्राप्त हुये हैं। वे केवल अपने सुख की चाह नहीं करते थे अपितु प्राणीमात्र के कल्याण की भावना करते थे। ऐसी ही भावना से सम्राट श्रेणिक के मन में यह प्रश्न आया—संसार में जीव दु:खी क्यों देखे जाते हैं? जीवों में सुख-दु:ख का भेद क्यों देखा जाता है?

लोग कहते हैं—भगवान् ने किसी को सुखी और किसी को दु:खी बनाया है। भगवान् इतने क्षुद्र विचारोंवाला नहीं हो सकता कि किसी को गरीब और किसी को अमीर बना दे। ओ हो! अगर भगवान् ही ऐसा काम करने लगेगा तो तुममें और भगवान् में क्या फर्क रह जायेगा? ध्यान रखना, भगवान् तो वीतरागी हुआ करते हैं। भगवान् कभी किसी को छोटा या बड़ा नहीं बनाते। भगवान् किसी को रोगी, दरिद्र या गरीब नहीं बनाते। सब जीव अपने-अपने कर्मों के अनुसार इन अवस्थाओं को प्राप्त होते हैं। कोई कहता है—चलो हमने ये मान लिया कि

भगवान् किसी को रोगी, दु:खी, गरीब नहीं बनाते। भगवान् ने किसी को पंगु, अंधा आदि नहीं बनाया। लेकिन भगवान् किसी को सुखी तो बनाते होंगे? ध्यान रखना, भगवान् ये कोई भी काम नहीं करते, ये कार्य जीव के स्व-अर्जित कर्मों का है। जो जैसा कर्म करता है वो वैसे फलों को प्राप्त होता है। अगर आपका पूर्वकृत पुण्य का उदय है तो आपको हर जगह अनुकूलतायें प्राप्त होंगी। आप सुखी हैं, स्वस्थ हैं, तो ये किसी भगवान् ने आपको गिफ्ट (Gift) नहीं दिया, ये आपको आपके पूर्वकृत पुण्यकर्म ने उपहार दिया है। नीतिशतक में कहा भी है–

भीमं वनं भवति तस्य पुरं प्रधानं,
सर्वो जनः स्वजनतां समुपैति सद्यः।
कृत्स्ना च भू र्भवति सन्निधिरत्नपूर्णा,
यस्यास्ति पूर्वसुकृतं विपुलं नरस्य।।102।।

जिस मनुष्य के पास पूर्व पर्याय में किया गया विशाल पुण्य होता है उसके लिये भयंकर वन प्रधान नगर बन जाते हैं, सभी मनुष्य उसके लिये सज्जनता को प्राप्त हो जाते हैं और समस्त पृथ्वी उसके लिये उत्तम निधि-रत्नों से परिपूर्ण हो जाती है। इसलिये बन्धुओ! ध्यान रखना, ये कोई भगवान् कृत छाया नहीं, ये तो पुण्य की माया है। पुण्य है तो सबकुछ है और पुण्य नहीं तो कुछ भी नहीं। **पाप के उदय में हमें साँप काला दिखाई देता है और पुण्य के उदय में वही फूलों की माला दिखाई देता है। अनुकूलता और प्रतिकूलताओं का दाता कोई भगवान् नहीं, जीव का अपना पूर्वोपार्जित पुण्य और पापकर्म है।**

हमारा कर्म ही हमारे अच्छे या बुरे भावी जीवन का निर्माण करता है। कोई परमात्मा हमारे जीवन का संचालक नहीं है, हमारा कर्म ही हमारे जीवन का संचालक है। जीव के द्वारा किया गया कर्म उसे भोगना ही पड़ता है। उस कर्म का उदय अवश्य ही आता है, उससे बचा नहीं जा सकता।

सुभाषित सहस्रम् में कहा है–

यथा धेनुसहस्रेषु वत्सा विन्दन्ति मातरम्।
तथा पुराकृतं कर्मं कर्तारनुगच्छति ।।842।।

अर्थात् जिसप्रकार हजारों गायों में बछड़े अपनी माँ के पास पहुँच जाते हैं उसीप्रकार पूर्वकृत कर्म अपने कर्ता (करनेवाले) के पास पहुँच जाते हैं, उसे उनका फल भोगना ही पड़ता है।

जो जैसा कर्म करता है वैसे ही फल को प्राप्त होता है। जो अज्ञानी इस ध्रुव सत्य को नहीं जानते वो परमात्मा को उलाहना देते रहते हैं। हे भगवान्! आपने मेरे साथ ही ऐसा क्यों किया? ध्यान रखना, ये अज्ञानता की भाषा है। परमात्मा को उलाहना देनेवाला कभी परमात्मा का श्रद्धानी नहीं हो सकता। हमें सदैव अपने कर्म पर विचार करना चाहिये। हमारे साथ जो भी गलत हुआ है उसमें कहीं न कहीं गलती हमारी ही है। परमात्मा को उलाहना देनेवाला यह सोचता है कि मेरी एक भी गलती नहीं है जो भी गलती है सब भगवान् तुम्हारी है। जो कुछ भी किया कराया है वो सब तुम्हारा ही है। मैंने तो कभी कुछ गलत किया ही नहीं। मैं तो बिल्कुल सही हूँ। यानि गलती करनेवाला परमात्मा और गलती का निर्णय देनेवाले तुम। ध्यान रखना, जिसे परमात्मा में भी गल्तियाँ नजर आने लग जायें, भगवान् में भी बुराईयाँ नजर आने लग जायें, समझ लेना उस व्यक्ति की बुद्धि सही दिशा में काम नहीं कर रही है, उसका विनाशकाल निकट है। कहा भी है–

विनाशकाले विपरीतबुद्धि। (सु.स.)

सर्वगुण सम्पन्न परमात्मा में भी अगर किसी को बुराईयाँ नजर आने लग जायें तो समझ लेना वो खुद गलत है। उसकी श्रद्धा विपरीत है। भगवान् किसी को अंधा, बहरा, गूँगा विकलांग, दुःखी, दरिद्री नहीं बनाता। भगवान् किसी को स्त्री, पुत्र एवं धन-संपदा नहीं देता और न ही लेता है। फिर ये सब संयोग-वियोग किसप्रकार होते हैं? चाहते तो सभी हैं कि हमारा भी विवाह हो जाये। विवाह हो गया है तो पुत्र हो जाये। व्यापार वृद्धि हो, श्री वृद्धि हो, लेकिन ऐसा हो नहीं पाता। ऐसा क्यों नहीं हो पाता? इसका कारण कोई ज्ञानी पुरुष ही जान सकता है, अज्ञानी तो केवल परमात्मा को उलाहना देना जानता है। परमात्मा कभी भेदभाव नहीं करता, वह तो अपने अभेदस्वभाव में रहता है। अगर परमात्मा ही ऐसा भेदभाव करने लग जायेगा तो उसे परमात्मा कौन कहेगा?

जीव का कर्म ही है जो उसे अनुकूलतायें और प्रतिकूलतायें देता है। जो जैसे कर्म करता है उसे वैसे ही फल की प्राप्ति होती है। बबूल का वृक्ष लगाओगे और आम के फल की इच्छा

करोगे। अगर बबूल के वृक्ष पर काँटे आ गये, आम के फल दिखाई नहीं दिये, तो गलती किसकी? भगवान् की। अज्ञानी कहता है—भगवान् तुम्हारी गलती है जो तुमने इसमें आम का फल नहीं लगाया। क्योंकि प्रभु तुम्हीं सब कुछ करनेवाले हो। वृक्ष खुद ने लगाया, और उलाहना दे रहा है भगवान् को, कि इस पर आम का फल क्यों नहीं आया? ध्यान रखना! "**जो जस करहिं सो तस फल चाखा**" जो जैसा कर्म करेगा वैसे ही फल को प्राप्त होगा। बबूल का वृक्ष लगायेगा तो काँटे ही मिलेंगे और आम का वृक्ष लगायेगा तो आम के फल प्राप्त होंगे।

अज्ञानी जीव परमात्मा को उलाहना देकर अपने कर्तव्य से बचने का प्रयास करते हैं, पुरुषार्थ से मुँह मोड़ने का प्रयास करते हैं। परमात्मा को उलाहना देनेवाले लोग अकर्मण्य हैं। अकर्मण्य लोग ही परमात्मा को उलाहना देते हैं। जिन्हें कर्म सिद्धान्त पर विश्वास होता है, वे अपने सत्कर्म से बुरे को भी अच्छा कर लेते हैं। कर्म पर विश्वास करनेवालों के अंदर बुरे को भी अच्छा बनाने की सामर्थ्य हुआ करती है। अज्ञानी जीव अनादि से खोटे कर्म करता आ रहा है, बुरे कर्म करता आ रहा है, बुरी भावना करता आ रहा है जिसके कारण नाना प्रकार के दु:खरूप खोटे फल प्राप्त हो रहे हैं। जीव अगर अच्छी भावना रखे, धर्म की भावना रखे, स्व-पर हित की भावना रखे, तो उसे पुण्य की शक्ति प्राप्त होती है। जिसके पास पुण्य की शक्ति होती है दुनियाँ में उसका कोई कुछ बिगाड़ नहीं सकता। दुनियाँ में ऐसी कोई ताकत नहीं जो उसका कुछ बिगाड़ कर सके। उसके पास पुण्य की ऐसी शक्ति है जिसके सामने दूसरी कोई शक्ति टिक ही नहीं सकती।

दुनियाँ में अगर कोई दरिद्री देखा जा रहा है तो इसका कोई व्यक्तिगत कारण अवश्य होना चाहिये। वह कारण क्या है? आचार्य भगवन् कुंदकुंदस्वामी इस गाथा में बता रहे हैं—

पुत्त-कलत्त-विदूरो, दारिद्दो पंगु-मूक-बहिरंधो।
चाण्डालादि-कुजादो, पूयादाणादि दव्वहरो।।33।।

जिस अज्ञानी जीव द्वारा पूजा और दान आदि के द्रव्य का अपहरण किया जाता है वह आगामी पर्याय में पुत्र, स्त्री रहित दरिद्री लंगड़ा, गूँगा, बहरा, अंधा और चाण्डालादि कुजाति में उत्पन्न होता है।

किसी भव्यजीव ने पूजा के लिये दान दिया, पूजा की द्रव्य दी और किसी अज्ञानी ने पूजा का द्रव्य बाजार में बेच दिया। बेचने के बाद जो धन आया, उसे अपने उपयोग में लगा लिया।

ध्यान रखना, वर्तमान में तो ये कर्म करते हुये अच्छा लगता है लेकिन जब यह कृतकर्म अपने समय पर उदय में आता है तब अनेक प्रकार के खोटे फल लेकर आता है। जब खोटे फलों की प्राप्ति होती है तो अज्ञानी जीव दु:खी होता है, खेदखिन्न होता है और परमात्मा को उलाहना देने पहुँच जाता है कि मैंने ऐसा कौन सा कर्म किया है जिसके कारण हे परमात्मा! तू मुझे दु:खी कर रहा है? उस अज्ञानी को अपना किया हुआ कर्म समझ में नहीं आता। भगवान् को उलाहना देता है कि मेरे साथ जो भी बुरा हो रहा है उसका कारण तू है। अरे अज्ञानी! तूने ही पूर्व में ऐसा कर्म किया। पूजाद्रव्य का तूने उपभोग किया। बाजार में बेच दिया और प्राप्त धन तूने अपने परिवार या व्यक्तिगत जीवन के संचालन के लिये उपयोग में ले लिया।

ध्यान रखना, पूजन का द्रव्य कभी अपने उपयोग में मत लेना। महिलायें अपने बच्चों को जिनालय में लाती हैं। बच्चों को बिठा लेतीं हैं। बच्चे तो बच्चे हैं इधर वो द्रव्य चढ़ाती हैं उधर बच्चे थाली में हाथ डालकर नारियल की चिटक अथवा चावल उठाकर मुँह में डाल लेते हैं। **वो करती हैं स्वाहा-स्वाहा, बच्चे करते हैं आहा-आहा।** ध्यान रखना, वह क्षणिक आहा कब आह बन जाये, कहा नहीं जा सकता। वह क्षणमात्र की आहा उसके जीवन को कब तबाह कर दे, ये कहा नहीं जा सकता। दान के द्रव्य का उपभोग ज्ञानपूर्वक तो होना ही नहीं चाहिये, अज्ञानपूर्वक और अनजाने में भी नहीं होना चाहिये। **आचार्य भगवन् कहते हैं–पूजा और दान आदि के द्रव्य का अपहरण करनेवाला नियम से दरिद्री होता है। किसी ने अपनी द्रव्य दान में दी और किसी ने उसका अपहरण कर लिया, उसी समय वह सबसे बड़ा अपराधी हो गया। उस समय उसने ऐसा अपराध किया है जो परमात्मा के द्वार पर आने के बाद भी क्षम्य नहीं है। उस अपराध का फल उसे अवश्य ही भोगना पड़ेगा।**

जिन परमात्मा की भक्ति कर कर्मों को काटा जाता है, उसने उन्हीं परमात्मा को ठग लिया। मंदिरों में चोरियाँ हो जाती हैं और कई बार चोर भी ऐसे लोग निकलते हैं जिनका नाम समाज के लोगों को लेने में भी शर्म आती है। ऐसे भी लोग चोरी में शामिल होते हुये दिखाई देते हैं जिनका समाज में ऊँचा कद है।

हिन्दु मंदिरों में चोरी हो जाती हैं, जैन मंदिरों में चोरियाँ हो जाती हैं और चोरी करने में ऐसे व्यक्ति भी सामने आते हैं जिनके विषय में व्यक्ति कल्पना भी नहीं कर सकता। कहने का तात्पर्य यह है उन अज्ञानियों को इस बात का पता ही नहीं कि ऐसा करने से कैसा घोर कर्म

बँधता है। चोरी करने से दस-बीस हजार रुपये मिल जायेंगे। कब तक चलेंगे वो दस-बीस हजार रुपये? वर्तमान पर्याय भी ठीक तरह से संचालित नहीं हो सकती और इसके लिये उसने अपने कितने भव बिगाड़ लिये। भव-भव में उसे इस खोटे कर्म का फल दु:खरूप में भोगना पड़ेगा।

जो व्यक्ति मंदिर में चोरी कर रहा है, सोचो उसकी कषाय कितनी तीव्र होगी? जिसने मंदिर को भी मंदिर नहीं समझा, परमात्मा को परमात्मा नहीं समझा, पूजा और दान के द्रव्य को भी जिसने चुराने का भाव बना लिया। अहो! कितने घोर कर्म का बंध कर लिया उस जीव ने। ध्यान रखना, जितनी तीव्र कषाय होगी उतना ही तीव्र स्थिति और अनुभाग वाला कर्मबंध होगा। उस कर्म को भोगने में भव-भव लग जायेंगे। अहो! अज्ञानता में बाँधा गया कर्म अनेक भवों को बिगाड़ सकता है।

दान और पूजा के द्रव्य का अपहरण करनेवाला कैसा हो जाता है?

''**पुत्त कलत्त विदूरो**'' पुत्र से रहित हो जाता है, कलत्त से अर्थात स्त्री से भी रहित होता है। चाहते तो सब हैं कि घर में सुपुत्र हो, कुलीन स्त्री हो। जब चाहकर भी ऐसा ना हो पाये तो भगवान् के सामने जाकर अपनी रोज आलोचना करना—हे प्रभु! अज्ञानता के वशीभूत होकर मैंने अवश्य ही कोई पूजा, दान आदि के द्रव्य का अपहरण किया होगा तभी यह अंतराय कर्म मेरे उदय में आया है जिसकारण मुझे पुत्र, स्त्री का लाभ नहीं हुआ। ध्यान रखना, अगर निर्मल भावों से प्रभु के पास अपने कर्मों की आलोचना करोगे तो कदाचित् कर्म से अवश्य छूट जाओगे। अपनी भूल को स्वीकार करके यह संकल्प कर लेना कि भगवन! मुझे संसार में कितने भी दु:ख क्यों न भोगना पड़ें तो भी मैं कभी पूजा-दान आदि के द्रव्य का उपभोग नहीं करूँगा।

भगवान् की आराधना में भव्यजीव उत्तमोत्तम द्रव्य समर्पित करता है। ये तो आज का समय है कि पुष्प की जगह पीले चावल चढ़ा देते हो, नैवेद्य की जगह नारियल की चिटक चढ़ाकर आराधना कर लेते हो। जब प्राचीन शास्त्रों को देखते हैं तो पाते हैं कि महाराज दशरथ ने आष्टाह्निक पर्व में आठ दिनों तक जिनार्चना का महान उत्सव किया। उत्तमोत्तम स्वर्ण एवं चाँदी के पुष्प और अनेक प्रकार के नैवेद्यों द्वारा भगवान् की मंगल आराधना की। आचार्य कहते हैं—भगवान् की पूजा आदि में दान देने से ही आगामी पर्यायों में भोगों की प्राप्ति होती है। कहा

भी है–''**दानेन भवति भोगी**'' अर्थात् दान से मनुष्य भोगवान होता है। यदि दान सुपात्र को दिया जाये तो वह अतिशय गुणकारी होता है, पात्र के बिना दान निष्फल है। अपात्र को दिया गया दान सर्प को दूध पिलाने के समान जानना चाहिये। सर्प को दूध का दान करोगे तो वह जहर बन जायेगा और गाय को घास भी खिलाओगे तो भी तुम्हें दूध मिलेगा। इसलिये गाय को घास खिलाना श्रेष्ठ है लेकिन सर्प को दूध पिलाना भी श्रेष्ठ नहीं है। पात्र को अगर दान दोगे तो वह दान तुम्हारे लिये गुणकारी बन जायेगा और अगर अपात्र को दिया तो वह जहर के समान आत्मा के लिये अहितकारी ही होगा। सुपुत्र के लिये किंचित् मात्र भी कुछ दोगे तो वह तुम्हारे कुल की मर्यादा को बढ़ाता रहेगा और कुपुत्र के लिये बहु सम्पदा भी दे दोगे तो भी वह तुम्हारे कुल की मर्यादा को समाप्त कर देगा।

सुपुत्र की प्राप्ति भी पूर्वकृत पुण्य का फल जानना चाहिये। धर्मद्रव्य का भोग करनेवाले अज्ञानियों के जीवन में सदैव स्त्री-पुत्र आदि के अभाव से उपजा दु:ख बना रहता है। इसलिये धर्म तो करें लेकिन धर्म में चोरी न करें। भावों की विशुद्धि ही कर्म निर्जरा का और भावों की अशुद्धि ही कर्मबंध का कारण है। भावों की विशुद्धि से कर्मबंध के मार्ग पर रोक लगाकर कर्म निर्जरा का मार्ग प्रशस्त करें। इन्हीं शुभ भावनाओं के साथ...।

कौन दरिद्री होता है, स्त्री पुत्र को रोता है।
मूक बधिर पंगु अन्धा, निम्न जाति को ढोता है।।
पूजा दानादि, हो-हो-2 का द्रव्य जो खाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2 संहिता दिखलाये रे।।

अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

❑❑❑

(पृष्ठ नं. 100 का शेष)

सम्यक् क्रियाकाण्ड अवश्य है, इसको धारण करके मुनिराज अतिसूक्ष्म जीवों की रक्षा का उपाय करते हैं। अगर कोई मुनिराज इस सम्यक् क्रियाकाण्ड को पाकर यह सोचें कि अब तो मैं मुक्ति को अवश्य ही प्राप्त कर लूँगा तो वो अभी भूल में है, क्योंकि आचार्य भगवन् योगीन्दु देव ने योगसार में कहा है कि–

धम्मु ण पढियइँ होइ, धम्मु ण पोत्था–पिच्छियइँ।
धम्मु ण मढिय पएसि, धम्मु ण मत्था–लुंचियइँ।।47।।

राय–रोस वे परिहरिवि, जो अप्पाणि बसेइ।
सो धम्मु वि जिण–उत्तियउ जो पंचम–गइ णेइ।।48।।

अर्थात्– पढ़ लेने से धर्म नहीं होता, पुस्तक और पिच्छी से भी धर्म नहीं होता, किसी मठ में रहने से भी धर्म नहीं है, तथा केशलोंच करने से भी धर्म नहीं कहा जाता है।

जो राग–द्वेष दोनों को छोड़कर निज आत्मा में वास करता है उसे ही जिनेन्द्र देव ने धर्म कहा है। वह धर्म पंचमगति (मोक्ष) को ले जाता है। अत: मुक्ति का कारण तो एकमात्र अध्यात्म ही है। आध्यात्मिक दृष्टि वाले व्यक्ति को सभी जीवों के बाहर के खोल नहीं उनके भीतर बैठा एकमात्र आत्मा दिखाई देता है।

एक माला के कुछ दानों में मनुष्याकृति, कुछ दानों में तिर्यंचाकृति, कुछ दानों में नरकाकृति और कुछ दानों में देवाकृति वाले मोती डले हैं। उस माला को जब आप बाहर की ओर से देखोगे तो भारी भेद दिखाई देगा और जब उसी माला को धागे की ओर से देखोगे तो कोई भेद दिखाई नहीं देगा।

निर्ग्रंथ मुनिराज किसप्रकार से अपनी समता को बनाकर रखते हैं। उनकी समता का यही कारण है कि उन्हें भेद नहीं, सभी में एकमात्र आत्मा ही नजर आता है।

भेद दृष्टि ने हमें अनादि से ठगा है, अब भेद नहीं अभेद दृष्टि चाहिए। पर्यायों को निहारना छोड़ दो, अपनी दृष्टि का विषय द्रव्य को बनाओ। भेद जितने भी दिखाई देते हैं वो सब पर्यायों में हैं द्रव्य में कोई भेद नहीं है। जीवन्धर कुमार को क्रियाकाण्डी विद्वानों द्वारा पीटे हुये उस मरणासन्न चाण्डाल जाति के श्वान को देखकर भी उसमें चाण्डाल नहीं आत्मा नजर आई और उसे णमोकार महामंत्र सुना दिया, वह श्वान मरकर यक्षेन्द्र की पर्याय को प्राप्त हो गया। इसलिये किसी भी जाति से हीन जीव को हीन दृष्टि से मत देखना, क्या पता जिसे तुम हीन समझ रहे हो वो कल का कोई तीर्थंकर जैसा महापुरुष हो। हमारे पास मात्र लोकमान्य भेद दृष्टि ही नहीं, अध्यात्म की दृष्टि भी होना चाहिए, तभी आत्मशान्ति मिल सकेगी। धर्मात्मा जीव को लोक व्यवहार से ज्यादा धर्मदृष्टि महत्वपूर्ण होती है। सिर्फ अपने चोले को ही धर्मात्मा नहीं, अपनी आत्मा को भी धर्मात्मा बनाने का प्रयास करो।

'जयदु जिणागम पंथो।'
'जिनागम पंथ जयवंत हो।'

(धर्मद्रव्य के भोग का दुष्परिणाम)

इच्छिदफलं ण लब्भदि, जदि लब्भदि सो ण भुञ्जदे णियदं।
वाहीणमायरो सो, पूयादाणादि - दव्वहरो।।34।।

* अन्वयार्थ *

(**पूयादाणादि-दव्वहरो**) पूजा, दानादि के द्रव्य का अपहरण करनेवाला (**इच्छिदफलं**) इच्छित फल को (**ण लब्भदि**) प्राप्त नहीं करता है, (**जदि**) यदि (**लब्भदि**) प्राप्त करता है तो (**सो**) वह (**ण भुञ्जदे**) उसको भोग नहीं पाता (**णियदं**) यह निश्चित है (**सो**) वह (**वाहीणमायरो**) व्याधियों का घर बन जाता है।

अर्थ–पूजा, दान आदि के द्रव्य का अपहरण करनेवाला इच्छितफल को प्राप्त नहीं करता है यदि प्राप्त करता है, तो वह उसे भोग नहीं पाता यह निश्चित है और वह व्याधियों का घर बन जाता है।

गाथा - 34

(प्रवचन)

●

पूजादि द्रव्य का भोगी, व्याधियों का घर।

10.10.2013
भिण्ड (म.प्र.)



भस्मक व्याधि से पीड़ित आर्यनन्दी जीवन्धर कुमार के गृह भोजन करते हुये।

44

रयणोदय

अतिशय इच्छा करता है, किन्तु न फल को वरता है।
इच्छित फल गर मिल जाये, किन्तु भोग बिन मरता है।।
धर्मद्रव्य भोगी, हो हो-2 व्याधि ही पाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2, संहिता दिखलाये रे।।

'**जयदु जिणागमपंथो**' अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

तीर्थंकर भगवंत की दिव्यध्वनि जिनश्रुत है, जिनागम है। जिनागम में वर्णित आत्मकल्याणकारी मार्ग, आत्महितकारी पंथ '**जिनागम पंथ**' है। परस्पर रागद्वेष को बढ़ानेवाले आगमबाह्य पंथ उन्मार्ग हैं। वीतरागता को देनेवाला, '**परस्परोपग्रहो जीवानाम्**' का प्रतीक '**जिनागम पंथ**' सन्मार्ग है।

हम सभी भगवान् कुंदकुंददेव द्वारा निरूपित धर्म देशना को श्रवण कर रहे हैं। आचार्य भगवन् कुंदकुंदस्वामी ने समस्त व्यवहार धर्मस्थ संसारी जीवात्माओं के लिए यह मंगल देशना प्रदान की है। आचार्य भगवन् कहते हैं—धर्म इसभव में भी सुखी करता है और परभव में भी सुखी करता है, लेकिन सुखी वही जीव होता है जो धर्म का धर्मभाव से पालन करता है। धर्म

के निमित्त मिलना अलग बात और धर्मभाव का होना अलग बात है। मनुष्य के लिए कदाचित् धर्म के निमित्त सुलभ हैं लेकिन धर्मभाव स्वयं के सम्यक् पुरुषार्थ से उत्पन्न होता है। संसार में अनेक जीव ऐसे हैं, जिन्हें धर्मस्थान तो प्राप्त हो गया लेकिन धर्मभाव प्राप्त नहीं हो पाया। पूर्व में आपने कोई पुण्यकर्म किया जिससे वर्तमान में आपके लिए धर्म की प्राप्ति हुई है। धर्म की प्राप्ति होने का अर्थ है धर्म के साधन की प्राप्ति होना। कोई धर्म के साधन को ही धर्म समझ बैठे तो यह उसकी अज्ञानता है। साधन से साध्य की प्राप्ति होती है लेकिन साधन स्वयं साध्य नहीं है।

यदि पूर्वकृत पुण्य से व्यवहार धर्म के साधन मिले हैं तो उन व्यवहार धर्म के साधनों से निश्चय साधन का ज्ञान करना ही व्यवहार साधनों की सार्थकता है। निश्चय साधन, व्यवहार की अपेक्षा साध्य कहलाता है। अत: व्यवहार धर्म के साधन से निश्चय साधन को प्राप्त करना होता है फिर निश्चय साधन से निश्चय साध्य की प्राप्ति होती है। जब निश्चय साधन से निश्चय साध्य की प्राप्ति हो जाये तब समझना कि हमें धर्म और धर्म का फल प्राप्त हो गया है। यदि व्यवहार साधन की प्राप्ति होने पर उसका सम्यक् उपयोग न किया जाये, तो उस साधन की प्राप्ति मात्र से धर्मभाव की प्राप्ति नहीं हो सकती।

व्यवहार में श्रावक का मुख्य धर्म दान और पूजा है। **''दाणं पूया मुक्खं सावयधम्मो''** अर्थात दान और पूजा श्रावक का मुख्य धर्म है। दान और पूजा कर्तव्य का पालन करनेवाला श्रावक कभी कदाचित् अविवेकता को प्राप्त हो जाये और धर्मद्रव्य का भोग करने का भाव मन में आ जाये तो आचार्य कहते हैं—वह कभी सुख को प्राप्त नहीं होता। धर्मद्रव्य का भोग करने पर कौन-कौन से दुष्परिणाम होते हैं? आचार्य भगवन् इस गाथा में बता रहे हैं—

इच्छिदफलं ण लब्भदि, जदि लब्भदि सो ण भुंजदे णियदं।
वाहीणमायरो सो, पूयादाणादि - दव्वहरो।।34।।

पूजा, दान आदि के द्रव्य का अपहरण करनेवाला कभी इच्छित फल को प्राप्त नहीं होता।

जब तक जीव संसार में है तब तक उसके साथ इच्छायें भी लगी हुई हैं। कोई भी संसारी जीव ऐसा नहीं जो इच्छा से रहित हो। संसार अवस्था में जब तक मोहनीय कर्म लगा हुआ है तब तक इच्छायें उत्पन्न होती रहती हैं। जीव को अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए पुरुषार्थ भी

अवश्य करना होता है तभी उसका व्यवहारिक जीवन चल सकता है। ऐसा नहीं हो सकता कि जीव सांसारिक जीवन भी जिये और कोई इच्छा भी न हो, कोई न कोई इच्छायें अवश्य होंगी। वे कौन सी इच्छायें हो सकती हैं? आचार्य कहते हैं–दो प्रकार की इच्छायें होती हैं। एक अप्रशस्त इच्छा और दूसरी प्रशस्त इच्छा। अप्रशस्त इच्छायें वे कहलाती हैं जिनका सांसारिक जीवन से संबंध होता है और प्रशस्त इच्छायें वे हैं जिनका पारमार्थिक जीवन से संबंध होता है। 'मुझे मोक्ष की प्राप्ति हो' यह प्रशस्त इच्छा है। ऐसी प्रशस्त इच्छाओं को धर्मात्मा जीव नित्य करता है। जब तक आत्मा अपने आत्मस्वरूप में अवस्थित नहीं हो जाता तब तक भव्यजीव इन प्रशस्त इच्छाओं को अवश्य करता है, रोज भावना भाता है–

''दुक्खक्खओ कम्मक्खओ बोहिलाओ सुगइगमणं समाहिमरणं जिणगुण सम्पत्ति होउ मज्झं''

हे भगवन्! मेरे दु:खों का क्षय हो, मेरे कर्मों का क्षय हो, मुझे बोधि का लाभ हो, सुगति में गमन हो, मेरा समाधिपूर्वक मरण हो और हे जिनेन्द्र देव! जिन आत्मगुणों की प्राप्ति आपको हुई है वह श्रेष्ठ जिनगुणरूप सम्पत्ति मुझे भी प्राप्त हो। ऐसी भावना प्रशस्त भावना कहलाती है। अगर जीव ऐसी भावना न करे तो कभी उसे सम्यक् फल (मोक्षफल) की प्राप्ति नहीं हो सकती। हमें तत्त्व को समझना होगा और तत्त्व को समझने के बाद प्रयोजनभूत तत्त्व की भावना करनी होगी। शुद्ध प्रयोजनभूत तत्त्व की भावना किये बिना कोई जीव कभी भी मोक्षस्वरूप शुद्ध आत्मा की उपलब्धि नहीं कर सकता।

जीव इच्छारहित होकर संसार में नहीं रह सकता, इच्छा तो करनी होगी। भावना तो करनी ही होगी। विचारणीय यह है कि कौन सी भावना करें? एक संसार फलों की भावना है दूसरी परमार्थ फल की भावना है। ज्ञानी जीव परमार्थ फल को चाहता है और अज्ञानी जीव संसार के फलों को चाहता है। जब तक आत्मा निर्विकल्पसमाधि को प्राप्त नहीं हो जाता है, जब तक वीतरागचारित्र के अविनाभावी वीतरागसम्यक्त्व को प्राप्त नहीं हो जाता है, तब तक दोनों प्रकार के फलों की इच्छा से आत्मा रहित नहीं होता। सविकल्प दशा में सम्यग्दृष्टि जीव भावना भाता है–हे भगवन्! मैं कब क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त करूँ? क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करने के लिए केवली, श्रुतकेवली का पादमूल कब प्राप्त होगा? ऐसी भावना उसके अंतरंग में आती ही आती है।

जब तक सविकल्प दशा है तब तक इच्छापूर्वक ही प्रवृत्ति होती है, लेकिन सम्यग्दृष्टि जीव अपनी आत्मा को इच्छारहित जानता है। जब निर्विकल्प दशा में स्थित होता है तब उसकी दशा कैसी होती है? आचार्य भगवन् परमानंद स्तोत्र में कहते हैं–

निर्विकल्प समुत्पन्नं, ज्ञानमेव सुधारसम्।
विवेकमंजुलिं कृत्वा, तत्पिबंति तपस्विनः।। 5।।

वह सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीवात्मा अपने आत्मा के निर्विकल्प स्वभाव से उत्पन्न ज्ञानरूपी अमृत को विवेकरूपी अंजुलि बनाकर पीता है, पान करता है।

ज्ञानी जीव जब निर्विकल्प दशा से च्युत होता है, सविकल्प दशा का आश्रय करता है तो उसके अंदर **''उत्तमा स्वात्मचिंता स्यात्''** की भावना बलवती होने लगती है, लेकिन फिर भी अपने इच्छारहित निर्विकल्प स्वभाव का उसके अंदर सतत् निर्णय बना रहता है इसीलिए कदाचित् कभी सम्यग्दृष्टि के विषय में यह कह दिया जाता है कि सम्यग्दृष्टि को इच्छा नहीं होती। उसका अर्थ इतना ही जानना कि जब वह सम्यग्दृष्टि जीव सविकल्प दशा में है तब उसे इच्छा अवश्य होगी, लेकिन उसके अप्रशस्त इच्छायें नहीं होतीं, इसलिए कह दिया जाता है कि सम्यग्दृष्टि जीव को इच्छा नहीं होती।

आचार्य भगवंतों ने व्यवहार मार्ग को भी मोक्षमार्ग कहा है और निश्चय मोक्षमार्ग होता ही है। इसलिए कदाचित् वह व्यवहार मार्ग में प्रवृत्त है तो भी इच्छारहित कहा जाता है। वास्तव में देखा जाये तो अभी वह इच्छारहित नहीं है। ध्यान रखना, जब कारण में कार्य का उपचार किया जाता है तो व्यवहार मार्गस्थ जीवों को भी इच्छारहित कह दिया जाता है लेकिन कहने मात्र से वह अभी इच्छारहित नहीं हुआ है। अभी तो वह भावना कर रहा है। छट्ठे गुणस्थानवर्ती निर्ग्रंथ योगी रोज प्रतिक्रमण करते हैं। प्रतिक्रमण करते हुए भावना भाते हैं–

''दुक्खक्खओ कम्मक्खओ बोहिलाओ सुगइगमणं समाहिमरणं जिणगुणसम्पत्ति होदु मज्झं।''

मुनिराज को देखकर यदि कोई कहे कि इनके इच्छा नहीं है, तो कह देना तुम ठीक कहते हो। अगर कोई कहे इनके इच्छा है, तो फिर कह देना तुम भी ठीक कहते हो। बस अपेक्षा को समझने की बात है। अपेक्षा से कथन को स्वीकार करोगे तो कहीं कोई विवाद की बात ही नहीं

है और एकान्त से कथन करोगे तो संवाद न होगा, विवाद ही होगा। सम्यग्दृष्टि जीव रोज प्रशस्त इच्छायें करता है। अप्रशस्त इच्छाओं के प्रति उसकी परिणति में उदासीनता वर्तती है। इसीलिए वह अनिच्छिक वृत्तिवाला कहलाता है लेकिन वह अभी सर्वथा इच्छा से मुक्त हुआ नहीं है।

संसार में रहनेवाले जीव कोई सम्यग्दृष्टि और कोई मिथ्यादृष्टि भी हो सकते हैं। कोई ऐसे भी जीव होते हैं जो व्यवहार धर्म में रुचि रखते हैं, व्यवहार धर्म की श्रद्धा करते हैं। उनकी व्यवहार क्रियाओं को देखकर कदाचित् लोक में यह कह दिया जाता है कि ये धर्मात्मा हैं। ऐसे धर्मात्मा जीव भी कदाचित् कर्म के बलाधान में दान-पूजा आदि द्रव्य के भोग को प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् दान आदि के द्रव्य का उपभोग कर लेते हैं तो आचार्य कहते हैं—ऐसे जीव परभव में किसी पदार्थ की इच्छा भी करें कि मुझे अमुक पदार्थ प्राप्त हो जाये तो वह इच्छित फल को प्राप्त नहीं होते।

कोई जीव चाहता है कि मैं भी मंदिर जाऊँ, मैं भी प्रवचन सुनूँ, मैं भी धर्मध्यान करूँ लेकिन ऐसा कर नहीं पाता। कारण क्या है? इच्छा तो हो रही है धर्मध्यान करने की, फिर भी वह अपनी इच्छा के अनुसार उस फल को प्राप्त नहीं हो पाता। आचार्य कहते हैं—ऐसी भावना करते हुए भी कोई पूर्वकृत कर्म उसके लिए बाधा डाल रहा है। वह कर्म कौन सा है? अर्हंत वाणी में आया है कि पूर्व पर्याय में अज्ञानता के कारण उस जीव से धर्मद्रव्य का भोग अवश्य हुआ है इसीलिए वर्तमान में देह व्याधियों का घर बन गया है। संसारी जीव के शरीर में रोग ही रोग विद्यमान हैं। आचार्य भगवन् शुभचन्द्र स्वामी ज्ञानार्णव में लिखते हैं— "**वपुर्विद्धि रूजाक्रान्तं**" अर्थात् इस शरीर को तुम रोगों से घिरा जानो। शरीर के एक-एक अंगुल में 96-96 रोग विद्यमान हैं।

आचार्य भगवन् कुंदकुंददेव भावपाहुड में लिखते हैं—

एक्केक्कंगुलिवाही छण्णवदी होंति जाण मणुयाणं।
अवसेसे य सरीरे रोया भण कित्तिया भणिया।।37।।

अर्थात् मनुष्य शरीर के एक-एक अंगुल प्रदेश में जब छियानवे-छियानवे रोग होते हैं तब शेष शरीर में कितने रोग कहे जा सकते हैं? हे जीव! यह तू जान।

धर्मात्मा जीव के भले ही देह के एक-एक अंगुल में 96 रोग हों तो भी वे रोग प्रगट नहीं हो पाते। धर्म का पालन करनेवाले जीव के रोग कभी प्रगट नहीं होते और धर्मद्रव्य का भोग करनेवाले जीवों के वे रोग समय-समय पर प्रगट होते रहते हैं। एक रोग मिट नहीं पाता, तब तक दूसरा रोग आकर उसके शरीर को घेर लेता है। आचार्य भगवन् कुंदकुंद देव कह रहे हैं– **''वाहीणमायरो''** अर्थात् वह जीव व्याधियों का घर हो जाता है और कभी इच्छित फल को प्राप्त नहीं कर पाता। मात्र इच्छाजाल में ही उलझा रहता है।

किसी के पास सब प्रकार की अनुकूलतायें हैं। खूब धन है, वैभव है, घर-परिवार के लोग भी अनुकूल हैं, किसी प्रकार की कोई कमी नहीं है और इच्छा भी हो रही है कि मैं इस-इस तरह के पकवान खाऊँ, अमुक-अमुक व्यञ्जनों का सेवन करूँ, उत्तम-उत्तम भोग भोगूँ, लेकिन इच्छा करता हुआ भी वह उस सुख-सामग्री का भोग नहीं कर पाता। इच्छाओं के अनुरूप फल को प्राप्त नहीं कर पाता। यह सब अकारण नहीं हो रहा है उसने पूर्व पर्याय में कभी धर्मद्रव्य का भोग किया होगा अथवा किसी धर्मद्रव्य का भोग करनेवाले की अनुमोदना की होगी। अज्ञानता में उस खोटे कृत्य की अनुमोदना की होगी, अथवा किसी से कराया होगा, अथवा वो खुद ही कर बैठा होगा।

धर्मद्रव्य का भोग किस-किस प्रकार से हो सकता है इसका विचार करना आवश्यक है। कल मैंने कहा था कि कोई व्यक्ति पूजा की द्रव्य खरीदने जैन साहब की दुकान पर गया। उसने कहा–भाईसाहब! मुझे मंदिर के लिए पूजन सामग्री चाहिए, आप अच्छी से अच्छी क्वालिटी (Quality) की वस्तु दीजिए, भले ही कुछ मँहगी क्यों न हो। दुकान मालिक जैन साहब ने कहा–आप बिल्कुल चिंता न करें, मैं आपके लिए अच्छी से अच्छी वस्तु ही दूँगा। लोभ कषाय के कारण जैन साहब ने उसे वस्तु तो दी लेकिन अपनी आदत के अनुसार थोड़ी मिलावट करके दी। अब देखो भावों की दशा, वह व्यक्ति तो भाव से पूजा का द्रव्य ले गया, लेकिन उस दुकानदार ने क्या किया? भले ही उसने मंदिर में आकर पूजा द्रव्य का अपहरण न किया हो, तो भी उसने पूजन द्रव्य का अपहरण कर लिया। अब कोई कहे कि हम तो व्यापार कर रहे हैं, हमने पूजन द्रव्य का अपहरण कहाँ किया? अरे भैया! वो साफ-साफ तो कह रहा है कि मुझे यह द्रव्य भगवान् की आराधना के लिए चाहिए, भगवान् की पूजन के लिए चाहिए। उस समय

उस दुकानदार के भाव अनुमोदना के होने चाहिये कि मैं तो दुकान पर बैठा-बैठा पाप ही पाप कमाता रहता हूँ, कभी भगवान् की पूजन करने नहीं जा पाता, भैया! अगर आप यह पूजन की द्रव्य ले जा रहे हो, तो मेरी ओर से भी इसमें अनुमोदना है, यह दो बादाम मेरी ओर से भी ले जाना, आप जब भगवान् की पूजा में द्रव्य चढ़ाओ तो मेरी ओर से भी दो बादाम चढ़ा देना। ऐसे भाव तो नहीं आये, अपितु तौलते समय ये भाव जरूर आ गये कि कहीं दो बादाम ज्यादा न चली जायें। कभी दुकानदारों के बाँट देखना। वो कभी ठीक-ठाक नहीं मिलेंगे। मापने के साधन लीटर (Liter) आदि वो भी कभी ठीक-ठाक नहीं मिलेंगे।

कोई बात नहीं आप व्यापार कर रहे हैं, अर्थ अर्जन में अनर्थ होता ही है। आचार्य वट्टकेर स्वामी ने मूलाचार ग्रंथ में कहा भी है–"**अत्थो मूलं अणत्थाणम्**" अनर्थों का मूल अर्थ है। लेकिन वह अनर्थ धर्म के क्षेत्र में तो मत करो।

इतना नियम कर लो, संकल्प कर लो, अगर मेरी दुकान पर कोई धर्मात्मा व्यक्ति आयेगा और धर्म के लिये द्रव्य माँगेगा तो मैं उसमें किसी प्रकार की कमी या मिलावट नहीं करूँगा। आपका इतना सा धर्म आपको दुर्गति से बचा लेगा। ये धर्मभाव आपको परभव में व्याधियों से बचा लेगा, क्योंकि सर्व सुखों का दाता धर्म है।

आचार्य श्री गुणभद्रस्वामी आत्मानुशासन ग्रंथ में कहते हैं–

पापाद् दुःखं धर्मात् सुखमिति सर्वजन सुप्रसिद्धमिदम्।
तस्माद् विहाय पापं चरतु सुखार्थी सदा धर्मम्।।8।।

पाप से दुःख और धर्म से सुख होता है यह सर्वजन सुप्रसिद्ध है इसलिए सुख के इच्छुक मनुष्य को पाप छोड़कर सदा धर्म का आचरण करना चाहिए।

अज्ञानता में किसी से ऐसा कोई कार्य हो गया हो जिसमें पूजा और दान के द्रव्य का भोग के निमित्त अपहरण हो गया हो, पूर्व पुण्य के उदय से कदाचित् वह द्रव्य उसके हाथ लग भी गया हो, और वह सोच रहा हो कि इस द्रव्य से मुझे ऐसे-ऐसे फल की प्राप्ति होगी तो ध्यान रखना, आचार्य भगवन् कुंदकुंदस्वामी कहते हैं–"**इच्छिद फलं ण लब्भदि**" अर्थात् वह धर्मद्रव्य का भोगी जीव कभी भी इच्छित फल को प्राप्त नहीं हो पाता।

किसी ने सोचा, इस द्रव्य को मैं अपने बेटों की शिक्षा में लगाऊँगा। हमारे बेटे पढ़-लिखकर बड़े हो जायेंगे फिर वह कोई अच्छी सर्विस (Service) करेंगे, जॉब (Jobe) करेंगे, जिससे बहुत धन आयेगा, आमदनी होगी, बहुत लाभ होगा। लेकिन बेटे ऐसे निकले कि न तो वो विद्यार्थी ही बन पाये और न ही उन्हें व्यापार की कोई समझ आ पाई, नौकरी मिलना तो बहुत दूर की बात है। वह कितना भी सोचे उसे इच्छित फल की प्राप्ति नहीं हो पाती।

कदाचित् किसी गरीब का बेटा पढ़-लिखकर भाग्य से उत्तम नौकरी आदि प्राप्त कर भी लेता है लेकिन ऐसे लोभी व्यक्तियों के पुत्र-पुत्रियाँ कभी आगे नहीं बढ़ पाते। ऐसे कुलों में वे ही संतानें जन्म लेती हैं जिन्होंने पूर्व में ऐसे खोटे कर्म किये हैं।

कोई चाहता है—मैं भी भगवान् की पूजा करूँ, भगवान् का अभिषेक करूँ लेकिन देह में अनेक प्रकार की व्याधियाँ लग जाती हैं। वो चाहता हुआ भी किसी धर्मकार्य को नहीं कर पाता। "**जदि लब्भदि**" कदाचित् इच्छित फल को प्राप्त भी कर ले, उसके पुण्योदय से भोग के साधन उसे मिल भी जायें, तो आचार्य कहते हैं—"**ण भुंजदे णियदं**" नियम से वह उनको भोग नहीं पाता।

ऐसा क्या कारण है कि सब प्रकार की अनुकूलतायें मिलीं फिर भी उनका भोग नहीं कर पा रहा? कारण कोई दूसरा नहीं, स्वयं का किया हुआ कर्म है। किसी को कोई बीमारी हो गई। डॉक्टर (Doctor) ने कह दिया—अब तुम्हें भोजन में बिना तले पदार्थ ही खाना है। बिना घी चुपड़ी रोटी और मूंग की दाल का पानी पीना है। डबल बैड (Double bed) पर नहीं, जमीन पर चटाई बिछाकर सोना है। अब वह अपार सम्पदा का मालिक, मूंग की दाल का पानी, रूखी रोटी खाकर तथा जमीन पर चटाई के ऊपर सोकर जीवन काट रहा है। अनुकूलतायें सारी हैं, भोग के सभी साधन हैं फिर भी भोग नहीं पा रहा। कुछ न कुछ कारण तो है, बिना कारण के कोई कार्य नहीं होता है। पूर्व में धर्मद्रव्य के भोग की बुद्धि होने के कारण जो कर्म बँधा था वही कर्म आज उदय में आकर उसे इसतरह के दु:ख दे रहा है, प्रतिकूलतायें खड़ी कर रहा है।

चार मित्र हलवाई की दुकान पर बैठे हैं, तीन रसगुल्ला और जलेबी खा रहे हैं चौथा चुपचाप देख रहा है। मित्रों ने कहा—अरे मित्र! लो तुम भी खाओ। वह कहता है—मेरा त्याग

है। मित्रों ने कहा–अरे! तुमने त्याग कब कर दिया? बोला–हमने त्याग नहीं किया डॉक्टर (Doctor) साहब ने करवा दिया। सोचो! क्यों हुआ ऐसा? सबकुछ सामने उपस्थित होने के बाद भी तुम उसे स्वीकार नहीं कर पा रहे हो। अरे भाई! तेरा ही पूर्व में किया हुआ कर्म उदय में आया है।

आचार्य कहते हैं–''**जदि लब्भदि सो ण भुंजदे णियदं**'' यदि उसे भोग सामग्री प्राप्त भी होती है तो वह उसका भोग नहीं कर पाता। कोई न कोई कारण अवश्य बन जायेगा जिससे वह उसको भोग नहीं सकता। क्यों नहीं भोग सकता? क्योंकि ''**वाहीणमायरो सो**'' उसका शरीर रोगों से घिर जाता है, बीमारियाँ आकर उसको घेर लेती हैं।

बहुत लोग धन कमाते-कमाते पूरा जीवन लगा देते हैं। वह धन भी किसके लिए कमाते हैं? डॉक्टर साहब के लिए। इधर से धन आता है और उधर किसी न किसी रोग बीमारी में लग जाता है, क्योंकि घर में जितने भी सदस्य हैं सब किसी न किसी बीमारी से पीड़ित हैं। जिसने भोग की बात तो दूर है, धर्मद्रव्य की ओर दृष्टिपात भी नहीं किया, परभव में वह जीव निरोगी देह पाता है। रोग भी उसके पास आने से डरते हैं। ऐसा पुण्यात्मा निरोगी काया को धारण करनेवाला जीव किसी रोगी को छू ले तो उसके छूने मात्र से रोगी का रोग शमन हो जाता है। वह ऐसी महान पुण्य ऋद्धियों को प्राप्त होता है।

जीवन्धर चरित्र (क्षत्रचूड़ामणि) में कथानक आता है–जीवन्धर कुमार के गुरु आर्यनंदी को मुनि अवस्था में भस्मक व्याधि रोग हो गया। रोग शमन हेतु उन्होंने भिक्षुक का भेष धारण कर लिया। एक दिन वह भिक्षु भूख से व्याकुल होकर भोजन के लिये दैवयोग से सेठ गन्धोत्कट के गृह पर पहुँचा। जीवन्धर कुमार ने उसे भूख से पीड़ित देख अपने रसोइये को आज्ञा दी कि भिक्षु को भरपेट भोजन कराओ। जब घर में बना हुआ सम्पूर्ण भोजन खाने के बाद भी भिक्षु की भूख शान्त नहीं हुई तो जीवन्धर कुमार ने अपनी भोजन की थाली से भिक्षु को भोजन दिया। जीवन्धर कुमार के हाथ से एक ग्रास भोजन लेते ही भिक्षु की भस्मक व्याधि तत्काल ठीक हो गई। ऐसा होता है पुण्यात्मा जीवों का प्रताप। उनके स्पर्श मात्र से ही जीवों के भयानक रोग भी शमन हो जाते हैं।

इसलिए कभी स्वप्न में भी धर्मद्रव्य के भोग का परिणाम नहीं करना। भगवन् कुंदकुंद स्वामी की देशना सुनकर भले ही आप बहुत बड़े व्रत न पाल पाओ लेकिन एक नियम अवश्य कर लेना कि मैं कभी भी धर्मद्रव्य का भोग न करूँगा, न कराऊँगा और न करते हुए की अनुमोदना करूँगा।

अतिशय इच्छा करता है, किन्तु न फल को वरता है।
इच्छित फल गर मिल जाये, किन्तु भोग बिन मरता है।।
धर्मद्रव्य भोगी, हो हो-2 व्याधि ही पाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2, संहिता दिखलाये रे।।

अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

❑❑❑

(धर्मद्रव्य के भोग का दुष्परिणाम)

गदहत्थपादणासिय-कण्णउरंगुलविहीणदिट्ठीए।
जो तिव्वदुक्खमूलो, पूयादाणादि दव्वहरो ।।35।।

*** अन्वयार्थ ***

(जो) जो **(पूयादाणादि दव्वहरो)** पूजा, दान आदि के द्रव्य का अपहरण करनेवाला है वह **(गदहत्थ-पाद-णासिय कण्णउरंगुल)** हाथ, पैर, नाक, कान, छाती और अंगुली से हीन **(विहीण दिट्ठीए)** दृष्टि विहीन और **(तिव्व दुक्खमूलो)** तीव्र दु:ख को प्राप्त होता है।

अर्थ–जो व्यक्ति पूजा, दान आदि के द्रव्य का अपहरण करनेवाला है वह हाथ-पैर-नाक-कान-छाती और अंगुली से हीन (विकलांग), दृष्टिहीन और तीव्र दु:ख का भागी होता है।

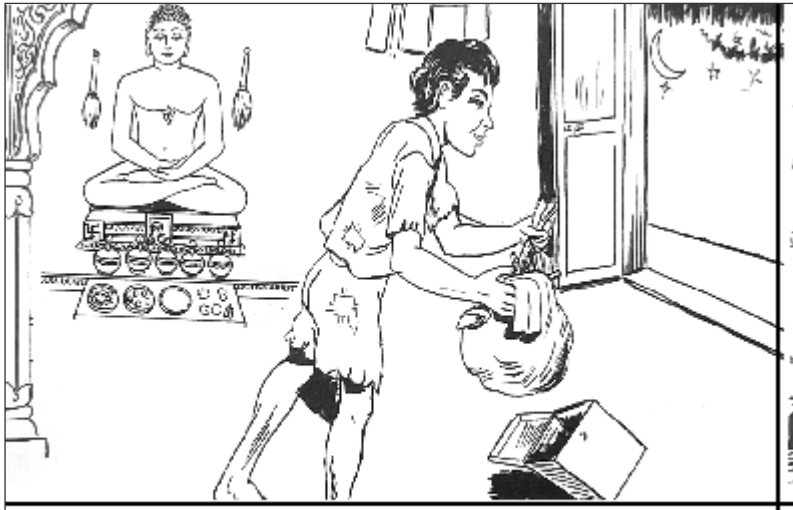
गाथा - 35

(प्रवचन)

●

मंदिर की दुकान
बाप की या पाप की।

11.10.2013
भिण्ड (म.प्र.)



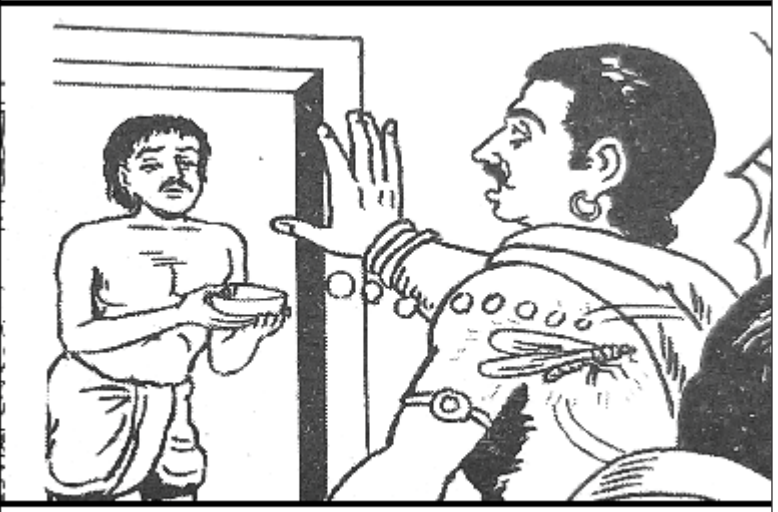
जिनालय से धर्मद्रव्य का अपहरण।



धर्मद्रव्य के भोग का फल-असाध्य रोग।



धर्मद्रव्य के भोग का फल-वक्रशरीर, दृष्टि हीनता, अंगोपांगहीनता।



धर्मद्रव्य के भोग का फल-दरिद्रता।

45

रयणोदय

पूजा दान द्रव्य हरता, अहो तीव्र दुःख को वरता।
नाक कान छाती अँगुली, दृष्टिहीन हुआ करता।।
हाथों पैरों से, हो-हो-2 विकलांग दिखाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2, संहिता दिखलाये रे।।

'**जयदु जिणागमपंथो**' अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

तीर्थंकर भगवंत की दिव्यध्वनि जिनश्रुत है, जिनागम है। जिनागम में वर्णित आत्मकल्याणकारी मार्ग, आत्महितकारी पंथ '**जिनागम पंथ**' है। परस्पर रागद्वेष को बढ़ानेवाले आगमबाह्य पंथ उन्मार्ग हैं। वीतरागता को देनेवाला '**परस्परोपग्रहो जीवानाम्**' का प्रतीक '**जिनागम पंथ**' सन्मार्ग है।

धर्मद्रव्य भोग के क्या कोई और भी दुष्परिणाम हैं? आचार्य भगवन् कुंदकुंद स्वामी गाथा पैंतीस में बताते हैं–

गदहत्थपादणासिय - कण्णउरंगुलविहीणदिट्ठीए।
जो तिव्वदुक्खमूलो पूयादाणादि दव्वहरो।।35।।

जिस जीवात्मा ने अज्ञानता के कारण पूजा और दान आदि द्रव्य का अपहरण किया है वह हाथ, पैर, नासिका, कान, उर यानि हृदय और अंगुलियाँ इनसे रहित होता है, हीन होता है।

अहो! ऐसी देह मिलती है जिस देह में किसी के हाथ नहीं, किसी के पैर नहीं। आजकल कई बार ऐसी संतानें पैदा होती हैं किसी के हाथ नहीं हैं, किसी के पैर नहीं हैं, किसी की गर्दन नहीं है, किसी के अंगुलियाँ नहीं हैं, किसी के आँख नहीं हैं, कोई कान से हीन हैं। अक्सर ऐसे प्रसंग देखने और सुनने को मिल जाते हैं। कदाचित् सम्पूर्ण अवयवों से युक्त देह भी मिल गई तो ऐसी कोई दुर्घटना घट जाती है जिसमें हाथ, पैर, आँख, कान, नाक, अंगुली आदि अवयव नाश को प्राप्त हो जाते हैं।

कौन चाहता है कि हमारे शरीर के अवयव इसतरह से नष्ट हों? कोई नहीं चाहता। लेकिन न चाहते हुए भी ऐसा दुष्फल प्राप्त होता है।

आचार्य आगे कहते हैं–**'विहीणदिट्ठीए'** दृष्टिहीन होता है। क्या कारण है? कभी न कभी उसकी दृष्टि पूजा और दान के द्रव्य पर अन्यथा हुई होगी, इसलिए आज दृष्टिहीन हुआ है। ध्यान रखना, धर्मद्रव्य दृष्टि में आना अलग बात है और भोग की भावना से दृष्टि में आना अलग बात है।

किसी जिनालय में वेदिका पर सोने का काम हो रहा था। मंदिर निर्माण समिति ने निवेदन किया, कि जो भी महानुभाव इस कार्य में स्वर्ण का दान करना चाहें तो कर सकते हैं। कर्तव्यबोध से भरे भव्यजीवों में से किसी ने अपने हाथ की अँगूठी, किसी ने अपने कान का आभूषण, किसी ने हाथ का कंगन उस शुभ कार्य में समर्पित कर दिया और कुछ अज्ञानियों ने उस दान के द्रव्य को अपने भोग में लगा लिया।

एक बार सुनने में आया था, किसी स्थान पर मंदिर जी में स्वर्ण कार्य हेतु दान के लिए निवेदन किया गया। सभा में दान की भावना रखनेवाले अनेक धर्मात्मा जीव विराज रहे थे, उनमें एक महिला ने सोचा कि ऐसा श्रेष्ठ शुभकार्य सम्पन्न हो रहा है तो क्यों न थोड़ा सा पुण्य मैं भी अर्जित कर लूँ, थोड़ा सा दान मैं भी कर दूँ। उसने अपने हाथ से स्वर्ण का एक कंगन

निकालकर दानपात्र में डाल दिया। वह बेचारी दान की भावना से कंगन डाल तो आई, लेकिन जैसे ही घर आकर बताया तो घरवालों ने डाँट-फटकार लगाई। वह उल्टे पैर भागती-भागती मंदिर आई। बोली—मैंने अभी जो कंगन दानपात्र में डाला था, मेरा वह कंगन आप मुझे वापिस दे दीजिये, मेरे घरवाले बहुत नाराज हो रहे हैं। बाद में जब उस दान की पोटली को खोलकर देखा गया तो उसमें वो कंगन ही नहीं था। कहाँ चला गया कंगन? जब वो महिला अभी-अभी डालकर गई है तो गया कहाँ? अहो! किसी की मति, कुमति अवश्य हुई है, किसी अज्ञानी के उस दान की वस्तु पर भोग के परिणाम हुये हैं और उसने उसको निकाल करके कहीं न कहीं अपने उपभोग के लिये ले लिया है। बाद में काफी चर्चा होती रही, लेकिन जो वस्तु गई सो गई।

कहने का तात्पर्य यह है कि व्यक्ति दान आदि के द्रव्य को स्वीकार करते समय तो बड़ा प्रसन्न होता है लेकिन जब उसका दुष्परिणाम सामने आता है, जब वह कर्म उदय में आता है तब पता चलता है। अहो! कोई हाथ से हीन है, कोई पैर से रहित है, कोई नासिका से हीन है तो कोई अंगुलियों से हीन है। जब ऐसी विकलांग देह मिलती है उस समय कैसा लगता है, कितना दुःख और मानसिक पीड़ा होती है, सोचता है मैं सर्वांग सुन्दर क्यों नहीं हुआ?

ध्यान रखो, व्यवहार धर्म का पालन निर्लोभ भाव से करना, धर्मभावना से करना अन्यथा ऐसी ही खोटी और हीन अवस्था को प्राप्त होना पड़ेगा। अगर अपनी दुर्गति से भय लगता हो तो कभी अपने मन में धर्मद्रव्य को भोगने का विचार स्वप्न में भी मत आने देना।

माँ जिनवाणी तुम्हें शिक्षा दे सकती है, ज्ञान करा सकती है, धर्ममार्ग तक पहुँचा सकती है, लेकिन आत्मा में धर्मभाव तुम्हें ही पैदा करना पड़ेगा। धर्मभाव क्या है? कदाचित् किसी से लोभवश अज्ञानता में खोटा कृत्य हो गया, बाद में उसे अपराध बोध हुआ। सोचने लगा, धिक्कार है मेरे लिए, मैंने ये क्या कर लिया? कभी किसी ने अर्हंत भगवान् के जिनबिम्ब पर विशुद्ध भावों से सोने का छत्र चढ़वाया और किसी के मन में उस छत्र को चुराने के भाव हो गये। कदाचित् ऐसे अशुभ परिणाम आत्मा में आ गये तो अपनी आत्मा को धिक्कारना। अहो! ये अशुभ पापरूप परिणाम मेरी आत्मा में क्यों आ गया? ध्यान रखना, वह जो तुम्हारा भाव तुम्हें धिक्कार रहा है उसी का नाम धर्मभाव है। जब ऐसा धर्मभाव आत्मा में आता है तो आत्मा भीतर से धिक्कारती है।

विचार करना, चिन्तन करना, सोचना, कि हमने कितनी बार धर्मद्रव्य का उपभोग किया है। आचार्य भगवन् कहते हैं—जो इसतरह से धर्मद्रव्य के भोग का परिणाम मन में लाता है, भोग करता है अथवा भोग कराता है वह अनेक प्रकार के तीव्र दु:खों का पात्र होता है।

'तिव्वदुक्खमूलो' वह तीव्र दु:खों के मूल को प्राप्त होता है अर्थात् उसको कदम-कदम पर दु:ख ही दु:ख, कष्ट ही कष्ट प्राप्त होते हैं। चाहते हुए भी उसके जीवन में कभी सुख की प्राप्ति नहीं हो पाती। कौन चाहता है कि हमारे जीवन में हमेशा दु:ख ही दु:ख बना रहे, कभी सुख का उदय ही न हो? इस संसार में दु:खों को कोई नहीं चाहता। सभी चाहते हैं कि हम भी अतीन्द्रिय सुख का अनुभव करें । लेकिन जब तक कोई व्यवहार धर्म के योग्य न हो, तब तक निश्चय धर्म के योग्य कैसे हो सकता है? शुद्ध आत्मा की अनुभूति निर्लोभस्वभावी जीवों को ही होती है। लोभी जीव आत्मधर्म को प्राप्त नहीं कर सकता।

निश्चयधर्म को वे ही प्राप्त कर पाते हैं जो व्यवहार में रहते हुए भी व्यवहार जगत की इच्छा नहीं करते। जहाँ व्यवहार जगत की भी इच्छा नहीं है वहाँ धर्मद्रव्य के भोग का परिणाम कैसे हो सकता है? ध्यान रखना, इस दुनिया में ऐसे बड़े-बड़े ज्ञानी जीव हैं जिन्हें शाब्दिक ज्ञान तो बहुत है लेकिन उनके आचरण पर दृष्टिपात किया जाये तो उनके आचरण में धर्मद्रव्य के भोग की दृष्टि नजर आती है। मंदिर जी का शास्त्र पढ़ना लेकिन मंदिर के शास्त्र को घर का शास्त्र मत बना लेना। ये शास्त्र मेरा है, ये तुमने कैसे ले लिया? अरे भाई ! शास्त्र अध्ययन करने के लिए था, अपना बनाने या लड़ने-झगड़ने के लिए नहीं था। मंदिर में शास्त्र सबको पढ़ने के लिए है ज्ञान करने के लिए है। आपने उसे अपने घर ले जाकर अपना बना लिया। यह सोचकर कि जो मंदिर का सो अपना।

मंदिर की कोई भी वस्तु अपने उपभोग में लेना महापाप है। मंदिर की दुकान किराये पर मिल जाये तो उसे अपनी मानकर मत बैठ जाना। ऐसा मत सोचना कि मंदिर की दुकान अपनी और अपने बाप की। अगर मंदिर की सम्पत्ति अपनी और अपने बाप की समझ ली तो वो तुम्हारे बाप की नहीं, पाप की है क्योंकि लोभ पाप का बाप है। समाज में कदाचित् कोई व्यक्ति गरीब है उसे दुकान की आवश्यकता है तो अवश्य ले, लेकिन आवश्यकता के लिए लेकर उसे अपना बना लिया तो मति, कुमति हो गई। अगर मंदिर की वस्तु का उपयोग करो तो उसका

उचित किराया अवश्य देना। ये कभी मत सोचना कि ये तो अपना है। विचार करना, वह दान का द्रव्य है। बहुत सारे लोग दान के द्रव्य को अपने व्यापार में लगा देते हैं और उस धन का ब्याज कितना देते हैं? बहुत कम देते हैं। पहले लोग मंदिरों की व्यवस्था के लिए खेत और बगीचे दान कर दिया करते थे। उन बाग और खेतों का अज्ञानी लोग उपभोग करने लगे। उसमें खेती हुई तो अपनी, कोई अन्य आय हुई तो अपनी, आदि। अगर किसी ने कदाचित् अज्ञानता में इनका उपभोग किया तो आचार्य कहते हैं—जीवन में उसे तीव्र दु:खों को भोगना पड़ता है। इसलिए धर्मद्रव्य के भोगने की अपनी मति मत करना। सदैव यही भावना रखना कि हे भगवन्! अगर मैं दान नहीं कर सकता, तो कभी दान के द्रव्य को ग्रहण करने की भावना न रखूँ। यह संकल्प आत्मा में होना ही चाहिए, अन्यथा कोई कितनी भी इच्छा करता रहे पर कभी भी इच्छित फल की प्राप्ति होनेवाली नहीं है। धर्मद्रव्य भोग के दुष्परिणामों को जानकर अपनी बुद्धि दान में लगाना, लेकिन कभी दान के द्रव्य को भोगने के खोटे परिणाम अपने अंदर मत आने देना।

पूजा दान द्रव्य हरता, अहो तीव्र दु:ख को वरता।
नाक कान छाती अँगुली, दृष्टिहीन हुआ करता।।
हाथों पैरों से, हो-हो-2 विकलांग दिखाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2, संहिता दिखलाये रे।।35।।

अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

❑❑❑

पात्र नवधा भक्ति : एक अनुचिंतन

श्रमणाचार्य विमर्शसागर

उत्तम कुल-बुद्धि-लक्षण, उत्तम-शिक्षा उत्तम-गुण।
उत्तम रूप-स्वभाव-चरित, सुख-अनुभव वैभव-चिंतन।।
सत्पात्र दानी, हो-हो-2, सब ही फल पाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2, संहिता दिखलाये रे।।

'जयदु जिणागम पंथो' अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

तीर्थंकर भगवंत की दिव्यध्वनि जिनश्रुत है जिनागम है। जिनागम में वर्णित आत्मकल्याणकारी मार्ग, आत्महितकारी पंथ 'जिनागम पंथ' है। परस्पर रागद्वेष को बढ़ाने वाले आगम बाह्य पंथ उन्मार्ग हैं। वीतरागता को देने वाला, 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' का प्रतीक 'जिनागम पंथ' सन्मार्ग है।

हम सभी आचार्य भगवन् कुन्दकुन्द देव द्वारा विरचित 'श्री रयणसार जी ग्रंथ' के माध्यम से मानव जीवन में कौन-कौन से कर्त्तव्य करने योग्य हैं जिससे यह मानव पर्याय सार्थक हो सके उसकी शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं।

बन्धुओं! जिनवाणी वही सुन पाता है जो निकट भव्य होता है। यदि कोई दूरान्दूर भव्य हो उसे जिनवाणी सुनने को नहीं मिल पाती। हमारी भवितव्यता होनहार ऐसी है कि आज इस पंचमकाल में भी हमें अरिहंत देव की वाणी श्रवण करने को मिल रही है। यदि हम जिनवाणी का श्रवण करके अपने जीवन को समझ सके। अपने आचरण को समझ सके। अपने कर्त्तव्य के प्रति समर्पित हो सके, तो निश्चित रूप से इस पंचमकाल में भी हमारे लिए साक्षात् आत्महित का मार्ग प्राप्त हो सकता है।

जब कभी हम किसी महान् व्यक्तित्व को, किसी आदर्श पुरुष को देखते हैं तो मन में ऐसा भाव आता है कि हम भी ऐसे बन पाते तो कितना अच्छा होता। जिनशासन में उत्तम, मध्यम और जघन्य तीन प्रकार के सुपात्र कहे गये हैं। मुनिराज, आर्यिका, ऐलक, क्षुल्लक, व्रती, सम्यग्दृष्टि श्रावक इन्हें सुपात्र माना गया है जो ऐसे सुपात्रों के प्रति आत्मा में नवधाभक्ति पूर्वक दान का भाव रखते हैं शुद्ध हृदयपूर्वक अनुकूल योग्य आहारदान आदि देते हैं आचार्य भगवन् कुन्दकुन्द देव कहते हैं कि ऐसा कौनसा सुख है जो उन्हें प्राप्त नहीं होता है।

यहाँ कोई प्रश्न करे - उत्तम, मध्यम, जघन्य पात्र की नवधाभक्ति करना चाहिए, ऐसा कोई आगम प्रमाण है क्या?

प्रथम शताब्दी के आचार्य श्री कार्तिकेय स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रंथ के धर्मानुप्रेक्षा अधिकार में कहते हैं-

तिविहे पत्तम्हि सया सद्धाइ-गुणेहि संजुदो णाणी।
दाणं जो देदि सयं णव-दाण-विहीहि संजुत्तो।।360।।

सिक्खावयं च तिदियं तस्स हवे सव्व-सिद्धि-सोक्खयरं।
दाणं चउव्विहं पि य सव्वे दाणाण सारयरं।।361।।

अर्थात् श्रद्धा आदि गुणों से युक्त जो ज्ञानी श्रावक सदा तीन प्रकार के पात्रों को दान की नौ विधियों के साथ स्वयं दान देता है, उसके तीसरा शिक्षाव्रत होता है। यह चार प्रकार का दान सब दानों में श्रेष्ठ है और सब सुखों का तथा सिद्धियों का करने वाला है।

ऐसा ही ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी के आचार्य श्री वसुनन्दि स्वामी ने भी वसुनन्दि श्रावकाचार में कहा है-

असणं पाणं खाइमं साइयमिदि चउविहो वराहारो।
पुव्वुत्त-णव-विहाणेहिं तिविह-पत्तस्स दायव्वो।।234।।

अर्थात् अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य ये चार प्रकार का श्रेष्ठ आहार पूर्वोक्त नवधा भक्ति से तीन प्रकार के पात्रों को देना चाहिए।

(शेष पृष्ठ नं. 144 पर)

(धर्मकार्यों में विघ्न करने का फल)

खयकुट्ठमूलसूलो, लूयभयंदरजलोयरक्खिसिरो।
सीदुण्ह वाहिरादी, पूया-दाणंतराय-कम्मफलं।।36।।

*** अन्वयार्थ ***

(**खय कुट्ठ मूल-सूलो**) क्षय, कुष्ठ, मूल, शूल (**लूय**) लूता-एक वायु रोग अथवा मकड़ी का फरना (**भयंदर**) भगंदर (**जलोयरक्खि सिरो**) जलोदर-रोग, नेत्ररोग, सिर के रोग, (**सीदुण्ह वाहिरादि**) शीत से, ऊष्णता से, शीतोष्ण से होनेवाली सन्निपात आदि व्याधियाँ ये सब (**पूया दाणंतराय कम्मफलं**) पूजा-दानादि धर्मकार्यों में किये गये अंतराय कर्म का फल है।

अर्थ–क्षय, कुष्ठ, मूल, शूल, लूता (एक वातिक रोग अथवा मकड़ी का फरना) भगंदर, जलोदर, नेत्र रोग, सिर के रोग, शीतोष्ण से होनेवाली सन्निपात आदि व्याधियाँ ये सब पूजा एवं दान आदि धार्मिक कार्यों में अन्तराय डालने के कर्मफल हैं।

गाथा - 36

(प्रवचन)

●

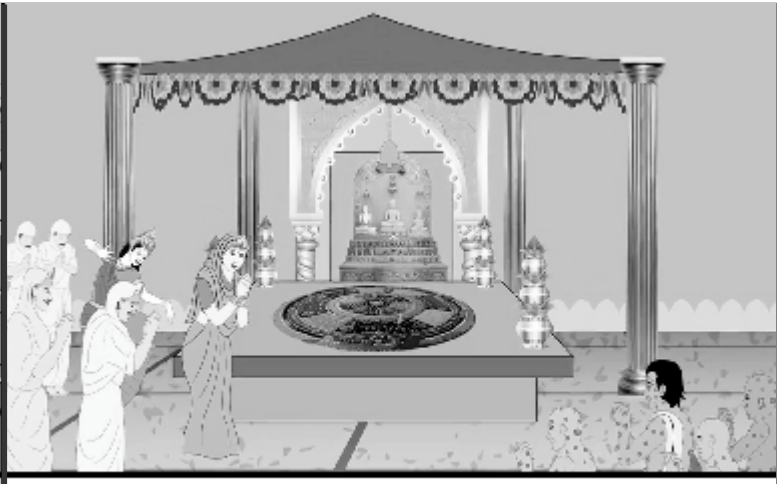
धर्मकार्य में विघ्न से असाध्य रोग

12.10.2013

भिण्ड (म.प्र.)



मैनासुंदरी का कुष्ठ श्रीपाल के साथ विवाह।



मुनिराज के उपदेश से मैनासुंदरी द्वारा सिद्धचक्र आराधना



मैनासुन्दरी सिद्धचक्र विधान कर श्रीपाल आदि कुष्ठियों पर गंधोदक का सिंचन करते हुए।



गंधोदक छिडकते ही श्रीपाल आदि 700 वीरों का कुष्ठ ठीक हुआ।

46

रयणोदय

पूजा दान नहीं करता, निज कल्याण नहीं करता।
धर्मकार्य में विघ्न सदा, करने का ही मन करता।।
वह मानव रोगों, हो-हो-2 का घर बन जाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2, संहिता दिखलाये रे।।

'**जयदु जिणागमपंथो**' अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

तीर्थंकर भगवंत की दिव्यध्वनि जिनश्रुत है, जिनागम है। जिनागम में वर्णित आत्मकल्याणकारी मार्ग, आत्महितकारी पंथ '**जिनागम पंथ**' है। परस्पर रागद्वेष को बढ़ानेवाले आगमबाह्य पंथ उन्मार्ग हैं। वीतरागता को देनेवाला, '**परस्परोपग्रहो जीवानाम्**' का प्रतीक '**जिनागम पंथ**' सन्मार्ग है।

सुख आत्मा का स्वभाव है। सुख की अनुभूति दो प्रकार से होती है—एक आत्मा के आश्रय से और दूसरी पुण्य के उदय से। आत्मा के आश्रय से प्राप्त सुख आत्मा को परमात्मा बना देता है। पुण्य के उदय से प्राप्त सुख या तो पाप में धकेल देता है या फिर जीव को मदहोश कर देता है।

कोई व्यक्ति यदि सुख-साधन सम्पन्न हो तो वह चैन से सोता है और विघ्न बाधायें हों तो नींद नहीं आती। सुख साधन, भोग सामग्री जीव को पुण्य से प्राप्त होती है।

पुण्य जीव को संसार सुखों में आसक्त करता है, अंतरंग में पदार्थों की आसक्ति पैदा करता है और अज्ञानी जीव इस पुण्य की आसक्ति में परमार्थ को भूल जाता है।

दुनिया में दो तरह के लोग होते हैं—एक वो जो भोजन चाहते हैं, भोजन से अर्थात् भोगों से सुखी होना चाहते हैं, भोगों को सुख का साधन मानते हैं। दूसरे वो जो पहले भोजन नहीं अपितु भगवान् की पूजन करते हैं, दान करते हैं, इन लोगों को धर्मपालन में, कर्तव्यपालन में आत्महित नजर आता है।

अज्ञानी पुण्योदय में सुखों को भोगना चाहता है लेकिन आत्महितकारी परमात्मा की आराधना नहीं करना चाहता। सारा जगत् पुण्योदय से प्राप्त सुख को ही भोगने में लीन है। पुण्योदय से प्राप्त सुखभोग नियम से पापबंध का कारण है। एक व्यक्ति पुण्य के उदय में टी.वी. देख रहा है। इन्द्रियाँ अनुकूल हैं, इसका अर्थ है कि पुण्य का उदय है। टी.वी. देखता हुआ व्यक्ति जैसे-जैसे दृश्य देखता है उन दृश्यों के अनुसार अपने हिंसादि भाव करके पाप का बंध करता रहता है। उस समय वह किसी की हिंसा नहीं कर रहा है लेकिन टी.वी. को देख-देखकर पापरूप भाव कर-करके निरंतर पापकर्म का बंध करता रहता है।

एक गृहस्थ धनार्जन के लिये व्यापार करता है, उस व्यापार से निरंतर पापार्जन करता है। व्यापार के बिना परिवार का संचालन नहीं किया जा सकता। व्यापार करना उसकी मजबूरी है, लेकिन टी.वी. आदि देखकर जो आर्तरौद्र परिणामों से पापबंध होता है उससे जरूर बचा जा सकता है। अपने जीवन को अच्छा बनाने के लिए पुण्योदय में धर्मकार्य करना चाहिए। जितने समय तक आप धर्मकार्य में लगे रहते हो, उतने समय तक आप भोगों से बच जाते हो। भोगों को भोगने से कभी तृप्ति नहीं होती। अज्ञानी भोगों से तृप्ति का अनुभव करना चाहता है, ज्ञानी जीव भोगों को भोगकर तृप्त होने की मानसिकता नहीं रखता, वह भोगों के त्याग से तृप्ति का अनुभव करता है।

कोई व्यक्ति जब किसी क्षेत्र में असफल होता है तो उसके साथ पूरा परिवार दुःखी होता है। असफलता क्यों मिली? पुण्योदय नहीं है। पुण्योदय होने पर सफलतायें खुद आकर कदम

चूमती हैं और जब पापोदय होता है तो हाथ में आई हुई सफलतायें भी असफलता में बदल जाती हैं।

जब कोई जीव धर्मकार्यों में विघ्न डालता है तब उसका क्या दुष्परिणाम होता है? आचार्य भगवन् कुंदकुंदस्वामी बतला रहे हैं–

खयकुट्ठमूलसूलो, लूयभयंदरजलोयरक्खिसिरो।
सीदुण्ह वाहिरादी पूया-दाणंतराय कम्मफलं।।36।।

अर्थात् क्षयरोग, कुष्ठरोग, मूलरोग, शूलरोग, लूतारोग, भगंदर रोग, जलोदर रोग, नेत्ररोग, सिरोरोग, शीतरोग, पित्तरोग, शीतोष्ण से होनेवाला सन्निपात आदि रोग ये सब व्याधियाँ पूजा-दान आदि धर्मकार्यों में किये गये अंतराय का फल हैं।

संसार में हर जीव सुखी और निरोगी रहने की कामना करता है, लेकिन सुखी और निरोगी होने के उपाय नहीं करता। अगर स्वस्थ रहना चाहते हो तो दान, पूजा अवश्य करना चाहिये। कोई कहे–जब दान, पूजा से ही स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है तो फिर लोक में पुजारीगण भी बीमार क्यों देखे जाते हैं?

भगवान् अर्हंत की वाणी अकाट्य है। आज कोई पूजा कर रहा है उसका फल समय आने पर उसे अवश्य प्राप्त होगा, लेकिन अतीत में किसी पूजादि धर्मकार्य में विघ्न करके जो पापबंध किया है उसका फल उसे अवश्य भोगना पड़ेगा। अगर आज शरीर में रोग उत्पन्न हो रहे हैं तो ये उसके अतीत के पापकर्म का ही फल है। भगवान् की पूजा करनेवालों को कामदेव जैसी सुंदर देह मिलती है। जीव अशुभ कर्मों को हँसते-हँसते बाँध तो लेता है लेकिन जब विपाक आता है तो दु:खी होता है, रोता है। अरे भाई! अब रोने से क्या होगा, जो कर्म किया है उसका फल तो अवश्य ही भोगना पड़ेगा।

जिन धर्मनिमित्तों से परिणाम निर्मल हो सकते हैं कभी-कभी उन निमित्तों के माध्यम से अज्ञानी जीव अनेक खोटे कर्मों का बंध कर लेते हैं। ध्यान रखना, धर्म क्षेत्र में किया गया पाप कटता नहीं है उसका फल अवश्य ही भोगना पड़ता है।

अन्यक्षेत्रे कृतं पापं धर्मक्षेत्रे विनश्यति।
धर्मक्षेत्रे कृतं पापं वज्रलेपो भविष्यति।।

अन्य क्षेत्रों में किया गया पाप, धर्मक्षेत्र में आकर नष्ट किया जा सकता है लेकिन धर्मक्षेत्र में किया गया पाप भविष्य के लिये वज्रलेप के समान हो जाता है उसे भोगना ही पड़ता है।

याद करो कोटीभट श्रीपाल को, जिसने पूर्व पर्याय में मुनिराज की निंदा की थी, निर्ग्रंथ तपोधन को कुष्ठी कहा था। आगामी पर्याय में भले ही वो सम्राट हुआ लेकिन धर्मक्षेत्र में किया गया पाप उसे भोगना ही पड़ा। मुनिराज को उस अज्ञानी जीव ने कुष्ठी कह दिया। लेकिन धन्य हैं वे निर्ग्रंथ योगी, समता ही जिनका धन है, उन्होंने समता से सहन कर लिया। निर्ग्रंथ साधक निरंतर सब जीवों के कल्याण की भावना करते हैं। उस अज्ञानी को सिर्फ कुष्ठी कहने से ही संतुष्टी नहीं मिली अपितु कषाय इतनी वृद्धि को प्राप्त हुई, अंतरंग की परिणति इतनी मलिन हुई कि उसने मुनिराज को उठाकर पानी में फेंक दिया। पुनः कषाय कुछ मंद होने पर अपनी गलती का अहसास हुआ और मुनिराज को पानी से बाहर निकाल दिया। मुनिराज को पानी से बाहर तो निकाल दिया, लेकिन जो कर्म आत्मा में बँध गया, उसे कैसे बाहर निकालता? उस समय जो कर्म बँध गया, उसे भोगना ही पड़ा। मुनिराज को कुष्ठी कहा था जब वो कर्म उदय में आया तो श्रीपाल को पूरे शरीर में कुष्ठ हो गया। सिर्फ श्रीपाल को ही नहीं उसके इस कृत्य की जिनने अनुमोदना की थी उन सात सौ साथियों को भी अनुमोदना के प्रभाव से कुष्ठ हुआ।

ध्यान रखना, जीवन में न कभी अशुभ कर्म करना, न कराना और न अशुभ कार्य की अनुमोदना करना। अशुभ कार्य की अनुमोदना भी आत्मा के लिये अहितकारी है। कषायाविष्ट होकर मुनिराज को पानी में फेंका था। वह कर्म जब उदय में आया तो श्रीपाल को भी पानी में गिरना पड़ा। बाद में फिर कषाय की मंदता में मुनिराज को पानी से निकाला था, सो जब वह कर्म उदय में आया तो श्रीपाल को समुद्र में गिरने के बाद भी एक लकड़ी का टुकड़ा मिल गया, जिसके सहारे उसने समुद्र को भी पार कर लिया।

कर्म की अदालत में अन्याय नहीं होता। जीव जैसा कर्म करेगा उसका फल उसे ही भोगना पड़ेगा। किसी का किया हुआ कर्म कोई और नहीं भोग सकता।

आचार्य भगवन् अमितगति स्वामी सामायिक पाठ में कहते हैं–

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा, फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा।।30।।

मैंने पद्यानुवाद किया था–

पुराकाल में किये शुभाशुभ कर्म आत्मा ने जैसे।
यहाँ इस समय हुये उसी को प्राप्त शुभाशुभ फल वैसे।।
परकृत कर्म और उसका फल अन्य जीव को हो जावे।
तब तो स्वयं किये कर्मों की सर्व सफलता खो जावे।।30।।

अगर आप अशुभ कर्मों के फल अर्थात् असाध्य रोगादि से बचना चाहते हैं तो आपको भगवान् की भक्ति अवश्य करते रहना चाहिये। परमात्मा की भक्ति वह परम औषधि है जिसके द्वारा संसार के समस्त रोग शमन हो जाते हैं।

आचार्य भगवन् वादिराज स्वामी जंगल में साधना करते थे। असाता कर्मोदय से शरीर में कुष्ठ रोग हो गया। आचार्य वादिराज स्वामी की संपूर्ण देह कुष्ठाविष्ट हो गई। किसी जिनधर्म द्वेषी ने सम्राट से कह दिया–जैनमुनि की देह मलिन हुआ करती है। उस समय वहाँ उपस्थित एक जैनधर्म के अनुयायी मंत्री ने सभा में घोषित कर दिया–आपने गलत सुना है, निर्ग्रंथ मुनिराजों की देह तो उनकी तप-साधना के प्रभाव से स्वर्ण सी चमकती है। मंत्री ने सभा में कह तो दिया, लेकिन वो जानता था कि वादिराज मुनिराज के शरीर में असाता कर्मोदय से कुष्ठ रोग हुआ है। मंत्री मुनिराज के चरणों में पहुँचा और निवेदन करने लगा–भगवन्! कल सम्राट आपके दर्शन को आनेवाला है। मैंने उससे कहा है कि मुनिराज की देह स्वर्ण सी चमकती है, लेकिन भगवन् आपकी देह में कुष्ठ रोग है, कहीं आपको देखकर सम्राट जिनधर्म का विरोधी न हो जाये? वादिराज स्वामी महान तपस्वी निस्पृह साधक थे। उन्होंने कह दिया–भो मंत्री! जाओ और कल सम्राट को लेकर आना। आचार्य वादिराज स्वामी भगवान् आदिनाथ की आराधना में लीन हो गये। इतने डूब गये भक्ति में कि एकीभाव स्तोत्र का सृजन हो गया। भक्ति करते हुए आचार्य भगवन् कहते हैं–

प्रागेवेह त्रिदिव भवनादेष्यता भव्य पुण्यात्,
पृथ्वी चक्रं कनकमयतां देव! निन्ये त्वयेदम्।
ध्यानद्वारं मम रुचिकरं स्वांत गेहं प्रविष्टः,
तत्किं चित्रं जिन! वपुरिदं यत्सुवर्णी करोषि।।4।।

हे देव! पुण्योदय हुआ जब भव्यजनों का,
सुरलोक से तब आगमन हुआ जो आपका।
छह माह पूर्व जन्म की आई विशेषता,
सम्पूर्ण धरा पा गई कंचन सुरूपता।।

हे नाथ! ध्यान द्वार से तुमको बुला रहा,
भक्ति से अपने मन में तुम्हें ही बसा रहा।
तो नाथ इसमें आश्चर्य की है बात क्या?
हो आगमन से आपके तन भी सुवर्ण सा।।4।।

हे भगवन्! आप जब माता के गर्भ में आये थे तो माता की देह स्वर्णमय हो गई थी। हे भगवन्! मैंने भी आपको अपने हृदयासन पर बिठाया है, आप जब मेरे हृदय पर विराजे हो तो क्या मेरी देह कुंदन नहीं होगी? अवश्य होगी।

अहो! भक्ति का अमृत उनके रोम-रोम से झरने लगा और देखते ही देखते आचार्य वादिराज स्वामी की कुष्ठाविष्ट देह स्वर्ण सी दमकने लगी। सम्राट जब दर्शन करने आया तो देखकर आश्चर्यचकित हो गया। सम्राट अपलक निहारता रहा, अहो! ऐसी देहकान्ति जैसे स्वर्णमय प्रतिमा ही विराजी हो। सम्राट चरणों में झुक गया। सोचने लगा—मैंने जो सुना था वो सही था या जो आँखों से देख रहा हूँ ये सही है। वादिराज मुनिराज विशिष्ट ज्ञानी मुनिराज थे। कहने लगे- भो सम्राट! तुमने जो सुना था वो भी सच था और जो देख रहे हो वह भी सच है। भो सम्राट! इस देह में पहले कुष्ठ रोग था, देखो इस अंगुली में थोड़ा सा रोग मैंने बचाकर रखा है। सम्राट श्रद्धा से नतमस्तक हो गया। रोग आज भी ठीक हो सकते हैं बस चाहिये सच्ची श्रद्धा। जिन्हें पुण्ययोग में भोग दिखाई देते हैं वो दुर्गति को प्राप्त हो जाते हैं और जो पुण्ययोग में भोग को तुच्छ समझकर धर्म के सन्मुख हो जाते हैं वो आत्मसुख को उपलब्ध हो जाते हैं। दुनिया में सर्वश्रेष्ठ अगर कोई वस्तु है तो वह धर्म है—

धर्म ही सच्चा साथी है जैसे दीपक बाती है,
छूटे न धर्म शरण, ओ आत्मा-2

ये दुनिया एक सपना है यहाँ न कोई अपना है,
छूटे न धर्म शरण, ओ आत्मा-2 (गीताञ्जलि)

जीवन में दो प्रकार के सुख प्रत्येक जीव भोग सकता है। एक आत्माश्रित सुख और दूसरा पुण्याश्रित सुख। पुण्योदय में भोगा गया सांसारिक सुख पाप का बीज है और आत्माश्रित सुख शाश्वत सुख का कारण है। ध्यान रखना, कभी धर्म और पुण्य के कार्यों में विघ्न मत डालना। धर्मकार्य में विघ्न डालनेवाला परभव तो दूर की बात है इसी भव में दुर्दशा को प्राप्त हो जाता है। जो पुण्य को भोगता है वह अंत में रो-रोकर मरता है और जो पुण्योदय में धर्म का साधन कर लेता है वह समाधि को उपलब्ध हो जाता है।

अगर अपने आप को दु:खों से बचाने की भावना है तो आज से ही संकल्प कर लेना कि जीवन में कैसी भी परिस्थिति क्यों न आ जाये लेकिन मैं कभी धर्मकार्य में विघ्न नहीं करूँगा।

कोई-कोई धर्म करे, कोई बाधा विघ्न करे।
अशुभ कर्म के बंधन से, चारों गति में भ्रमण करे।।
भोगी बनकर वह, हो-हो-2, कभी शान्ति न पाये रे...
जीवन है पानी की बूँद, कब मिट जाये रे।
होनी-अनहोनी, हो-हो-2, कब क्या घट जाये रे।।

इस दुनिया में जन्म मिलना सरल है लेकिन धर्म मिलना पुरुषार्थ साध्य है। जन्म सभी लेते हैं लेकिन धर्म को प्रगट करने के लिये, धर्म की ओर मन को मोड़ने के लिये पुरुषार्थ करना पड़ता है। कुसंस्कार सिखाना नहीं पड़ते लेकिन सदाचरण सिखाना पड़ता है। खेत में फसल अपने आप नहीं आती फसल उगाने के लिए मेहनत करना पड़ती है जबकि खरपतवार अपने आप उग जाती है। भूमि को खराब करनेवाली खरपतवार तो अपने आप उग आती है लेकिन भूमि को उपजाऊ बनाने के लिए पुरुषार्थ करना पड़ता है। आत्मा में सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति हो इसके लिए सतत् प्रयास करना चाहिए।

भगवान् की वाणी को सुनकर कुछ लोग सुलट जाते हैं, कुछ लोग उलट जाते हैं और कुछ

लोग उलझ जाते हैं। कुछ लोग अहंकार को छोड़कर भगवान् की वाणी सुनते हैं और कुछ लोग भगवान् की वाणी सुनकर अहंकारी हो जाते हैं।

पानी की तीन अवस्थायें होती हैं—द्रव, ठोस और गैस। जब पानी अपनी द्रवणशीलता को छोड़कर बर्फ बन जाता है, ठोस हो जाता है तब उसमें बहने की शक्ति नहीं रहती। उस बर्फ को अगर पानी में भी डाल दिया जाये तो भी वह बर्फ का टुकड़ा उस पानी की सतह पर ऊपर ही तैरता रहता है, ऐसे ही अज्ञानी जीव धर्मक्षेत्र में भी आकर धर्ममय नहीं हो पाते।

मारीचि भगवान् आदिनाथ के समोशरण में बैठा हुआ था। भगवान् की वाणी सुनकर अहंकारी हो गया और समोशरण से बाहर निकल गया।

ध्यान रखना, जिस व्यक्ति के अंदर गर्व आ जाता है उसके धर्मकार्य में उसी समय विघ्न आ जाता है। धर्मकार्य कर पाना पुण्यात्मा जीवों का पुरुषार्थ है।

एक व्यक्ति दुकान पर बैठकर 5000 रूपये कमानेवाला है और दूसरा व्यक्ति भगवान् के जिनालय में जाकर भगवान् की आराधना करता है, दोनों में पुण्यात्मा कौन है? जो भगवान् की पूजा कर रहा है वही पुण्यात्मा है क्योंकि पूजा करने के लिए सातिशय पुण्य चाहिये और धन कमाने के लिए तो निरतिशय पुण्य ही काफी है।

पुण्य दो प्रकार का है—एक सातिशय पुण्य और दूसरा निरतिशय पुण्य। सातिशय पुण्य जीव को धर्म में लगाता है और निरतिशय पुण्य उसे धर्म से दूर ले जाता है। इसलिए अगर पुण्य का उदय है तो उस पुण्य को पुण्य की वृद्धि में लगाना। कहीं पुण्य, पाप के अर्जन का साधन न बन जाये। पुण्य अगर धर्मकार्य में लगाओगे तो सातिशय पुण्य का अर्जन होगा और यदि पुण्य को धर्मकार्य के विघ्न में लगा दिया तो असाता कर्म का उपार्जन होगा जो शरीर में नाना रोगों को उत्पन्न करता है।

किसी के दान-पूजा आदि कार्य में विघ्न डालने से अंतराय कर्म का बंध होता है। अगर धर्मकार्यों में विघ्न डालोगे तो व्याधियों के घर बन जाओगे। अगर चाहते हो कि हमारा शरीर भी निरोगी रहे तो अर्हंत वाणी का हृदय से श्रद्धान् करो।

अज्ञानता में अगर कभी ऐसा खोटा कृत्य हो गया हो तो आज संकल्प लेकर जाना कि मैं

कभी किसी के धर्मकार्य में विघ्न नहीं करूँगा। आज अगर कोई दु:खी है, रोग बीमारी से परेशान है तो इसका कारण कोई दूसरा नहीं उसका स्वयं का कर्म ही है। इन दु:खों से बचने का पुरुषार्थ भी उसको ही करना पड़ेगा। आचार्य भगवन् कुलभद्रस्वामी सारसमुच्चय में लिखते हैं –

दु:खं न शक्यते सोतुं, पूर्वकर्मार्जितं नरै:।
तस्मात् कुरूत सद्धर्म, येन तत्कर्म नश्यति।।56।।

यदि मानव पूर्व कर्म के उदय से प्राप्त दु:खों को सहन करने में समर्थ नहीं है तो उसे सद्धर्म का आचरण करना चाहिये। जिससे पूर्वोपार्जित कर्म का नाश हो जायेगा।

भगवान् की आराधना से तो कुष्ठी भी कामदेव बन जाता है इसलिये प्रभु की आराधना में उपयोग लगाना चाहिये। यदि काया की सेवा में उपयोग लगाये रहे, काया के गुलाम बने रहे तो यह काया ऐसी निंद्य पर्याय में ले जायेगी जहाँ सिर्फ दु:ख ही दु:ख मिलेगा। काया की माया में न उलझकर भगवान् की छाया में आने का पुरुषार्थ करो, जीवन सुखमय बनेगा।

धर्मकार्य में विघ्न डालनेवाले अज्ञानी जीवों के शरीर में निरंतर रोगों की उत्पत्ति होती रहती है। रोगी भी आप हो, रोग भी आप हो, रोग का कारण भी आप हो और रोग का निवारण भी आप ही हो। आपकी भावों की परिणति ही आपके भविष्य का निर्धारण करनेवाली होती है। आपका भविष्य सिद्धों सा उज्ज्वल बने, इसी मंगल भावना के साथ...।

पूजा दान नहीं करता, निज कल्याण नहीं करता।
धर्मकार्य में विघ्न सदा, करने का ही मन करता।।
वह मानव रोगों, हो-हो-2 का घर बन जाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2, संहिता दिखलाये रे।।

अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

❑❑❑

(पृष्ठ नं. 132 का शेष)

आचार्य शुभचंद्र स्वामी टीका में कहते हैं-

त्रिविधे पात्रे त्रिविधेषु पात्रेषु महाव्रत-सम्यक्त्व-विराजित-मुत्तमं पात्रम्, श्रावकव्रत-सम्यक्त्व-पवित्रं मध्यम-पात्रम्, सम्यक्त्वैकेन निर्मलीकृतं जघन्य पात्रम्, इति त्रिविध पात्रेभ्य: दानं ददाति।

अर्थात् उत्तम-मध्यम-जघन्य तीन प्रकार के पात्रों में जो महाव्रत और सम्यक्त्व से सुशोभित हो वह उत्तम पात्र है। जो देशव्रत और सम्यक्त्व से सुशोभित हो वह मध्यम पात्र है और जो केवल सम्यग्दृष्टि हो वह जघन्य पात्र है। पात्र बुद्धि से दान देने के योग्य ये तीन ही प्रकार के पात्र होते हैं।

आचार्य शुभचंद्र स्वामी इस गाथा की टीका के अंत में कहते हैं-

इति सप्तदातृगुणै-र्नवविध-पुण्योपार्जन-विधिभिश्च कृत्वा त्रिविध-पात्रेभ्य: अशन-पान-खाद्य-स्वाद्यं चतुर्विधं दानं दातव्य-मित्यर्थ:।

इस तरह दाता को सात गुणों के साथ पुण्य का उपार्जन करने वाली नौ विधिपूर्वक चार प्रकार का दान तीन प्रकार के पात्रों को देना चाहिए ऐसा अर्थ है।

नवद्या भक्ति कौन-कौन सी हैं एवं उनका स्वरूप क्या है?

आचार्य भगवन् वसुनंदिस्वामी वसुनंदि श्रावकाचार में कहते हैं-

पडिगह-मुच्चट्ठाणं-पादोदय-मच्चणं च पणमं च।
मण-वयण-कायसुद्धी एसणसुद्धी य णवविहं पुण्णं।।225।।

पत्तं णिय-घरदारे दट्ठूणण्णत्थ वा विमग्गित्ता।
पडिगहणं कायव्वं णमोत्थु ठाहु त्ति भणिदूण।।226।।

णेदूणं णियगेहं णिरवज्जाणुवह-उच्च-ठाणम्हि।
ठविदूण तदो चलणाण धोवणं होदि कायव्वं।।227।।

पादोदयं पवित्तं सिरम्मि कादूण अच्चणं कुज्जा।
गंधक्खय-कुसुम-णिवेज्ज-दीव-धूवेहिं फलेहिं।।228।।

पुप्फंजलिं खिवित्ता पयपुरदो वंदणं तदो कुज्जा।
चइऊण अट्टरुद्धं मणसुद्धी होदि कायव्वा।।229।।

णिट्ठुर-कक्कस-वयणाइ-वज्जगं सा वियाण वचिसुद्धी।
सव्वत्थ संवुडंगस्स होदि तह कायसुद्धी वि।।230।।

चोद्दसमल-परिसुद्धं जं दाणं सोहिदूण जयणाए।
संजदजणस्स विज्जदि सा णेया एसणा सुद्धी।।231।।

प्रतिग्रह, उच्चस्थान, पादोदक, अर्चन, प्रणाम, मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि और भोजनशुद्धि ये दान की नवविधियाँ हैं।

अब इन नवविधियों का स्वरूप कहते हैं-

1. प्रथम ही पात्र को अपने घर के द्वार पर देखकर अथवा अन्यत्र से खोज, लाकर 'नमोस्तु-नमोस्तु' और 'तिष्ठ-तिष्ठ' कहकर ग्रहण करना चाहिए।

2. फिर अपने गृह में ले जाकर उन्हें ऊँचे आसन पर बैठाना चाहिए।

(शेष पृष्ठ नं. 152 पर)

(धर्मकार्यों में विघ्न डालने का फल)

णरइ-तिरियाइ-दुगदी, दारिद्द-वियलंग-हाणि-दुक्खाणि।
देव-गुरु-सत्थवंदण-सुदभेद सज्झय-विघणफलं।। 37 ।।

*** अन्वयार्थ ***

(**णरइ**) नरक (**तिरियाइ**) तिर्यंच आदि (**दुगदी**) दुर्गतियाँ (**दारिद्द**) दरिद्रता (**वियलंग**) विकलांग (**हाणि**) हानि-व्यापारादि में (**दुक्खाणि**) और दु:ख ये सब (**देव-गुरु-सत्थवंदण**) देववंदना, गुरुवंदना, शास्त्रवंदना (**सुदभेद सज्झय विघणफलं**) श्रुतभेद, स्वाध्याय में विघ्न डालने के फल हैं।

अर्थ–नरक, तिर्यंच, दुर्गति, दरिद्रता, विकलांगता, व्यापार आदि में हानि, आदि ये सभी दु:ख देववंदना, गुरुवंदना, शास्त्रवंदना, श्रुतभेद और स्वाध्याय में विघ्न करने का फल है।

गाथा - 37

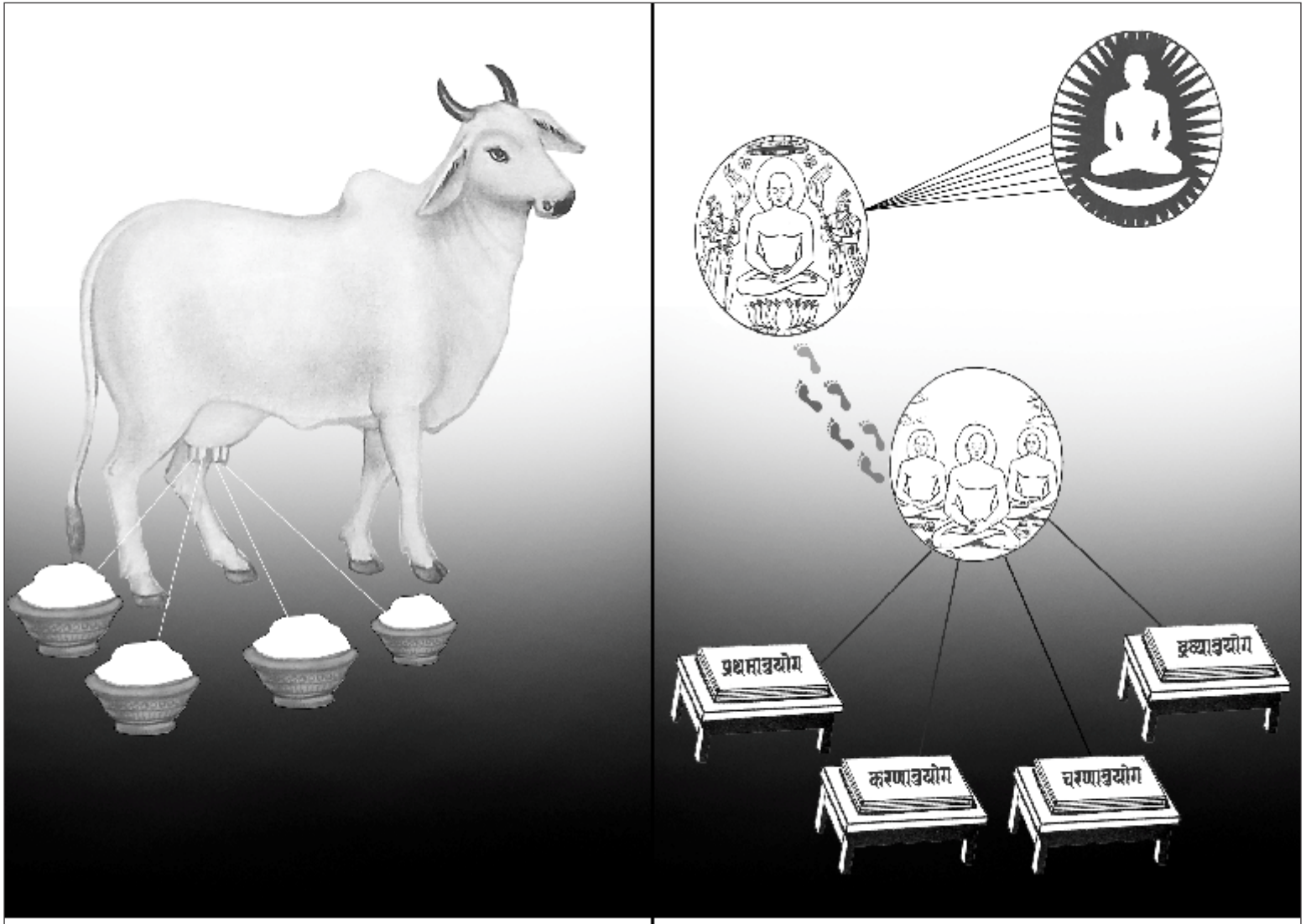
(प्रवचन)

●

मोक्षमार्गी साधुओं में भेद डालना मिथ्यादर्शन शल्य

13.10.2013

भिण्ड (म.प्र.)



जिस प्रकार गाय के चारों स्तनों से एक सा दूध निकलता है।

उसी प्रकार जिनवाणी के चारों अनुयोगों से एकमात्र मोक्षमार्ग ही प्रशस्त होता है।

47

रयणोदय

देव शास्त्र व गुरु वंदन, स्वाध्याय में करे विघन।
भव-भव में दु:ख पाता है, व्यर्थ करे वह तो नरतन।।
दारिद्री बनकर, हो-हो-2, सम्मान न पाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2, संहिता दिखलाये रे।।

'**जयदु जिणागमपंथो**' अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

तीर्थंकर भगवंत की दिव्यध्वनि जिनश्रुत है, जिनागम है। जिनागम में वर्णित आत्मकल्याणकारी मार्ग, आत्महितकारी पंथ '**जिनागम पंथ**' है। परस्पर रागद्वेष को बढ़ानेवाले आगमबाह्य पंथ उन्मार्ग हैं। वीतरागता को देनेवाला, '**परस्परोपग्रहो जीवानाम्**' का प्रतीक '**जिनागम पंथ**' सन्मार्ग है।

जन्म और मरण के बीच धर्म पालन करना एक नौका के समान है। जीवन में धर्म पालन का जितना श्रेष्ठ फल मिलता है, अगर धर्मकार्य में विघ्न डाला जाये तो उतना ही अधिक दु:ख भी भोगना पड़ता है। यह अर्हंत् शासन, यह अर्हंत वाणी हमें सतत दु:ख मुक्ति का उपाय बता रहे हैं। जिनवाणी सुनना सिर्फ कानों का मनोरंजन नहीं जीवन का परिवर्तन बनना चाहिये।

भावों के परिवर्तन में कारण बनना चाहिये। सच्चे देव की वंदना करने से आत्मा उन्नति को प्राप्त होता है। सच्चे शास्त्र की वंदना असंख्यात गुणी कर्म निर्जरा का कारण है। गुरु वंदना आत्म-विशुद्धि का मुख्य सोपान है।

अज्ञानता के कारण जीव देव, शास्त्र, गुरु की वंदना में अंतराय डालते हैं। वर्तमान में कई स्थानों पर भगवान् की पूजा एवं अभिषेक के भी नियम निर्धारित कर दिये गये हैं कि अमुक जिनालय में इतने समय तक ही भगवान् का अभिषेक किया जायेगा। इतने समय तक ही भगवान् की पूजा की जायेगी और इतने समय तक ही अमुक जिनालय दर्शन हेतु खुला रहेगा। इतने समय तक ही आराधना होगी। अरे भाई! भगवान् की प्रतिष्ठा इसलिए की जाती है कि प्रभु के निमित्त से पूजन, अभिषेक और आराधना करके भव्यजीव अपने कर्मों का क्षय कर सकें। जिन भगवान् की पूजा वंदना आदि करके भव्यजीव अपने कर्मों का क्षय करता है, उन्हीं देव की वंदना में अंतराय डालकर तूने अपने लिए अंतराय कर्म बाँध लिया और भविष्य में अपने लिये दरिद्रता का इंतजाम कर लिया।

अपनी दुकान तो चौबीस घण्टे खुल सकती है, उसमें कोई अपराध नहीं है और मंदिर खुलने में विघ्न डाल दिया। अरे! जिनालय और जिनबिम्ब तो सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में निमित्त कारण हैं। आचार्य भगवन् लिखते हैं–

बाह्यं निमित्तमत्रास्ति केषाञ्चिद् बिम्बदर्शनम्।
अर्हतामितरेषां तु जिनमहिमदर्शनम्।।2-23।। ला.सं।।

अर्थात् किन्हीं जीवों को सम्यक्त्व की उत्पत्ति का बाह्य निमित्त जिनबिम्ब दर्शन है, किन्हीं के जिनकल्याणकों का देखना आदि है।

अतः देवदर्शन में कभी भी विघ्न नहीं करना चाहिये। अगर कोई भव्यजीव संसार के कार्य छोड़कर देवदर्शन करने आया हो तो उसका उत्साहवर्धन कर देना। कह देना–भैया! आप धन्य हैं जो संसार के पापकार्यों से समय निकालकर पवित्र जिनदर्शन के लिये आये हैं। अगर उससे कोई गलती भी हो जाये तो भी प्रेम से एकान्त में उसे समझा देना, लेकिन ऐसा व्यवहार मत करना जिससे वो अगले दिन से मंदिर ही आना छोड़ दे।

कभी गुरुवंदना में भी विघ्न नहीं डालना चाहिये। सच्चे गुरु के प्रति मन में कभी अश्रद्धा का भाव नहीं लाना चाहिये।

कुछ अज्ञानीजन कहते हैं–अमुक संघ के मुनि ही सच्चे मुनि हैं उनके अलावा कोई भी मुनि सच्चे नहीं हैं, उनकी वंदना मत करना, उनको आहार मत कराना। अहो! पंचमकाल की बलिहारी है कि श्रावक तो दूर साधु भी इस साधु अवज्ञा की होड़ में अग्रणी भूमिका निभा रहे हैं। वर्तमान में एक साधु दूसरे साधु से, एक निर्ग्रंथ दूसरे निर्ग्रंथ से प्रेम से नहीं मिल पा रहा। मिथ्यात्व और कषायों का पर्दा आँखों पर पड़ा हुआ है जिसकारण साधु भी साधु रूप में नजर नहीं आ रहा है। अज्ञानी साधु सोचता है कि मैं श्रेष्ठ हूँ, मैं बड़ा हूँ, मेरी चर्या श्रेष्ठ है, मेरा ज्ञान श्रेष्ठ है। भो अज्ञानी! तेरा ज्ञान श्रेष्ठ नहीं है क्योंकि तेरे ज्ञान में अहंकार का विष घुला हुआ है।

आचार्य भगवन् लिखते हैं–

ज्ञानं मददर्पहरं माद्यति यस्तेन तस्य को वैद्यः।
अमृतं यस्य विषायति तस्य चिकित्सा कथं क्रियते।। 4।।

ज्ञान, मद के दर्प को हरनेवाला है, पर जो उस ज्ञान से ही मद करता है, उसका वैद्य कौन हो सकता है? अमृत ही जिसके लिये विष का कार्य करता हो, उसकी चिकित्सा कौन कर सकता है? अर्थात् कोई नहीं।

आजकल तो साधु, साधु को देखना भी नहीं चाहता। ऐसा क्यों हो रहा है? क्योंकि कषाय-भाव में साधु आनंदित है। कषाय के तेजप्रवाह में मूलाचार का आचरण बह गया और मात्र बाहर का साधु भेष रह गया। आचार्य भगवन् वट्टकेरस्वामी मूलाचार जी में लिखते हैं–

आएसस्स तिरत्तं णियमा संघाडयो दु दायव्वो।
किरियासंथारादिसु सहवास परिक्खणाहेऊं।।162।।

अर्थात् क्रियाओं और संस्तर आदि में सहवास तथा परीक्षा के लिये आगन्तुक साधु को तीन रात्रि तक नियम से सहाय देना चाहिये।

आचार्य भगवन् कह रहे हैं–साधु जब आपस में मिलते हैं तो तीन दिन तक एक दूसरे

की परीक्षा करते हैं। वर्तमान में वात्सल्य खोता जा रहा है। एक साधु दूसरे साधु की अगवानी नहीं करना चाहता। एक साधु दूसरे साधु से मिलना नहीं चाहता। परीक्षा की बात तो दूर आपस में मिलने की भावना भी साधकों के अन्दर नहीं है। अगर समाज के मार्गदर्शक साधु ही आपस में नहीं मिलेंगे तो समाज एक साथ मिलकर कैसे रह पायेगा?

सभी साधुओं की अपनी-अपनी भक्त मण्डली है। आजकल लोग साधुओं के भक्त नहीं, अंधे भक्त होते जा रहे हैं। कोई एक साधु से बँधकर रह गये। उस अंधे भक्त को अन्य साधु अब साधु नजर नहीं आते। जब ऐसे भक्त व्यामोह में घिरे हुए दो साधु आपस में नहीं मिलते तो उनके भक्तों में भी आपस में टकराव पैदा हो जाता है।

अरे भैया! साधु के पास जाकर वाद-विवाद नहीं होता साधु के पास तो आशीर्वाद होता है। सच्चा दिगम्बर साधु वाद-विवाद नहीं आत्मकल्याण का आशीर्वाद देता है। दिगम्बर जैन साधु कभी श्राप नहीं देता, अगर साधु श्राप देता हुआ मिल जाये तो समझ लेना वह केवल बाहर का साधु है भीतर का साधुत्व नष्ट हो चुका है। जिसका साधुत्व ही नष्ट हो चुका हो उसका कभी किसी को श्राप लगता नहीं है।

ध्यान रखना, साधु के भक्त बनना लेकिन अंधे भक्त मत बनना। साधु की भक्ति करना लेकिन अंधी भक्ति मत करना। अगर भक्त बनकर भक्ति करोगे तो साधुओं की वंदना निर्विघ्न होगी और अंधे भक्त बनकर भक्ति करोगे तो किसी की वंदना होगी और किसी की वंदना में विघ्न होगा। बंधुओ ध्यान रखना, अगर आत्महित की भावना है तो कभी साधुओं की वंदना में विघ्न मत डालना।

कभी शास्त्रवंदना में भी विघ्न नहीं डालना चाहिये। शास्त्र स्वाध्याय स्वयं करना और साधर्मियों को प्रेरणा देना। अगर कोई स्वाध्याय कर रहा हो, कहीं शास्त्रसभा चल रही हो तो वहाँ कोई ऐसी क्रिया-प्रतिक्रिया नहीं करना चाहिये जिससे शास्त्र स्वाध्याय में बाधा खड़ी हो। शास्त्रसभा में सच्चे श्रोता बनकर जाना। आचार्य भगवन् श्रोता का लक्षण बताते हुए लिखते हैं–

गुरुजन मुखे भक्त्या न्यस्यन्मुहुर्मुहुरीक्षणे।
क्षणमपिकथां कुर्वन्नन्यां न चापर चिन्तनम्।।
उपचितरतिः सूत्रस्यार्थे शिरोरचिताञ्जलिः।
पुलकित वपुः पूज्ये जल्पेत्तथेति समाहितः।।235।। (सु. स.)

शास्त्र श्रवण के समय श्रोता के लिये निर्देश है कि वह भक्तिपूर्वक अपने दोनों नेत्र बार-बार गुरुजन के मुख पर निहित करे अर्थात् उन्हीं की ओर देखे, क्षणभर के लिये भी अन्य कथा न करें, न अन्य बात का चिन्तन करें। शास्त्र के अर्थ में प्रीति लगावे, और रोमाञ्चित होता हुआ पूज्यजन में चित्त लगाता हुआ ऐसे शब्द कहे—भगवन् जैसा आप कह रहे हैं वस्तुस्वरूप वैसा ही है। ऐसे पवित्र भाव लेकर जिनवाणी सुनने जाओगे तो अनंत पर्यायों के अर्जित कर्म क्षय करके आओगे। इसलिए कभी शास्त्रों की अविनय नहीं करना चाहिये। कभी श्रुत में भेद नहीं करना चाहिये। जिसप्रकार गाय के चारों स्तनों से एक जैसा दूध झरता है उसीप्रकार चारों अनुयोगों से एक मोक्षमार्ग और मोक्षमार्ग का फल प्राप्त होता है। चारों ही अनुयोग रूप जिनागम में सच्ची श्रद्धा रखना चाहिये। जिनवाणी सुनने ऐसे बैठना जैसे थियेटर (Theater) में पिक्चर (Picture) देखने बैठते हो। आप थियेटर (Theater) में फिल्म देखने गये या आपका मनपसंद सीरियल (Serial) आ रहा हो, तब आप किससे बात करते हो? तब आपसे कोई बात करना चाहे तो कह देते हो बाद में करेंगे। ऐसे ही स्वाध्याय सुनना चाहिये, वहाँ बैठकर आपस में कोई बातचीत नहीं करना चाहिये।

देव, शास्त्र, गुरु की वंदना ही धर्म की शुरुआत है। सभी को देव, शास्त्र, गुरु के प्रति निष्कपट निर्मल श्रद्धा रखनी चाहिये यही सम्यग्दर्शन है, यहीं से मोक्षमार्ग की शुरुआत होती है। आप सभी अपनी श्रद्धा को निर्मल करें और उसके सम्यक् फल को प्राप्त हों, इसी भावना के साथ...

देव शास्त्र व गुरु वंदन, स्वाध्याय में करे विघन।
भव भव में दुःख पाता है, व्यर्थ करे वह तो नरतन।।
दारिद्री बनकर, हो-हो-2, सम्मान न पाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2, संहिता दिखलाये रे।।

अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

❑❑❑

(पृष्ठ नं. 144 का शेष)

3. फिर उनके पाद प्रक्षालन करना चाहिए, पादोदक को सिर पर लगाना चाहिए।

4. (जल) गंध, अक्षत, फूल, नैवेद्य, दीप, धूप और फल द्रव्यों से उनकी पूजा करना चाहिए।

5. पुष्पांजलि क्षेपण करके उनके चरणों के समीप नमस्कार करना चाहिए।

6. आर्त-रौद्र ध्यान को छोड़कर मन को शुद्ध करना चाहिए।

7. निष्ठुर, कर्कश आदि वचनों को छोड़कर वचन शुद्धि करना चाहिए।

8. सब ओर से अपनी काया को संकोचकर काय शुद्धि करना चाहिए।

9. चौदह मलों से रहित तथा यत्नपूर्वक शोधन किया हुआ भोजन पात्रों को, संयतजन को देना एषणा शुद्धि जानना चाहिए।

यहाँ नवधाभक्ति को प्राप्त उत्तमपात्र, मध्यमपात्र एवं जघन्यपात्र में प्रथम दो अर्थात् उत्तम-मध्यम पात्र लिंगसहित हैं और तृतीय जघन्यपात्र लिंगरहित है। जैसा कि आचार्य भगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने दर्शनपाहुड में कहा भी है-

एक्कं जिणस्स रूवं बीयं उक्किट्ठ-सावयाणं तु।
अवरट्ठियाण तइयं चउत्थं पुण लिंगदंसणं णत्थि।।18।।

अर्थात् एक जिनेन्द्र भगवान् का नग्न रूप, दूसरा उत्कृष्ट श्रावकों का और तीसरा आर्यिकाओं का। इस प्रकार जिनशासन में तीन लिंग कहे गये हैं चौथा लिंग जिनशासन में नहीं है।

सूत्रपाहुड में कहा है-

पंचमहव्वय-जुत्तो तिहिं गुत्तिहिं जो स संजदो होई।
णिग्गंथ-मोक्खमग्गो सो होदि हु वंदणिज्जो य।।20।।

अर्थात् जो पाँच महाव्रत और तीन गुप्तियों से सहित है वही संयत संयमी मुनि होता है और जो निर्ग्रन्थ मोक्षमार्ग को मानता है वही वंदना करने के योग्य होता है।

दुइयं च उत्तलिंगं उक्किट्ठं अवरसावयाणं च।
भिक्खं भमेइ पत्तो समिदि-भासेण मोणेण।।21।।

अर्थात् दूसरा लिंग उत्कृष्ट श्रावकों का कहा गया है, यह उत्कृष्ट श्रावक भिक्षा के लिए भ्रमण करता है, पात्र सहित होता है अथवा हाथ में भी भोजन करता है और भिक्षा के लिए भ्रमण करते समय भाषा समिति रूप बोलता है अथवा मौन रखता है।

यहाँ उत्कृष्ट श्रावक के दो भेद हैं, 1. क्षुल्लक 2. ऐलक। क्षुल्लकचर्या में पात्र रखने का विधान है। ऐलक करपात्र में आहार ग्रहण करता है। जो क्षुल्लक अनेक गृह भोजी है वह भाषा समिति के अनुसार बोलता है। जो क्षुल्लक मुनिराज की तरह एकगृह भोजी है वह मौन रखता है। ऐलकजी मौन रखते हैं ऐसा अर्थ है।

लिंग इत्थीणं हवदि भुंजइ पिंडं सुएयकालम्मि।
अज्जिय वि एक्कवत्था वत्थावरणेण भुंजेइ।।22।।

अर्थात् तीसरा लिंग स्त्रियों का है इस लिंग को धारण करने वाली स्त्री दिन में एक ही बार आहार ग्रहण करती है। वह आर्यिका हो तो एक ही वस्त्र धारण करे और वस्त्र के आवरण सहित भोजन करे। क्षुल्लिका भी चादर उतारकर वस्त्रावरण सहित भोजन करे। आचार्य कुन्दकुन्द देव कथित यह तीनों लिंग उत्तम पात्र एवं मध्यम पात्र में किस प्रकार ग्रहण होते हैं इसका समाधान करते हैं।

(शेष पृष्ठ नं. 218 पर)

(पंचमकाल का दुष्प्रभाव)

सम्मविसोहि-तव-गुण-चरित्त-सण्णाण-दाण-परिहीणं।
भरहे दुस्समकाले, मणुयाणं जायदे णियदं।।38।।

*** अन्वयार्थ ***

(**भरहे**) इस भरतक्षेत्र में (**दुस्समकाले**) दु:खमा काल (**पंचमकाल**) में (**मणुयाणं**) मनुष्यों के (**णियदं**) निश्चय ही (**सम्मविसोहि**) सम्यग्दर्शन की विशुद्धि (**तवगुणचरित्तसण्णाणदाणपरिहीणं**) तप, मूलगुण, सम्यक्चारित्र, सम्यग्ज्ञान और दान में हीनता (**जायदे**) होती है।

अर्थ–इस भरतक्षेत्र में दु:खमा काल (पंचमकाल) में मनुष्यों के निश्चय ही सम्यग्दर्शन की विशुद्धि, तप, मूलगुण सम्यक्चारित्र, सम्यग्ज्ञान और दान में हीनता होती है (पायी जाती है)।

गाथा - 38

(प्रवचन)

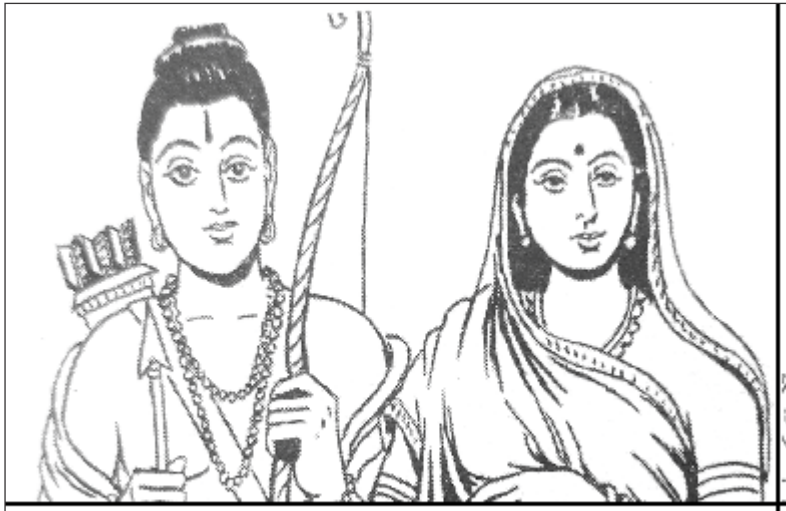
I

●

पंचमकाल में धर्महीनता का कारण

14.10.2013

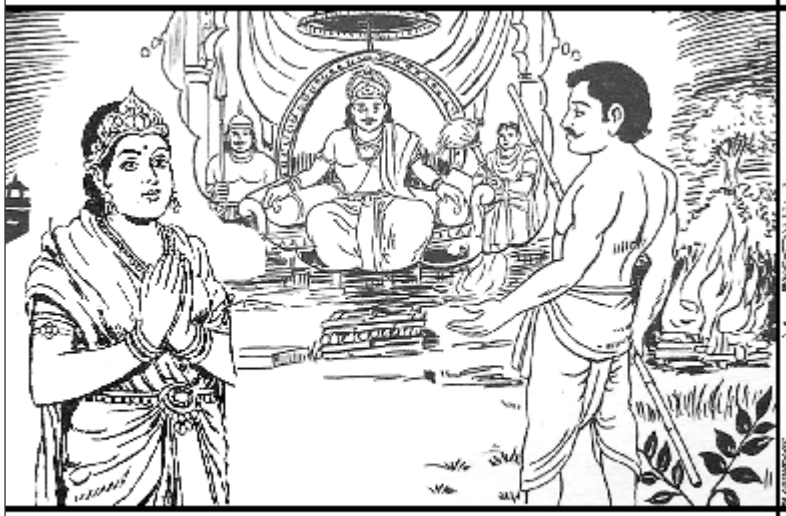
भिण्ड (म.प्र.)



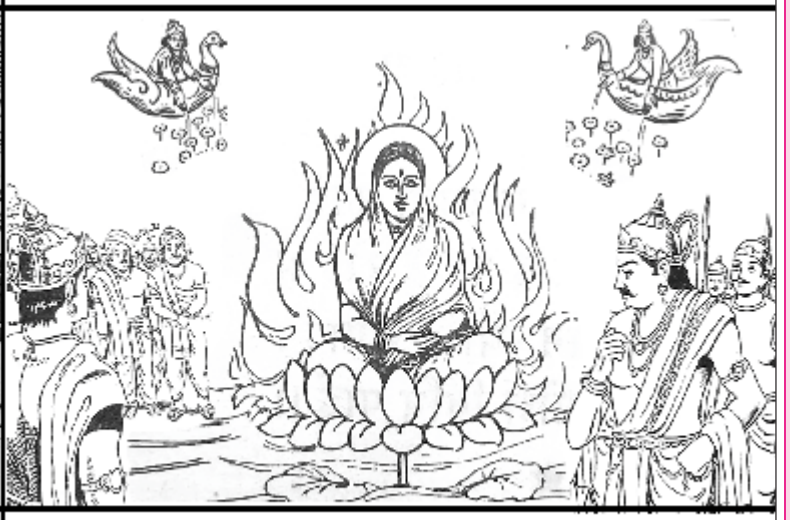
मर्यादा पुरुषोत्तम राम और महासती सीता



महासती सीता और दशानन



धोबी द्वारा सीता का अपवाद



महासती सीता की अग्नि परीक्षा

48

रयणोदय

सम्यग्दर्शन की शुद्धि, धर्म आचरण की बुद्धि।
सम्यग्ज्ञान दान में भी, घटती जाती है बुद्धि।।
यह काल पंचम, हो-हो-2 ऐसा दिखलाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2, संहिता दिखलाये रे।।

'**जयदु जिणागमपंथो**' अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

तीर्थंकर भगवंत की दिव्यध्वनि जिनश्रुत है जिनागम है। जिनागम में वर्णित आत्मकल्याणकारी मार्ग, आत्महितकारी पंथ '**जिनागम पंथ**' है। परस्पर रागद्वेष को बढ़ानेवाले आगमबाह्य पंथ उन्मार्ग हैं। वीतरागता को देनेवाला, '**परस्परोपग्रहो जीवानाम्**' का प्रतीक '**जिनागम पंथ**' सन्मार्ग है।

तीर्थंकर महावीर की सर्वोदयी देशना भव्यजीवों के लिए आत्महितकारिणी है। भगवान् महावीर स्वामी ने संसार में भटकते हुए जीवात्माओं के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र स्वरूप रत्नत्रय का मार्ग दिखाया है। यदि वास्तविक सुख की चाह है तो रत्नत्रय का पालन करो, रत्नत्रय की भावना करो, रत्नत्रय के मार्ग पर चलो।

आदिपुराण में आचार्य भगवन् जिनसेनस्वामी ने कहा है–

बिना रत्नत्रयेणैव जातु सिद्धिपदं सताम्।
जायते क्वापि काले न ह्यनन्त-सुख-पूरितम्।।

रत्नत्रय के बिना सत्पुरुषों को कभी, कहीं भी अनंतसुख से परिपूर्ण सिद्धिपद अर्थात् मोक्षपद प्राप्त नहीं होता है।

भव्यजीव भगवान् महावीर के द्वारा प्रतिपादित सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र स्वरूप रत्नत्रय की पवित्र देशना को सुनकर अत्यंत उल्लसित हुए, हर्षित हुए, आनंदित हुए। अनेक भव्य जीवात्मा आत्महित का मार्ग स्वीकार कर संसार सागर से पार हो गये।

जिनागम में काल के दो भेद बताये गये हैं–एक उत्सर्पिणी काल दूसरा अवसर्पिणी काल। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के भी छह-छह भेद होते हैं। एक अवसर्पिणी काल दस कोड़ाकोड़ी सागर का होता है इसीप्रकार एक उत्सर्पिणी काल भी दस कोड़ाकोड़ी सागर का होता है। एक उत्सर्पिणी और एक अवसर्पिणी मिलकर एक कल्पकाल होता है। एक कल्पकाल बीस कोड़ाकोड़ी सागर का होता है। अवसर्पिणी काल में, व्यक्ति का भोजन, शरीर की ऊँचाई, शरीर का बल, बुद्धि, ज्ञान आदि का धीरे-धीरे ह्रास होता जाता है, हीनता आती जाती है और उत्सर्पिणी काल में शरीर आदि की ऊँचाई, भोजन, बल, बुद्धि इत्यादि क्रम से बढ़ते हुए प्रवर्तते हैं।

हम सभी इस अवसर्पिणी काल के पंचमकाल में जन्में हैं। इस पंचमकाल के क्या दुष्प्रभाव पड़ते हैं? इसका कथन रयणसार जी ग्रन्थ में आचार्य श्री कुंदकुंदस्वामी कर रहे हैं। जब तक भगवान् की देशना इस क्षितितल पर खिरती रही, जब तक भगवान् का सान्निध्य भव्यजीवों को प्राप्त होता रहा, तब तक भव्यजीवों के अन्दर निरंतर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की विशुद्धि प्रवर्तमान रही। लेकिन जैसे ही पंचमकाल प्रारम्भ हुआ धीरे-धीरे लोगों के दर्शन, ज्ञान, चारित्र में हीनता आना प्रारम्भ हो गई।

आचार्य भगवन् पंचमकाल का दुष्प्रभाव बताते हैं–

सम्मविसोहि तव-गुण-चरित्त-सण्णाण-दाण-परिहीणं।
भरहे दुस्समकाले, मणुयाणं जायदे णियदं।।38।।

हम सभी भरतक्षेत्र के दुस्सम नामक पंचमकाल में जन्मे हैं। इस भरतक्षेत्र के पंचमकाल में मनुष्यों के निश्चय ही सम्यग्दर्शन की विशुद्धि हीनता को प्राप्त हो जाती है। इस काल में श्रद्धावान् जीव तो होते हैं, लेकिन जिनागम में जैसी निर्मल श्रद्धा कही गई है उसमें अंतर आने लग जाता है। आत्मा का हित शुद्ध सम्यग्दर्शन से होता है। शुद्ध सम्यग्दर्शन का तात्पर्य है, पच्चीस प्रकार के मलदोषों से रहित होना। पच्चीस मलदोषों में षट् अनायतन का त्याग, सम्यक्त्व के शंकादि आठ दोषों का त्याग, आठ प्रकार के मदों से रहितपना, और तीन प्रकार की मूढ़ताओं का त्याग करना ही शुद्ध सम्यग्दर्शन है।

इस पंचमकाल में संसारी जीव कदाचित् जिनेन्द्र भगवान् की श्रद्धा भी करता है, धर्म की भी श्रद्धा करता है, लेकिन कभी-कभी मूढ़ताओं में पड़ जाता है। कभी गुरु मूढ़ता में पड़ जाता है, कभी देव मूढ़ता में पड़ जाता है, तो कभी लोक मूढ़ता में पड़ जाता है, कभी षट् अनायतनों की इच्छायें करने लगता है, अथवा आठ मदों में सम्यग्दर्शन के साथ भी वर्तन करता रहता है अथवा सम्यग्दर्शन के आठ अंगों में कहीं न कहीं दोष लगाता रहता है अथवा अतिचार लगाता रहता है। अतः आचार्य भगवन् कह रहे हैं—इस पंचमकाल में जीव के सम्यग्दर्शन की विशुद्धि में हीनता आ जाती है। जैसा विशुद्ध सम्यग्दर्शन चतुर्थकाल में भव्य जीवात्माओं को होता था, वैसी विशुद्धि इस पंचमकाल में नहीं देखी जाती।

भगवान् महावीर जब इस धरा पर विचरण करते थे, उस समय एक श्रेणिक नाम का सम्राट हुआ, जो भगवान् महावीर का मौसा था। हम सभी यह जानते हैं कि सम्राट श्रेणिक मरकर नरक गये। नरक क्यों गये? उन्होंने एक निर्ग्रंथ योगी पर उपसर्ग किया था। उपसर्ग क्यों किया? उन्हें उससमय जिनधर्म की श्रद्धा नहीं थी। जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा प्रतिपादित तत्त्वों की श्रद्धा नहीं थी। वे जैन गुरुओं के प्रति भी विद्वेष भाव रखते थे। जब उन्होंने यशोधर मुनिराज को देखा तो इतना विद्वेष भाव आत्मा में जाग्रत हुआ कि एक मृत सर्प उनके गले में डाल दिया। भाव इतने गिर गये कि श्रेणिक सोचने लगा, मैं मुनिराज पर तलवार चला दूँ। फिर बोध जाग्रत हुआ कि सम्राट के लिए यह कार्य उचित नहीं हैं। असहाय, निहत्थे पर तलवार चलाना एक सम्राट के योग्य कार्य नहीं है। तब उन्होंने अपने पाँच सौ शिकारी कुत्ते छोड़ दिये। वो शिकारी कुत्ते यशोधर मुनिराज के विशुद्ध दर्शन, ज्ञान, चारित्र के प्रभाव से प्राणीमात्र के प्रति क्षमा और

दया के परिणाम से प्रभावित होकर चरणों में शांतभाव से ऐसे बैठ गये जैसे कोई भव्य जीवात्मा संसार, शरीर, भोगों से विरक्त होकर किन्हीं निर्ग्रंथ गुरु की शरण में जा बैठता है। ऐसे ही वे पाँच सौ शिकारी कुत्ते मुनिराज के चारों तरफ घेरा बनाकर बैठ गये। जो विशुद्धि उन खूँखार कुत्तों ने प्राप्त की वह विशुद्धि मनुष्य होकर भी राजा श्रेणिक के अन्दर जाग्रत नहीं हो पाई। उन कुत्तों की विशुद्धि को देखकर सम्राट श्रेणिक विशुद्धि को तो प्राप्त नहीं हुआ अपितु और अधिक क्रोध को प्राप्त हो गया। सोचने लगा इस साधु ने कुत्तों के ऊपर कोई जादू कर दिया है। मैं अभी देखता हूँ इसे। पास ही पड़ा हुआ एक मृत सर्प यशोधर मुनिराज के गले में डाल दिया।

राजमहल में पहुँचकर श्रेणिक ने रानी चेलना को वह अपना शौर्यपूर्ण कार्य बताया। रानी चेलना ने कहा–राजन्! आपने नियम से किसी दुर्गति का बंध कर लिया है, क्योंकि जिसे दुर्गति का बंध हो गया हो वो ही सच्चे देव, शास्त्र, गुरु की निंदा और उनके ऊपर उपसर्ग कर सकता है। श्रद्धावान् जीव देववंदना, गुरुवंदना और शास्त्रवंदना में अपना सौभाग्य मानते हैं। जिन अज्ञानियों ने नरक आदि खोटी गति का बंध कर लिया है उनके द्वारा ही ऐसा उपसर्ग का कार्य किया जा सकता है। रानी चेलना ने कहा–राजन्! आपने कोई घोर दुर्गति का बंध कर लिया है। श्रेणिक ने कहा–क्या बात करती हो महारानी? तुम्हारा वह नंगा साधु कब का वहाँ से उठकर भाग गया होगा।

रानी चेलना ने कहा–राजन्! आपने अभी तक उन्हीं साधुओं को देखा है जो उपसर्गों में घबराकर भाग जाते हैं। ये जैन निर्ग्रंथ योगी हैं, उपसर्ग परिषह को सहन करते हैं और अपनी साधना को बढ़ाने व निखारने का प्रयास करते हैं। वे निर्ग्रंथ साधक आज भी वहीं पर वैसे ही बैठे होंगे। रानी चेलना सम्राट को साथ लेकर जंगल में जाती है। जाकर देखा, यशोधर मुनिराज ध्यान में लीन हैं। उनके शरीर पर असंख्यात चीटियाँ लगी हुई हैं, सारा शरीर चींटियों ने छलनी कर दिया है फिर भी उनके चेहरे पर अपूर्व प्रसन्नता और प्रशान्तभाव का अतुल वैभव विलसित हो रहा है। सम्राट श्रेणिक यह देखकर कुछ विशुद्धि को प्राप्त हुआ। रानी चेलना ने सर्प को अलग कर मुनिराज का उपसर्ग दूर किया।

मुनिराज ने अपना ध्यान विसर्जित किया और सम्राट श्रेणिक तथा रानी चेलना दोनों को **'सद्धर्मवृद्धिरस्तु'** आशीर्वाद प्रदान किया। सम्राट श्रेणिक सोच में पड़ गया, सचमुच ये निर्ग्रंथ

साधक कितनी उत्कृष्ट विशुद्धि को प्राप्त हैं। धन्य है इनका धैर्य जो इतना बड़ा उपसर्ग होने के बाद भी अपनी साधना से विचलित नहीं हुए। शत्रु-मित्र दोनों के लिए, उपसर्गकर्ता और उपसर्ग निवारण कर्ता दोनों के लिये समान रूप से '**सद्धर्मवृद्धिरस्तु**' का आशीर्वाद दिया। धन्य है इनका समभाव। राजा श्रेणिक अत्यंत प्रभावित हुआ और विशुद्धि को प्राप्त होकर आत्मग्लानि से भर गया। मेरे द्वारा किये गये अपराध का प्रायश्चित्त क्या हो सकता है? सोचने लगा कि अपना सिर, धड़ से अलग कर दूँ। एक समय वह था जब सम्राट श्रेणिक सोच रहा था मुनिराज का सिर, धड़ से अलग कर दूँ। उस समय वह कषाय में था। अब विशुद्धि को प्राप्त हुआ तो इतनी आत्मग्लानि हुई कि वह सोच रहा है अपना सिर, धड़ से अलग कर दूँ शायद तभी मेरे अपराध का प्रायश्चित्त हो सकता है।

मुनिराज यशोधर ज्ञानी साधक थे। सम्राट से कहने लगे—भो राजन्! सिर धड़ से अलग करने से प्रायश्चित्त नहीं हो जायेगा। श्रेणिक ने मुनिराज के वचन सुने तो सोचने लगा—इन्हें मेरे मन की बात कैसे पता चल गई? अहो! धन्य हैं ये मुनिराज, जो इन्होंने मेरे मन की बात जान ली। सम्राट श्रेणिक की आँखों से अश्रुधारा बहने लगी और वह मुनिराज के चरणों में गिर पड़ा। अंतरंग में इतनी विशुद्धि जाग्रत हुई कि उसे सम्यग्दर्शन प्राप्त हो गया। जो कभी भगवान् महावीर के दर्शन भी नहीं करना चाहता था अब वह इतना श्रद्धावनत हुआ कि भगवान् महावीर के समोशरण में प्रथम श्रोता का पद प्राप्त कर लिया। अहो! भगवान् महावीर के पादमूल में क्षायिक सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर लिया।

एक दिन सम्राट श्रेणिक के सम्यग्दर्शन की चर्चा सौधर्म इन्द्र की सभा में होने लगी। बंधुओ, तुम्हारे सम्यग्दर्शन की चर्चा तो तुम्हारे घर में भी नहीं होती होगी, तुम्हारे घर के लोग भी तुम्हारी श्रद्धा के प्रति श्रद्धावान नहीं होंगे लेकिन श्रेणिक महाराज का सम्यग्दर्शन इतना निर्मल था कि उसकी चर्चा सुधर्मा सभा में चल रही है। कौन कर रहा है? सौधर्म इन्द्र कर रहा है। वह कहता है—इससमय भगवान् महावीर स्वामी के शासन में गृहस्थों में श्रेष्ठ महाराज श्रेणिक दृढ़ सम्यग्दर्शन का धारी है। अहो! सभा में बैठे हुए दो देवों को यह बात सहन न हुई। दोनों देव सम्राट श्रेणिक के सम्यग्दर्शन की परीक्षा करने इस मध्यलोक में आये। क्या किया उन देवों ने? जब सम्राट श्रेणिक वन प्रदेश में बिहार कर रहे थे, तब एक सरोवर के निकट अपनी

विक्रिया से निर्ग्रंथ मुनि और आर्यिका का रूप धारण किया। आप लोग भी टटोलना अपने-अपने सम्यग्दर्शन को। सम्राट श्रेणिक के सम्यग्दर्शन के साथ अपने सम्यग्दर्शन की तुलना करना। क्या हुआ? एक देव निर्ग्रंथ मुनि का और दूसरा आर्यिका का रूप धारण कर सरोवर के पास बैठ गया। वह छद्मवेषी मुनि सरोवर में वंशी डालकर बैठा हुआ है, बगल में पिच्छी रखी है और कमण्डलु भी सुशोभित हो रहा है। सम्राट श्रेणिक उसी रास्ते से गुजरते हैं। सम्राट के आगे-आगे उनके सैनिक चल रहे थे। एक सैनिक ने पास में बैठी हुई गर्भिणी आर्यिका को और पिच्छी-कमण्डलु रखे हुये मुनिराज के हाथ में वंशी को देखा। उसने अपना घोड़ा वापिस लौटाया और सम्राट श्रेणिक से कहने लगा—हे राजन्! इस रास्ते से गुजरना ठीक नहीं है। श्रेणिक ने पूछा—क्यों? क्या अनिष्ट है इस रास्ते में? वह सैनिक भी बुद्धिमान था। कहता है—महाराज! राज्य का अनिष्ट हो जाये, धन का अनिष्ट हो जाये, तन का अनिष्ट हो जाये तो कोई बात नहीं, अगर श्रद्धा ही नष्ट हो जाये तो बहुत बड़ा अनिष्ट है। इस मार्ग पर ऐसा ही कुछ दृश्य है जिससे श्रद्धा नष्ट हो सकती है।

सम्राट कहता है—मैं स्वयं चलकर देखूँगा। सैनिकों ने फिर कहा—महाराज! इस मार्ग से न जायें तो ही अच्छा है। **ध्यान रखना, कमजोर श्रद्धावाले लोग ही इसतरह की बात कर सकते हैं। जिनकी श्रद्धा निर्मल होती है, वे कभी दूसरे के शिथिल आचरण को देखकर प्रभावित नहीं होते, अपितु अपने दृढ़ श्रद्धान् से दूसरे के शिथिल श्रद्धान् को भी दृढ़ कर दिया करते हैं।**

इस पंचमकाल में बहुत से तथाकथित सम्यग्दृष्टि लोग दूसरे को देखकर कहते हैं— कहीं इनके संसर्ग से हमारी श्रद्धा शिथिल न हो जाये। इसका तात्पर्य यह है कि तुम पहले से ही कमजोर श्रद्धावाले हो। अरे, सम्यग्दृष्टि तो दूसरे धर्मात्मा को सम्यग्दर्शन में दृढ़ करने की योग्यता रखता है अज्ञानबुद्धि नहीं रखता। सम्राट श्रेणिक ने देखा, अहो! निर्ग्रंथ मुनिमुद्रा है। सबसे पहले क्षायिक सम्यग्दृष्टि सम्राट श्रेणिक ने उन्हें नमस्कार किया। आज के सम्यग्दृष्टि कहते—हमारे सम्यग्दर्शन में दोष लग जायेगा। अहो! श्रेणिक के क्षायिक सम्यग्दर्शन में दोष नहीं लगा, उन्हें दोष दिखाई नहीं दिया। आज के सम्यग्दृष्टियों को दोष दिखाई दे रहे हैं, कहते हैं—सम्यग्दर्शन में दोष लग जायेगा। ध्यान रखना, जो सम्यग्दर्शन में

दोष लगने की बात कहता है उसका सम्यग्दर्शन अभी निर्दोष है ही नहीं।

सीता अगर रावण के उपवन में भी पहुँच जाये तो भी उसको दोष नहीं लगता। क्यों? क्योंकि वह स्वयं अपने आप में दृढ़ है। दृढ़ सम्यग्दृष्टि को दोष लग जाये, ये कैसे सम्भव है? अगर सम्यग्दर्शन में निमित्तों के माध्यम से दोष आ जाये तो इसका तात्पर्य है कि अभी सम्यग्दर्शन विशुद्ध है ही नहीं।

राजा श्रेणिक ने नमोस्तु किया और सविनय निवेदन करने लगे–धन्य है आपका यह उत्तम भेष, धन्य है आपका यह रत्नत्रय मार्ग। ध्यान रखना, प्रथम कार्य क्या है? विनय। आचार्य कहते हैं–विनय जीवन की अनमोल सम्पदा है।

सर्वोपयोगी श्लोक संग्रह के विनय प्रशंसा प्रकरण में कहा है–

समस्त सम्पदां संघं विदधाति वशं स्वकम्।
चिन्तामणिरिवाभीष्टं विनयः कुरुते न किम्।।

विनयी मनुष्य समस्त सम्पदाओं के समूह को अपने वश में कर लेता है। चिन्तामणि के समान विनय किस अभीष्ट को सिद्ध नहीं करती? अर्थात् विनय से लोक के सभी कार्य सिद्ध होते हैं। आचार्य कहते हैं–विनय के बाद दूसरा कार्य है स्थितिकरण।

आचार्य भगवन् समन्तभद्र स्वामी रत्नकरण्ड श्रावकाचार में स्थितिकरण अंग को परिभाषित करते हुए कहते हैं–

दर्शनाच्चरणाद्वापि चलितां धर्मवत्सलैः।
प्रत्यवस्थापनं प्राज्ञैः स्थितिकरणमुच्यते।।16।।

अर्थात् धर्मवत्सल प्राज्ञजनों के द्वारा सम्यग्दर्शन से या चारित्र से अथवा दोनों से विचलित होते जीवों को पुनः सम्यग्दर्शन में, सम्यक्चारित्र में अथवा दोनों में स्थिर किया जाना स्थितिकरण कहलाता है। जिनाज्ञा को शिरोधार्य करके सम्राट श्रेणिक विनम्रता के साथ निवेदन करता है–हे मुनिवर! आपने इतना उत्कृष्ट मार्ग अपनाया है, जो तीनों लोकों में सर्वोत्तम है, तीनों लोकों में पूज्य है। ऐसे श्रेष्ठ और उत्तम मार्ग को अपनाकर भी आपने यह हाथ में वंशी क्यों पकड़

रखी है? वह मुनिभेषी देव कहता है—देखते नहीं हो, सामने यह गर्भिणी आर्यिका बैठी हुई है, उसको मछली खाने का दोहला हुआ है। श्रेणिक उन्हें समझाता है—यह मार्ग ऐसा नहीं है। कर्मोदय से कदाचित् भूल हुई है तो सरोवर पर बैठकर जिनधर्म को मलिन क्यों करते हो? आप मेरे राजमहल में पधारें। सम्राट श्रेणिक कह रहा है कि आप मेरे साथ मेरे राजमहल में चलें, इसे कहते हैं स्थितिकरण और उपगूहन।

आर्यिका से कहा—आप मेरे राजमहल में चलिए, आपके लिए सब प्रकार की अनुकूलतायें वहाँ रहेंगी। पूर्ण समयोपरान्त आप पुनः विशुद्धिपूर्वक अपने व्रतों की शुद्धिकर इस पवित्र मार्ग को स्वीकार करना। मुनिराज से कहते हैं—भो मुने! ये कार्य आपके लिए योग्य नहीं है। आप इस कार्य को छोड़ें। जिस श्रेष्ठ पर्याय को धारण किया है उस रत्नत्रय पर्याय में स्थित होकर अपनी आत्मा का हित करें और आर्यिका का विकल्प त्याग दें।

सम्राट श्रेणिक आर्यिका को साथ लेकर राजमहल की ओर चल दिया। अनेक लोगों ने कहा—भो सम्राट श्रेणिक! आपका सम्यग्दर्शन दोषपूर्ण है। श्रेणिक ने कहा—मेरा सम्यग्दर्शन निर्दोष है। जैसे ही उन वेषधारी देवों ने यह सुना तो तुरंत अपने देवस्वरूप में प्रगट हो गये। कहने लगे—भो सम्राट श्रेणिक! धन्य है आपका सच्चा श्रद्धान। आप इतनी कठिन परीक्षा देते हुए भी अपने श्रद्धान् से नहीं डिगे। हे श्रेणिक महाराज! आपके दृढ़ सम्यक्त्व की चर्चा सुधर्मा सभा में सौधर्म इन्द्र कर रहे थे। इसलिए हम आपकी परीक्षा लेने के लिए यहाँ आये थे। दोनों देव सम्राट श्रेणिक को नमस्कार कर अन्तर्धान हो गये।

अहो! वर्तमान के तथाकथित सम्यग्दृष्टियों को अपने सम्यग्दर्शन का चिन्तन करना चाहिये। छोटी-छोटी सी बातों पर सम्यग्दर्शन दोलायमान हो जाता है।

इन कल्पित सम्यग्दृष्टियों को सच्चे देव में देव दिखाई नहीं देता, सच्चे शास्त्र में शास्त्र दिखाई नहीं देते और निर्ग्रंथ गुरुओं में निर्ग्रंथता दिखाई नहीं देती अपितु तुरन्त दोष दिखाई देने लग जाते हैं। ज्ञानी को गुण दिखाई देते हैं और अज्ञानियों को दोष नजर आते हैं। दृष्टि जैसी होती है मंजर वैसा दिखाई देता है। जिसकी दृष्टि गुणी है वह गुणों पर दृष्टि रखता है और जिसकी दृष्टि अवगुणी है वह अवगुणों को देखता है। गुणवान को सदैव गुणों की संगति रुचिकर लगती

है, अवगुणी को सदा अवगुणों के बीच आनंद आता है।

सर्वोपयोगी श्लोक संग्रह के गुण प्रशंसा प्रकरण में कहा है–

गुणिनि गुणज्ञो रमते नागुणशीलस्य गुणिनि संतोषः।
अलिरेति वनात्कमलं न दर्दुरस्त्वेक वासोऽपि।।

अर्थात् गुण का जानकार ही गुणी मनुष्य में प्रेम करता है। गुणरहित मनुष्य को गुणी मनुष्य में संतोष नहीं होता। जैसे भ्रमर, वन से कमल के पास तालाब में आता है परन्तु मेंढक एक तालाब में निवास करने पर भी कमल के पास नहीं जाता।

निर्ग्रंथ मुद्रा को देखकर भी अज्ञानियों को क्या दिखाई देता है? कि ये महाराज सही नहीं हैं। अरे भाई! तुम तो सम्यग्दृष्टि हो। ध्यान रखना, अगर आप सम्यग्दृष्टि होते तो आपको उनके पवित्र दिगम्बर स्वरूप में जिनेन्द्र भगवान् की पावन मुद्रा दिखाई देती। कहीं कोई शिथिलता या कमजोरी भी दिखाई देती तो आप तुरन्त उसका उपगूहन और स्थितिकरण करने के लिए तत्पर हो जाते। अगर ऐसा उपगूहन और स्थितिकरण का भाव आपके अन्दर दिखाई देता तो वो साधु होते या न होते लेकिन आप सम्यग्दृष्टि जरूर होते। आज के इन तथाकथित सम्यग्दृष्टियों को सबसे पहले यही नजर आता है कि ये सच्चे गुरु नहीं हैं, ये सच्चे शास्त्र नहीं हैं, ये सच्चे देव नहीं हैं।

ध्यान रखना, मिथ्यात्व से बुद्धि ग्रसित है। आचार्य भगवन् शिवार्यस्वामी भगवती आराधना में मिथ्यादर्शन शल्य का कथन इसप्रकार करते हैं–

...मार्गस्थानां भेदकरणं च मिथ्यादर्शनशल्यानि।

मोक्षमार्गरत साधुओं में भेद डालना मिथ्यादर्शन शल्य है। सही-सही बताना वर्तमान के सम्यग्दृष्टियो! जब आप निर्ग्रंथों को निहारते हो तो उनमें भेद दिखाई देता है कि नहीं?

अंतरंग में मिथ्यादर्शन शल्य बढ़ती जाती है और आप अपने को सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा कहते हो। **यदि श्रावक को मोक्षमार्गी साधुओं में सर्वथा भेद दिखाई दे तो वह श्रावक मिथ्यादर्शन शल्य से पीड़ित है। अगर साधुओं को मोक्षमार्गी साधुओं में सर्वथा भेद**

दिखाई दे तो वह साधु भी मिथ्यादर्शन शल्य से पीड़ित है, क्योंकि जिनागम कभी अन्यथा नहीं होता, जिनवाणी कभी अन्यथा नहीं होती।

साधुओं को देखकर अंतरंग में यदि भेदभाव उत्पन्न होता हो तो जिनवाणी के इन पवित्र सूत्रों को सुनकर अपनी शल्य को बाहर निकाल देना और सम्यग्दर्शन की विशुद्धि को धारण करना। क्योंकि सम्यग्दर्शन की विशुद्धता ही आत्महित का कारण है।

पं. राजमल्ल लाटी संहिता के सर्ग-2 में कहते हैं–

सम्यक्त्वं दुर्लभं लोके, सम्यक्त्वं मोक्षसाधनम्।
ज्ञान-चारित्रयोर्बीजं मूलं धर्म-तरोरिव।। 2-1।।

अर्थात् जगत में सम्यग्दर्शन दुर्लभ है, सम्यग्दर्शन मोक्ष का कारण है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र का बीज है तथा धर्मरूपी वृक्ष की जड़ के समान है।

आचार्य भगवन् कुंदकुंदस्वामी कहते हैं–इस पंचमकाल में भरतक्षेत्र के मनुष्यों में सम्यग्दर्शन की विशुद्धि हीनता को प्राप्त हो जाती है।

ध्यान रखना, दृढ़ श्रद्धावान् श्रावक आज भी हैं जिन्हें व्यर्थ की बातों से कोई प्रयोजन नहीं है। ऐसे कर्तव्यनिष्ठ और धर्मनिष्ठ श्रावक कहते हैं–मेरा जो कर्तव्य है मैं उस श्रावकोचित कर्तव्य को करता रहूँगा।

इस पवित्र जिनवाणी को सुनकर मिथ्यादर्शन शल्य को निकाल देना, अन्यथा अंतरंग में कभी सम्यक्त्व का प्रकाश न हो पायेगा। चाहे कितने भी शास्त्र पढ़ो, चाहे कितना भी धर्म करो जब तक मिथ्याशल्य जैसे कारणों से नहीं बचोगे तब तक संसार परिभ्रमण कार्य से बच नहीं सकते। अगर ऐसा भेदभाव अंतरंग में आता हो जो मिथ्यादर्शन शल्य का कारण कहा है तो उसे जरूर अपने हृदय से बाहर कर देना। अगर इस पंचमकाल में भी आपने निर्मल सम्यग्दर्शन को धारण कर लिया, तो जन्म भले ही पंचमकाल में लिया लेकिन धर्म चतुर्थकाल का करके जाओगे।

जब सम्यग्दर्शन की विशुद्धि घट जाती है तो चल, मल, अवगाढ़, आदि दोष सम्यग्दर्शन में लगने लग जाते हैं। ये भगवान् हमारे और ये भगवान् तुम्हारे, ये गुरु हमारे और वे गुरु तुम्हारे, यह सम्यग्दर्शन का दोष है। यह मंदिर हमारा और वह मंदिर तुम्हारा,

यह सम्यग्दर्शन की निर्मलता नहीं दोष है। मुनिसुव्रतनाथ भगवान् शनिग्रह की शांति करेंगे, शांतिनाथ भगवान् दु:खों की शांति करेंगे और पारसनाथ सारे कष्ट हरण कर लेंगे, इसप्रकार की धारणा सम्यग्दर्शन का दोष है। आचार्य भगवन् कहते हैं–तीर्थंकर कोई भी हों, किसी भी तीर्थंकर की आराधना कर लो, सभी तीर्थंकर तुम्हारे संसार का नाश करने में निमित्त कारण हैं।

दर्शन स्तुति में कहा भी है–

''यह लखि निजदु:ख गदहरण काज,
तुमही निमित्त कारण इलाज।''

कोई भी तीर्थंकर हों, कोई भी भगवान् हों, सब भव्यजीवों के कष्टों का हरण करने में निमित्त कारण हैं।

ध्यान रखना, भगवान् किसी को दु:खों से मुक्त नहीं करते, भगवान् के निमित्त से आपकी आत्मा में जो विशुद्धि जाग्रत होती है वही विशुद्धि आपके लिए दु:खों से मुक्त करती है। केवल शांतिनाथ भगवान् शांति करेंगे, जब ऐसा भाव आत्मा में उत्पन्न होता है तब सम्यग्दर्शन की विशुद्धि घट जाती है, हीन हो जाती है। सम्यग्दर्शन में सम्यक्त्व प्रकृति के कारण यह दोष लगता है इसलिए अपनी श्रद्धा को निर्मल बनाने का प्रयास करना।

जीवन में कितने भी संकट क्यों न आ जायें कभी मूढ़ताओं में मत फँसना। जीवन में जो कष्ट आते हैं वो जीव के स्वयं के पापकर्म के उदय से आते हैं, किसी के करने से नहीं आते हैं। जब पापकर्म का उदय आता है तो सहज ही अनुकूलतायें छिन जाती हैं, वस्तुएँ खो जाती हैं और जब पुण्य का उदय आता है तो सहज ही वस्तु का योग बन जाता है।

सम्यक्त्व कौमुदी में आचार्य कहते हैं–

भवितव्यं भवत्येव नारिकेल-फलाम्बुवत्।
गन्तव्यं गमयत्येव गजभुक्त-कपित्थवत्।।190।।

जैसे नारियल में पानी अपने आप आ जाता है और हाथी के द्वारा उपभुक्त कैंथा का दल अपने आप चला जाता है वैसे ही भाग्य की अनुकूलता होने पर लक्ष्मी बिना प्रयत्न के ही प्राप्त

हो जाती है और भाग्य की प्रतिकूलता में अकस्मात ही चली जाती है।

जो होनहार है वह नारियल के भीतर पानी की तरह होकर ही रहती है और जो जानेवाली वस्तु है वह गज के द्वारा खाये गये कैंथा के समान जाती ही है, इसलिए अज्ञान मान्यताओं में पड़कर अपने सम्यग्दर्शन को मलिन नहीं करना चाहिये। सम्यग्दर्शन की विशुद्धि नहीं खोना चाहिये। अपनी सच्ची श्रद्धा को सदैव बनाकर रखना चाहिये। आचार्य कहते हैं इस पंचमकाल में विशुद्धि हीन हो जाती है। तुम रोज उपदेश सुनते हो, जिनमंदिर जाते हो, जिनेन्द्र देव की भी आराधना करते हो, जिनवाणी भी सुनते हो, दानधर्म भी करते हो, लेकिन जब जीवन में कोई संकट की घड़ी आती है तो अन्य जगह जा-जाकर अपना माथा भी टेक आते हो, सारे काम कर लेते हो, एक भी नहीं छोड़ते। क्यों? क्योंकि पंचमकाल में सम्यग्दर्शन की विशुद्धि हीनता को प्राप्त हो जाती है।

तव-गुण-चरित्त-सण्णाण-दाण-परिहीणं।

आचार्य कहते हैं—इस पंचमकाल में तप में हीनता आ जाती है। जैसा उत्कृष्ट तप चतुर्थकाल में निर्ग्रंथ योगियों द्वारा धारण किया जाता था वैसा उत्कृष्ट तप इस पंचमकाल में साधुओं द्वारा धारण नहीं किया जाता। कोई मुनिराज से कितना भी कहे—हे मुनिवर! आप तो उत्कृष्ट तपस्वी हो। लेकिन मुनिराज उससे यही कहते हैं—भो भव्य! ये तुम्हारी श्रद्धा की भाषा है, ये तुम्हारी भक्ति की भाषा है लेकिन जिनागम की भाषा में पंचमकाल में उत्कृष्ट तप होता ही नहीं है।

उत्कृष्ट तप क्यों नहीं होता? आचार्य कहते हैं—पंचमकाल में मनुष्यों का संहनन सबसे हीन होता है। जब संहनन अर्थात् शक्ति ही उतनी नहीं होती तो तप उत्कृष्ट कैसे हो सकता है? लेकिन जो तप इस पंचमकाल में भी मुनिवर साध लेते हैं वह तप भी श्रावक के लिए अत्यन्त दूभर है, मुश्किल है। इसलिए श्रावक कहता है—धन्य हो मुनिवर! जो आपने ऐसा उत्कृष्ट तप धारण किया है।

इस पंचमकाल में मूलगुणों के पालन में भी हीनता आ जाती है। यद्यपि कोई साधक या श्रावक अपने मूलगुणों में दोष नहीं लगाना चाहता, हीन नहीं करना चाहता तथापि कहीं न कहीं

प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मूलगुणों में भी दोष लग जाते हैं। **कोई श्रावक या साधु अगर ऐसा कहे कि मैं तो पूर्ण निर्दोष हूँ तो ध्यान रखना, यह अहंकार की भाषा है। मैं ही निर्दोष हूँ, बाकी सभी सदोष हैं। अरे भैया, क्यों अवर्णवाद करते हो जिनागम का। इस पंचमकाल में ही आचार्य कुंदकुंद जैसे ज्ञानी और समन्तभद्र स्वामी जैसे साधक हुये हैं, वे महान आचार्य भी कभी ऐसी अहंकार की भाषा नहीं बोले, अपितु वह अपने अनुभव से यह लिखकर गये कि पंचमकाल में मूलगुणों के पालन में हीनता आ जाती है।** जब कभी अपने ऊपर दृष्टि डालोगे तो सहज पता चल जायेगा कि अपने मूलगुणों में कहाँ-कहाँ दोष लगता है।

भो साधको! अगर कदाचित् आप निर्दोष हो गये हैं तो आज से प्रतिक्रमण करना बंद कर दो। क्योंकि अजितनाथ भगवान् से लेकर भगवान् पार्श्वनाथ तक के काल में कथंचित् जितने भी साधक हुए उनकी चर्या में कभी कोई दोष नहीं लगता था, इसलिए उनके लिए आचार्य भगवन्तों ने प्रतिक्रमण करने का विधान नहीं किया, लेकिन भगवान् आदिनाथ और भगवान् महावीर स्वामी के समय के साधकों को प्रतिदिन प्रतिक्रमण करने की आज्ञा दी है।

अगर प्रतिक्रमण हो रहा है तो इसका तात्पर्य यह है कि मूलगुण आदि में कहीं न कहीं दोष अवश्य लग रहा है। अब आप मानो या ना मानो, पर ये अर्हंत की वाणी है और बिल्कुल अकाट्य है।

इस पंचमकाल में जिसने भी स्थितिकरण, उपगूहन और वात्सल्य अंगों का पालन कर लिया, समझ लेना वही सबसे बड़ा धर्मात्मा पुरुष है। स्वयं निर्दोष साधना की भावना रखते हुए कदाचित् कर्मोदय से किसी की साधना में कोई दोष लग गया हो तो उसे पुनः मार्ग में स्थिर करना भी बहुत बड़ी साधना है। मूलगुणों का यथारीति पालन हो सके इसीलिये आचार्य भगवंतों ने साधुओं को संघ में रहने की आज्ञा दी है। एकल विहार में दोषों की संभावना अधिक होती है।

पंचमकाल में साधकों को एकल विहार की आज्ञा नहीं है। आचार्य भगवन् मूलाचार जी में लिखते हैं–

सच्छंद गदागदी सयण णिसय णादाणभिक्ख वोसरणे।
सच्छंद जंपरोचि य मा मे सत्तूवि एगागी।।150।।

अर्थात् गमन, आगमन, सोना, बैठना, किसी वस्तु को ग्रहण करना, आहार लेना और मल-मूत्रादि विसर्जन करना, इन कार्यों में जो स्वच्छंद प्रवृत्ति करनेवाला है और बोलने में भी जो स्वच्छंद रुचिवाला है ऐसा मेरा शत्रु भी एकल बिहारी न होवे।

कम से कम दो मुनि अर्थात् समलिंगी साधुओं का संघ कहलाता है। एक मुनि और एक क्षुल्लक समलिंगी नहीं होने से संघ की कोटि में नहीं आते अपितु एकलविहारी ही कहे जाते हैं। यदि दो साधक होंगे तो एक सोचता है—यदि मैं स्वयं गिरूँगा तो दूसरे का हाथ पकड़कर सँभल जाऊँगा और अगर दूसरा गिर रहा होगा तो उसको अपने हाथ का सहारा देकर सँभाल लूँगा। ऐसी निर्मल भावना अगर पंचमकाल में साधकों और श्रावकों में आ जाये तो वे इस पंचमकाल के सबसे उत्कृष्ट साधक होंगे, क्योंकि इस काल में तप हीन होता है इसलिए सहयोग की साधना ही सर्वश्रेष्ठ साधना है।

आचार्य कहते हैं—चारित्र, दान और ज्ञान में भी इस काल में हीनता देखी जाती है।

हम सभी ने यद्यपि इस पंचमकाल में जन्म लिया है इसतरह का वातावरण हमारे बीच में है, कि हम छोटे-छोटे से कारण उपस्थित होने पर तुरन्त ही अपनी विशुद्धि को खो देते हैं। हमें जिनवाणी पर सच्ची श्रद्धा रखकर विशुद्धि में स्थिर होने का प्रयास अवश्य करते रहना चाहिये। अगर हम ऐसा प्रयास और पुरुषार्थ करते रहेंगे तो निश्चित रूप से हमारा सम्यग्दर्शन स्थिर बना रहेगा। क्षयोपशम सम्यग्दर्शन वृद्ध के हाथ की लाठी की तरह है वह हिलती कितनी भी रहे लेकिन हाथ से छूटती नहीं हैं उसीतरह सम्यग्दर्शन हमारे हाथ से कभी छूट न जाये ऐसी भावना निरंतर भाते रहना चाहिए।

सम्यग्दर्शन की शुद्धि, धर्म आचरण की बुद्धि।
सम्यग्ज्ञान दान में भी, घटती जाती है बुद्धि।।
यह काल पंचम, हो-हो-2 ऐसा दिखलाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2, संहिता दिखलाये रे।।

अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

❑❑❑

(पंचम काल का दुष्प्रभाव)

सम्मविसोहि-तव-गुण-चरित्त-सण्णाण-दाण-परिहीणं।
भरहे दुस्समकाले, मणुयाणं जायदे णियदं।।38।।

*** अन्वयार्थ ***

(**भरहे**) इस भरतक्षेत्र में (**दुस्समकाले**) दु:खमा काल (**पंचमकाल**) में (**मणुयाणं**) मनुष्यों के (**णियदं**) निश्चय ही (**सम्मविसोही**) सम्यग्दर्शन की विशुद्धि (**तवगुणचरित्तसण्णाणदाणपरिहीणं**) तप, मूलगुण, सम्यक्चारित्र, सम्यग्ज्ञान और दान में हीनता (**जायदे**) होती है।

अर्थ–इस भरतक्षेत्र में दु:खमा काल (पंचमकाल) में मनुष्यों के निश्चय ही सम्यग्दर्शन की विशुद्धि, तप, मूलगुण सम्यक्चारित्र, सम्यग्ज्ञान और दान में हीनता होती है (पायी जाती है)।

गाथा-38

(प्रवचन)

II

●

पापी श्रमण कौन?

15.10.2013

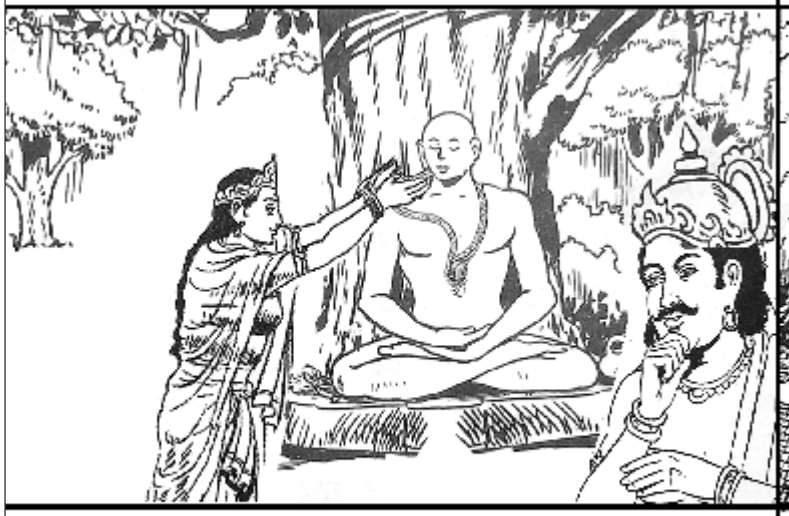
भिण्ड



मुनिराज यशोधर और श्रेणिक के शिकारी कुत्ते।



क्रोधित हो राजा श्रेणिक मुनिराज पर तलवार खींचते हुए। बाद में मृत सर्प गले में डाल दिया।



महारानी चेलना उपसर्ग दूर करते हुये। श्रेणिक पश्चाताप करते हुये।



यशोधर मुनिराज सम्यग्दर्शन का स्वरूप समझाते हुये।

49

रयणोदय

सम्यग्दर्शन की शुद्धि, सम्यग्ज्ञान-चरित शुद्धि।
भरतक्षेत्र पंचमयुग में, हीन-हीन होती बुद्धि।।
तप-दान-गुण में, हो-हो-2 हीनता दिखाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2, संहिता दिखलाये रे।।

'**जयदु जिणागमपंथो**' अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

तीर्थंकर भगवंत की दिव्यध्वनि जिनश्रुत है, जिनागम है। जिनागम में वर्णित आत्मकल्याणकारी मार्ग, आत्महितकारी पंथ '**जिनागम पंथ**' है। परस्पर रागद्वेष को बढ़ानेवाले आगमबाह्य पंथ उन्मार्ग हैं। वीतरागता को देनेवाला, '**परस्परोपग्रहो जीवानाम्**' का प्रतीक '**जिनागम पंथ**' सन्मार्ग है।

यदि श्रद्धा को मजबूत करना है तो ज्ञानामृतरूपी पौष्टिक आहार की आवश्यकता होती है। जिसप्रकार सरकार स्कूलों में बच्चों को पौष्टिक आहार देने का उपक्रम करती है उसीप्रकार जिनवाणी का पौष्टिक आहार आचार्यों द्वारा भव्यों के लिए दिया जा रहा है। अगर ये श्रेष्ठ ग्रन्थ न होते, तो वास्तव में इस क्षितितल पर निर्ग्रंथ भी नहीं होते। लेकिन आगम वाक्य है कि जब

तक इस धरती पर निर्ग्रंथ रहेंगे तब तक ग्रंथ भी रहेंगे। जितना आनंद हमें निर्ग्रंथों को देखकर आता है उतना ही आनंद जिनवाणी को देखकर भी आना चाहिए।

आप रोज निर्ग्रंथ योगी को पड़गाहकर नवधाभक्ति से आहार देते हो, कभी निर्ग्रंथ योगी से भी आहार लेना सीखो। आप तो पुद्गल का आहार संयमवृद्धि के लिए साधुओं को देते हो और साधु भगवंत रोज आपको जिनवाणी का अमृताहार कराते हैं, भावना भाते हैं कि आपके अंदर भी रत्नत्रय वृद्धि को प्राप्त हो।

आप मुनिराज के करपात्र में आहार इसलिए देते हो कि उनके संयम की वृद्धि हो, उनका चारित्र वर्द्धमान हो।

आचार्य कहते हैं–

आहारसणं देहो देहेण तवो तवेण रय सडणं।
रयणासेसा य णाणं णाणे मुक्खो जिणो भणई।।

अर्थात् आहार करने से शरीर की स्थिति रहती है, शरीर से तप होता है, तप से कर्मरज का विनाश होता है, कर्म के विनाश से केवलज्ञान होता है और केवलज्ञान से मोक्ष होता है ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

इसी भावना से श्रावक निर्ग्रंथों के करपात्र में आहार देता है। वर्तमान में कतिपय समभाव विहीन साधु अमीर-गरीब का भेदकर धनाढ्यजनों को शुभ वर्गणाओंवाला पुण्यात्मा और गरीबों को अशुभ वर्गणाओंवाला पापात्मा कहकर धनिकजनों के गृह में पूर्व से ही लाखों-करोड़ों के दान देने का ठहराव कर आहार ग्रहण करते हैं, ऐसे समभाव विहीन पापी श्रमण एषणा चर्या में महादोष लगाते हैं, मार्ग बिगाड़ते हैं। कोई निर्ग्रंथ साधु, भक्तों के लोभ में चौके में अपनी अंजुलि में ज्यादा वस्तु ग्रहण करके फिर अपनी अंजुलि से भक्तों को प्रसाद की तरह वस्तु बाँटने का अनुचित कार्य करने लगे हैं। ध्यान रखना! मुनिराज अपने करपात्र से किसी को आहार नहीं दे सकते।

आचार्य भगवन् अमितगतिस्वामी योगसारप्राभृत में लिखते हैं–

पिण्डः पाणि गतोऽन्यस्मै दातुं योग्यो न युज्यते।
दीयते चेन् न भोक्तव्यं भुङ्क्ते चेद् दोषभाग् यतिः।।8/64।।

अर्थात् साधु के हाथ में पड़ा हुआ आहार दूसरे को देने योग्य नहीं होता इसलिए नहीं दिया जाता। यदि दिया जाता है तो साधु को फिर भोजन नहीं लेना चाहिए, यदि वह साधु भोजन करता है तो दोष का भागी होता है।

जैसे साधु अपने करपात्र में आया हुआ आहार किसी को नहीं दे सकता, उसीप्रकार मुनिराजों के मुख से सुनी हुई जिनवाणी मात्र दूसरों को देने के लिए नहीं, अपितु आत्मसात् करने के लिए है।

चौरासी लाख योनियों में भटकते हुए जीव ने पर्यायरूपी ड्रेस तो बहुत बदलीं हैं, परंतु ज्ञान में प्रवेश नहीं मिला। अनंतबार चतुर्थकाल भी मिला, पंचमकाल भी मिला लेकिन वह काल नहीं मिला जिसमें अपने आपको समझा जाता है। यह पर्याय अनमोल है, इसकी दुर्लभता का विचार करने की आवश्यकता है।

अगर आपको शादी में जाना हो, आपके कपड़े गंदे हों और सिर्फ एक घण्टे के लिए ही आपको पानी उपलब्ध हुआ हो तो आप क्या करोगे? आप अपने सारे कामों को छोड़कर पहले वस्त्र को धोने का प्रयास करोगे। क्यों? क्योंकि फिर पानी मिलनेवाला नहीं है। उसीप्रकार आत्मा का हित करने के लिए यह पर्याय आपको बड़ी दुर्लभता से प्राप्त हुई है, इस पर्याय का मूल्य समझो अन्यथा पर्याय छूटने पर सिर्फ पछताना ही पड़ेगा।

इस काल में जीव बाह्य भौतिक संसाधनों में आसक्त होता चला जाता है। अपने हित का साधन क्या है? इसका विचार ही नहीं कर पाता। जब तक अंतरंग में बाह्य वस्तु की चाह है, जब तक आत्मा में बाह्य वस्तु के प्रति रागभाव है तब तक पंचमकाल दुःखदाई प्रतीत नहीं होता। हम भौतिक इन्द्रियसुखों में ही गाफिल बने हुए हैं और पंचमकाल का साया हमारे ऊपर निरंतर मंडरा रहा है। हम भौतिक विकाश की ओर दौड़ लगा रहे हैं और हमारी आध्यात्मिक सम्पदा लुटती जा रही है। जीवन भौतिक विकास से श्रेष्ठ नहीं बनता, जीवन आध्यात्मिक विकास से श्रेष्ठ बनता है। आध्यात्मिक विकास जीवन को ऊँचा उठाता है। इस पंचमकाल में

हमारी आध्यात्मिक सम्पदा तप, सम्यक्त्व की विशुद्धि, निरंतर हीन होती जा रही है। इस काल में जीव विशुद्ध सम्यग्दर्शन को धारण नहीं कर पाता।

दूसरों में बुराईयाँ खोजना सरल है लेकिन अपने अन्दर बुराईयाँ खोज पाना बहुत कठिन कार्य है। अपने अन्दर बुराईयाँ खोजना धर्मात्मा जीवों की पहिचान है। सम्यग्दृष्टि जीव निरन्तर अपने अन्दर बुराईयाँ खोजने का प्रयास करता है।

घर में कचरा पड़ा हो तो आप झाड़ु पड़ोसी के घर लगाने नहीं जाते अपितु अपने ही घर में झाड़ु लगाकर अपने घर को स्वच्छ बनाने का प्रयास करते हो उसीप्रकार सम्यग्ज्ञान की झाड़ु दूसरे के घर में लगाने के लिए नहीं आत्मारूपी घर में लगाने को प्राप्त हुई है। यह सम्यग्ज्ञान की झाड़ु अगर अपने घर में लगाओगे तो आत्मारूपी घर स्वच्छ और निर्मल हो जायेगा। जिसको दूसरों के अन्दर बुराईयाँ दिखती हों, दूसरों के अन्दर दोष दिखते हों तो समझ लेना उसके सम्यग्दर्शन में निर्दोषता नहीं है। जब अपने अन्दर बुराइयाँ नजर आने लग जायें तो समझना कि सम्यग्दर्शन की विशुद्धि भीतर जागृत हो रही है।

दूसरों को देखनेवाले अज्ञानी इस दुनिया में बहुत हैं, लेकिन अपनी आत्मा को, अपने आप को निहारनेवाले ज्ञानी जीव इस दुनिया में विरले हैं। सम्यग्दर्शन आत्मदर्शन की कला सिखाता है। सम्यग्ज्ञान जीव को महान बनाता है और सम्यक्चारित्र जीव को निर्वाण दिलाता है। सम्यक्त्व की विशुद्धि बनाये रखना बड़ा कठिन है। **अगर कोई जिनेन्द्र भगवान् की निन्दा कर रहा हो, गुरु निन्दा कर रहा हो, जिनवाणी की निन्दा कर रहा हो तो निर्णय कर लेना कि यह जीव घोर मिथ्यादृष्टि है।** ज्ञान होना अलग बात है और सम्यग्दर्शन होना अलग बात है। पंचमकाल में धर्म के मार्ग पर संभलकर चलना होता है क्योंकि एक तरफ कुँआ है और दूसरी तरफ खाई है। धन्य हैं वे जीव जो इस कठिन डगर पर अपने कदमों को सँभाल-सँभाल कर मोक्षमार्ग पर आगे बढ़ रहे हैं। एक साधक क्या भावना भाता है? मैंने एक ग़ज़ल लिखी थी उसी की दो पंक्तियाँ हैं–

बहती हुई नदी को पार कर रहा हूँ मैं।
तूफाँ के आगे रोज दिया धर रहा हूँ मैं।।

(ज़ाहिद की ग़ज़लें)

इस पंचमकाल में मुनिव्रत को धारण करना बहती हुई नदी को पार करने जैसा कठिन कार्य है। तूफाँ के आगे टिमटिमाता हुआ दीप रखने जैसा मुश्किल कार्य है फिर भी दिया जल रहा है। इस काल में सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि हीन हो सकते हैं लेकिन इनका अभाव नहीं हो सकता।

जिसप्रकार रिमझिम बारिश में काली चिकनी मिट्टी पर चलना हो तो कदमों को सँभाल-सँभालकर कदम जमा-जमाकर रखना होता है। उसीप्रकार इस पंचमकाल में धर्ममार्ग पर चलनेवालों को अपने कदम सँभाल-सँभालकर रखने होते हैं।

जिसप्रकार किसी भवन की एक ईंट निकल जाये तो उस भवन की ईंटें निकालनेवाले तो बहुत मिल जायेंगे, लेकिन निकली हुई ईंट को वापिस लगानेवाले लोग मिलना बहुत दुर्लभ हैं उसीप्रकार इस पंचमकाल में धर्म के मार्ग से फिसलते हुए धर्मात्मा जीवों को धक्का देकर गिरानेवाले लोग तो कदम-कदम पर मौजूद हैं लेकिन धर्म के मार्ग से गिरते हुये को हाथ का सहारा देकर सँभालनेवाला कोई विरला जीव ही मिलता है।

पंचमकाल में श्रावकधर्म और श्रमणधर्म के पालन में निरंतर हीनता देखी जाती है। वर्तमान समय में गृहस्थ में रहकर श्रावकधर्म का पालन करना भी बहुत कठिन है। जिसप्रकार भूख से कम खाने की अपेक्षा उपवास करना सरल होता है, क्योंकि उपवास करनेवाला व्यक्ति तो भोजन के त्याग का संकल्प लिये है, उसके अंदर भोजन संबंधी कोई विकल्प ही नहीं है, लेकिन जिसके सामने व्यञ्जनों से भरी थाली रखी हो, भूख भी तेज लग रही हो फिर भी वह भूख से कम खाना खाये, तो यह बहुत कठिन बात है, उसीप्रकार जो सभी भोगोपभोग के साधनों का त्यागकर साधु बन चुके हैं वो इन विकल्पों से मुक्त ही हैं लेकिन श्रावक उन्हीं भोगोपभोग के साधनों के बीच रहता है फिर भी दृढ़ता से अपने धर्म का पालन करता है, यह निश्चित रूप से बहुत कठिन काम है। **वैरागी होकर गृहत्याग कर जीना सरल है घर में रहकर धर्म का पालन करना कठिन है।** घर में रहकर भी इसकाल में जो धर्म का पालन करता है निश्चित रूप से वह बहुत बड़ा साधक है। भौतिकता की चकाचौंध में अपने सम्यक्त्व को विशुद्ध बनाकर रख पाना बहुत मुश्किल होता है।

वर्तमान में प्रत्येक श्रावक का एक नियम होना चाहिए कि माह में या वर्ष में कम से कम

एक सप्ताह तक हम अपने घर में शुद्ध भोजन करेंगे, पात्रों को दान देकर अपने श्रावक धर्म का पालन करेंगे। अगर ऐसा होगा तो श्रावककुलों में मुनिराजों को आहारदान की परम्परा निरंतर चलती रहेगी और यह जिनशासन, जिनागम पंथ वर्द्धमान होता रहेगा।

वर्तमान में जैनकुलों की भोजनशुद्धि खत्म होती जा रही है। चाहे पारिवारिक आयोजन हों या फिर सामाजिक सभी जगह बुफे सिस्टम (Buffet system) की पद्धतियाँ प्रारंभ हो चुकी हैं। 'बुफे सिस्टम' (Buffert system) का तात्पर्य है 'गिद्ध भोजन'। जिस प्रकार अनेक गिद्ध एक साथ अपने भोजन पर झपटते हैं उसीप्रकार बुफे सिस्टम (Buffert system) में अपने आपको सभ्य माननेवाले लोग एक साथ भोजन पर टूट पड़ते हैं। एक-दूसरे का जूठा भोजन करके भी आनंदित होते हैं। अहो! कैसी पद्धतियाँ हैं जिनमें हमारे संस्कार नाश को प्राप्त हो रहे हैं। **भो श्रावको! गिद्ध मत बनना, सिद्ध बनने का पुरुषार्थ करो। जो तीन सौ पैंसठ दिन जैसा मिला वैसा भोजन करता है वह गिद्ध की तरह है। जो शुद्ध भोजन करता है वही एक दिन सिद्ध बन सकता है। केवल जीवन निर्वाह मत करो, जीवन निर्वाह के साथ-साथ जीवन का निर्माण भी करो।**

यह पंचमकाल का दुष्प्रभाव है कि इसकाल में श्रद्धा, तप, गुण, व्रत आदि में हीनता आ जाती है। एक समय ऐसा था जब तीर्थंकर भगवंतों का पादमूल प्राप्त होता था, चतुर्थ काल था उस समय मनुष्य तो क्या तिर्यंच भी सम्यग्दृष्टि हुआ करते थे। तीर्थंकर प्रभु के समोशरण में तिर्यंच जीव भी जाकर विराजते थे। उन तिर्यंचों को भी अर्हंत प्रभु के प्रति सच्ची श्रद्धा थी क्योंकि सच्ची श्रद्धा के बिना तीर्थंकर का पादमूल नहीं मिलता।

क्या हम और आप भी कभी तीर्थंकर के समोशरण में विराजे होंगे? अगर श्रद्धा से विराजे होते तो इस पंचमकाल में मिथ्यात्व के साथ जन्म न लेते। अगर बैठे भी होंगे तो मारीचि का अनुसरण किया होगा। तीर्थंकर का पादमूल प्राप्त करने के लिए सातिशय पुण्य चाहिये। वह सातिशय पुण्य कहाँ मिलेगा? वह सातिशय पुण्य तीर्थंकर के जिनबिम्ब, शास्त्र और गुरु के निमित्त से मिलता है। पंचमकाल में हम मात्र जिनबिम्ब की ही आराधना कर पाते हैं। आचार्य भगवन् पूज्यपादस्वामी सर्वार्थसिद्धि में कहते हैं—जिनबिम्ब का दर्शन भी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में कारण है। कुछ लोग कहने लगते हैं—पाषाण के बिम्ब सम्यग्दर्शन में कारण कैसे हो सकते हैं? मैं उनसे कहता हूँ—भगवान् के पास बहरे होकर नहीं, कान खोलकर जाना चाहिये। भव्यजीव जिनालय में जाता है, जिनबिम्ब को अपलक निहारता है और चिन्तन करता है—

अहो! भगवान् ने पाँच इन्द्रियों को जीत लिया है। उपयोग आत्मा में रहने से वीतरागी हैं। अगर भगवान् को निहारते समय यह चिंतन आत्मा को सुनाई दे जाये, तो समझ लेना भगवान् की दिव्यध्वनि सुनने को मिल गई है। लेकिन भगवान् की वाणी सुनने से पहले वीतरागी संतों की वाणी सुनना पड़ती है।

इतिहास साक्षी है, एक महान गुरुभक्त एकलव्य इस धरती पर हुआ। गुरु द्रोण ने उसे मना कर दिया कि मैं शूद्रों को शिक्षा नहीं देता। एकलव्य जैसी अवस्था ही वर्तमान में हमारी है। एकलव्य ने कहा–हे गुरुदेव! आपने मुझे स्वीकार नहीं किया, कोई बात नहीं, मैंने आपको स्वीकार कर लिया है ये मेरे लिये बहुत बड़ी बात है। एकलव्य जंगल में गया मूर्ति बनाकर अभ्यास करने लगा और श्रेष्ठ धनुर्धारी बन गया।

एक दिन उसने भौंकते हुए कुत्ते के मुँह को बाणों से भर दिया लेकिन कुत्ते को पीड़ा न होने दी। यही होता है धर्मात्मा जीवों का लक्षण, वह किसी को पीड़ा नहीं देता और समस्या का समाधान भी कर लेता है। एकलव्य की इस अद्भुत कला से आश्चर्यचकित होकर गुरु द्रोण, अर्जुन को लेकर कुटिया पर पहुँचे। एकलव्य गुरु द्रोण के दर्शनकर चरणों में नतमस्तक हो गया। गुरु द्रोण ने पूछा–भो वत्स! ये विद्या तुमने किससे प्राप्त की है? एकलव्य ने कहा–गुरुदेव! आपने ही तो सिखाई है। यह बात अर्जुन ने सुनी तो अर्जुन का चेहरा फीका पड़ गया। अर्जुन की निगाह जब गुरु द्रोण की मिट्टी की प्रतिमा पर पड़ी तो एकलव्य की गुरुभक्ति और कर्तव्यनिष्ठा को समझते देर न लगी। अर्जुन एकलव्य से बोला–एकलव्य! मैं प्रणाम करता हूँ तेरी श्रद्धा को, मैं प्रणाम करता हूँ तेरी गुरु भक्ति को, तुझे गुरु नहीं मिले, लेकिन तूने गुरु की श्रद्धा को पा लिया।

आज पंचमकाल में हम भी एकलव्य जैसे भक्त बनकर भगवान् की प्रतिमा बनाकर उनकी सन्निधि प्राप्त कर रहे हैं। पंचमकाल का कितना भी दुष्प्रभाव क्यों न हो, लेकिन हमारा अतीत का पुण्य हमें आज भी पंचकल्याणक का अवसर प्रदान कर रहा है।

सच्चे देव, शास्त्र, गुरु को पाकर हमारी श्रद्धा कहीं बिन पैंदी के लोटे की तरह ही न बनी रहे कि पारसनाथ मिल जायें तो वो खेवनहार और पद्मावती मैया मिल जायें तो वो खेवनहार। सीता पर घोर संकट आया लेकिन सीता ने किसी को नहीं बुलाया। सच्ची श्रद्धा से **'णमो अरिहंताणं'** कहकर अग्नि में पैर रख दिया। अग्नि का कुण्ड देखते ही देखते पानी का सरोवर

बन गया। सच्ची श्रद्धा है तो आज भी आपके बिगड़े काम बन सकते हैं और सच्ची श्रद्धा नहीं है तो चाहे साक्षात् भगवान् हों चाहे भगवान् की प्रतिमा हो तुम्हारा काम बननेवाला नहीं है। हमारी कच्ची, बनावटी और दिखावटी श्रद्धा ने ही आज अनेक काल्पनिक भगवानों को पैदा किया है। अब तो भगवानों की बाड़ आ रही है।

पंचमकाल में तप भी हीन हो रहा है, अब चतुर्थकाल जैसा महान तप नहीं है। चौथे काल में जंगल में साधना करनेवाले साधक थे आज वैसा उत्कृष्ट संहनन नहीं है, अत: आज साधुओं को शक्ति के अनुसार साधना करना चाहिए। निर्ग्रंथ साधकों को भौतिक साधनों का उपयोग नहीं करना चाहिए। भोगी जीवों से बचकर रहना चाहिए क्योंकि लोहा जंग के बीच में रहेगा तो जंग खायेगा ही खायेगा। असंयमी जीव जंग लगे लोहे हैं।

भो साधक! गृहस्थों की संगति साधना में दीमक की तरह है, जो साधना को नष्ट कर डालती है। संत को पंचमकाल में अगर सुरक्षित रहना है तो श्रावकों की रागद्वेष भरी बातों से दूर रहना चाहिए, क्योंकि सैप्टिक (Septic) तो सैप्टिक (Septic) ही पैदा करेगा। आज श्रावक का आचरणहीन होता जा रहा है। साधु की चर्या श्रावक के आधीन है श्रावक के निमित्त से साधुओं की चर्या में दोष लग जाते हैं। लेकिन आचार्य भगवन् विमलसागर जी जैसे विशुद्ध ज्ञान के धारी और आचार्य श्री सन्मतिसागर जी जैसे श्रेष्ठ तपस्वी, सूरिगच्छाचार्य श्री विरागसागर जी जैसे निस्पृही संत आज भी इस धराधाम पर विचरण कर रहे हैं और पंचमकाल के अंत-अंत तक करते रहेंगे। यह श्रमण साधना का पवित्र मार्ग इस धरा पर जयवंत होता रहेगा। आज इतना ही...।

सम्यग्दर्शन की शुद्धि, सम्यग्ज्ञान-चरित शुद्धि।
भरतक्षेत्र पंचमयुग में, हीन-हीन होती बुद्धि।।
तप-दान-गुण में, हो-हो-2 हीनता दिखाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2, संहिता दिखलाये रे।।

अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

❑❑❑

(धर्माचरण के बिना दुर्गति)

ण हि दाणं ण हि पूया, ण हि सीलं ण हि गुणं ण चारित्तं।
जे जइणा भणिया ते, णेरइया होंति कुमाणुसा तिरिया।।39।।

* अन्वयार्थ *

(**जे**) जो मनुष्य (**ण हि**) न तो (**दाणं**) दान देते हैं (**ण हि**) न ही (**पूया**) पूजा करते हैं, (**ण हि**) न ही (**सीलं**) शील पालते हैं, (**ण हि**) न ही (**गुणं**) मूलगुण धारण करते हैं, और (**ण चारित्तं**) न ही चारित्त पालन करते हैं। (**ते**) वे मनुष्य (**णेरइया**) नारकी (**कुमाणुसा**) कुमानुष और (**तिरिया**) तिर्यंच (**होंति**) होते हैं (**जइणा**) ऐसा जिनेन्द्र देव ने (**भणिया**) कहा है।

अर्थ–जो मनुष्य न तो दान देते हैं, न ही पूजा करते हैं, न ही शील पालते हैं, न ही गुण धारण करते हैं और न चारित्र पालते हैं वे नारकी, कुमानुष और तिर्यंच होते हैं ऐसा जिनदेव ने कहा है।

गाथा - 39

(प्रवचन)

●

ज्वार के दाने बने उत्तमोत्तम रत्न

16.10.2013

भिण्ड (म.प्र.)



समाधिगुप्त मुनिराज द्वारा अहिंसा का उपदेश, खादिरसार भील द्वारा कौए के मांस का त्याग।

50

रयणोदय

पूजा दान नहीं करता, शील मूलगुण नहीं धरता।
मानव जीवन पाकर भी, सम्यक्चारित्र न वरता।।
नारक कुमानुष, हो-हो-2 पशुगति को पाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2, संहिता दिखलाये रे।।

'**जयदु जिणागमपंथो**' अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

तीर्थंकर भगवंत की दिव्यध्वनि जिनश्रुत है, जिनागम है। जिनागम में वर्णित आत्मकल्याणकारी मार्ग, आत्महितकारी पंथ '**जिनागम पंथ**' है। परस्पर रागद्वेष को बढ़ानेवाले आगमबाह्य पंथ उन्मार्ग हैं। वीतरागता को देनेवाला, '**परस्परोपग्रहो जीवानाम्**' का प्रतीक '**जिनागम पंथ**' सन्मार्ग है।

मनुष्य जीवन पाकर हम अपने को सर्वसुखी कैसे बनायें? इसका विचार संसारी जीव भी करता है और संसार से मुक्त होने की भावना रखनेवाला भी करता है। संसारी जीव अपने आत्मा को सांसारिक साधनों से सुखी करना चाहता है और परमार्थमार्गी जीव संसार के सर्व साधनों को त्यागकर अपनी आत्मा को सर्वसुखी करना चाहता है।

संसारी जीव के लिए अगर सर्वप्रकार के साधन उपलब्ध हो जायें तो भी वह सर्वसुखी नहीं हो सकता। सब सुख-साधनों को त्यागकर भी आत्मा पूर्ण सुखी हो जाये ऐसा भी कोई निश्चित नहीं है। सुखस्वभावी आत्मा का श्रद्धान् करनेवाला ज्ञानी जीवात्मा जब बाह्य सुख-साधनों का परित्यागकर सहज सुखस्वभावी आत्मा का आश्रय करता है, तब परमसुखी होता है। सुख का आधार हमारे ही पास है। जब तक सुख के आधारभूत शुद्ध आत्मा का आश्रय नहीं किया जायेगा तब तक आत्मा पूर्णसुखी नहीं हो सकता। हम सुख के आधारभूत निज आत्मा का आश्रय न करके सुख के बाह्य साधनों का आश्रय करने में लगे रहते हैं। जो सुख के बाह्य साधन हैं वे शाश्वत सुख के साधन नहीं हैं। शाश्वत सुख का साधन एकमात्र निज शुद्धात्मा है। जो भव्यजीव निज शुद्धात्मा का आश्रय करता है और बहिरंग साधनों को निज शुद्धात्मा के आश्रय में बाधक जानता है वह उन साधनों का परित्याग करने की भावना करता है। जितनी शक्ति होती है उतना परित्याग करता है, और कोई-कोई ऐसा भी प्रबल पुरुषार्थी होता है जो भगवान् बाहुबली की तरह पूर्णरूप से बाह्य साधनों का परित्याग करके निज सुखस्वभावी आत्मा का आश्रय करके पूर्ण सुखी हो जाता है।

कुछ ऐसे भी जीव होते हैं, जो कथंचित् अपवाद मार्ग को स्वीकार करके अर्थात् आहार आदि को स्वीकार करके निज शुद्धात्मा के आश्रय का पुरुषार्थ करते हैं। भगवान् बाहुबली ने राजमार्ग को स्वीकार किया, वो कभी आहारचर्या को नहीं गये, उन्होंने सिर्फ अपने आत्मा का आश्रय किया। फिर भी वो अपने पूर्ण उत्सर्ग मार्ग में स्थित न रह सके, बार-बार अपवाद मार्ग में स्थित हो जाते थे। उनके ही अग्रज चक्रवर्ती भरत थे जिन्होंने उत्सर्ग मार्ग का आश्रय किया और कैवल्य को प्राप्त हो गये। संसार में जीवों का पुरुषार्थ एकमात्र आत्मा को सुखी बनाने का चल रहा है। दुनिया की जितनी भी पॉपुलेशन (Population) है हर कोई एकमात्र सुखी होने के उपाय में लगा हुआ है लेकिन जीव भौतिक साधनों से सुखी होना चाहता है।

आचार्य भगवंत कहते हैं—संसार में साधन आपको अवश्य मिलेंगे, क्योंकि संसार में ऐसा कोई जीव नहीं जिसके पुण्य का उदय न हो। निगोदिया से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यंत सभी जीवों के पुण्य का उदय है अन्तर सिर्फ इतना है किसी का पुण्योदय ज्यादा होता है और किसी का कम होता है। पुण्य का उदय ही न हो ऐसी बात नहीं है। इसलिए कुछ अधिक या कम सुख

के साधन सभी जीवों को प्राप्त होते हैं। सांसारिक जीवन में अनुकूलताओं को देनेवाला एकमात्र पुण्य है।

आचार्य भगवन् सम्यक्त्वकौमुदी में लिखते हैं–

मिष्ठान्न - पानशयनासन - गन्ध - माल्य-
वस्त्राङ्गनाऽऽभरण - वाहन - यानगेह।
वस्तूनि पूर्वकृत - पुण्य - विपाककाले
यत्नाद् विनापि पुरुषान् समुपाश्रयन्ति।।208।।

अर्थात् मधुर अन्नपान, शयन, आसन, गन्ध, माला, वस्त्र, स्त्री, आभूषण, वाहन, यान, गृह आदि वस्तुयें पूर्वोपार्जित पुण्य के उदयकाल में यत्न के बिना ही पुरुषों को प्राप्त हो जाती हैं।

पुण्य उदय में सुख के साधन प्राप्त होते हैं लेकिन जो इन पुण्य प्रदत्त सुख के साधनों से अपनी आत्मा को सुखी जानता है, आचार्य भगवन् कहते हैं–वह नियम से दुर्गति का पात्र होता है। जो धर्माचरण से, भोगों के त्याग से अपने को सुखी बनाने का पुरुषार्थ करता है वह कभी दुर्गति को प्राप्त नहीं होता। संसारी जीवों को दुर्गति से बचने के लिये सत्संग की आवश्यकता है। जिससे वो धर्म का स्वरूप जान सकें और धर्म के स्वरूप को जानकर उसका आचरण कर सकें, पालन कर सकें। अगर धर्म के स्वरूप को जानकर उसका आचरण होगा तो अवश्य ही जीव दुर्गति से बच सकता है। मात्र धर्म के स्वरूप को जानने से कोई दुर्गति से बच जायेगा ये कोई जरूरी नहीं है, इसलिए धर्म के स्वरूप को जानो और धर्माचरण को भी जीवन में लाओ।

धर्म क्या है? आचार्य भगवन् समन्तभद्र स्वामी रत्नकरण्ड श्रावकाचार में धर्म का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए लिखते हैं–

"**सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं**" अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता का नाम ही धर्म है।

जो सम्यक्चारित्र कहा जाता है उसके अनेक भेद हैं। सभी भेद एक मात्र आत्मा को सुखी बनाने के लिए हैं। कोई जीव पूर्ण सम्यक्चारित्र का पालन करना चाहता है, लेकिन सामर्थ्य न

होने के कारण वह पूर्णरूप से पालन नहीं कर पाता है तब वह एकदेश पालन करता है। आचार्य भगवंत कहते हैं–चारित्र का जितने अंशों में आप पालन कर सकते हैं उतना पालन अवश्य करना चाहिए।

कवि द्यानतराय जी कहते हैं–

कीजे शक्ति प्रमान शक्ति बिना सरधा धरें।
द्यानत सरधावान अजर अमर पद भोगवे।।

अत: स्वशक्ति के अनुसार चारित्र का पालन अवश्य करना चाहिए। आगम साक्षी है ऐसे जीवात्माओं का जिन्होंने अपने जीवन में थोड़ा भी धर्म का आचरण किया और उसके प्रभाव से वह दुर्गति से बच गये।

इसी जम्बूद्वीप के विन्ध्याचल पर्वत के कुटच नामक वन में एक खादिरसार नाम का भील हुआ। एकदिन सौभाग्य से निर्ग्रंथ दिगम्बर देव श्री समाधिगुप्त जी महामुनिराज से भेंट हो गई। उस भील ने बड़ी श्रद्धा से उन मुनिराज की वंदना की। मुनिराज ने कहा–तुझे धर्मलाभ हो। खादिरसार भील मुनिराज से निवेदन करने लगा–भगवन्! मुझे भी कल्याणार्थ कोई नियम दीजिए। मुनिराज ने कहा–माँस का त्याग कर दे। वह कहने लगा–भगवन्! ये तो मेरा व्यापार है इसके बिना तो मेरा गुजारा ही नहीं हो सकता। तब मुनिराज ने उसके कुल का विचारकर कहा–तू कौए के माँस का त्याग कर दे। उसने मुनिवर को विनयपूर्वक प्रणामकर ये छोटा सा नियम ग्रहण कर लिया।

कुछ समय बाद उसे एक असाध्य रोग हो गया और वैद्यों ने रोग शमन हेतु कौए के माँस का सेवन ही उपाय बताया। भील सोचने लगा–भले ही मेरे प्राण चले जायें लेकिन मुनिराज से लिया गया व्रत भंग नहीं करूँगा। अंत में उसने सम्पूर्ण माँस का त्याग कर दिया और उस व्रत के प्रभाव से, उस नियम के प्रभाव से वह मरकर सौधर्म स्वर्ग में देव हुआ। जब छोटे से नियम का पालन करने से जीव दुर्गति से बच जाता है तब सम्पूर्ण चारित्र का पालन करे तो क्या वह संसार से नहीं बच सकता? अवश्य ही बच सकता है।

इस पंचमकाल में जन्म लेनेवाले भव्य जीवात्माओं के लिए सबसे पहले दुर्गति से बचने

का उपाय करना चाहिए, क्योंकि पंचमकाल में जन्मा जीव चार गति से नहीं बच सकता, लेकिन दुर्गति से अवश्य बच सकता है। चतुर्थकाल होता तो जीव कदाचित् विचार कर भी सकता था कि मैं चार गतियों से छूटकर सिद्धगति को प्राप्त होऊँ। इस काल में जीव गति से नहीं निकल सकता परंतु गति से निकलने की भावना करके दुर्गति से बचने का पुरुषार्थ अवश्य कर सकता है। जो न गति से निकलने की भावना रखता है और न दुर्गति से बचने का पुरुषार्थ करता है वह इस नरभवरूपी रत्न को पाकर भी उसे व्यर्थ ही खो देता है।

आचार्य श्री रविषेण स्वामी इस मनुष्य पर्याय की दुर्लभता को सूचित करते हुए पद्मपुराण जी ग्रंथ में कहते हैं–

पतितं तन्मनुष्यत्वं पुनर्दुर्लभ-सङ्गमम्।
समुद्रसलिले नष्टं यथारत्नं महागुणम्।।14-159।।

अर्थात् जिसप्रकार समुद्र के जल में गिरे हुए महान् गुणों से युक्त रत्न का पुनः मिलना कठिन है उसीप्रकार छूटे हुए मनुष्य भव का पुनः मिलना दुर्लभ है।

अहो! प्रत्येक जीवात्मा को चाहिए वह इस अनमोल मनुष्य जन्म को पाकर सबसे पहले दुर्गति से बचने का कार्य करें। क्या कोई सांसारिक कार्य करते-करते दुर्गति से बच सकता है? ध्यान रखना, सांसारिक कार्य करते-करते कोई दुर्गति से नहीं बच सकता। अगर कोई सोचे कि मैं व्यापार करते-करते दुर्गति से बच जाऊँगा तो इस भ्रम में मत रहना, व्यापार सुगति का साधन नहीं है। इसभव में आपके पुण्योदय से वह क्षणिक सुख का साधन तो हो सकता है, लेकिन सुगति का साधन नहीं हो सकता। आपके जमीन-जायजाद, धन-सम्पदा, सोना-चाँदी, स्वजन-परिजन क्या ये सुगति के साधन हो सकते हैं? अगर आपका पूर्वकृत पुण्य आपके साथ है तो ये सभी बाहरी वैभव वर्तमान में क्षणिक सुख का साधन हो सकता है लेकिन सुगति का साधन नहीं हो सकता, आपको दुर्गति से नहीं बचा सकता, इसलिए सम्यग्दृष्टि जीव इन सबको दुर्गति का साधन जानता है।

अगर किसी जीव की बुद्धि, धन-सम्पदा, व्यापार, वैभव, जमीन-जायजाद, स्वजन, परिजन इन्हीं में लगी रहे तो नियम से वह दुर्गति का ही पात्र होगा। सुगति का पात्र नहीं हो सकता। आचार्य भगवन् कहते हैं–इनमें लगी हुई बुद्धि एकमात्र पाप का बंध कराती है और पापबंध का फल नियम से दुर्गति है।

आचार्य भगवन् कुन्दकुन्ददेव की वाणी हम सबको सचेत कर रही है कि तुम्हारे साथ इनका संयोग बन जाये तो इन सबका पालन करते हुए भी, धर्म का पालन अवश्य करते रहना। धर्म का पालन इसभव में सुख देता है और परभव में भी सुगति प्रदान करता है।

पंचमकाल में मनुष्य के लिए सुगति की आवश्यकता है। ध्यान रखना! कुछ जीव ऐसे होते हैं जो इसभव के सुख को छोड़कर सुगति का पुरुषार्थ कर लेते हैं और कुछ जीव ऐसे भी होते हैं जो इसभव में सुख का साधन करते हुए सुगति का पुरुषार्थ करते हैं। जो इसभव के सुख को छोड़कर सुगति का पुरुषार्थ करनेवाले हैं वे निर्ग्रंथ कहलाते हैं और जो इसभव में सुख का साधन करते हुए सुगति का पुरुषार्थ करते हैं वे गृहस्थ श्रावक कहलाते हैं।

मात्र गृहस्थ बनकर घर में मत रहना, गृहस्थ श्रावक बनकर रहना। गृहस्थ बनकर सभी जी लिया करते हैं, लेकिन गृहस्थ श्रावक बनकर जीवन जीनेवाले भव्यजीव विरले होते हैं। गृहस्थ श्रावक का अर्थ क्या है? गृहस्थ श्रावक का अर्थ है जो गृह में स्थित होकर धर्म का आचरण करनेवाला है, सुगति का पुरुषार्थ करनेवाला है, ऐसा भव्यजीव गृहस्थ श्रावक कहलाता है। चूँकि वह इतना समर्थ नहीं है कि गृह त्याग कर सके लेकिन इतना अवश्य जानता है कि मैं जितना उत्कृष्ट धर्म का आचरण करूँगा, जितना उत्कृष्ट चारित्र का पालन करूँगा, उतनी ही उत्कृष्ट सुगति को प्राप्त होऊँगा। ध्यान रखना, सुगति उत्कृष्ट भी हो सकती है, मध्यम भी हो सकती और जघन्य भी हो सकती है।

कोई जीव मनुष्य पर्याय में धर्म आचरण करके देव हुआ। स्वर्ग के सोलह भेदों में जाकर जन्मा तो वहाँ पर भी वह सुख के साधन प्राप्त करता है और इन सोलह स्वर्गों से ऊपर गया तो वहाँ भी सुख के साधन प्राप्त करता है। अंतर इतना है सोलहवें स्वर्ग तक देव भी स्त्री के कारण दुःखी हैं। उसने पाई तो सुगति लेकिन स्त्री के कारण वहाँ भी दुःखी है। सोलहवें स्वर्ग से ऊपर के सभी देव प्रवीचार से रहित हैं। **''परेऽप्रवीचाराः''** अर्थात् वो स्त्री आदि के सुख की रंचमात्र भी भावना अपने अन्दर नहीं लाते। उन्हें इतना सुख है कि वहाँ स्त्री आदि के सुख की चाह नहीं रहती है, इसलिए सुगति में उत्कृष्टता भी है और निम्नता भी है। जो जितना उत्कृष्ट आचरण पालता है वह उतनी ही उत्तम सुगति को प्राप्त होता है।

आचार्य भगवन् कुंदकुंदस्वामी हम सभी भव्य जीवात्माओं के लिए यह शिक्षा देते हैं जागो! कब तक सोते रहोगे? कब तक मोहरूपी निद्रा में निमग्न बने रहोगे? इस मोहरूपी निद्रा को तोड़ो। धर्माचरण करके दुर्गति से बचने का पुरुषार्थ करो।

आचार्य भगवन् शुभचन्द्रस्वामी ज्ञानार्णव में लिखते हैं–

शरीरं शीर्यते नाशा गलत्यायुर्न पापधीः।
मोहः स्फुरति नात्मार्थः पश्य वृत्तं शरीरिणाम्।।2-23।।

अहो! आश्चर्य है कि शरीर तो प्रतिदिन छीजता जाता है पर आशा नहीं छीजती है, किन्तु बढ़ती जाती है तथा आयु, बल तो घटता जाता है और पापकार्यों में बुद्धि बढ़ती जाती है। मोह तो नित्य स्फुरायमान होता है और यह प्राणी अपने हित के, कल्याण के मार्ग में नहीं लगता सो यह अज्ञान का ही माहात्म्य है अतः इस मोहरूपी अज्ञान अंधकार से निकलने का प्रयास करो।

सम्यग्दृष्टि जीव को चारों गतियों के दुःखों का श्रद्धान् होता है। वह चतुर्गति के दुःखों से छूटना चाहता है। वह सबसे पहले दुर्गति से बचने का उपाय करता है। अगर दुर्गति से बचना है तो आत्मा में सम्यग्दर्शन का दीप अवश्य जला लेना। आयु का बंध यदि सम्यक्त्व के साथ होगा तो नियम से तुम्हारी सुगति होगी।

आचार्य भगवन् समन्तभद्रस्वामी रत्नकरण्ड श्रावकाचार में लिखते हैं–

सम्यग्दर्शन शुद्धा, नारक-तिर्यङ्-नपुंसक-स्त्रीत्वानि।
दुष्कुलविकृताऽल्पायु-र्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः।।35।।

सम्यग्दर्शन से शुद्ध जीव व्रतरहित होने पर भी नारक, तिर्यञ्च, नपुंसक और स्त्रीपने को तथा नीचकुल, विकलांग, अल्पायु और दरिद्रता को प्राप्त नहीं होते अर्थात् दुर्गति को प्राप्त नहीं होते।

ध्यान रखना, आयुकर्म का बंध सम्यक्त्व के साथ होना चाहिये। अगर मिथ्यात्व के साथ आयुकर्म का बंध हुआ, उस समय जीव के परिणाम संक्लेशता के रहे, भोगों के रहे, कषाय सहित परिणाम रहे, धन वैभव की आसक्ति के परिणाम रहे तो नियम से जीव की दुर्गति होगी।

सम्यग्दृष्टि जीव को चारों गतियाँ दु:खस्वरूप प्रतीत होती हैं, वह निरंतर गतियों के दु:ख से बचने का पुरुषार्थ करता रहता है। कदाचित् वह गतियों से नहीं छूट पाता तो प्रथमत: वह दुर्गति से बचने का उपक्रम करता है। वह उस मार्ग को स्वीकार करता है जिसके द्वारा दुर्गति का नाश होता है और सुगति का मार्ग प्रशस्त होता है। आचार्य भगवन् कुंदकुदस्वामी गाथा नं. 39 में ऐसे ही कुछ साधन, कुछ उपाय बता रहे हैं जिनका आश्रय करने से यह जीवात्मा दुर्गति से बच जाता है।

धर्माचरण रहित जीव दुर्गति के पात्र होते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव नियम से धर्माचरण का पालन करनेवाला होता है। धर्माचरण का पालन करते हुए भी उसकी अंत:परिणति सदैव आत्म सन्मुख ही रहा करती है। वह धर्म क्रियाओं को व्यवहार से आत्मा का हितकारी जानता है लेकिन निश्चय से निज शुद्धात्मा को ही अपने आत्मा का हितकारी जानता है, मानता है। ऐसा धर्मात्मा जीव संसार में नियम से सुगति को प्राप्त होता है और एक दिन संसार के सम्पूर्ण दु:खों से छूटकर आत्मा के शाश्वत सुख को प्राप्त कर लेता है।

दुर्गति से बचने का उपाय करो, लेकिन उससे पहले यह समझ लो कि दुर्गति में जाता कौन है? आचार्य कहते हैं **''ण हि दाणं''** जो मनुष्य कभी दान नहीं करता। धन को प्राप्त होता है लेकिन कभी दान को प्राप्त नहीं होता है, ऐसा मनुष्य धर्माचरण से रहित दुर्गति का पात्र होता है।

जिनागम में दो प्रकार से धर्म कहा गया है। एक निश्चय धर्म–जहाँ धन सम्पदा के प्रति यह परवस्तु मेरी नहीं है ऐसी भावना रहती है। दूसरा व्यवहार धर्म है–जहाँ कदाचित् धन को भी अपना कहा जाता है। निश्चय से वह इस धन को अपना नहीं मानता, लेकिन व्यवहार से उस धन का वो ही स्वामी है। आचार्य कहते हैं–तुम व्यवहार से अपने को जिस धन का स्वामी मानते हो, उस धन के प्रति दान की भावना लाओ, क्योंकि व्यवहार से आप ही उसके स्वामी हो। ध्यान रखना! धन का स्वामी वही है जो दान करता है बाकी तो सब मुनीम हैं, कोष के संरक्षक मात्र हैं और कुछ नहीं।

जिस व्यक्ति के अंदर धन अर्जित करने के बाद दान का भाव होता है उसके ही उस धन के प्रति व्यवहार से स्वामीपना है। जो धन अर्जित करने के बाद भी दान भाव से रहित होता

है वह मात्र धन की पहरेदारी करनेवाला है। धन का दास, धन का नौकर एकमात्र धन की पहरेदारी करते-करते दुनिया से चला जाता है और आने के बाद फिर पहरेदारी करने में लग जाता है। पहले मनुष्य बनके पहरेदारी करता था फिर जिससे तुम सब बहुत डरते हो, जिसे देखते ही तुम्हारी आत्मा के प्रदेश काँप जाते हैं, रोम-रोम खड़ा हो जाता है, ऐसी सर्प पर्याय को प्राप्त करके धन के ऊपर कुण्डली मारकर बैठा रहता है। सच देखा जाये तो वह मनुष्य पर्याय में ही धन के ऊपर कुण्डली मारकर बैठ गया था इसलिए उसकी यह दुर्दशा हुई है।

आचार्य कहते हैं—दुर्गति से बचने के लिए दान की भावना होनी चाहिए। कैसे? **''दान देय मन हरष विशेखे''** दान देते समय चित्त प्रफुल्लित होना चाहिए। आत्मा का एक-एक प्रदेश हर्ष से झूमना चाहिए। दान देने की भी कला होती है। जबरदस्ती का दिया हुआ दान सिर्फ संक्लेश पैदा करता है क्योंकि दान का भाव तो आत्मा में आया ही नहीं है। वास्तव में देखा जाये तो हर्षभाव के बिना दिया गया दान, दान की संज्ञा को प्राप्त ही नहीं होता।

आप जब निर्ग्रंथ योगियों को आहार देते हो तो कैसा लगता है? परिणामों में संक्लेशता आती है कि आत्मा में हर्षभाव आता है? अपूर्व हर्षभाव आता है। ऐसे ही चारों प्रकार के दान हर्षभाव से करना चाहिए। **''दान देय मन हरष विशेखे, इहभव जस परभव सुख देखे''** दान देते समय मन में हर्ष का भाव आना चाहिए। हर्षभाव के बिना अगर दान भी दिया तो वह दान दुर्गति से नहीं बचा सकता। जो दान भावों में हर्ष देता है उसका वह हर्षभाव ही उसे इसलोक में यश और परलोक में सुख का हेतु बनता है।

जीव का परिणाम उसे दुर्गति से बचा भी सकता है और जीव का परिणाम उसे दुर्गति में पहुँचा भी सकता है। दुर्गति से बचानेवाला अपना परिणाम ही है। आपके द्वारा दान में दी गई द्रव्य आपको दुर्गति से नहीं बचा सकती। द्रव्य के दान का नाम धर्म नहीं, परिणामों की निर्मलता का नाम धर्म है। इसी का नाम धर्माचरण है और यही धर्माचरण जीव को दुर्गति से बचाकर सुगति में ले जाता है।

'ण हि पूया' जो कभी अर्हंत भगवान् की पूजा नहीं करता। भगवान् की पूजा करने का सौभाग्य भी बड़े पुण्य से प्राप्त होता है। आज का युवावर्ग पूजा आदि कार्यों से दूर भाग रहा है।

कारण क्या है? कारण है हमारे तथाकथित धर्मात्माओं की पुजारियों की संकीर्ण मानसिकता। पहली बात तो आज का पढ़ा-लिखा नौजवान पूजा आदि अनुष्ठानों से जुड़ना ही नहीं चाहता, कभी कदाचित् कोई जुड़ना चाहे भी, तो मंदिरों में जो तथाकथित समझदार पुजारियों की भीड़ है वह उसे जुड़ने नहीं देती। वर्तमान के युवा पूजा से नहीं डरते वो इस बात से घबराते हैं कि मैं पूजन करने गया और वहाँ अगर पुजारी मिल गये तो फिर क्या होगा? क्योंकि मंदिरों में वे पुजारी अगर कोई नया-नया पूजन करनेवाला मंदिर में आ जाये तो उसको ऐसे देखते हैं– जैसे ''इण्डिया (India) में कोई विदेशी आ गया हो।'' जैसे कोई विदेशी व्यक्ति कभी इण्डिया (India) में आ जाये तो इण्डियन (Indian) लोग उसे बड़ी उत्सुकता से देखते हैं ऐसे ही वे पुजारी भी उस नव आगन्तुक पुजारी को देखते हैं। बेचारा घबरा जाता है कि मुझसे न जाने क्या गलती बन पड़ी है जो सभी लोग घूर-घूरकर देख रहे हैं? इस पुजारी भय के कारण ही बहुत लोग जिनेन्द्रदेव की पूजा से वंचित रहते हैं।

कदाचित् कोई युवा पूजन करने आये और उससे कहीं गलती हो जाये, हो सकता है नैवेद्य चढ़ाना था और दीप चढ़ा दिया तो जो तथाकथित पुजारी हैं वे उसकी भूल को सुधार न करके, उसको दो चार बातें अवश्य सुना देंगे। बेचारा वह नवयुवक इसी से घबराता है कि इनके भाषण कौन सुनेगा। घर में तो कभी किसी की डाँट खाई नहीं, इन तथाकथित पुजारियों की डाँट कौन खायेगा? इसकारण वर्तमान की युवा पीढ़ी इन पूजादि अनुष्ठानों से दूर भागती है। इसीलिए समय-समय पर हम जैसे साधक पूजन प्रशिक्षण शिविरों का आयोजन करवाते हैं ताकि जो नई पीढ़ी है इन्हें जिनेन्द्र पूजन की सम्यक् विधि ज्ञात हो जिससे जब जिनालय में जायें तो एक शिक्षित कमाण्डर (Commander) की तरह आराधना करें और उन्हें किसी भी प्रकार का कोई भय न हो। ये भव्यात्मा भी अपनी आत्मा को दुर्गति से बचाने का उपाय कर सकें।

आचार्य भगवन् कुंदकुंदस्वामी कह रहे हैं–''**ण हि पूया**'' जिन्होंने अपने जीवन में कभी भी जिनेन्द्र भगवान् की पूजा नहीं की। कदाचित् किसी व्यक्ति के पास इतना धन नहीं है कि वो दान कर सके। यह जरूरी नहीं कि सब जीव एक जैसे हों। किसी के पास इतना धन नहीं है कि वह दान कर सके। कोई बात नहीं ''**कीजे शक्ति प्रमाण शक्ति बिना सरधा धरे**'' आप अपनी शक्ति के अनुसार धर्म का पालन करें। आचार्य कहते हैं–बेटा! तुम्हारे लिए दूसरा उपाय है, तुम रोज भगवान् की पूजा किया करो। भगवान् की पूजा करते रहोगे तो तुम

दुर्गति से बच सकते हो। अच्छा तो ये है कि अपने छह कर्तव्यों का पालन करें कदाचित् धन-वैभव, सम्पदा इतनी नहीं है कि आप ज्यादा धन खर्च कर सको तो भगवान् की पूजा करो। कोई आवश्यक नहीं है कि भगवान् की पूजा के लिए आप रोज थाल भरकर ही सामग्री ले जाओ। कोई आवश्यक नहीं कि पूजा में आप उत्तमोत्तम द्रव्यें लेकर ही जाओ। भाव उत्तम होना चाहिए। अगर भाव उत्तमोत्तम होंगे तो द्रव्य अपने आप उत्तम से उत्तम हो जायेगा। जिस जीव के भाव उत्तमोत्तम होते हैं वह अपने आप ही भगवान् की पूजा के लिए उत्तम से उत्तम द्रव्य लाने और चढ़ाने का प्रयास करता है। कदाचित् भाव उत्तम हों लेकिन द्रव्य उत्तम न हो, तब उन भक्ति के भावों से ज्वार के दाने भी उत्तम मोती बन जाया करते हैं।

दो भाई थे। दोनों गरीब थे। एक था देवपति दूसरा था खेवपति। दोनों भाई सम्पदा से गरीब थे लेकिन भावों से बहुत अमीर थे। भावों से जिनेन्द्र भगवान् की भक्ति से सम्पन्न थे। धन से गरीब थे लेकिन मन से बहुत अमीर थे। भाव रखते थे कि हे जिनेन्द्र भगवान्! कभी हमें भी सम्मेदशिखर जी जैसे शाश्वत सिद्धक्षेत्र की वंदना का लाभ हो। हम भी शाश्वत तीर्थराज की वंदना करें, हम भी वहाँ जाकर उन तीर्थंकरों की, उन भगवंतों की उपासना, आराधना करें जिन्होंने वहाँ से मुक्ति को प्राप्त किया है। लेकिन उनके पास इतना धन नहीं था कि वे इतनी लम्बी यात्रा कर सकें। पहले इतने साधन आदि नहीं थे। पहले लोग पैदल जाया करते थे अथवा बैलगाड़ियों से जाते थे। वर्तमान में आप रेलगाड़ी में बैठे और पहुँच जाते हैं। सारी सुविधायें हैं आपके पास, सब कुछ आराम से हो जाता है। आपका मन सुविधाओं में ज्यादा लगता है इसीलिये भावों में उतनी निर्मलता नहीं आ पाती।

उस समय एक संघ सम्मेदशिखर की वंदना करने जा रहा था। जब देवपति और खेवपति को यह ज्ञात हुआ तो दोनों भाईयों ने संघपति जी से निवेदन दिया कि आप हमें भी अपने साथ सम्मेद शिखर जी की वंदना करने ले चलें। हम द्रव्य तो नहीं दे सकते लेकिन आपके पूरे संघ की सेवा करेंगे। संघ पर कोई बाधा आयेगी तो हम संघ की रक्षा करेंगे। हम संघ के सारे काम करेंगे। आप शिखर जी की यात्रा कराने साथ ले चलो। संघपति दया परिणामी था। उसने कहा– ठीक है बेटा! तुम दोनों हमारे साथ चलना। देखो, उन देवपति और खेवपति की तीर्थवंदना की भावना। खाने के लिए कुछ नहीं था लेकिन चढ़ाने के लिए उन्होंने एक पोटली बाँध ली। उस पोटली में थे ज्वार के दाने।

सेठिया लोग और संघपति तो भगवान् को रत्न और मोती चढ़ायेंगे। दोनों भाईयों ने पोटली में ज्वार के दाने बाँधकर छुपाकर रख लिये। कहीं इन अमीर लोगों को पता न चल जाये अन्यथा हम गरीबों की हँसी उड़ायेंगे। अहो! पोटली में श्रद्धा के साथ ज्वार के दाने बाँधकर दोनों भाई चल दिये। जहाँ रास्ते में संघ की जो सेवा बनी, उन्होंने पूरी सेवा की। सबकी मालिश करते थे कि कहीं कोई थक न जाये।

जब संघ शिखर जी पहुँच गया तो दोनों भाईयों ने आपस में विचार किया। देवपति, खेवपति से कहता है—भैया! अगर हम लोग इन सबके साथ वंदना के लिए जायेंगे तो ये लोग तो रत्न चढ़ायेंगे, मोती चढ़ायेंगे, गजमोती चढ़ायेंगे, स्वर्ण के उत्तम-उत्तम पुष्प चढ़ायेंगे और हम लोग ज्वार के दाने चढ़ायेंगे, ये लोग अपनी हँसी करेंगे। इसलिए भैया! हम दोनों भाई इन सबसे पहले ही तीर्थराज की वंदना करने चलेंगे। ऐसा सोचकर दोनों भाई संघ तथा संघपति को बिना बताये अंधेरे में ही तीर्थराज की वंदना के लिए निकल पड़े। उन्होंने ज्वार के दाने चढ़ाये, वे ज्वार के दाने ही नहीं थे, उन दानों के साथ थी श्रद्धा और भक्ति। जहाँ-जहाँ उन दोनों ने ज्वार के दाने चढ़ाये, उनके उत्तम भावों से वे ज्वार के दाने भी उत्तम रत्न हो गये। एक भक्त रोज जिनपूजा के लिये जिनालय जाता है। अपने दोनों हाथ जोड़कर भगवान् के सन्मुख पूजा की प्रतिज्ञा करते हुए कहता है—

द्रव्यस्य शुद्धिमधिगम्य यथानुरूपं।
भावस्य शुद्धिमधिकामधि गंतुकामः।।

ये भावों की ही महिमा थी कि ज्वार के दाने भी उत्तम रत्न बनकर चमकने लगे। पीछे संघपति अपने संघ को लेकर तीर्थराज की वंदना करने गया। वहाँ पर चढ़े हुए उन उत्तम रत्नों को देखा। फिर अपने हाथ में लिये हुए रत्नों को देखने लगा। सोच में पड़ गया, मैं उत्तम से उत्तम रत्न अपने साथ लेकर आया था, लेकिन इन रत्नों के सामने मेरे ये रत्न फीके-फीके मालूम पड़ रहे हैं। ऐसा कौन महान पुण्यात्मा जीव ऐसे उत्तम रत्नों को चढ़ाकर वंदना कर गया। पता लगाया, पहले वंदना करने आखिर कौन आया? पता चला देवपति और खेवपति वंदना के लिए आये हैं। जब उनसे पूछा गया कि तुम्हारे पास इतने उत्तमोत्तम रत्न हैं, फिर भी तुम कैसे कहते हो कि हम गरीब हैं? उन्होंने कहा—सेठ जी! हमारे पास कोई रत्न नहीं हैं।

संघपति बोला—वंदना करने के लिए अभी हमसे पहले तुम्हीं आये हो, तुम्हारे अलावा अभी कोई आया ही नहीं, आखिर यहाँ पर ये उत्तम रत्न चढ़ाये किसने? दोनों भाईयों ने अपनी पोटली खोल के सामने रख दी और कहा—सेठजी! हमारे पास उत्तम रत्न नहीं ये ज्वार के दाने हैं। संघपति के सामने जैसे ही उन दोनों भाइयों ने भावपूर्वक अपने ज्वार के दाने भगवान् के सन्मुख चढ़ाये, देखते ही देखते वो ज्वार के दाने उत्तम रत्न बनकर झिलमिलाने लगे।

ध्यान रखना, भाव उत्तम हों तो द्रव्य अपने आप उत्तम हो जाता है और भाव हीन हों तो उत्तम द्रव्य भी हीनता को प्राप्त हो जाया करता है। इसलिए उत्तमभावों के साथ उत्तम द्रव्य से भगवान् की आराधना करना चाहिए।

'ण हि सीलं' जिसने शील का पालन नहीं किया वह भी दुर्गति का पात्र होता है। अगर कदाचित् किसी के पास इतना द्रव्य (धन) न हो कि वह भगवान् की पूजा भी कर सके, तो आचार्य कहते हैं—शील का पालन करो। दान के लिए धन चाहिए, पूजा के लिए भी धन चाहिए, लेकिन शील तो वह वस्तु है जो अपने भावों से पालन की जाती है। अगर जीव मात्र सात शीलों का भी पालन करे तो भी दुर्गति से बच जाता है। आचार्य महाराज कहते हैं **'शीलसप्तकं चापि'** अर्थात् शील सात होते हैं, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत। जो इन शीलरूप धर्माचरण को नहीं पालता वह दुर्गति का पात्र होता है।

'ण हि गुणं' जिसने अपने जीवन में कभी मूलगुण का पालन नहीं किया वह भी दुर्गति का पात्र होता है। श्रावक के आठ मूलगुण होते हैं।

आचार्य भगवन् समन्तभद्रस्वामी रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रंथ में कहते हैं—

मद्य-मांस-मधु-त्यागैः सहाणुव्रतपञ्चकम्।
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः।।66।।

मुनियों में उत्तम गणधरादि देव मद्य त्याग, मांस त्याग, और मधु त्याग के साथ पाँच अणुव्रतों के पालन को गृहस्थों के आठ मूलगुण कहते हैं।

आठ मूलगुणों को जानते तो सब हैं लेकिन पालते नहीं हैं। जो श्रावक इन आठ मूलगुणों का पालन करता है वह परम्परा से अष्टकर्मों का नाश करके अष्टम भूमि अर्थात् सिद्धालय को प्राप्त हो जाता है।

'ण चारित्तं' जिसने कभी चारित्र का पालन नहीं किया वह भी दुर्गति का पात्र होता है। श्रावक के 12 व्रत होते हैं **''अणुव्रत पञ्चकमपि शीलसप्तकं चापि''** पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत। इन 12 व्रतों का भी जिसने कभी पालन नहीं किया ऐसे मनुष्यों के लिए आचार्य कहते हैं–**''णेरइया होंति कुमाणुसा तिरिया''** अर्थात् वे मनुष्य कुमानुष, तिर्यंच और नरक गति को प्राप्त होते हैं।

सुख के साधन उतने ही स्वीकार करना जो आसक्ति पैदा न करें, सिर्फ आवश्यकता की पूर्ति करें।

आचार्य कुंदकुंददेव ने हमें यह बोध कराया है कि हमारी आत्मा पूर्ण सुखी कैसे हो? आत्मा को पूर्णसुखी बनाना है तो धर्म का आचरण करो। अपनी शक्ति के अनुसार जितना सम्भव हो उतना धर्माचरण में अपना मन अवश्य लगाना चाहिए। जितना भी धर्माचरण करो, पवित्र भावों के साथ करना। केवल बाह्य द्रव्यमात्र से मत करना। अगर भाव पवित्र होंगे तो द्रव्यक्रिया भी सार्थक होगी। अगर भाव पवित्र हैं तो कोई तुम्हें दुर्गति में नहीं डाल सकता और भाव अपवित्र हैं तो कोई तुम्हें दुर्गति से निकाल भी नहीं सकता। अत: व्यवहार धर्म को हम पवित्र भावों से अपने जीवन में अपनायें। दुर्गति से बच करके **'सुगई गमणं'** सुगति में गमन का पुरुषार्थ करें।

पूजा दान नहीं करता, शील मूलगुण नहीं धरता।
मानव जीवन पाकर भी, सम्यक्चारित्र न वरता।।
नारक कुमानुष, हो-हो-2 पशुगति को पाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2, संहिता दिखलाये रे।।

अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

❑❑❑

(विवेक के बिना सम्यक्त्व नहीं होता)

ण वि जाणदि कज्जमकज्जं सेयमसेयं पुण्णपावं हि।
तच्चमतच्चं धम्ममधम्मं सो सम्म-उम्मुक्को।।40।।

* अन्वयार्थ *

(**कज्जमकज्जं**) जो कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य, (**सेयमसेयं**) श्रेय-अश्रेय, (**पुण्ण-पावं**) पुण्य-पाप, (**तच्चमतच्चं**) तत्त्व और अत्तत्व (**धम्ममधम्मं**) धर्म और अधर्म को, (**हि**) निश्चय से, (**ण वि**) नहीं (**जाणदि**) जानता है। (**सो**) वह, (**सम्म-उम्मुक्को**) सम्यक्त्व से रहित है।

अर्थ—जो कर्तव्य-अकर्तव्य, श्रेय-अश्रेय (हित-अहित), पुण्य-पाप, तत्त्व-अतत्त्व और धर्म-अधर्म को निश्चय से (वस्तुतः) नहीं जानता है वह सम्यक्त्व से रहित है।

गाथा - 40

(प्रवचन)

●

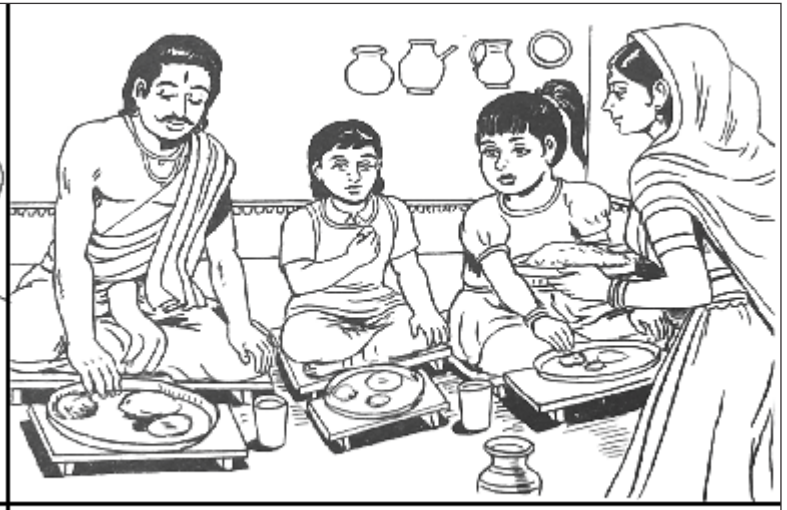
पुण्य वह जो आत्मा को पवित्र करे।

17.10.2013

भिण्ड (म.प्र.)



अभक्ष्यभक्षण अयोग्य



शुद्धभोजन योग्य



अपात्र दान अयोग्य



पात्रदान योग्य

51

रयणोदय

कार्य-अकार्य नहीं जाना, पुण्य-पाप नहिं पहिचाना।
तत्त्व-अत्तत्व व धर्म-अधर्म, श्रेय-अश्रेय नहीं माना।।
सम्यग्दर्शन से, हो-हो-2 वह रहित कहाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2, संहिता दिखलाये रे।।

'**जयदु जिणागमपंथो**' अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

तीर्थंकर भगवंत की दिव्यध्वनि जिनश्रुत है, जिनागम है। जिनागम में वर्णित आत्मकल्याणकारी मार्ग, आत्महितकारी पंथ '**जिनागम पंथ**' है। परस्पर रागद्वेष को बढ़ानेवाले आगमबाह्य पंथ उन्मार्ग हैं। वीतरागता को देनेवाला, '**परस्परोपग्रहो जीवानाम्**' का प्रतीक '**जिनागम पंथ**' सन्मार्ग है।

हम सभी लोग श्री रयणसार जी ग्रंथ के माध्यम से निज आत्महित को जानने का, समझने का प्रयास कर रहे हैं। ग्रंथ को पढ़ना अलग बात है और निर्ग्रंथ को पढ़ना अलग बात है। कुछ लोग ग्रंथ को पढ़ते हैं, कुछ लोग निर्ग्रंथ को पढ़ते हैं। जो ग्रंथ को पढ़ते हैं उनकी निर्ग्रंथ बनने की भावना हो सकती है लेकिन जो निर्ग्रंथ को पढ़ते हैं वो वास्तव में निर्ग्रंथ ही होते हैं। इसलिए

केवल ग्रंथ को ही मत पढ़ते रहना, ग्रंथ के माध्यम से निर्ग्रंथ को पढ़ने का प्रयास करना। सच्चा ग्रंथ वही है जो निर्ग्रंथ होने की शिक्षा देता है।

वह निर्ग्रंथ बाहर भी मिल सकता है और भीतर भी मिल सकता है। ग्रंथ मात्र बाहर ही मिलेगा, बाहर के ग्रन्थ से भीतर का निर्ग्रंथ खोज लिया तो आपने वास्तव में निर्ग्रंथ का दर्शन कर लिया। **बाहर के ग्रंथ से अगर बाहर का निर्ग्रंथ मिल जाये तो तुमने ग्रंथ का अध्ययन कर लिया और यदि बाहर के ग्रंथ से भीतर का निर्ग्रंथ मिल जाये तो तुमने केवल अध्ययन ही नहीं किया अपितु ग्रंथ का स्वाध्याय भी कर लिया।** बहुत लोग ऐसे हैं जो ग्रंथ का अध्ययन करके भी बाहर के निर्ग्रंथ का दर्शन नहीं कर पाते। वास्तव में उन्होंने आज तक ग्रंथ का अध्ययन किया ही नहीं है। कुछ लोग ऐसे हैं जो ग्रंथ का अध्ययन करके बाहर के निर्ग्रंथ का दर्शन कर लेते हैं और भीतर के निर्ग्रंथ को उपलब्ध हो जाते हैं, उन्होंने ग्रंथ का सिर्फ अध्ययन ही नहीं किया अपितु स्वाध्याय भी कर लिया है।

हम रयणसार जी ग्रंथ के माध्यम से यह जानने का प्रयास कर रहे हैं, कि बाहर का निर्ग्रंथ कौन है और भीतर का निर्ग्रंथ कौन है। ध्यान रखना, जब कभी बाहर का निर्ग्रंथ मौन रहता है, उस समय हमें साक्षात् दर्शन होता है कि हमारा निर्ग्रंथ अनादि से मौन है और जब हमें बाहर का निर्ग्रंथ बोलता हुआ दिखाई देता है, तब हमें बोध होता है कि मेरे अन्दर के निर्ग्रंथ में जो ज्ञानतत्त्व है वह मुझे निरंतर उपदेश दे रहा है। उस समय जहाँ बाहर में निर्ग्रंथ गुरु दिखाई देते हैं वहीं अन्दर में ज्ञान ही गुरु है ऐसा अनुभव में आता है।

ग्रन्थ को पढ़कर भीतर के निर्ग्रंथ का दर्शन करना चाहिये। भीतर के निर्ग्रंथ को अपने ज्ञान से जानना चाहिये, अनुभव करना चाहिये क्योंकि भीतर का निर्ग्रंथ एकमात्र ज्ञान से ही जाना जाता है, अनुभव किया जाता है जिसे स्वसंवेदन ज्ञान कहते हैं।

ध्यान रखना! हमारी देह के अन्दर ऐसा ही निर्ग्रंथ अर्थात् चैतन्य आत्मा विराजमान है। उस चैतन्य आत्मा में ग्रंथ नहीं हैं। ग्रंथ का अर्थ होता है परिग्रह और ग्रंथ का अर्थ होता है शास्त्र। निर्ग्रंथ का अर्थ होता है—निष्परिग्रही। ऐसे निष्परिग्रही दो ही हो सकते हैं—व्यवहार से निर्ग्रंथ मुनि और निश्चय से निज शुद्धात्मा। देह में बैठे निर्ग्रंथ का अर्थात् निज शुद्धात्मा का जिन्होंने दर्शन, ज्ञान, चारित्र, से अनुभव कर लिया है, उन्होंने वास्तव में ग्रंथ का स्वाध्याय कर लिया है।

आप सभी भव्यजीव नितप्रति ऐसी ही निर्ग्रंथता की प्यास लेकर इस ग्रंथ का स्वाध्याय करने के लिए आते हो। अगर प्यास आपकी सच्ची है तो ये घाट आपके लिए सच्चा है और प्यास सच्ची नहीं है तो ये घाट आपके लिए निमित्त नहीं हो सकता। इसलिए घाट पर आने के बाद अपनी प्यास को शान्त करके जाना। ग्रंथ का स्वाध्याय करके, ग्रंथ का अध्ययन करके निर्ग्रंथ से परिचय करके जाना। हम निर्ग्रंथ से परिचित कैसे हों? अर्हंत देव की वाणी है कि अगर आपके पास विवेक है, आप विवेकी हैं तो निश्चित ही आप ग्रंथ और निर्ग्रंथता से परिचित हो सकते हैं।

इस संसार में ऐसे अनेक लोग हैं जो संत शरण को प्राप्त हैं, लेकिन संत शरण को हम क्यों प्राप्त हुए हैं इस बात का विवेक नहीं है, इसकारण वे मात्र संतभक्त बनकर रह जाते हैं। ऐसे संतभक्त कदाचित् पुण्यास्रव तो कर लेते हैं लेकिन आत्मा का अनुभव नहीं कर पाते।

ध्यान रखना, हमें संत शरण मिल गई है, इतने मात्र से संतुष्ट मत हो जाना। हमें संत की शरण क्यों चाहिए? हम नितप्रति संत के चरणों में क्यों बैठते हैं? इस बात का निर्णय भी हमारे अंदर होना चाहिए।

संत शरण मिलना अलग बात है और सत्य शरण मिलना अलग बात है। हम संत शरण में इसलिए आते हैं कि भगवन्! आपकी शरण में आकर मुझे सत्य की शरण मिल जाये। संत शरण में आने के बाद भी यदि सत्य की शरण प्राप्त नहीं हुई, तो संत शरण भी आपके लिये हित का कारण नहीं है। संत शरण मिलने के बाद एक ही संकल्प होना चाहिए मुझे सत्य की शरण चाहिए।

भगवन्! परिवार में जिन्हें भी शरणभूत समझता हूँ वे कोई भी सत्य नहीं है। जो सत्य नहीं है उनके पास अगर शरण खोजूँ तो वह कभी सत्य शरण नहीं हो सकती। मैं जिस परिवार में रहता हूँ, जिस कुटुम्ब में रहता हूँ, जिस धन-वैभव की सम्पन्नता में रहता हूँ वहाँ मुझे असत्य तो मिलता है लेकिन सत्य नहीं मिलता। मैं सोचता था—शायद यहाँ सत्य मिल जायेगा, लेकिन सत्य के नाम पर मात्र धोखा मिला, एक मात्र असत्य मिला। अब सभी शरण छोड़कर हे भगवन्! मैं संत शरण में आया हूँ। मुझे पूरा भरोसा है यहाँ मुझे सत्य अवश्य मिल जायेगा।

ध्यान रखना, अरिहंत भगवान् के बाद अगर कहीं सत्य मिल सकता है तो वह संत शरण में मिल सकता है। लेकिन संत भी ऐसा होना चाहिये जो निर्ग्रंथता का अनुभव करनेवाला हो। निर्ग्रंथता का अनुभव करनेवाला ही सच्चा संत है। निर्ग्रंथता का अनुभव करके ही निर्ग्रंथ बना जाता है। मात्र ग्रंथ को पढ़-पढ़कर निर्ग्रंथ नहीं बना जाता। ग्रंथ को पढ़कर निर्ग्रंथ का परिचय किया जा सकता है और निर्ग्रंथ का अनुभव करके निर्ग्रंथ बना जाता है। इसीलिए भव्यजीव संत की शरण में भावना लेकर आता है—हे भगवन्! मेरा सत्य से परिचय हो जाये।

बहुत लोग 'संतमूढ़' होते हैं। कहते हैं—मुझे संत मिल गये, अब कोई चिंता की बात नहीं है। अरे! संत मिलने के बाद ही चिंता की बात है। अब तुम निश्चिंत मत हो जाना। अभी तक तुम निश्चिंत थे, वो तुम्हारी अज्ञानता थी। अब तुम्हें पुण्योदय से संत मिल गये हैं, अब तुम्हें चिंता करने की आवश्यकता है।

अगर गणित का टीचर (Teacher) मिल जाये तो विद्यार्थी को निश्चिंत होकर बैठने की आवश्यकता नहीं है, अब उसे इस बात की चिंता करने की आवश्यकता है कि गणित के टीचर (Teacher) से गणित का पूरा विषय ठीक तरह से समझ लिया जाये, जान लिया जाये। अन्यथा फिर पता नहीं यह टीचर (Teacher) मिलेंगे या नहीं? अरे भैया! जब चिंता करना चाहिए थी तब तुम निश्चिंत हो गये।

ध्यान रखना, संत की शरण में आने के बाद एक ही चिंता अंतरंग में होना चाहिए कि मुझे अब सत्य चाहिए। आप सभी भव्यजीव कितने महान हैं? आपकी आत्मा कितनी महान है? आपकी सोच और संकल्प शक्ति कितनी महान है? कि तुम रोज संत की शरण में आकर सत्य की खोज, सत्य की चाह निरंतर बनाये हुये हो।

आचार्य भगवन् कहते हैं—विवेक का नाम ही सत्य है। जहाँ विवेक है वहीं सत्य है। सर्वोपयोगी श्लोक संग्रह ग्रंथ के विवेक प्रशंसा प्रकरण में कहा है—

विषय-विरति-मूलं सत्तपः स्कन्धबन्धं,
सकल-विनय-शाखं ज्ञान-विज्ञान-पत्रम्।
विमल-समिति-पुष्पं मुक्तिनारी फलाढ्यं।
भज निकृतकलंकं कल्पवृक्षं विवेकम्।।1।।

हे भव्य! तू विवेक रूप उस कल्पवृक्ष की सेवा कर जिसका मूल विषयों से विरक्ति है, जिसका स्कन्धबंध सम्यक्त्व है, जिसकी शाखायें सबप्रकार की विनय है, जिसके पत्ते ज्ञान विज्ञान हैं, जिसके पुष्प निर्दोष समितियाँ हैं, जो मुक्ति स्त्री रूपी फल से सहित है तथा कलंक-रहित है।

वह विवेक ही परम सत्य है। विवेक के बिना सब असत्य है। आचार्य भगवन् कह रहे हैं—विवेक बिना सम्यक्त्व नही होता। इसका तात्पर्य यह है कि सम्यक्त्व के लिए विवेक चाहिए। सो वह सम्यक्त्व कैसा है? किसे कहते हैं सम्यक्त्व? सम्यक्त्व का अर्थ है—सच्ची श्रद्धा। जहाँ सच्ची श्रद्धा है वहाँ सम्यक्त्व है। जिसके प्रति श्रद्धा है वो सच्चा होगा, तभी श्रद्धा सच्ची है। यानि सत्य के प्रति श्रद्धा होना ही सच्ची श्रद्धा है। वह सत्य क्या है? देह में बैठा हुआ शुद्धात्मा ही सत्य है। जिसे शुद्धात्मा की श्रद्धा है उसे ही सच्ची श्रद्धा है, वहीं सम्यक्त्व होता है। वह सम्यक्त्व विवेक से मिलता है। संत की शरण में जाने के बाद विवेक जाग्रत करना। विवेक बिना सम्यक्त्व नहीं होता।

आचार्य भगवन् कुंदकुंददेव इस गाथा में बता रहे हैं—विवेक के बिना सच्ची श्रद्धा उत्पन्न नहीं होती।

ण वि जाणदि कज्जमकज्जं सेयमसेयं पुण्णपावं हि।
तच्चमतच्चं धम्ममधम्मं सो सम्म-उम्मुक्को।।40।।

'कज्जमकज्जं ण वि जाणदि' जो कार्य-अकार्य को नहीं जानता है। जो कार्य करने योग्य है उसे कर्तव्य कहते हैं और जो कार्य नहीं करने योग्य है उसे अकर्तव्य कहते हैं।

जब तक हमें कर्तव्य-अकर्तव्य का ज्ञान नहीं होगा तब तक हम अकर्तव्य को कर्तव्य और कर्तव्य को अकर्तव्य मानते रहेंगे। जो करने योग्य है उसे अकर्तव्य समझ लेंगे और जो अकर्तव्य है उसे कर्तव्य समझ लेंगे। ध्यान रखना, आत्मा का हित ही कर्तव्य है। ये करने योग्य कार्य है। आत्मा के हित के अलावा जो परिवार का हित है वह सर्वथा कर्तव्य नहीं हो सकता।

हमारे लिए यह मनुष्य पर्याय नैतिक कर्तव्यों के लिए मिली है या पारमार्थिक कर्तव्य के लिए इसका विचार अवश्य होना चाहिये। यह पर्याय पारमार्थिक कर्तव्य को करने के लिए मिली है। लेकिन जब तक हम पारमार्थिक कर्तव्य को उपलब्ध नहीं हो पाते तब तक हमें

नैतिक कर्तव्यों का भी निर्वाह करना चाहिए। लेकिन यह बात हमेशा ख्याल में रहना चाहिये कि मात्र नैतिक कर्तव्यों के लिए हमारी ये पर्याय नहीं है। हमारा पुण्य मात्र नैतिक कर्तव्यों में खर्च करने के लिए नहीं है। आपका कृत पुण्य मात्र नैतिक कर्तव्यों में लगाने के लिए नहीं है अपितु प्रधानता से पारमार्थिक कर्तव्य को साधने के लिए है।

अधिकांश जीव अपने पुण्य को मात्र दो जगह खर्च करते रहते हैं—एक तो अकर्तव्य में और दूसरा नैतिक कर्तव्य में। जबकि यह पुण्य आपको पारमार्थिक कर्तव्य को साधने के लिए मिला था।

अहो! मनुष्य भव जैसा पुण्य कोई दूसरा नहीं है। जिस पुण्य के लिए स्वर्ग के देवता भी तरसते हों कि काश हमें भी यह मनुष्य पर्याय मिली होती, तो मैं भी अपने पारमार्थिक कर्तव्य को साध पाता। मैं स्वर्ग में अपने नैतिक कर्तव्य तो साध सकता हूँ लेकिन पारमार्थिक कर्तव्य को साधने में असमर्थ हूँ।

ध्यान रखना, देवता भी इस मनुष्य पर्याय को पाने के लिए तरसते हैं। आज आपको ऐसा पुण्य मिला है जो पुण्य पारमार्थिक कर्तव्य को साधने में कारण है लेकिन आप उस पुण्य का दुरुपयोग करते हैं। अधिकांश जीवों की अकर्तव्य में ही बुद्धि लगी रहती है और बहुत ज्यादा हुआ तो मात्र नैतिक कर्तव्य तक ही सीमित रह जाते हैं पारमार्थिक कर्तव्य से जुड़ ही नहीं पाते। आचार्य कहते हैं—जब तक आपको पारमार्थिक कर्तव्य, नैतिक कर्तव्य और अकर्तव्य का बोध नहीं होगा तब तक आपके लिए सम्यक्त्व होनेवाला नहीं है। इसलिए अपनी आत्मा में पारमार्थिक कर्तव्य, नैतिक कर्तव्य और अकर्तव्य का बोध जाग्रत करो।

अकर्तव्य क्या है? आत्महित और नैतिक कर्तव्य के अलावा जो भी कार्य हमारे द्वारा संपादित किये जाते हैं वे सब अकर्तव्य हैं। **दूसरे का बुरा सोचना अकर्तव्य है, दूसरे का अच्छा सोचना नैतिक कर्तव्य है और स्वयं का भला सोचना पारमार्थिक कर्तव्य है।** इसलिए कभी अकर्तव्य की ओर दृष्टि नहीं रखनी चाहिए। अगर संत शरण में आने के बाद भी अकर्तव्य से दृष्टि नहीं हटी, तो आपने न संत शरण प्राप्त की और न सत्य की शरण प्राप्त की। संत शरण में आने के बाद सबसे पहले अकर्तव्य को त्यागने का कार्य होना चाहिए। संत शरण में आकर हमें क्या करने योग्य नहीं है इसका विचार जरूर करना चाहिए। दूसरों की बुराई

करना योग्य नहीं है, दूसरे की निंदा करना योग्य नहीं है, अशुद्ध भोजन करना योग्य नहीं है, माँस, मदिरा का सेवन करना अकर्तव्य है। बीड़ी, सिगरेट आदि का पान करना अकर्तव्य है। अगर इनमें बुद्धि जा रही है तो अकर्तव्य बुद्धि है। अभी तो तुम्हें अपना नैतिक कर्तव्य ही दिखाई नहीं दे रहा है, फिर निश्चय कर्तव्य कैसे दिखाई देगा?

अकर्तव्य को भी उतना ही जानना आवश्यक है जितना कर्तव्य को जानना आवश्यक है। कर्तव्य को थोड़ा कम भी जान पाओ तो चल जायेगा लेकिन अकर्तव्य को जानना बहुत जरूरी है। अकर्तव्य दुनिया में अनेक हैं लेकिन कर्तव्य दुनिया में एक ही है–'आत्मा का हित करना'। अकर्तव्य कितने हैं? जितने भी संसार के कार्य आँखों से दिखाई देते हैं वे सब आपके लिए अकर्तव्य हैं।

'सेयमसेयं' जो श्रेय तथा अश्रेय को नहीं जानता वह भी सम्यक्त्व को उपलब्ध नहीं हो पाता। श्रेय क्या है और अश्रेय क्या है?

रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है–

न सम्यक्त्व समं किञ्चित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम्।।34।।

अर्थात् प्राणियों के लिए तीन काल और तीन लोक में सम्यग्दर्शन के समान श्रेय रूप अर्थात् कल्याण रूप और मिथ्यात्व के समान अश्रेय रूप अर्थात् अकल्याणरूप अन्य वस्तु नहीं है। मिथ्यात्व का तात्पर्य है विपरीत श्रद्धा और सम्यक्त्व का तात्पर्य है सच्ची श्रद्धा। आचार्य भगवन् कहते हैं–जिसे श्रेय और अश्रेय का ज्ञान नहीं है उसे सम्यक्त्व कैसे हो सकता है?

मिथ्यात्व अश्रेय है, अकल्याणकारी है, अहितकारी है। मिथ्यात्व का अर्थ है विपरीत श्रद्धा। मेरा परिवार मुझे सुखी बनाता है, भोजन से मैं सुखी होता हूँ, धनसम्पदा मुझे सुख प्रदान करती है। ध्यान रखना, यह कथंचित् आपकी विपरीत श्रद्धा है। सुख आत्मा में है, निजात्मा के सिवाय परवस्तु में सुख गुण नहीं है। गर्मी का मौसम हो और पंखा चला दिया जाये तो व्यक्ति सोचता है कि पंखा ने सुखी बना दिया, यह विपरीत श्रद्धा है। अगर पंखा ही सुखी बनाता तो सर्दियों में भी सुख प्रदान करता। लेकिन सर्दी में वही पंखा दु:ख का कारण हो जाता

है। इसका तात्पर्य यह है कि पंखा किसी को सुखी नहीं करता। सुख का कारण कोई दूसरा ही है। पंखा मौसम के अनुसार कदाचित् किसी काल विशेष में निमित्त हो सकता है लेकिन जो सुख का अनुभव है वह आत्मा से ही प्रगट होता है। सुख कभी पंखे से प्रगट नहीं होता। क्यों? क्योंकि सुख आत्मा में ही पाया जाता है। सुख आत्मा का गुण है। आत्मा सुख का भण्डार है। मेरी ग़ज़ल की दो लाइनें हैं–

सब कुछ लुटा के देखले ज़ाहिद तू एक बार।
आनंद का ख़ज़ाना तुझमें बेशुमार है।।(ज़ाहिद की ग़ज़लें)

बाहरी पदार्थों के आश्रय से सुख की तलाश विपरीत मान्यता है। विपरीत श्रद्धा है। सुख का साधन निज शुद्धात्मा है ऐसा जिसे श्रद्धान् हुआ है उसकी श्रद्धा सच्ची है। जिसे श्रेय-अश्रेय का ज्ञान नहीं है उसे सम्यक्त्व नहीं है।

श्रेय-अश्रेय के साथ पुण्य और पाप का भी श्रद्धान् होना चाहिए। अधिकांश लोग पुण्य और पाप को नहीं जानते। सम्पदा को पुण्य जानते हैं और सम्पदा का अभाव पाप जानते हैं। ध्यान रखना, सम्पदा का होना भी पाप है और नहीं होना भी पुण्य है। अगर सम्पदा का होना ही पुण्य होता तो मुनिराज के पास कुछ भी सम्पदा नहीं है, अतः सबसे बड़े पुण्यहीन मुनिराज हो जाते। सही बताओ, मुनिराज पुण्यात्मा हैं कि आप पुण्यात्मा हो? मुनिराज पुण्यात्मा हैं। मुनिराज ने सम्पदा का त्याग कर दिया है इसका तात्पर्य है कि सम्पदा पुण्य नहीं है। आप कहते हो–जितनी सम्पदा बढ़े उतना हमारा पुण्य बढ़ रहा है। लेकिन ये नहीं जान पाते कि जितनी सम्पदा बढ़ रही है उतना ही पाप बढ़ रहा है। चक्रवर्ती भरत के लिए छहखण्ड की सम्पदा मिल गई। इतना पाप बढ़ गया कि भाई को भी भाई नहीं समझा। जब तक छहखण्ड की सम्पदा नहीं थी तब तक भाई में भ्रातृत्व दिखाई देता था।

सम्पदा का नाम पुण्य नहीं है। पुण्य की परिभाषा को ठीक से समझने की आवश्यकता है। आचार्यों ने पुण्य को परिभाषित करते हुये कहा–**जो आत्मा को पवित्र करे उसका नाम पुण्य है। क्या आपकी सम्पदा आत्मा को पवित्र करती है? अगर आपकी सम्पदा आत्मा को पवित्र करती हो तो मैं भी कह दूँगा कि ठीक है भाई! आपके पास सम्पदा का होना ही पुण्य है। लेकिन आपकी सम्पदा आत्मा को पवित्र नहीं करती है, आत्मा में लोभ**

कषाय को पैदा करती है। लोभ कषाय आत्मा को मलिन करती है, और आप कहते हो मेरे पुण्य का उदय है। ध्यान रखना, पुण्य का उदय तो वह है जिससे आत्मा पवित्र होती है।

मुनिराज अपने पुण्योदय में अपनी आत्मा को पवित्र कर रहे हैं, इसलिए मुनिराज पुण्यात्मा हैं और आप अपने पुण्य के उदय में अपनी आत्मा को मलिन कर रहे हो, इसलिए आपका पुण्य, पाप में कारण है। यह जगत पुण्य और पाप के भेद से अपरिचित है। पुण्य वह है जो आत्मा के एक-एक प्रदेश को पवित्रता से भर दे। हमारे विचारों को पवित्रता दे, ऐसी बुद्धि प्रदान करे जिससे श्रेय-अश्रेय, कल्याण-अकल्याण, हित और अहित दिखाई दे। जब तक हित और अहित दिखाई न दे तब तक आपके पास कितनी भी सम्पदा हो जाये, कितने भी अनुकूल साधन प्राप्त हो जायें तो भी आपका पाप का उदय है। ध्यान रखना, जो आत्मा को पवित्र करे सो पुण्य और जो आत्मा को मलिन करे वह पाप, इस भेद को जिसने जान लिया है वही सम्यग्दृष्टि हो सकता है। **अगर पुण्य आत्मा को मलिन करता होता, तो सबसे ज्यादा मलिन तीर्थंकर की आत्मा होती, क्योंकि तीर्थंकर जैसा पुण्य तीन लोक में किसी के पास नहीं होता है।**

पुनः आचार्य कहते हैं—पुण्य और पाप दोनों समान भी हैं। जो पुण्य आत्मा की पवित्रता में बाधक न हो अपितु आत्मा को पवित्र करने में साधक हो वही सातिशय पुण्य है, बाँकी सब निरतिशय पुण्य है। जो सम्पदा देकर लोभ पैदा करे, कषाय पैदा करे, आपस में विवाद पैदा करे, जिसके कारण परिवार बिखर जाये, टूट जाये, आपस में बैर पैदा हो जाये वह सातिशय पुण्य नहीं है निरतिशय पुण्य है। अहो! सातिशय पुण्य तो वह है जो आत्मा की निर्मलता में निमित्तभूत अनुकूलतायें प्रदान कर आत्मा को पवित्र बनाने में कारण बनता है। पुण्य आत्मा को पवित्र करता है इसका तात्पर्य यह नहीं है कि पुण्य ही आत्मा को पवित्र करता है, यह तो उपचार कथन है। पुण्य साधन है, वह अनुकूलतायें देता है जिससे आत्मा स्वयं को पवित्र करने के पुरुषार्थ में सफल होता है।

सम्यग्दृष्टि जीव पुण्य-पाप के साथ अपनी प्रज्ञा से तत्त्व और अतत्त्व का निर्णय करना भी भलीभाँति जानता है। वह जानता है कि तत्त्व क्या है और अतत्त्व का स्वरूप क्या है।

आचार्य भगवन् उमास्वामी महाराज ने तत्त्वार्थ सूत्र में सात तत्त्व कहे हैं–

''जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्''।। 1-4।।

जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं। इसके अलावा जो कुछ भी हैं सब कुतत्त्व हैं, अतत्त्व हैं। सात तत्त्वों में भी शुद्ध ज्ञानदर्शन चेतना ही तत्त्व है। शुद्ध ज्ञानदर्शन के अलावा जो कुछ भी अशुद्ध ज्ञान, दर्शन एवं रागादि भाव हैं वे सब अतत्त्व रूप हैं। जिसे इसप्रकार तत्त्व और अतत्त्व का भेद मालूम न पड़े उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती।

तत्त्व का अर्थ क्या है? आचार्य भगवन् पूज्यपादस्वामी सर्वार्थसिद्धि में कहते हैं–

''तस्य भावस्तत्त्वं''

जो पदार्थ का स्वभाव है वही तत्त्व है। आत्मा का स्वभाव क्या है? आचार्य कहते हैं– आत्मा का स्वभाव शुद्ध ज्ञान-दर्शन है।

द्रव्यसंग्रह में कहा भी है–

''सुद्धणया सुद्धभावाणं''।।8।।

शुद्धनय से आत्मा के शुद्ध ज्ञानदर्शन रूप जो भाव हैं वो ही आत्मा का स्वभाव है। इस शुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभाव के अलावा जो कुछ भी है वह सब आत्मा के लिए अतत्त्व रूप है। राग-द्वेष, काम-क्रोध रूप जो भी वैभाविक परिणमन है वह सब अतत्त्व रूप है। भो भव्यात्माओ! सही-सही बताना, तत्त्व अच्छा लगता है या अतत्त्व रुचिकर लगता है। रुचि अगर काम, क्रोध, राग, द्वेष आदि में हो तो निर्णय कर लेना कि अभी रुचि पर में ही लग रही है।

छहढालाकार पं. दौलतराम जी कहते हैं–

''परद्रव्यन तैं भिन्न आप में रुचि सम्यक्त्व भला है''।।3-2।।

अर्थात् जिसे अपना ज्ञानदर्शन स्वभाव अच्छा लगता हो, परद्रव्यों से भिन्न निजशुद्ध चेतनस्वभाव में रुचि हो वह सम्यग्दृष्टि है, क्योंकि उसे तत्त्वरुचि है। सम्यग्दृष्टि को तत्त्वरुचि होती है, अतत्त्व में अरुचि होती है। तत्त्वरुचि जिसके है वह सम्यग्दृष्टि और जिसे अतत्त्व रुचि

हो आचार्य कहते हैं—वह जीव मिथ्यात्व से ग्रसित है। क्योंकि तत्त्व के प्रति अरुचि होना, अश्रद्धान् होना यही मिथ्यादृष्टि है।

धर्म दो प्रकार का है—व्यवहार धर्म और निश्चय धर्म। जिसे व्यवहार-निश्चय स्वरूप धर्म का ज्ञान नहीं, भेदाभेद स्वरूप धर्म का ज्ञान नहीं, वह अधर्म को भी अधर्म रूप से नहीं जानता। जब धर्म का ज्ञान होता है, तभी अधर्म, अधर्म रूप से जानने में आता है अन्यथा अधर्म का भी ज्ञान नहीं होता। इसलिए व्यवहार-निश्चयरूप भेदाभेद धर्म का विवेक आत्मा में अवश्य करना चाहिए और अधर्म का परित्याग करना चाहिए। जो ऐसा नहीं जानता **'सो सम्मउम्मुक्को'** वह सम्यक्त्व से रहित है।

एक संत ने रास्ते से गुजरते हुये एक अन्धे व्यक्ति को देखा। संत का मन करुणान्वित हो उठा। काश इस व्यक्ति की आँखें होतीं। यह भी इस सुन्दर नीले आकाश को देख पाता, इस सुन्दर सृष्टि की रचना को देख पाता, अपने पूरे परिवार को देख पाता। संत उस अंधे व्यक्ति के पास गया, उसके कंधे पर हाथ रखकर बड़े प्रेम से उसे आशीष दिया। अंधे व्यक्ति ने संत से कहा—आप तो संत महात्मा हैं आपकी साधना श्रेष्ठ है, आप भगवान् से प्रार्थना कीजिये कि मुझे दृष्टि मिल जाये।

कथानक कल्पित है लेकिन समझ पैदा करने के लिए सटीक है। कहते हैं—संत ने भगवान् से प्रार्थना की और उस व्यक्ति के नेत्रों में रोशनी आ गई। संत को बड़ी प्रसन्नता हुई कि कम से कम मैं किसी के काम तो आया। एक दु:खी व्यक्ति को मेरे निमित्त से आँखें मिल गईं, मैं धन्य हो गया। संत उसे आशीर्वाद देकर आगे बढ़ गया।

कुछ समय बाद संत फिर उसी रास्ते से गुजरा और उसने पुन: उसी स्थान पर उस व्यक्ति को देखा। वह व्यक्ति किसी वेश्या के पीछे-पीछे जा रहा था। संत ने देखा—अरे! चेहरे से तो ये वही व्यक्ति मालूम पड़ता है जिसके लिए मैंने परमात्मा से आँखें माँगीं थीं। संत ने दौड़कर उस व्यक्ति को पकड़ा और कहा—भले आदमी! तुम तो वही मालूम पड़ते हो, जिसके लिए मैंने परमात्मा से दृष्टि माँगी थी। उसने कहा—हाँ, बिल्कुल। मैंने आपको पहिचान लिया। आपने ही मेरे लिए दृष्टि माँगी थी।

संत ने कहा—जब तक तेरे पास दृष्टि नहीं थी तब तक क्या तुझे वेश्या की रुचि थी?

बोला—नहीं। संत ने कहा—तुझे दृष्टि क्या मिली तू वेश्या के पीछे भागने लगा, शर्म नहीं आती तुझको। वह व्यक्ति सोचने लगा, संत जी कितनी अच्छी बात कह रहे हैं इससे तो मैं अंधा ही ठीक था, कम से कम वेश्या के पीछे तो नहीं भागता था। जब से ये आँखें मिलीं हैं मैं वेश्या के पीछे भागने लगा, धिक्कार है मुझे। फिर उस व्यक्ति ने संत से एक बात कही जो बहुत मायने रखती है।

उस व्यक्ति ने कहा—संत जी! आपने मेरे लिए भगवान् से प्रार्थना की। मुझे नेत्र मिलें, रोशनी मिले। परमात्मा ने मुझे रोशनी दे दी। काश, आपने परमात्मा से ऐसी प्रार्थना की होती—हे परमात्मा! इस अंधे को तू दृष्टि दे, लेकिन विवेक की दृष्टि देना, विवेक की आँखें देना। अगर उस दिन परमात्मा से आपने मेरे लिये विवेक की आँखें माँगी होतीं तो शायद आज मैं वेश्या के पीछे नहीं भाग रहा होता। मैं भी आपकी तरह संत बनकर सत्य की शरण में पहुँच गया होता।

ध्यान रखना, जो विवेक है वही सत्य है। जब तक आत्मा में विवेक नहीं आता तब तक सत्य की उपलब्धि नहीं होती। मैं भगवान् से यही प्रार्थना करता हूँ—आप सभी लोग जो यहाँ संत शरण में आये हैं आप सभी को दो आँखों के साथ-साथ एक विवेक की आँख भी मिले जिससे आप श्रेय-अश्रेय को पहिचान सकें, तत्त्व-अतत्त्व का परिचय कर सकें, कर्तव्य-अकर्तव्य की पहिचान कर सकें, पुण्य-पाप को पहिचान सकें, धर्म-अधर्म की पहिचान कर सकें, तथा इनकी पहिचान करके '**धम्मं सरणं पव्वज्जामि**' धर्म की शरण को प्राप्त कर सकें।

आत्मा में विवेक अवश्य जाग्रत करना चाहिये। क्योंकि बिना विवेक के आत्मा का हित होनेवाला नहीं है। विवेक के बिना कभी साधु का दर्शन नहीं हो सकता। संत की शरण नहीं मिल सकती। संत शरण भले ही मिल जाये अगर सत्य की शरण नहीं मिल पाई तो वह संत शरण भी नहीं है। इसलिए जीवन में विवेक अवश्य धारण करना चाहिये। सत्य शरण को उपलब्ध होकर इस पर्याय को सार्थक करना चाहिये।

यह मनुष्य पर्याय तभी सार्थक होगी जब इस पर्याय के योग्य कर्तव्यों का पालन होगा और अकर्तव्यों के प्रति हेयता का भाव होगा। जो कर्तव्यपालन करके प्रमुदित होता है वही सम्यग्दृष्टि है। जिसे कर्तव्यपालन में खेद होता है वह सम्यग्दर्शन से अभी दूर है।

ध्यान रखना, एक गृहस्थ के लिए जीवन में जिनेन्द्र देव की पूजा को छोड़कर अन्य देवों की आराधना अकर्तव्य है। देवपूजा श्रावक का प्रथम कर्तव्य है। जिनवाणी का स्वाध्याय करना श्रावक का कर्तव्य है। जिनवाणी के अलावा अन्य किताबों का अध्ययन करना अकर्तव्य है। निर्ग्रंथ गुरुओं की उपासना कर्तव्य है। सच्चे गुरु को छोड़कर कुगुरुओं की उपासना अकर्तव्य है।

सम्यग्दृष्टि जीव आत्महित के लिये निरंतर वैराग्य की भावना भाता है। उसे आत्महित कर्तव्य रूप नजर आता है। मिथ्यादृष्टि जीव राग, द्वेष, मोह में ही पड़ा रहता है क्योंकि उसे अहित में हित नजर आता है अकर्तव्य भी कर्तव्य रूप दिखाई देता है। सम्यग्दृष्टि को घर-परिवार पिंजरे जैसा मालूम पड़ता है।

वैराग्य भावना में कहा भी है–

''घर कारागृह वनिता बेड़ी परिजन जन रखवारे।''

सम्यग्दृष्टि जीव को घर में आनन्द नहीं आता। उसे घर कारागृह सा नजर आता है। क्या किसी कैदी को कारागृह में अच्छा लगता है? नहीं लगता। वो निरन्तर उससे छूटने की भावना करता है, उसीप्रकार सच्चा सम्यग्दृष्टि जीव जिसे अपने कर्तव्य पथ का सच्चा ज्ञान है वह निरन्तर घर-परिवार के मोहरूपी अकर्तव्य पथ से छूटने का प्रयास करता है। जब तक घर से छूट नहीं पाता तब तक घर में रहकर भी विवेक का दीप जलाकर रखता है और अपना हर कार्य उस विवेक की रोशनी में सम्पादित करता है। चरणानुयोग के अनुसार अपना आचरण निर्मित करता है। अभक्ष्य सेवन से बचकर विवेक के साथ सदाचारमय जीवन जीता है। **विवेकी जीव अटरं, सटरं, गटरं नहीं करता, जिसे विवेक की दृष्टि प्राप्त नहीं होती वह अटरं सटरं खा- खाकर, अपनी आहार नली को गटरं बनाता रहता है। विवेक जाग्रत कीजिये और अटरं सटरं खाकर अपनी आहारनली को गटरं मत बनाइये।** भोजन हमारे विचारों के परिवर्तन में कारण है।

किसी अनुभवी ने कहा भी है–

''जैसा खाओ अन्न वैसा होवे मन, जैसा पीओ पानी वैसी होवे वाणी''

खानपान जैसा होता है विचार भी उसके अनुरूप ही परिवर्तित होना शुरू हो जाते हैं। शुद्ध

भोजन करते हैं तो विचारों में शुद्धता होती है भोजन यदि अभक्ष्य है तो विचार भी अशुद्ध होने लगते हैं।

कहा भी है–

''द्रव्यविशुद्धेन बिना संयम भावो न भवति''

भोजनपान की शुद्धता के बिना जीवों के परिणाम संयम योग्य नहीं होते हैं अत: भव्य जीवों को भक्ष्य-अभक्ष्य का ज्ञान करके अभक्ष्य का पूर्णत: त्याग कर देना चाहिए और भक्ष्य पदार्थों की मर्यादा भी बना लेना चाहिए।

ज्ञानी जीव अभक्ष्य का तो त्यागी होता ही है, वह सामने रखे हुए भक्ष्य पदार्थों को देखकर भी लज्जित होता है। सोचता है, कब तक इन पुद्गलों का भक्षण करता रहूँगा? ज्ञानी जीव चिंतन करता है–अहो! अश्रेय के मार्ग पर चलते-चलते अनंतकाल और अनंत पर्यायें व्यर्थ हो गईं। अब इस पर्याय को श्रेयमार्ग पर लगाकर आत्मा का कल्याण करूँगा। अपने अखण्ड सुखस्वभावी आत्मा के आश्रय से शाश्वत सुख का पुरुषार्थ करूँगा। आपकी आत्मा में वह आत्मसुख का पवित्र पुरुषार्थ जाग्रत हो, इसी मंगल भावना के साथ...।

कार्य-अकार्य नहीं जाना, पुण्य-पाप नहिं पहिचाना।
तत्त्व-अत्तत्व व धर्म-अधर्म, श्रेय-अश्रेय नहीं माना।।
सम्यग्दर्शन से, हो-हो-2 वह रहित कहाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2, संहिता दिखलाये रे।।

अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

❑❑❑

(अविवेकी को सम्यक्त्व नहीं होता)

ण वि जाणदि जोॅग्गमजोॅग्गं णिच्चमणिच्चं हेयमुवादेयं।
सच्चमसच्चं भव्वमभव्वं सो सम्म-उम्मुक्को।।41।।

* अन्वयार्थ *

(**जोग्गमजोॅग्गं**) जो योग्य-अयोग्य (**णिच्च-मणिच्चं**) नित्य-अनित्य (**हेयमुवादेयं**) हेय-उपादेय (**सच्चमसच्चं**) सत्य-असत्य (**भव्वमभव्वं**) भव्य-अभव्य को (**ण वि**) नहीं (**जाणदि**) जानता है (**सो**) वह (**सम्म-उम्मुक्को**) सम्यक्त्व से रहित है।

अर्थ–जो योग्य-अयोग्य, नित्य-अनित्य, हेय-उपादेय, सत्य-असत्य और भव्य-अभव्य को नहीं जानता है, वह सम्यक्त्व से रहित है।

गाथा - 41

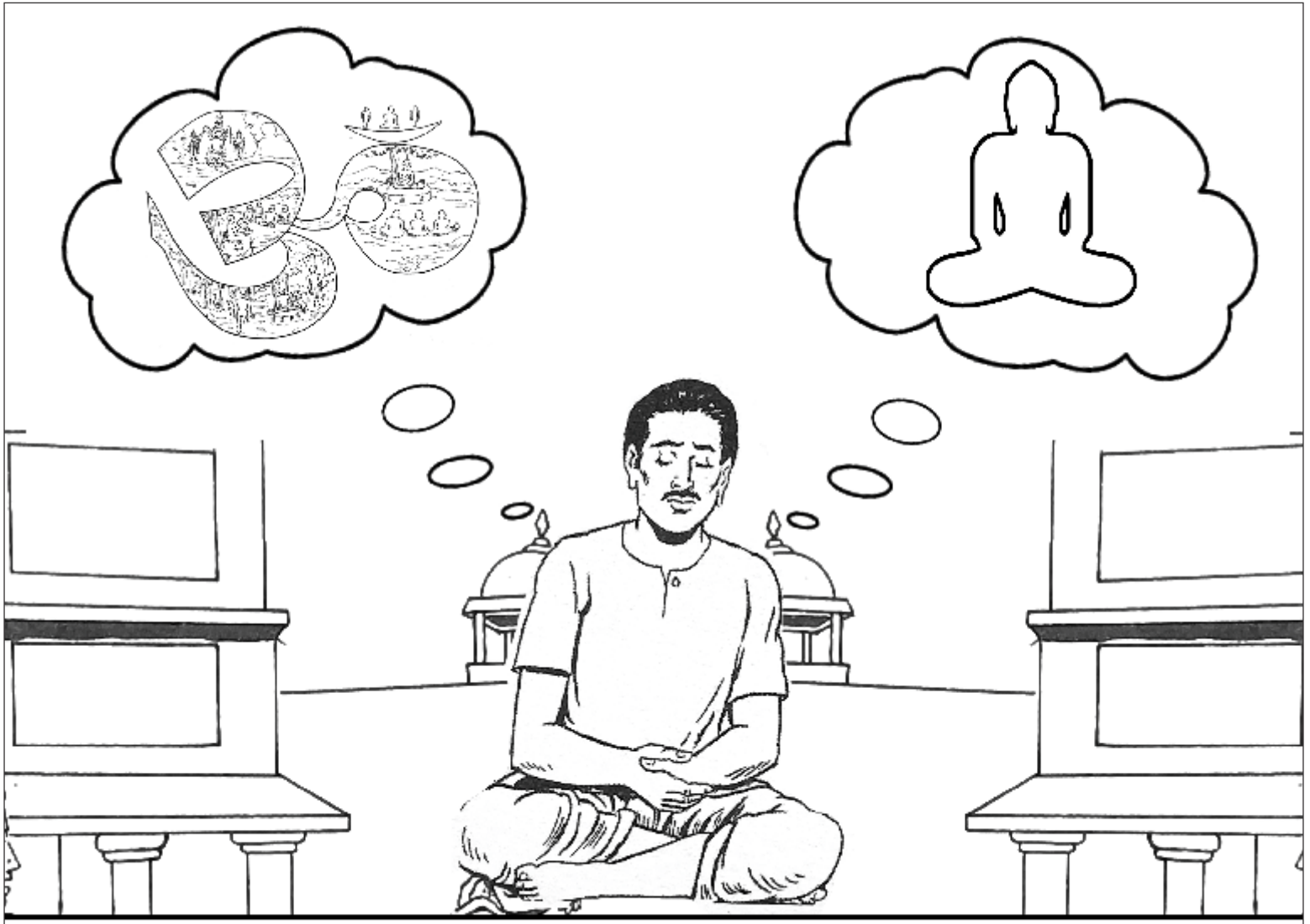
(प्रवचन)

●

मोह विजय का पथ नित्य स्वभाव का आश्रय

18.10.2013

भिण्ड (म.प्र.)



सम्यग्दृष्टि जीव पंच महागुरुओं की और निजात्मा की श्रद्धा करता है।

52

रयणोदय

योग्य-अयोग्य नहीं जाने, नित्य-अनित्य न पहिचाने ।
हेयोपादेय सत्यासत्य, भव्य-अभव्य नहीं जाने।।
वह सम्यग्दर्शन, हो-हो-2 से रहित कहाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2, संहिता दिखलाये रे।।

'**जयदु जिणागमपंथो**' अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

तीर्थंकर भगवंत की दिव्यध्वनि जिनश्रुत है, जिनागम है। जिनागम में वर्णित आत्मकल्याणकारी मार्ग, आत्महितकारी पंथ '**जिनागम पंथ**' है। परस्पर रागद्वेष को बढ़ानेवाले आगमबाह्य पंथ उन्मार्ग हैं। वीतरागता को देनेवाला, '**परस्परोपग्रहो जीवानाम्**' का प्रतीक '**जिनागम पंथ**' सन्मार्ग है।

सम्यग्दर्शन जैनधर्म का प्राणतत्त्व है। सम्यग्दर्शन के बिना जैनधर्म आधार विहीन नजर आता है। जिसप्रकार तन में साँसें न हों तो वह मृत कहलाता है उसीप्रकार जैनधर्म से अगर सम्यग्दर्शन अलग कर दिया जाये तो वह धर्म की संज्ञा को प्राप्त नहीं होता।

सच्चेदेव की महिमा सम्यग्दर्शन से है, सच्चे गुरु की महिमा सम्यग्दर्शन से है और सच्चे

शास्त्र की महिमा भी सम्यग्दर्शन से ही है। सम्यग्दर्शन न हो तो सच्चे देव, सच्चे नजर नहीं आते। भगवान् की प्रतिमा में भी पाषाण नजर आता है, सम्यग्दर्शन से पाषाण की प्रतिमा में भी भगवान् की प्रतिभा नजर आते लगती है।

सच्चे गुरु की जीवन में क्या उपादेयता है? इसका ज्ञान भी सम्यक्त्व के होने पर ही होता है। जब जीवन में योग्य और अयोग्य को पहिचानने की दृष्टि पैदा होती है तब व्यक्ति सम्यक्त्व प्राप्ति के योग्य होता है। योग्य-अयोग्य के ज्ञान बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता। **सम्यग्दृष्टि जीव अपने श्रावक धर्म के षट् कर्तव्यों का पालन योग्य-अयोग्य दृष्टि से करता है। वह भगवान् की उपासना तो करता है लेकिन किनकी उपासना करना योग्य है और कौन उपासना के अयोग्य है इस बात का विवेक भी अवश्य रखता है। वह सच्चे देव की आराधना तो करता है लेकिन अन्य रागी-द्वेषी देवी देवताओं को भगवान् मानकर उपासना नहीं करता। भगवत् गुणों से उनका निर्णय करता है। जो आप्त के गुणों से युक्त है वही आराधना के योग्य है, ऐसा निर्णय उपासना के पूर्व कर लेता है।**

सर्वोपयोगी श्लोक संग्रह के जिनेन्द्र स्तुति प्रकरण में कहा है–

यस्य ज्ञान-सुधाम्बुधौ जगदिदं विश्वं हि भस्त्रायते,
कर्माण्यष्ट निहत्य येन सुगुणाश्चाष्टौ समासादिताः।
पूजार्हं जिनदेवमच्युतमजं बुद्धं मुनिं शङ्करं,
ध्यायेऽहं मनसा स्तवीमि वचसा मूर्ध्ना नमाम्यादरात्।।10।।

अर्थात् जिनके ज्ञानरूपी सुधा के समुद्र में यह समस्त संसार मसक के समान आचरण करता है और जिन्होंने अष्टकर्म नष्ट कर आठ सुगुणों को प्राप्त किया है उन पूजा के योग्य जिनदेव का, भले ही उन्हें विष्णु, ब्रह्मा, बुद्ध, मुनि या शंकर कहो मैं उनका मन से ध्यान करता हूँ, वचन से स्तवन करता हूँ और मस्तक से आदरपूर्वक उन्हें प्रणाम करता हूँ, नमस्कार करता हूँ।

जो जिनत्व के इन गुणों से युक्त नहीं है सम्यग्दृष्टि जीव की श्रद्धा में वह आराधना, पूजा और उपासना के योग्य नहीं है। देव, शास्त्र, गुरु के प्रति उसके हृदय में अटूट श्रद्धा का भाव होता है। जैसे कोई पतिव्रता स्त्री विधवा होने पर भी अपना शीलव्रत नहीं छोड़ती, उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि जीव की विशुद्धि होती है। देव, शास्त्र, गुरु का किसी काल में विरह भी हो जाये

तो भी उनके प्रति जो श्रद्धा का भाव है, उसका विरह नहीं होता। वह अपनी अनमोल श्रद्धा को कभी नहीं छोड़ता।

सम्राट श्रेणिक जैन मुनियों का घोर विरोधी था, जिनधर्म के प्रति द्वेष रखता था, लेकिन रानी चेलना की रग-रग में जिनधर्म के संस्कार प्रवाहित थे। वह महान दिगम्बर जैनधर्म की अटूट श्रद्धा से भरी हुई थी। आखिर एक दिन महारानी चेलना के सम्यक्त्व के समक्ष महाराज श्रेणिक को भी हार माननी पड़ी और वह भी सच्चे जिनधर्म का उपासक हो गया।

सम्यग्दृष्टि जीव को एक ओर पंच महागुरुओं की श्रद्धा होती है। देव, शास्त्र, गुरु की श्रद्धा होती है। वहीं दूसरी ओर अपने स्वात्मदेव की नित्य सत्ता का भान, ज्ञान और श्रद्धान भी उसे नित्य होता है। जिसे अपने नित्यस्वभाव का, अपने जीवद्रव्य की नित्यता का ज्ञान नहीं है वह पर्याय को ही नित्य मानकर जीता रहता है, जबकि पर्याय तो नश्वर है, नाशवान है। जब पर्याय अनित्य है तो इस पर्याय के लिये क्या रोना? अपने अविनाशी द्रव्य की श्रद्धा करो, ज्ञान करो। इस वर्तमान की अनित्य पर्याय के लिये अकृत्य मत करो। जिसे अविनाशी निजात्मद्रव्य का ज्ञान हो जाता है फिर वह पर्याय के लिये नहीं जीता। नित्य और अनित्य का चिंतन सम्यक्त्व को निर्मल करता है। संसार के सभी पदार्थ स्वभाव की अपेक्षा नित्य हैं, फिर भी आपके लिये सभी पदार्थ अनित्य हैं। शरीर क्या है, नित्य है या अनित्य? अनित्य है।

आचार्य भगवन् कुमार कार्तिकेयस्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में लिखते हैं–

अइलालिओ वि देहो ण्हाणसुयंधेहिँ विविहभक्खेहिं।
खणमित्तेण वि विहडइ जलभरिओ आम घडओ व्व।।9।।

अर्थात् स्नान और सुगंधित द्रव्यों से तथा अनेक प्रकार के भोजन से लालन-पालन करने पर भी जल से भरे हुये कच्चे मिट्टी के घड़े के समान यह शरीर क्षणमात्र में ही नष्ट हो जाता है।

जब हमारा शरीर नित्य नहीं हैं तो क्या शरीर के साथ जितने संबंध जोड़े गये हैं, वो नित्य होंगे? कभी नहीं हो सकते।

आचार्य भगवन् अमितगतिस्वामी सामायिक पाठ में लिखते हैं–

यस्यास्ति नैक्यं वपुषापि सार्द्धं, तस्यास्ति किं पुत्र कलत्र मित्रैः।

पृथक्कृते चर्मणि रोमकूपाः, कुतो हि तिष्ठन्ति शरीरमध्ये।।27।।

चेतन की तन के संग भी है नहीं एकता जब संभव।
पुत्रादिक के साथ ऐक्य फिर क्यों कैसे होगा संभव।।
जब शरीर से जिस क्षण भी यह चर्म अलग हो जायेगा।
तब निश्चय से रोमकूप भी उस क्षण ही खो जायेगा।।27।।

इस अनित्य शरीर में रहनेवाला चैतन्य भगवान् आत्मा नित्य है। अज्ञानी अनित्य में नित्य की कल्पना करता रहता है। नित्य को नित्य और अनित्य को अनित्य के रूप से स्वीकार किया जाये तो जीवन के सारे दुःख क्षणभर में समाप्त हो जाते हैं।

जिससमय वस्तु नित्य है उसीसमय वस्तु अनित्य भी है। लोक के सारे पदार्थ नित्यानित्य हैं। हम अक्सर वस्तु को पर्याय की दृष्टि से निहारते हैं। पर्याय की दृष्टि से किसी वस्तु को देखोगे तो वस्तु अनित्य दिखाई देगी। यदि वस्तु को द्रव्यदृष्टि से देखोगे, तो वस्तु नित्य भी दिखाई देगी। जीव के दुःख का कारण वस्तु को एक गुणधर्म की दृष्टि से देखना है। जब तक वस्तु को देखने की दृष्टि नित्यानित्य रूप नहीं होगी तब तक शांति और सुख का मार्ग नहीं खुल सकता।

जरा विचार करना, हमारा दुःख नित्य है या अनित्य है? ध्यान रखना, दुःख हमारी पर्याय में है, द्रव्य तो सुखस्वभावी है। हमारे दुःख का कारण एकमात्र अनित्य वस्तु में नित्य की कल्पना है। नित्य को नित्य रूप और अनित्य को अनित्य रूप जानोगे तो सुखी हो जाओगे। अनित्य को नित्य और नित्य को अनित्य जानोगे तो दुःखी ही होते रहोगे।

अनित्य के आश्रय से हम सुखी होना चाहते हैं। अनित्य में भी पर के निमित्त से हम सुखी होना चाहते हैं, यही हमारे दुःख का प्रमुख कारण है। प्रत्येक वस्तु परिणमनशील है। बदलना वस्तु का स्वभाव है। जब वस्तु बदलेगी तो मान्यता बदलेगी और मान्यता बदलेगी तो तुम दुःखी हो जाओगे। आत्मा सुख गुण की अपेक्षा सदा सुखी है लेकिन जब आत्मा पर का आश्रय करता है तो पुण्य के योग में सुखी और पाप के योग में दुःखी हो जाता है।

जितने भी संयोग-वियोग होते हैं सब अनित्य में होते हैं। नित्य में किसी का संयोग नहीं, नित्य से किसी का वियोग नहीं। संयोग और वियोग की व्यथा अनित्य में है। प्रत्येक वस्तु की

पहिचान उसके गुणधर्म से होती है। पुद्गल की पहिचान पुद्गल के गुणधर्म से और आत्मा की पहिचान आत्मा के गुणधर्म से होती है। जीव अनादि से पुद्गल के गुणधर्म से आत्मा की और आत्मा के गुणधर्म से पुद्गल की पहिचान करता आ रहा है।

मैं नित्य होकर भी अनित्य हूँ और अनित्य होकर भी नित्य हूँ। न सर्वथा नित्य हूँ, और न ही सर्वथा अनित्य हूँ, अपितु नित्यानित्यात्मक हूँ। द्रव्यस्वभाव नित्य है, पर्यायस्वभाव अनित्य है। जहाँ न पर का संयोग है न पर का वियोग है हम उस नित्यस्वभाव का आश्रय करें। सुख जब भी प्रगट होगा नित्यस्वभाव के आश्रय से ही होगा। अनित्य का आश्रय दु:ख उपजाता है और नित्य का आश्रय सुख उत्पन्न करनेवाला है।

जब नित्य और अनित्य का ज्ञान होता है तो फिर हेय और उपादेय का विचार किया जाता है। जो नित्य होता है वह उपादेय है और जो अनित्य है वह हेय है। जब तक अनित्य में हेय की दृष्टि नहीं आती तब तक मोह को जीतना संभव नहीं है। अपने नित्यस्वभाव का आश्रय ही मोह विजय का पथ है। आप सभी मोहजयी बनकर स्वभावदशा को उपलब्ध हों, इसी मंगल भावना के साथ...

योग्य-अयोग्य नहीं जाने, नित्य-अनित्य न पहिचाने।
हेयोपादेय सत्यासत्य, भव्य-अभव्य नहीं जाने।।
वह सम्यग्दर्शन, हो-हो-2, से रहित कहाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2, संहिता दिखलाये रे।।

अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

❑❑❑

(पृष्ठ नं. 152 का शेष)

द्रव्यानुयोग के अनुसार-

- शुद्धोपयोग प्रधान मुनिराज उत्तम पात्र हैं।
- अनगार मुनिराज, आर्यिका माताजी, ऐलकजी, क्षुल्लकजी, क्षुल्लिका माताजी मध्यम पात्र हैं।
- अविरत सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र हैं।

जैसा कि छहढाला में कहा है-

उत्तम-मध्यम-जघन त्रिविध के, अन्तर आतम ज्ञानी।
द्विविध संग बिन शुध उपयोगी, मुनि उत्तम निजध्यानी।।
मध्यम अन्तर आतम हैं जे देशव्रती अनगारी।
जघन कहे अविरत समदृष्टि तीनों शिवमगचारी।।

करणानुयोग के अनुसार-

- छठवें आदि गुणस्थानवर्ती मुनिराज उत्तम पात्र हैं।
- पंचम गुणस्थानवर्ती आर्यिका माताजी, ऐलकजी, क्षुल्लकजी, क्षुल्लिका माताजी मध्यम पात्र हैं।
- चतुर्थ गुणस्थानवर्ती लिंगरहित अविरत सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र हैं।

चरणानुयोग के अनुसार-

- साक्षात् महाव्रती मुनिराज एवं उपचार महाव्रती आर्यिका माताजी उत्तम पात्र हैं।
- उत्कृष्ट श्रावक ऐलकजी, क्षुल्लकजी एवं क्षुल्लिका माताजी मध्यम पात्र हैं।
- लिंग रहित सम्यग्दृष्टि श्रावक जघन्य पात्र हैं।

प्रथमानुयोग के अनुसार-

- जिनमुद्राधारी मुनिराज एवं आर्यिका माताजी उत्तम पात्र हैं।
- उत्कृष्ट श्रावक ऐलकजी, क्षुल्लकजी एवं क्षुल्लिका माताजी मध्यम पात्र हैं।
- लिंगरहित सम्यग्दृष्टि श्रावक जघन्य पात्र हैं।

चूँकि आहारचर्या और नवधाभक्ति चरणानुयोग का विषय है। अत: उत्तम पात्र में मुनिराज एवं आर्यिका माताजी तथा मध्यम पात्र में ऐलकजी, क्षुल्लकजी एवं क्षुल्लिका माताजी का ग्रहण होता है।

उत्तम पात्र मुनिराज एवं आर्यिका माताजी की नवधाभक्ति में इतना विशेष है कि मुनिराज की विशेष भक्ति के रूप में परिक्रमा होती है और अष्ट द्रव्य से पूजा होती है।

आर्यिका माताजी की नवधाभक्ति में परिक्रमा होती भी है, नहीं भी होती। अष्ट द्रव्य से पूजन होती है अथवा अर्घ्य समर्पित किया जाता है।

मध्यम पात्र की नवधाभक्ति में पूजन के स्थान पर अर्घ्य समर्पित किया जाता है। परिक्रमा नहीं होती।

शेष भक्तियाँ उत्तम-मध्यम पात्र में समान हैं।

जघन्य पात्र चूँकि लिंग रहित है अत: नवधाभक्ति में

- पड़गाहन के स्थान पर विनयपूर्वक 'आइये-आइये' कहकर बुलाया जाता है।
- चौकी आदि देकर उच्चासन दिया जाता है।
- पैर धोने के लिए जल दिया जाता है अथवा अपने से श्रेष्ठ जान पैर धुलाये जाते हैं। पाद प्रक्षालन का जल मस्तक पर

(शेष पृष्ठ नं. 238 पर)

(योगी को लौकिक संगति त्याज्य है)

लोइयजणसंगादो, होदि महामुहर-कुडिल-दुब्भावो।
लोइयसंगं तम्हा, जोगि वि तिविहेण मुच्चाहो ।।42।।

*** अन्वयार्थ ***

(**लोइयजणसंगादो**) मनुष्य लौकिकजनों की संगति से (**महामुहर-कुडिल-दुब्भावो**) महा-वाचाल, कुटिल, दुर्भावयुक्त (**होदि**) हो जाता है, (**तम्हा**) इसलिये (**जोगि वि**) योगी को भी (**लोइयसंगं**) लौकिकजनों की संगति को (**तिविहेण**) तीनों प्रकार मन-वचन-काय से (**मुच्चाहो**) छोड़ देना चाहिये।

अर्थ–मनुष्य रागीद्वेषी लौकिकजनों की संगति से अत्यंत वाचाल, कुटिल और दुर्भावनायुक्त हो जाता है, इसलिए योगी को भी लौकिकजनों की संगति को मन-वचन-काय से छोड़ देना चाहिये।

गाथा - 42

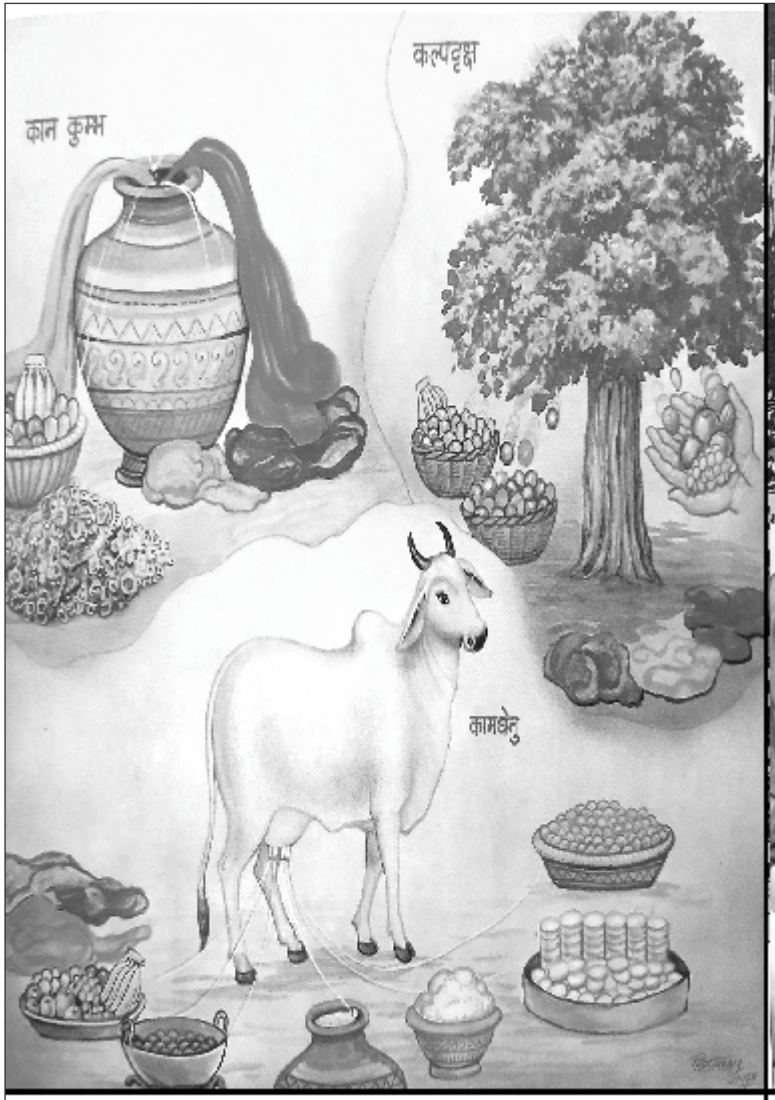
(प्रवचन)

●

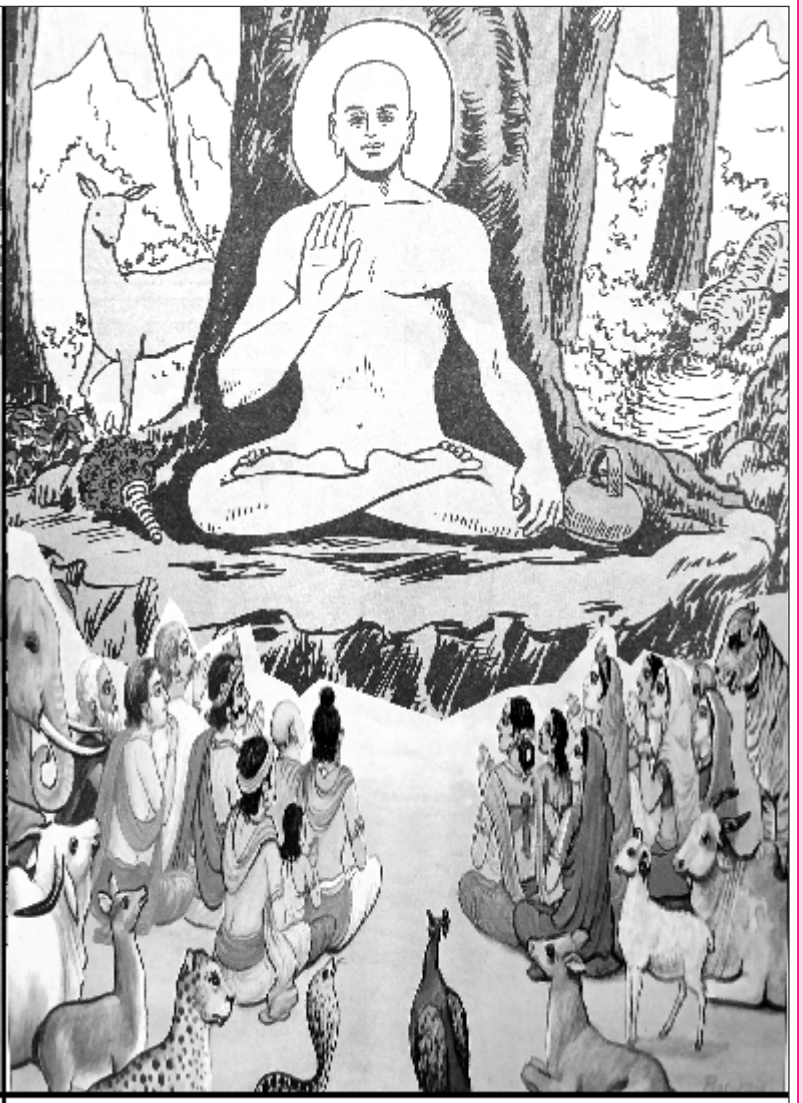
लौकिकजनों की संगति साधना में बाधक

19.10.2013

भिण्ड (म.प्र.)



कल्पवृक्ष, कामधेनु, कामकुम्भ से इच्छित फल की प्राप्ति।



साधुसंगति से सभी इच्छित फल सहज प्राप्त होते हैं।

53

रयणोदय

लौकिक जन का संग करे, दुर्भावों के रंग भरे।
होकर अति वाचाल कुटिल, योगी व्रत को भंग करे।।
योगी को लौकिक, हो-हो-2 संगति न लुभाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2, संहिता दिखलाये रे।।

'**जयदु जिणागमपंथो**' अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

तीर्थंकर भगवंत की दिव्यध्वनि जिनश्रुत है, जिनागम है। जिनागम में वर्णित आत्मकल्याणकारी मार्ग, आत्महितकारी पंथ '**जिनागम पंथ**' है। परस्पर रागद्वेष को बढ़ानेवाले आगमबाह्य पंथ उन्मार्ग हैं। वीतरागता को देनेवाला, '**परस्परोपग्रहो जीवानाम्**' का प्रतीक '**जिनागम पंथ**' सन्मार्ग है।

दिगम्बर जैन साधना पद्धति में साधक को, श्रमण को किस तरह से अपनी चर्या करना चाहिये? किस तरह से अपनी साधना करना चाहिये? आचार्य भगवन् 42-वीं गाथा में बता रहे हैं—लौकिकजनों की संगति से मनुष्य वाचाल, कुटिल, दुर्भावयुक्त हो जाता है अतः लौकिकजनों की संगति योगी के त्याज्य है।

लौकिक संगति श्रमण के लिये त्याज्य है। जहाँ त्याज्य कह दिया जाये, वहाँ भाज्य नहीं कहा जा सकता। भो श्रमण! व्यवहार में उतने समय तक ही स्थित रहना जितने समय तक व्यवहार दशा में स्थित हो, जब निश्चय को साधने की योग्यता आ जाये तो व्यवहार में मत उलझे रहना। अगर निश्चय को साधने की योग्यता है तो व्यवहार त्याज्य है। श्रमण को श्रमणधर्म का आनंद तभी आ सकता है जब वह जिनेन्द्र आज्ञा को जीवन का आधार बनाये और इस अमृतमयी कुंदकुंद देशना को स्वीकारकर जीवन को पावन बनाने का पुरुषार्थ करे।

जिसप्रकार कपास, आग की संगति से क्षणमात्र में जल जाता है उसीप्रकार भो श्रमण! तुम कपास की तरह हो और लौकिक संगति अंगारों की तरह है, अगर उनकी संगति करोगे तो जल जाओगे। अहो! कहाँ तो यह शाश्वत सुख का हेतु वीतरागी निर्ग्रंथ भेष और कहाँ संसार परिवर्धन में हेतु लौकिक संगति। श्रमण आत्मसुख की आकांक्षा से भरा होता है, निरंतर उसी का रसास्वादन करता है।

सर्वोपयोगी श्लोक संग्रह के साधु प्रशंसा प्रकरण में कहा है–

नैवास्ति राज राजस्य तत् सुखं नैव देवराजस्य।
यत्सुखमिहैव साधो-र्लोकव्यापार रहितस्य।। (पृष्ठ-458)

अर्थात् लौकिक व्यापार से रहित साधु को जो सुख इसलोक में होता है वह सुख न तो कुबेर को होता और न इन्द्र को, अहो! उस आत्मानंद की महिमा शब्द अगोचर है।

पं. दौलतराम जी छहढाला में कहते हैं–

यों चिन्त्य निज में थिर भये, तिन अकथ जो आनंद लह्यो।
सो इन्द्र नाग नरेन्द्र वा, अहमिन्द्र के नाहीं कह्यो।। 6-11।।

तत्त्व चिन्तन करते हुये मुनिराजों का उपयोग जब आत्मा में स्थिर हो जाता है उससमय मुनिराजों को जो वचनातीत आनंद (सुख) होता है वह इन्द्र, नागेन्द्र, नरेन्द्र, अहमिन्द्र आदि के भी नहीं है। यह आनंद तभी मिलता है जब श्रमण परसंगति से छूटकर आत्मसंगति करता है।

श्रावकों का यह कर्तव्य है कि वह निर्ग्रंथ साधकों की निर्ग्रंथता को सुरक्षित रखें। भो श्रावको! जब भी निर्ग्रंथों के चरणों में जाओ, तो उनसे सिर्फ दो ही मार्ग पूछना–भगवन्! आत्मा के हित का निश्चयमार्ग और व्यवहार मार्ग क्या है? इनके अलावा कुछ और पूछना

निर्ग्रंथों का समय खराब करना है।

निर्ग्रंथ साधक लौकिककार्यों के द्वारा जगत को रंजायमान नहीं करते। वे अपने रत्नत्रय धर्म से सबको रंजायमान करते हैं। कोई तिलक लगाकर लोगों को भक्त बनाने में लगे हैं, कोई भक्तों को रिझाने के लिये उनके घरों में जाकर कलश आदि स्थापना के प्रपंच करते हैं, कोई लोगों को धागा बाँधकर भक्त बनाने में व्यस्त हैं, कोई तंत्र, मंत्र, यंत्र आदि के चमत्कारों से भीड़ को आकर्षित कर रहे हैं।

जिसके तन पर एक धागा भी शेष नहीं है वह निर्ग्रंथ योगी भक्तों के हाथों में ब्रासलेट, कलावा, रक्षासूत्र बाँध-बाँधकर आनंदित हो रहा है। बुंदेलखण्ड में एक जाति होती है जिसे जोगी कहा जाता है, वे घर-घर जाकर लोगों की कलाई पर कलावा बाँधते हैं। भो जिनशासन के योगियो! आप योगी हो, जोगी नहीं हो। आप तीर्थेश के लघुनंदन हो, आपके ये कार्य नहीं हैं।

जैसे श्रमण के तन पर वस्त्र का एक धागा भी नहीं होता, पूर्णरूप से वह निर्ग्रंथ होता है, वैसे ही उसके उपकरण भी निर्ग्रंथ होते हैं। भो श्रावको! निर्ग्रंथों को निर्ग्रंथ बनाये रखने के लिये उनके उपकरणों को भी निर्ग्रंथ बनाये रखना जरूरी है। कभी राखी लेकर किसी श्रमण के पास मत जाना, कभी उनसे निवेदन मत करना कि मैं आपकी पिच्छी में राखी बाँधना चाहता हूँ।

आत्महित के दो मार्ग हैं, एक निश्चयधर्म और दूसरा व्यवहारधर्म का मार्ग। व्यवहार मार्ग की मुख्यता श्रावक और निश्चयमार्ग की मुख्यता श्रमण की है। भगवान् महावीर के शासन में आत्महित को साधनेवाले भो साधको! आपके लिये निश्चय का आश्रय सदैव करने योग्य है, व्यवहार का आश्रय तभी करना जब सहज अस्थिरता हो अथवा किसी अप्रतिबुद्ध को समझाने का अवसर आ जाये।

निर्ग्रंथ साधक के मुख से निकला एक-एक अक्षर मंत्र होता है, वह कभी अन्यथा कथन नहीं करते। '**नान्यथा मुनि भाषणं**' निर्ग्रंथ मुनि वाचाल नहीं होते। मुनि तो मौन होते हैं।

श्री वासुपूज्य मुनि ने दानशासन के आठवें अध्याय में कहा है–

मुनेः कर्म सुधर्मोपदेशना रचितं वचः।
भावः शुद्धात्मध्यानं हि मौनं मुनिभिरीरितम्।।30।।

''मुनेर्भावः कर्म वा मौनं'' इस व्युत्पत्ति के अनुसार मुनि के भाव अथवा कर्म को मौन कहते हैं। मुनि का भाव क्या है? शुद्धात्मा का ध्यान करना। कर्म क्या है? समीचीन धर्म उपदेश के लिये जिनागम का स्वाध्याय करना। मुनियों ने इसी को मौन कहा है। निर्ग्रंथ श्रमण अनुवीची भाषण करते हैं अर्थात् वे जब भी बोलते हैं आगमानुसार ही बोलते हैं।

''नान्यथा मुनि भाषणं''

मुनिराज अन्यथा कथन नहीं करते हैं।

तत्त्वार्थसूत्र ग्रंथ में आचार्य उमास्वामी महाराज ने सत्यव्रत की भावनाओं का कथन करते हुए लिखा है–

''क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पञ्च''।।5-7।।

अर्थात्, क्रोध, लोभ, भय, हास्य का त्याग एवं आगमानुसार बोलना (अनुवीचि भाषण) ये पाँच सत्यव्रत की भावनायें हैं।

पाक्षिक प्रतिक्रमण में भगवान् गौतमस्वामी ने कहा है–

अकोहणो अलोहो य भय हस्स विवज्जिदो।
अणुवीचि-भास कुसलो विदियं वद मस्सिदो।।3।।

अर्थात् क्रोध से रहित, लोभ से रहित, भय से रहित, हास्य से रहित और आगमानुकूल बोलने में कुशलता ये सत्य महाव्रत की पाँच भावनायें हैं।

इन भावनाओं से युक्त श्रमणों का ही सत्य महाव्रत निर्मल होता है। **जब कोई श्रमण लौकिक संगति में पड़ जाता है तो वह वाचाल हो जाता है और यह वाचालता उसे लघुता की ओर ले जाती है।**

नीतिकारों ने कहा भी है–

मौखर्यं लघुतां धत्ते मौनमुन्नति कारणम्।
मौखर्यान् नूपुरं पादे हृदि हारो विराजते।। (सर्वो. श्लो.)

अर्थात् मौखर्य-वाचाल-बकवास लघुता उत्पन्न करता है और मौन उन्नति का कारण है। मौखर्य के कारण नूपुर पैरों में रखा जाता है और मौन रहने से हार हृदय में सुशोभित होता है।

अति वाचालता को असत्य की कोटि में रखा गया है। आचार्य भगवन् उमास्वामी महाराज ने तत्त्वार्थसूत्र में अनर्थदण्ड व्रत के अतिचारों में एक मौखर्य को रखा। मौखर्य का अर्थ होता है—धृष्टतापूर्वक वचन बोलना, निःसार बोलना, आवश्यकता से अधिक बोलना।

आचार्य भगवन् अमृतचंद्रस्वामी पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय ग्रंथ में असत्य वचन का भेद जो गर्हित वचन है उसका स्वरूप इसप्रकार लिखते हैं—

पैशून्य-हास गर्भं कर्कशमसामञ्जसं प्रलपितं च।
अन्यदपि यदुत्सूत्रं तत्सर्वं गर्हितं गदितम्।।96।।

अर्थात् चुगली रूप हास्य सहित, कठोर, असत्य, प्रलापरूप, (वाचालतारूप) तथा अन्य भी आगम के विरुद्ध जो वचन हैं वे 'गर्हितवचन' हैं।

भगवती आराधना ग्रंथ में आचार्य शिवार्य महाराज भी कहते हैं—

कक्कसवयणं णिट्ठुरवयणं पेसुण्णहासवयणं च।
जं किंचि विप्पलावं गरहिद वयणं समासेण।।824।।

अर्थात् कर्कश वचन (घमण्ड वचन), निष्ठुर वचन, दूसरे के दोषों का सूचन करनेवाले वचन, हास्य वचन और जो कुछ भी बकवाद करना ये सब संक्षेप में गर्हित वचन हैं।

श्रमण को एकमात्र निज आत्मा की संगति ही प्रधान है, व्यवहार संगति भी गौण है, फिर लौकिक संगति को तो अवकाश ही नहीं मिल सकता।

श्रमण को लौकिक संगति से पूर्व लौकिक विचारों की भी संगति त्याज्य है, क्योंकि जब लौकिक विचारों की संगति छूट जाती है तो लौकिक संगति अपने आप छूट जाती है। निश्चय से निज शुद्धात्मा अलौकिक तत्त्व है और व्यवहार से पंच परमेष्ठी अलौकिक हैं।

लौकिक संगति से मन में कुटिलता आ जाती है। मन में कुछ, वचन में कुछ और काय

में कुछ ये कौटिल्य भाव है। **भो श्रमण! अगर आप अपने श्रमणत्व को सुरक्षित रखना चाहते हो तो भक्तों से दूर रहना, क्योंकि सबसे ज्यादा घाटा भक्तों से है। श्रमणों के कानों में भक्त ही कुटिलता का मंत्र फूँक जाते हैं।** यद्यपि योगी पूर्वापर विचार करनेवाला होता है। साधक सुनता सबकी है लेकिन करता वही है जो जिनागम कहता है। अगर श्रावक की बातों में साधक आ जाये तो वह कुटिलता का मंत्र साधु को परतंत्र बना देता है। लौकिक जनों की संगति साधक के लिये परतंत्रता है और आत्मतत्त्व की संगति साधक की स्वतंत्रता है। जब तक परतंत्रता का बोध न हो, परतंत्रता दु:ख रूप मालूम न पड़े तब तक स्वतत्रंता का विचार नहीं किया जा सकता।

हम परतंत्र हैं तो अपने ही अशुभ विचारों से हैं। हम परतंत्र हैं तो अपने ही अशुभ वचन व्यापार से हैं। हम परतंत्र हैं तो अपने ही द्वारा किये गये अशुभ आचरण से। जब तक अशुभ मन, अशुभ वचन, और अशुभ काय की चेष्टाओं से नहीं बचेंगे तब तक शुभता नहीं आ सकती। यद्यपि शुभता भी परतंत्रता ही है। शुभ में भी आपको अपनी मौलिक स्वतंत्रता की अनुभूति नहीं हो सकती है। कर्मों के द्वारा परतंत्र यह बात सर्वथा सत्य नहीं है, यह कथंचित् सही है और मैं कर्मों के द्वारा कभी परतंत्र नहीं था, यह कथन भी सर्वथा सत्य नहीं है।

जीव कर्मों के द्वारा परतंत्र नहीं, अपने ही भावकर्म की परतंत्रता से परतंत्र है। भावकर्म से स्वतंत्रता, द्रव्यकर्म की स्वतंत्रता है और भावकर्म से परतंत्रता, द्रव्यकर्म से परतंत्रता है। अगर जीव अपने भावों को सँभाल ले तो द्रव्यकर्मों में ताकत नहीं कि वो आत्मा को परतंत्र बना सकें। हम अपने भावों को सँभालते नहीं और कर्मों को दोष देते रहते हैं कि कर्मों के कारण ऐसा हो गया, कर्मों के कारण वैसा हो गया। हम यह विचार नहीं कर पाते कि भावों के कारण ही ये सब हो रहा है, इसमें कर्मों का दोष नहीं है। अज्ञानी जीव सिर्फ कर्मों को ही दोषी कहते रहते हैं।

कर्मों को दोषी क्यों कहते, जो जीते बाजी हार गये।
अवलम्ब न मिल पाया कोई, सोलह नरभव बेकार गये।।

संसार में रहकर संसार का निरन्तर परिवर्धन, संवर्धन किया है। कभी संसार को दु:खरूप जानकर उसके त्याग का पुरुषार्थ पैदा नहीं हो पाया। जो दु:खों को मिटाने का उपाय करता है वही आत्मसाधक है। संसार में जीव को कदम-कदम पर दु:ख प्राप्त होता है लेकिन वह उन

दु:खों में भी सुख की भ्रांति कर बैठता है। कभी सुख और दु:ख का भेद ही नहीं समझ पाता। जिनवाणी को सुनकर सच्चे सुख और दु:ख में भेद जानना इस पर्याय में दु:खों का अंत कर सच्चे सुख को प्राप्त करने का श्रेयस्कर उपाय है।

जिनवाणी सिर्फ हमारी कर्णेन्द्रिय को सुख देने में कारण न बने अपितु सच्चे आत्मसुख की प्राप्ति का हेतु बने। **जिसप्रकार इलायची खाने के बाद भी वह मुँह में सुगंध देती है उसीप्रकार जिनवाणी का रसास्वादन करना चाहिये जिससे तुम्हारी आत्मा का एक-एक प्रदेश सच्चे सुख की सुगंध से सुवासित हो सके।** किसी के द्वारा एक बार कहा हुआ अपशब्द आपको जीवनभर याद रहता है परंतु आश्चर्य है कि जिनवाणी के शब्द बार-बार सुनने के बाद भी अर्हंत अमृत-देशना याद नहीं रहती।

एक बार एक दु:खी व्यक्ति निर्ग्रंथ आचार्य के चरणों में गया। बोला—भगवन्! मैं संसार के दु:खों से मुक्त होना चाहता हूँ। संसार के दु:खों से मुक्ति गुरु के बिना संभव नहीं है, ऐसा मैंने सुना है इसलिये मैं आपको गुरु बनाकर आपके सानिध्य में आत्मसाधना करना चाहता हूँ कृपया आप मुझे आश्रय प्रदान कीजिये। ध्यान रखना, संत उन्हीं को आश्रय प्रदान करते हैं जो वैराग्य से भरे होते हैं, समर्पण से सहित होते हैं, सच्ची आत्मसाधना की भावना से भरे होते हैं। साधकजन उन्हीं को आश्रय देकर आत्मसाधना के सूत्र प्रदान करते हैं।

आचार्य भगवन् ने कहा—भो भव्य! अपने आपको जानो। अगर वास्तविक साधना की भावना है तो अपनी साधना गुरु आज्ञानुसार करना होगी। ध्यान रखना, सच्चे गुरु शिष्यों से इतनी अपेक्षा रखते हैं कि शिष्य अनुशासन और आज्ञा में रहकर अपनी साधना को अच्छी तरह साध सके। साधना के सम्यक् फल को प्राप्त कर सके। जो शिष्य गुरु आज्ञा में रहता है वही अपना हित कर पाता है।

आचार्य भगवन् कहते हैं—

शिष्यास्तेत्र प्रशस्यन्ते ये कुर्वन्ति गुरोर्वचः।
प्रतीतो विनयोपेता भवन्त्यन्ते कुपुत्रवत्।।(सर्वो. श्लो.)

अर्थात् वे ही शिष्य प्रशंसा के पात्र हैं जो विनय और प्रेम के साथ अपने गुरु की आज्ञा का पालन करते हैं, इसके विपरीत चलनेवाले कुपुत्र के समान निंदा के पात्र हैं।

आचार्य ने उस युवक से कहा–आपको आज्ञा और अनुशासन में रहकर मौन साधना करनी होगी। लौकिकजनों से दूर रहना होगा। उस युवक ने विनम्रता के साथ जबाव दिया– भगवन्! मुझे आपकी हर आज्ञा स्वीकार्य है। आचार्य ने उस युवक को शरण प्रदान कर दी। वह आचार्य की आज्ञा और अनुशासन में ढलकर, उनके अनुसार साधना पथ पर अपने कदम बढ़ाने लगा। आचार्य ने उसकी श्रेष्ठ साधना को देखकर उसे दीक्षित कर दिया और निर्देश दिया कि अब आपको सिर्फ साधना से प्रयोजन रखना है। उस नवदीक्षित ने कहा–भगवन्! आपकी आज्ञा ही मेरे जीवन का सबसे बड़ा साधना पथ है।

ध्यान रखना! साधना के मार्ग पर सबसे बड़ी बाधा अगर कोई है तो वह लौकिकजनों की संगति है। वह साधक अब धीरे-धीरे भक्तों की भीड़ से घिरता चला गया। गुरु आज्ञा की अवहेलना होने लगी। गुरु ने एक दिन विचार किया कि शिष्यों की साधना का निरीक्षण करना चाहिये। गुरु ध्यानकाल में शिष्यों की साधना का निरीक्षण करने चल पड़े। गुरु ने जाकर देखा, कुछ साधक ध्यानलीन हैं, कुछ साधक आपस में गोष्ठी कर रहे हैं और कुछ साधक लौकिक-जनों की संगति में व्यस्त हैं। आचार्य को आते देख सभी शिष्य खड़े हो गये। कुछ शिष्य कहने लगे–भगवन्! हम तो ऐसे ही सामान्य चर्चा कर रहे थे, हम व्यर्थ की बातें नहीं कर रहे थे।

ध्यान रखना, गुरु आज्ञा का पालन जीवन की सबसे बड़ी साधना होती है। यह साधना का मार्ग है, लौकिकजनों की संगति का मार्ग नहीं है। जो साधु भिक्षा की चर्चा में लीन थे, आचार्य ने उनसे कहा–आप अगर इस समय आत्मध्यान कर रहे होते तो कितने कर्मों की संवर-निर्जरा कर लेते। लौकिकजन जंग लगे लोहे के समान होते हैं। लग जायें तो सैप्टिक ही पैदा करेंगे। इसलिये इन जंग लगे लोहों से दूर रहना चाहिये। लोहा जंगहीन हो और उसे पारसमणि का स्पर्श हो जाये तो वह लोहा, सोना बन जाता है। जंग लगा लोहा कभी स्वर्ण नहीं बनता, चाहे कितना भी पारसमणि का स्पर्श होता रहे।

भो श्रावको! साधु-संगति करने से पहले अपने आप को देख लेना, कि कहीं मैं जंग लगा लोहा तो नहीं हूँ। कहीं मेरे अंदर, राग, द्वेष, स्वार्थ, लोभ, मान, माया की जंग तो नहीं है। अगर

अपने में जंग लगी पाओ तो पहले अपने मन को माँज लेना और फिर साधु की संगति करना। मन को माँजकर साधु-संगति करने जाओगे तो उनके मुख से निकलनेवाली जिनवाणी ऐसी लगेगी जैसे अमृत का आस्वाद ले रहा हूँ। जिनवाणी ऐसी लगेगी–

साँची तो गंगा यह वीतराग वानी।
अविछिन्न धारा निजधर्म की कहानी।।

भो साधु! ऐसे लौकिकजन की संगति मत करना जिन्हें धर्म से प्रयोजन ही नहीं है। लेकिन जो आत्मकल्याण की चर्चा करें उनसे चर्चा अवश्य करना। **ऐसी संगति से दूर रहना जो हमारे मोक्षमार्ग को दूषित करनेवाली हो। कोई राग-द्वेष की चर्चा करे, धीरे-धीरे कान में कचरा डाले–काय महाराज! कछु परेशानी है का? लगता है संघ में आपका तो कोई ध्यान ही नहीं रखता है। हम हैं न, आपखों का चइये,आप हमें बताओ, हम ले आते हैं। महाराज ने सोचा ये मेरा पक्का भक्त है, सो धीरे से कह दिया–भैया! ये चीजें ले आना। हम ही को लाके देना। और सुनो, आचार्यश्री को मत बताना। मन में ऐसी कुटिलता आते ही, भो साधु! तेरा साधुत्व खो गया।**

ध्यान रखना, लौकिकजन दो दिन साथ देंगे, चार-छह दिन साथ रहेंगे, उसके बाद सिद्धालय तक तो गुरुवर ही साथ देंगे और कोई नहीं। गृहस्थ तो बँधी हुई नावें हैं, कभी आगे बढ़ती ही नहीं। गृहस्थों की संगति मत करना, नहीं तो ये आपस में विवाद, राग-द्वेष पैदा करा देंगे। जब रागादि परिणाम आता है तो झूठ जुबान पर आ जाता है, मन दुर्भावना से युक्त हो जाता है। जो साधक अभी तक आत्मा की भावना करता था, अब भक्तों की भावना करता है। अब भक्तों की संगति करता है और किसी दिन वो भक्त नहीं आया तो साधु बैचैन हो जाता है। काश! वो भक्त आ जाता, तो मजा आ जाता।

ध्यान रखना, लौकिकजनों की संगति से कभी कोई श्रेष्ठ नहीं बनता। श्रमणधर्म का अर्थ है मुनिधर्म, जो मौन रहकर साधना करे वही मुनि का मार्ग है। यह मुनिमार्ग आत्मा से वार्ता करने का मार्ग है। अगर कोई व्यर्थ की चर्चा वार्ता करने आ जाये तो मौन हो जाना क्योंकि वह लौकिक चर्चा ही करेगा और लौकिक संगति सिर्फ रागद्वेष को पैदा करती है।

उन शिष्यों में एक शिष्य आचार्यदेव से कहने लगा–आप हम पर व्यर्थ ही शंका करते

हैं। आचार्य ने कहा–तुम अपना शिष्यत्व खो चुके हो क्योंकि जो शिष्य गुरु को जबाब देने लगता है वह फिर शिष्य नहीं रहता। शिष्य वह है जो गुरु की आज्ञा का प्राणपन से पालन करता है। अगर गुरु के आज्ञा देने पर शिष्य के मन में किन्तु, परन्तु जैसे कोलाहल जन्म लेते हों तो वह शिष्यत्व से रहित हो जाता है, वह संघ में नहीं रह सकता। आचार्य ने कहा–अब तुम आत्मसाधना के योग्य नहीं हो।

ध्यान रखना, लौकिकजनों की संगति मुनि को भी वाचाल बना देती है, मुखर बना देती है। मौन साधना की प्रतिज्ञा लेकर मोक्षपथ पर कदम रखनेवाला साधक अल्पसमय की लौकिक संगति से मुखर और वाचाल हो जाता है।

यह अनुशासन आचार्य गुरुवर विरागसागर जी के संघ का है कि साधुओं के परिवारिजन भी मिलने आ जायें तो साधक मौन रहते हैं। गुरु आज्ञा के बिना संघ में कोई किसी से बातचीत नहीं करता। सब अपनी आत्मसाधना में लीन रहते हैं। यदि शिष्यों के पास कोई प्रश्न पूछने आ जाये तो सारे साधु एक ही जबाब देते हैं कि हमारे पूज्य गुरुदेव अमुक कक्ष में विराजमान हैं, आप उनसे जाकर पूछ लीजिये। अहो! धन्य हैं वे साधक जो अपने प्राणों से ज्यादा गुरु आज्ञा को स्थान देते हैं। **अगर शिष्य ही संबोधित करने लगें, तो गुरु का महत्त्व ही क्या रहेगा? अगर विद्यार्थी ही पढ़ाने लग जाये तो टीचर (Teacher) की महत्ता ही क्या रहेगी?**

लौकिक जनों की संगति योगी को त्याज्य है। भो योगियो! आपने अपने जन्म देनेवाले माता-पिता को छोड़ दिया, बहिन-भाई को छोड़ दिया, रिश्तेदार, घर-परिवार का त्याग कर दिया। किसलिये? मैं अब इन सबसे दूर हटकर निर्विकल्प आत्मसाधना का पुरुषार्थ करूँगा। मन में ऐसा संकल्प करके आपने इन सबका त्याग किया था और अब यहाँ आकर भी लौकिक जनों से वार्ता में ही लगे रहोगे तो आत्मसाधना कब करोगे, जिसका आपने संकल्प लिया था। सच्चे योगी बनना। भोगियों और जोगियों का मार्ग एवं उनकी संगति आपके लिये त्याज्य है। लौकिक संगति से दूर रहना आत्मसाधना को सुरक्षित रखने का मार्ग है।

लौकिकजन पूछने लग जायें–महाराज श्री! व्यापार ठीक नहीं चल रहा है, कोई उपाय बताओ? कह देना–भाई! व्यापार के क्षेत्र में निर्ग्रंथ साधु बुद्धु होता है और मोक्षमार्ग के क्षेत्र में बुद्धिमान होता है। अगर व्यापार की अकल होती तो साधु स्वयं

व्यापार कर लेता। सभी प्रकार के आरंभ की मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदना से त्याग की प्रतिज्ञा करनेवाला कोई निर्ग्रंथ अगर आरंभ के उपाय बताये, व्यापार के उपाय बताये तो वह साधु अंधा है और एक अंधा दूसरे अंधे को पार कराने का प्रयास कर रहा है।

एक बार एक अंधा व्यक्ति सड़क पार कर रहा था। अचानक दूसरे अंधे व्यक्ति से वह टकरा गया। बोला—भाईसाहब! मुझे रास्ता पार करना है, आप अगर मेरा सहयोग कर दें, तो आपकी बहुत मेहरबानी होगी। दूसरा अंधा बोला—आओ मेरे कंधे पर अपना हाथ रखलो और मेरे पीछे-पीछे चले आओ। दोनो अंधे सड़क पार कर रहे थे तभी रास्ते में एक खुला गटर का गड्ढा आया। आगेवाला तो किस्मत से उसे लांघ गया लेकिन पीछेवाला उस गड्ढे में ही चला गया। आगेवाला अंधा कह रहा था—क्या जमाना आ गया है, मुझसे कह रहा था सड़क पार करादो और बीच में ही साथ छोड़कर चला गया।

वर्तमान में कतिपय साधु, भक्तों के लोभ में अपनी साधना को खो रहे हैं। यंत्र, मंत्र, तंत्र बाँटने के लिये दुकान लगाये बैठे हैं। एक से तीन बजे तक दु:खमुक्ति का मंत्र दिया जायेगा। भक्तों के लोभी साधु भीड़ तो इकट्ठी कर लेंगे लेकिन उनकी आत्मसाधना खो जायेगी। जो साधु लौकिक संगति में आनंदित होता है वह आत्मसाधना का विराधक है। जो साधु लौकिक प्रयोजनों से भीड़ को एकत्रित करने में लगे हैं वो साधु नहीं जादूगर हैं।

भो साधक! जगत में रहना पर जगत के होकर मत रहना। जैसे कमल कीचड़ के बीच रहता है लेकिन कीचड़ से अलिप्त रहता है। लौकिक संगति से मिलता कुछ नहीं, अपितु जो कुछ गुरु से मिला था वह भी खो जाता है। ध्यान रखना, संगति सदा धर्मात्माओं की, आर्यजनों की करना चाहिये।

आगम वाक्य भी है—

''संगति सर्वदार्यै:''

आर्यजनों की संगति का भाव रहेगा तो जिनशासन वर्धमान होता रहेगा और इस धरा पर शुद्धात्म योगी साधक सदैव विचरण करते रहेंगे।

धर्मध्यान अशुद्धि से निकलने का उपक्रम है। धर्मध्यान आत्म पवित्रता के लिये है। मंदिर आने का उद्देश्य क्या है? पूजा करने का प्रयोजन क्या है? दान आदि का लक्ष्य क्या है? व्रतादिक के पालन का उद्देश्य क्या है? इन सभी अनुष्ठानों का उद्देश्य एकमात्र आत्मा की पवित्रता है। जैसे ही पूजा का भाव मन में आता है, आत्मा में शुचिता आना प्रारंभ हो जाती है। जैसे ही भगवान् के जिनालय में कदम रखते हैं वैसे ही आत्मा में उल्लास आता है, अति प्रसन्नता और आल्हाद होता है। जैसे किसी व्यापारी को ग्राहक के आने पर उल्लास होता है ऐसे ही धर्मात्मा जीवों को भगवान् के मिलने पर उल्लास आता है। भगवान् के मिलने पर भी अगर आत्मा में उल्लास का भाव न आये तो समझ लेना ये जीवन दर्शन में नहीं प्रदर्शन में जा रहा है। एक मेंढक भी भगवान् की पूजा करने को उल्लसित हो सकता है। अगर हम प्रभु के पास आकर उल्लसित और आनंदित न हो पायें तो उस मेंढक से भी ज्यादा पुण्यहीन कहलायेंगे।

जब आत्मा की अशुचिता का भान होता है तब आत्मा में आत्मशुचिता का पुरुषार्थ जागृत होता है। भगवान् का अभिषेक करने से भगवान् पवित्र होते हैं या हम स्वयं पवित्र होते हैं? ध्यान रखना! अभिषेक भगवान् की प्रतिमा पर लगी धूल को साफ करने के लिये नहीं किया जाता। सच्चा भक्त प्रभु अभिषेक करते हुए कहता है–हे भगवन्!

तुम तो सहज पवित्र यही निश्चय भयो।
तुम पवित्रता हेत नहीं मज्जन ठयो।।
मैं मलीन रागादिक मलतैं ह्वै रह्यो।
महामलिन तन में वसु विधिवश दुःख सह्यो।।

बीत्यो अनंतो काल यह मेरी अशुचिता ना गई।
तिस अशुचिता हर एक तुम ही, भरहु बांछा चित ठई।।
अब अष्टकर्म विनाश सब मल रोष रागादिक हरौ।
तन रूप कारागेह तैं उद्धार शिववासा करौ।।

हे भगवन्! आप तो सहज पवित्र हैं आपकी संगति जब मैं करता हूँ तो मेरी आत्मा भी पवित्र हो उठती है। हे प्रभु! आपका प्रक्षाल करने से मेरी आत्मा में लगे पाप कर्मों का प्रक्षालन

हो जाता है। हम अगर भगवान् का अभिषेक करते हैं तो हम पवित्र हो जाते हैं। भगवान् को कुछ फर्क नहीं पड़ता क्योंकि प्रभु तो सहज शुद्ध हैं। भगवान् के पास आनेवाला पवित्र होकर ही जाता है। इसलिये संगति ऐसी करो जिससे हमारा तन, मन और जीवन पावन हो जाये। लेकिन ऐसी संगति मत करना जिससे हमारी निर्मलता ही खत्म हो जाये।

जहाँ जाने से आत्मा पवित्र होती है वहाँ अपेक्षा मत करना कि हमें कोई बुलाये तभी जायेंगे। अरे! कुआँ किसी को बुलाता नहीं है। जिसे प्यास होती है वो स्वयं ही कूप के पास जाता है। जिनका आश्रय करने से आत्मा में निर्मलता आती हो सदैव उन निमित्तों का आश्रय करना चाहिये और जहाँ जाने से हमारी आत्मा की विमलता खोती हो वहाँ आमंत्रण आने पर भी नहीं जाना चाहिये। रास्ते में चलते समय एक-एक कदम देख-देख कर रखते हो, कहीं मलिनता पड़ी हो तो दूर से निकल जाते हो, बस ऐसा ही चिंतन अपने जीवन में होना चाहिये। अगर दुर्जन मिल जाये तो दूर से ही छोड़ देना चाहिये।

आर्यजनों की संगति, श्रेष्ठजनों की संगति, धर्मात्माजनों की संगति अवश्य करना चाहिये। चाहे वह संत हों, श्रावक हों, परिवार के सदस्य हों, मित्र हों लेकिन सज्जन हों, साधु पुरुष हों सत्संगति अवश्य करना चाहिये। कहा भी है–

कीजे संगति साधु की हरे कोटि अपराध।
संगति बुरी असाधु की आठों पहर उपाध।।

जो सज्जनों की संगति करता है उसके द्वारा किये हुये करोड़ों अपराध भी धुल जाते हैं। जिसप्रकार मैला वस्त्र साबुन की संगति करने से उज्जवल हो जाता है उसीप्रकार दिनभर में पापार्जन से मलिन आत्मा साधु-संगति द्वारा निर्मल हो जाता है।

जो अपने साथ-साथ सबका भला सोचता है वह सज्जन की कोटि में आता है। जो दूसरों का बुरा करने के लिये अपना भी बुरा कर ले वह दुर्जन कहलाता है। जो अपना भला करने के लिये दूसरों का बुरा करने में भी संकोच न करे वह स्वार्थी कहा जाता है। स्वार्थी और दुर्जन परिणतियों से बचने के लिये सज्जनों का समागम सदैव करते रहना चाहिये। जिनके संस्कार खराब हों, जिनकी आदतें खराब हों, जिनके विचार खराब हों उनकी संगति नहीं करना

चाहिये। भले लोगों की संगति से भलाई मिलती है और बुरे लोगों की संगति से जीवन में बुराईयाँ आ जाती हैं।

आचार्य भगवन् पूज्यपादस्वामी इष्टोपदेश में लिखते हैं–

अज्ञानोपास्तिरज्ञानं, ज्ञानं ज्ञानि समाश्रयः।
ददाति यत्तु यस्यास्ति, सुप्रसिद्धमिदं वचः।।23।।

अज्ञानी की उपासना से अज्ञान बढ़ता है और ज्ञानी का आश्रय करने से ज्ञान की वृद्धि होती है। लोक में यह बात प्रसिद्ध है कि जिसके पास जो होता है वह वही देता है।

अगर संगति करने को कोई न मिले तो णमोकार मंत्र की संगति कर लेना। कोई आस-पास न हो और एकान्त में पंच परमेष्ठी की संगति हो जाये तो मन निर्मल हो जायेगा। महान सातिशय पुण्य के उदय में जीव पंच परमेष्ठी की संगति का पुरुषार्थ कर पाता है। आचार्य कुंदकुंद देव की वाणी है कि योगियों को लौकिक संगति से दूर रहना चाहिये।

लौकिकजन योगी की संगति करें, तो उनका हित होगा और योगी लौकिकजन की संगति करे, तो उसका धर्मध्यान, आत्मसाधना सब चौपट हो जायेगी। लौकिक संगति से योगी भी दुर्गति का पात्र हो जाता है। लौकिक संगति से योगी, वाचाल, कुटिल हो जाता है। योगी को अगर अपनी योगसाधना सुरक्षित रखनी है तो मन, वचन, काय से लौकिक संगति को छोड़ देना चाहिये एवं दिन-रात साधु संगति का पुरुषार्थ करना चाहिये।

जो भव्यजीव क्षणमात्र भी साधु संगति करता है उसके जीवन में पवित्रता आ जाती है। **संगति का अर्थ साथ रहना ही नहीं है, संगति का अर्थ है ''जो गुण आप में हैं वे ही गुण मुझे चाहिये'' ऐसी गुण ग्रहण की भावना का नाम ही संगति है।**

भव्यजीव ने अरिहंत भगवान् की संगति की और प्रभु की प्रशान्त मुद्रा को निहारते हुये अंतरंग में भाव किया–

अति पुण्य उदय मम आया, प्रभु तुमरा दर्शन पाया।
अब तक तुमको बिन जाने, दुःख पाये निज गुण हाने।।

पाये अनंते दुःख अब तक जगत को निज जानकर,
सर्वज्ञ भाषित जगत हितकर धर्म नहिं पहिचान कर।।
भवबंध कारक, सुख प्रहारक विषय में सुख मानकर,
निज पर विवेचक ज्ञानमय सुखनिधि सुधा नहिं पानकर।।
तव पद मम उर में आये, लखि कुमति विमोह पलाये।
निज ज्ञानकला उर जागी, रुचि पूर्ण स्वहित में लागी।।
रुचि लगी हित में आत्म के सत्संग में अब मन लगा,
मन में हुई अब भावना तव भक्ति में जाऊँ रंगा।।

भव्यजीव भावना भाता है—हे प्रभु! आज आपका दर्शन अति पुण्य के उदय से प्राप्त हुआ है। अन्यथा सुबह मैं जब भी आँख खोलता हूँ तो रागी जीवों का दर्शन करता हूँ, द्वेषी जीवों का दर्शन करता हूँ, जब-जब आँख खुलती है सामने मोही जीव ही नजर आते हैं।

ध्यान रखना! जब भी ये चर्मचक्षु उन्मीलित हों तो सबसे पहले परमात्मा को निहारना। आँख खोलने से पहले णमोकार मंत्र जपना और भावना भाना—

"**अब तक तुमको बिन जाने**" हे प्रभु! मैंने अब तक आपके स्वरूप को नहीं जाना इसलिये संसार में आज तक मुझे सिर्फ दुःख ही दुःख मिले। कभी सुख की प्राप्ति नहीं हुई। हे नाथ! आपको छोड़कर सबको अपना माना, अपना जाना, बस यही मेरे दुःख का कारण है। हे प्रभु! अब मैं जगत को दुःखदायी और आपको सुख का कारण जानकर आपके चरणों में आया हूँ, मेरी आत्मा को पवित्र करो। प्रभु को देखकर अगर ऐसी भावना, विमलता आत्मा में प्रगट हो तो समझ लेना सच्चे अर्थों में आज हमें परमात्मा की संगति प्राप्त हो गई है। प्रभु को निहारने के बाद भी निर्मल भावदशा अंतरंग में नहीं बनी तो दर्शन करना मात्र प्रदर्शन है।

जैसे बुंदेलखण्ड में कोई माँ अपने बेटे से कहती है—बेटा! जाओ पहले मंदिर करके आओ तभी भोजन मिलेगा। बच्चा जल्दी जाता है चंदन घिसकर तिलक लगाकर वापिस आ जाता है। उस बच्चे ने जैसे खाने के लिये मंदिर जाने की खानापूर्ति कर दी, कहीं ऐसी स्थिति हमारी तो नहीं है। महाराज नियम दिला गये थे कि दर्शन के बिना भोजन नहीं करना, इसलिए

हम मंदिर आते हैं। साधु को लौकिक संगति त्याज्य है और लौकिकजन को साधु-संगति कर्तव्य है। इसके बिना उसका मोक्षमार्ग प्रशस्त नहीं होता। वह निरन्तर गुण प्राप्ति की भावना रखता है इसलिये निरन्तर उसका मोक्षमार्ग प्रशस्त होता है। जलता हुआ दीप बुझे हुये दीप की संगति नहीं चाहता, लेकिन बुझा हुआ दीप यदि जलते हुये दीप की संगति करता है तो वह भी रोशन हो जाता है।

साधु को निरन्तर अपने शुद्धात्मस्वरूप की संगति करना चाहिये। अगर आत्मसंगति को प्राप्त न हो तो 28 मूलगुणों की संगति करो। देव-शास्त्र-गुरु की संगति करो। पञ्च परमेष्ठी की संगति करो। लौकिक संगति से साधुजन को दूर ही रहना चाहिये अन्यथा धीरे-धीरे जीवन में कुटिलता आना शुरू हो जाती है।

श्रावकों को चाहिये साधु-संगति अवश्य करते रहें। साधु बुहारी की तरह हुआ करते हैं जिसप्रकार बुहारी घर के कचड़े को साफकर स्वच्छ बना देती है उसीप्रकार साधु-संगति आत्मा की मलिनता को दूर कर आत्मा को स्वच्छ और पवित्र कर देती है। **साधु-संगति के लिये लाख रूपये खर्च करके भी जाना पड़े तो जाना चाहिये लेकिन लाख रूपये मिलने पर भी कभी कुसंगति नहीं करना चाहिये।** जैसी संगति होती है वैसा ही परिणमन होता है। जब हम संत की वाणी सुनते हैं तो लगता है, काश! हम भी मोक्षमार्ग पर चल पाते। काश! हम भी आत्मकल्याण कर पाते। जब घर पहुँचते हैं, रागी, द्वेषी, मोही जीवों के बीच पहुँचते हैं तो पुनः वही मोह का मार्ग रुचिकर लगने लगता है। बादलों से एक सा पानी बरसता है लेकिन जो बूँदें जिसकी संगति में आती हैं उसीरूप परिणमन कर जाती हैं।

कहा भी है–

संतप्तायसि संस्थितस्य पयसो नामापि न श्रूयते।
मुक्ताकारतया तदेव नलिनीपत्र स्थितं दृश्यते।।
अन्तः सागर शुक्ति संपुटगतं तन्मौक्तिकं जायते।
प्रायेणाधम मध्यमोत्तम गुणाः संवासतो देहिनाम्।।849, सु.स.।।

अर्थात् संतप्त लोहे पर पड़े हुये पानी का नाम भी सुनाई नहीं पड़ता। वही पानी कमलिनी के पत्ते पर स्थिर होकर मोती के समान दिखाई देता है और समुद्र के भीतर सीप के पुट में जाकर

मोती बन जाता है। ठीक ही है संगति से ही मनुष्यों के गुण प्रायः अधम, मध्यम और उत्तम हो जाते हैं। संगति से गुणों में श्रेष्ठता आती है, जीवन में महानता आती है, पूज्यता और सम्मान की प्राप्ति होती है।

सर्वोपयोगीश्लोक संग्रह के सत्संगति प्रकरण में कहा भी है–

कल्पद्रुमः कल्पितमेव सूते, सा कामधुक् कामितमेव दोग्धि।
चिन्तामणिश्चिन्तितमेव दत्ते सतां हि सङ्गः सकलं प्रसूते।।

कल्पवृक्ष संकल्पित वस्तु को देता है, प्रसिद्ध कामधेनु इच्छित वस्तु को ही पूर्ण करती है और चिन्तामणि रत्न चिन्तित वस्तु को ही देता है परन्तु सत्संगति समस्त वस्तुओं को देती है। आचार्य भगवन् उत्तम संगति का उपदेश देते हुये कहते हैं–

मिथ्यादृशां विसदृशां च पथश्च्युतानां,
मायाविनां व्यसनिनां च खलात्मनां च।
सङ्गं विमुञ्चत बुधाः कुरुतोत्तमानां,
गन्तुं मतिर्यदि समुन्नतमार्ग एव।।985, सु.स.।।

हे विद्वज्जनो! यदि उत्कृष्ट मार्ग (मोक्षमार्ग) पर ही चलने की इच्छा है तो मिथ्यादर्शन से युक्त मिथ्यादृष्टि, सम्यग्दर्शन से रहित, मार्ग से च्युत, मायावी, व्यसनी, और दुष्टजनों का संग छोड़ो तथा उत्तमजनों की संगति करो। यही आत्मकल्याण का मार्ग है। शेष आगे...

लौकिक जन का संग करे, दुर्भावों के रंग भरे।
होकर अति वाचाल कुटिल, योगी व्रत को भंग करे।।
योगी को लौकिक, हो-हो-2 संगति न लुभाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2, संहिता दिखलाये रे।।

अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

❑❑❑

(पृष्ठ नं. 218 का शेष)

लगाया नहीं जाता।

- पूजा के अर्थात् सम्मान के शब्द बोलकर विनय की जाती है।
- जय-जिनेन्द्र, वन्दना आदि शब्द बोले जाते हैं।
- मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि एवं भोजनशुद्धि का जैसा स्वरूप कहा है वैसा स्वयं को शुद्ध रखकर भोजन करने का निवेदन किया जाता है।

इस प्रकार उत्तम-मध्यम एवं जघन्य पात्रों को यथायोग्य नवधाभक्ति पूर्वक दान दिया जाता है।

क्षुल्लक मनोहर लाल जी वर्णी 'सहजानन्द' ने श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार की व्याख्या में त्रिविध पात्रों की नवधाभक्ति के विषय में ऐसा कहा है-

पात्र को आहार देने के प्रसंग में की जाने वाली नवधाभक्ति में प्रथम भक्ति प्रतिग्रह - श्रावक के बारह व्रतों में अन्तिम वैयावृत्य नाम का शिक्षा व्रत बताया जा रहा है। मुनि, आर्यिका, क्षुल्लक, क्षुल्लिका और भी श्रावकजनों का यथायोग्य वैयावृत्य करना, सेवा करना, आहार आदि देना यह वैयावृत्य कहलाता है। सो मुनि या श्रावक जो जिस पद में है उसके अनुसार नवधाभक्ति करता हुआ श्रावक आहार देता है। (1) पहला तो है संग्रह, जिसका दूसरा नाम है प्रतिग्रह अर्थात् पात्र मुनि, क्षुल्लक आदिक आहारचर्या के लिए जा रहे हों तो यह श्रावक प्रथम त्रिबार नमस्कार बोलता हुआ त्रिबार कहेगा कि तिष्ठ-तिष्ठ याने यहाँ ठहरिये तो वह जान जायेंगे कि आहार के लिए भक्तिपूर्वक बुला रहा है। और इसके आगे भी जितना बोला जाता है उतना प्रतिग्रह में बोलेगा, जो बात आगे कहेगा उसका निवेदन करता है। मन शुद्धि, वचन शुद्धि, काय शुद्धि, अन्न जल शुद्ध है। पधारिये ऐसे विनयपूर्वक शब्दों में वह पात्र को बुलाने की, घर में पहुँचने की प्रार्थना करेगा। अनेक बार आदरपूर्वक विनय की बात कहकर अपने भाव बतायेगा। देखिये, बिना बुलाये, बिना प्रीति के वचन कहे कोई छोटा पुरुष भी भोजन नहीं करता। कहना ही पड़ता है, आइये, पधारिये, विराजिये। और उनके फिर पैर भी धुलायेगा। एक साधारण रिश्तेदार या अन्य की बात में भी चौके में चलियेगा, भोजन को चलियेगा, भोजन की बात भी बतायेगा। फिर तो ये पात्र हैं - मुनि, क्षुल्लक, ऐलक, आर्यिका ये सब पात्र हैं, योग्य हैं, धर्मगुरु हैं। इनको बड़े विनयपूर्वक श्रावक अपने घर ले जाता है। घर पहुँचने पर उच्च स्थान देता है। नवधाभक्ति प्राय: सबकी की जाती है, पर उसमें विशेषता पात्र के अनुसार होती है। आप अपने साधर्मी को, रिश्तेदारों को भी भोजन करायेंगे तो इतनी बातें सामने आती हैं। भले ही कोई विचार नहीं रखता भक्ष्य-अभक्ष्य का तो उसको यह नहीं कहा जाता कि यह भी शुद्ध है यह भी शुद्ध है, मगर बुलाना, ऊँचे आसन पर बैठाना। उनको पैर धोने को पानी देना आदिक साधारण बातें प्रत्येक के होती हैं। यहाँ मुनिराज नवधा भक्ति के बिना नहीं जाते आहार में। उसमें यह न समझना कि कोई अभिमान की बात है। मुनिराज मौनपूर्वक हैं,कुछ पूछ सकते नहीं हैं, सो वे नवधा भक्ति से ही जानते हैं कि यह आहार शुद्ध है। जो जैनशासन की विधि को नहीं जानता उससे कैसे आशा की जा सकती है कि उसने आहार शुद्ध बनाया है। नवधा भक्ति देखकर मुनिराज यह ज्ञान करते हैं। यह धर्मात्मा है, दान की विधि जानता है, आहार तो शुद्ध होगा ही सब बातों की परीक्षा श्रावक की नवधाभक्ति देखकर होती है।

पात्र को आहार देने के प्रसंग में कृत्य नवधा भक्ति में वर्णित प्रतिग्रह के अतिरिक्त शेष आठ भक्तियाँ - (2) दूसरी भक्ति है - पड़गाहने के बाद उच्च आसन पर बैठाना। (3) तीसरी भक्ति है - प्रासुक जल से हाथ पैर धुलाना। (4) चूँकि ये धर्मात्माजन हैं, इनके चरण बहुत पानी से न धुलेंगे, इतना जानना आवश्यक है इतने ही पानी से धोना ताकि पानी अधिक बहे नहीं और जीवों को बाधा न पहुँचे यह चौथी भक्ति में है। जैसा अवसर देखा, जैसा पात्र हुआ उसके योग्य पूजन स्तवन पूज्यपना के वचन कहना। थोड़ा समय है तो अर्घ ही दे दिया, विशेष समय है तो पूरी पूजा ही पढ़ ली। तो अवसर और पात्रता के अनुसार पूजन विनय आदिक करना। (5) पाँचवीं भक्ति है- मुनि श्रावक की योग्यतानुसार नमस्कार आदिक करना। जैसे मुनि को

(शेष पृष्ठ नं. 252 पर)

(सम्यक्त्व रहित जीव की पहिचान)

उग्गो तिव्वो दुट्ठो, दुब्भावो दुस्सुदो दुरालावो।
दुम्मदरदो विरुद्धो, सो जीवो सम्म उम्मुक्को ।।43।।

* अन्वयार्थ *

जो जीव (**उग्गो**) उग्र, (**तिव्वो**) तीव्र, (**दुट्ठो**) दुष्ट, (**दुब्भावो**) दुर्भाववाला, (**दुस्सुदो**) मिथ्याशास्त्रों का श्रवण करनेवाला, (**दुरालावो**) दुराभाषी, दुष्ट वचनालाप करनेवाला, (**दुम्मदरदो**) मिथ्या अभिमान-अहंकार में रत और (**विरुद्धो**) देव, शास्त्र, गुरु की आज्ञा के विरुद्ध है (**सो जीवो**) वह जीव (**सम्म उम्मुक्को**) सम्यग्दर्शन से रहित है।

अर्थ–जो उग्र प्रकृतिवाला है, तीव्र स्वभाववाला है, दुष्ट प्रकृति का है, दुर्भाव खोटे भाववाला है, मिथ्याशास्त्रों का श्रवण करनेवाला है, दुष्टभाषी है, मिथ्यामद में अनुरक्त है और विरुद्ध (आत्मधर्म के विरुद्ध आचरण करनेवाला) है, वह जीव सम्यक्त्व रहित है।

गाथा - 43

(प्रवचन)

●

कषायानुभूति संसारानुभूति है।

20.10.2013

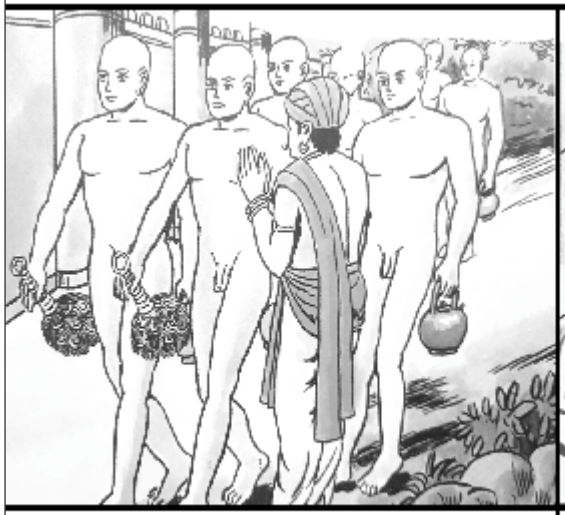
भिण्ड (म.प्र.)



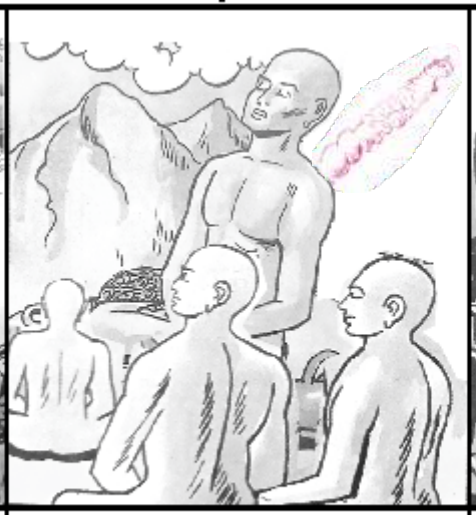
पारिव्राजकों का षडयंत्र और रानी के भवन में छद्मभेषी दिगम्बर मुनि।



क्रोधित हो दण्डक राजा द्वारा 500 मुनियों को कोल्हु में पेलना।



बाहु मुनि को दण्डक राजा के विषय में बताता श्रावक।



क्रोधित बाहु मुनि के बाँये कंधे से निकलता अशुभ तेजस।



अशुभ तेजस से धू-धू जलती दण्डक नगरी

54

रयणोदय

उग्र तीव्र जो दुर्भावी, दुष्ट दुश्रुत जो दुर्भाषी।
मिथ्यामत में अनुरक्ति, धर्मविरुद्ध महारागी।।
सम्यग्दर्शन से, हो-हो-2, वह रहित कहाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2, संहिता दिखलाये रे।।

'**जयदु जिणागमपंथो**' अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

तीर्थंकर भगवंत की दिव्यध्वनि जिनश्रुत है, जिनागम है। जिनागम में वर्णित आत्मकल्याणकारी मार्ग, आत्महितकारी पंथ '**जिनागम पंथ**' है। परस्पर रागद्वेष को बढ़ानेवाले आगमबाह्य पंथ उन्मार्ग हैं। वीतरागता को देनेवाला '**परस्परोपग्रहो जीवानाम्**' का प्रतीक '**जिनागम पंथ**' सन्मार्ग है।

विरासत में मिला हुआ जैनधर्म हमारी आत्मा का हित नहीं कर सकता। निज पुरुषार्थ से जैनत्व की अनुभूति करना, जैनत्व का अनुभव करना ही आत्मा का हित है। जैनी बनना अलग बात है और जैनी श्रावक बनना अलग बात है। जैनकुल में जन्म लेने से आप जैनी तो बन सकते हैं लेकिन जैनी श्रावक नहीं बन सकते। जैनी श्रावक बनने के लिये सम्यग्दर्शन चाहिये।

भगवान् महावीर ने जैनी बनने का मार्ग नहीं जैनी श्रावक बनने के मार्ग का प्रतिपादन किया है। सम्यग्दर्शन के बिना आप नाम के जैनी तो हो सकते हैं लेकिन आत्महित का मार्ग जिस जैनत्व से मिलता है, उस जैनत्व से आप रहित हैं। सम्यग्दर्शन के बिना सच्चा जैनत्व नहीं आ सकता।

जैनत्व आत्मा में तभी आता है जब सम्यक्त्व की अनुभूति से आत्मा अभिभूत होती है। किन कारणों से आत्मा सम्यक्त्व की अनुभूति से वंचित रहता है? इसका कथन आचार्य भगवन् कुंदकुंददेव यहाँ कर रहे हैं–

उग्गो तिव्वो दुट्ठो दुब्भावो दुस्सुदो दुरालावो।
दुम्मदरदो विरुद्धो सो जीवो सम्म-उम्मुक्को।।43।।

अर्थात् जो उग्र, तीव्र, दुष्ट, दुर्भाव, दुश्रुत, दुष्टभावी, दुर्मतरत, धर्मविरुद्ध प्रकृतिवाला है वह सम्यक्त्व से रहित है।

आचार्य भगवन् कहते हैं–जो उग्र स्वभाववाला है वह जीव सम्यक्त्व से रहित है। कभी भी उग्र स्वभाववाला जीव सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि सम्यक्त्व प्राप्ति की प्राथमिक योग्यता 'परिणामों की निर्मलता' है। कषायों की मंदता में ही आत्मा में सम्यक्त्व के योग्य परिणाम होते हैं।

उग्र स्वभावी व्यक्ति को विवेक नहीं रहता और विवेकहीन व्यक्ति कभी सम्यक्त्व को उपलब्ध नहीं हो पाता। जो निमित्त सम्यग्दर्शन की निर्मलता में कारण होते हैं, अज्ञानी स्वभाव की उग्रता में उन निमित्तों का भी अनादर कर बैठता है। स्वभाव की उग्रता में उसे सच्चे देव, देव नजर नहीं आते, स्वभाव की उग्रता में वह सच्चे गुरु को गुरु रूप से स्वीकार नहीं कर पाता, स्वभाव उग्र होता है तो सच्चे शास्त्र को शास्त्र नहीं समझ पाता और उग्रता में आकर जिनका बहुमान करना चाहिये था उनका भी अपमान और अनादर कर बैठता है।

जिन निमित्तों से आत्मा निर्मल और उज्ज्वल हो सकता है अज्ञानी उन्हीं निमित्तों के माध्यम से अपने आत्मा को मलिन कर लेता है। अज्ञानता में विवेकहीन होकर कर्म बाँध तो लेता है, लेकिन उन कर्मों का फल क्या होगा? इस विचार से, इस विवेक से, वह शून्य होता है। कहा भी है–

अन्यक्षेत्रे कृतं पापं धर्मक्षेत्रे विनश्यति।
धर्मक्षेत्रे कृतं पापं वज्रलेपो भविष्यति।।

अन्य क्षेत्रों में किया गया पाप का उपार्जन धर्मक्षेत्र में आकर नाश किया जा सकता है, लेकिन धर्मक्षेत्र में किया पाप का अर्जन भविष्य में वज्र लेप के समान हो जाता है उसका फल भोगना ही पड़ता है।

अहो! स्मरण करो उस कोटिभट श्रीपाल को, जो पूर्व में एक मुनिराज को देखकर शारीरिक बल के अहंकार में उग्र हो गया और मुनिराज को कुष्ठी कह दिया। इतने पर भी उग्रता शमन न हो सकी तो मुनिराज को उठाकर पानी में फेंक दिया। अहो! धन्य हैं निर्ग्रंथ वीतरागी श्रमण, जो उपसर्ग करनेवालों के प्रति भी समता का परिणाम रखते हैं, कभी क्रोध नहीं करते।

लेकिन कर्म के दरबार में सभी के लिये एक सा न्याय प्राप्त होता है।

जो बोयेगा वही पायेगा, तेरा किया आगे आयेगा।
जैसी करनी वैसी भरनी, जैसी करनी वैसी भरनी।।

श्रीपाल ने उस समय जो कर्म बाँध लिया था, वही कर्म जब उदय में आया तो श्रीपाल को भी पूरे शरीर में कुष्ठरोग की वेदना भोगना पड़ी। अगर आत्महित का विचार हो, पंचमकाल में भी सम्यक्त्व प्राप्त करने की भावना हो तो सबसे पहले अपने उग्रस्वभाव पर लगाम लगाना चाहिये।

कषायानुभूति के काल में आत्मानुभूति नहीं हो सकती। कषायानुभूति के काल में मात्र संसारानुभूति होती है। उग्रस्वभाव और तीव्रस्वभाव में कदाचित् अंतर होता है। उग्रता वह है जो क्षणभर में किसी प्रतिकूल निमित्त को पाकर पैदा हो जाती है, उग्रता तात्कालिक होती है जबकि कषाय की तीव्रता भवों-भवों तक चलती रहती है।

अप्रत्ख्यानावरण कषाय का वासना काल छह महीने है अर्थात् सम्यग्दृष्टि श्रावक की कषाय अधिक से अधिक छह महीने तक रह सकती है। छह महीने से ऊपर अगर कषाय जाती है तो वह श्रावक नहीं रहता। प्रत्याख्यानावरण कषाय का वासनाकाल पन्द्रह दिन है अर्थात् कोई देशव्रती श्रावक है तो उसकी कषाय अधिकतम पन्द्रह दिन तक रह सकती है। अगर कषाय पन्द्रह दिन से ऊपर गई तो उस देशव्रती श्रावक का गुणस्थान नीचे गिर जाता है।

संज्वलन कषाय का वासनाकाल मात्र अंतर्मुहूर्त होता है। मुनिराज को कषाय हो जाये तो वह अंतर्मुहूर्त के भीतर ही अपनी कषाय का शमन कर लेते हैं, अगर अंतर्मुहूर्त से कषाय ऊपर गई तो फिर मुनिराज का भेष तो होगा लेकिन उस भेष में मुनिराज नहीं होंगे। ध्यान रखना, अगर ऐसी काषायिक परिणतियाँ बन गई हों, तो जिनसूत्र को सुनकर जीवनसूत्र समझना और कषाय परिणति छोड़ देना।

दक्षिणापथ के भारतदेश में एक कुम्भकारकट नामक नगर था। उसमें एक दण्डक राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम सुव्रता था और उसका एक बालक नाम का मंत्री था। उस नगरी में एक दिन अभिनंदन आदि पाँच सौ मुनिराज पधारे। सभी लोग धन्य-धन्य हो उठे। मंत्री बालक जिनधर्म से विद्वेष रखता था। उन पाँच सौ मुनिराजों में एक खण्डक नाम के मुनिराज थे, उन्होंने बालक मंत्री को वाद में परास्त कर दिया जिससे रुष्ट होकर उसने एक भाँड को मुनिभेष में सुव्रता रानी के साथ हँसी करते दिखाया तथा राजा से जाकर कहा—हे सम्राट! आप दिगम्बर साधुओं के प्रति अटूट श्रद्धा भक्ति रखते हैं, इसलिये शायद आप अपनी स्त्री को भी उन्हें देना चाहते हैं। जब सम्राट ने मंत्री से यह सब सुना, तो वह अत्यंत क्रोधित हो उठा और सब मुनियों को घानी में पिलवा दिया। सब मुनि उस घोर उपसर्ग को समता से सहनकर परमसमाधि की साधना से सिद्धि को प्राप्त हो गये।

कुछ काल व्यतीत होने पर उस नगरी में एक बाहु नाम के मुनिराज पधारे। लोगों ने उन्हें नगरी में आने से रोका। प्रार्थना की—हे भगवन्! नगरी का राजा जैन मुनियों के प्रति तीव्र विद्वेष रखता है, उसने पाँच सौ मुनिराजों को घानी में पिलवा दिया है, कृपाकर आप नगरी में न जायें अन्यथा आपके साथ भी वो वैसा ही अत्याचार करेगा।

उन लोगों के वचन सुनकर, बाहुमुनि के अंदर क्रोध कषाय की अग्नि प्रज्ज्वलित हो गई। क्रोध इतना अधिक बढ़ गया कि उनके शरीर से अशुभ तैजस समुद्घात के द्वारा एक बिलाव आकार का लालरंग का पुतला निकला और उसने राजा, मंत्री सहित सारे नगर को जलाकर भस्म कर दिया, पश्चात् आकर उन मुनिराज को भी जला दिया। वह बाहुमुनि मरकर नरक में जा पड़े। बाह्य में जिनलिंग सहित दिगम्बर मुद्रा के धारी थे तथापि अंतरंग में क्रोध कषाय की प्रबलता से उनका भावलिंग नष्ट हो गया, मात्र द्रव्यलिंग रह गया और मरकर वे सातवें नरक

में नारकी हुये।

कषाय कभी सुख नहीं देती, हमेशा दु:ख ही दु:ख देती है। बिच्छु चाहे छोटा हो या बड़ा, जब भी काटेगा दर्द बराबर ही होगा। चाहे कषाय किंचित हो या तीव्र एकमात्र दु:ख का ही कारण है। क्षणभर की कषाय सारी साधना को धूमिल कर देती है। स्मरण करो उन सेठ अर्हदत्त का, जो पवित्र भाव लेकर सामायिक करने बैठे थे। धीरे-धीरे परिणाम समता से हटकर प्यास में चले गये। आकुलता में प्राण तजे, तो पानी में मेंढक हुये। साधना पर पानी फिर गया। जब मेंढक ने देवताओं को समोशरण में जाते देखा तो जातिस्मरण हो गया। पूर्व का वह धर्मध्यान का संस्कार काम आया। श्रेष्ठ भावों को लेकर चल पड़ा भगवान् महावीर के समोशरण में प्रभु का दर्शन करने। मेंढक समोशरण में तो नहीं पहुँच पाया, लेकिन उत्तम भावों से मरण हुआ तो स्वर्ग में जाकर उत्तम देव पर्याय को प्राप्त हुआ। हमारे परिणाम जैसे होते हैं, वैसा ही परिणाम दिखाई देता है।

जब धर्म की सच्ची श्रद्धा होती है, तभी जीवन में धर्म की शुरूआत होती है। जब बेटा मंदिर से घर आता है,तो भाल पर लगे चंदन के टीके को देखकर माता निर्णय कर लेती है कि मेरा बेटा मंदिर होकर आया है। उसीतरह सम्यग्दर्शन का निर्णय भी बाहर के आचरण को देखकर किया जाता है। जब तक धर्म की श्रद्धा नहीं होती तब तक सम्यग्दर्शन नहीं होता। जिस व्यक्ति को नोट का ज्ञान नहीं है, नोट का श्रद्धान नहीं है ऐसा व्यक्ति हाथों में नोट आने पर उसे कितना भी सुरक्षित रखे लेकिन संकट की घड़ी में वह नोट उसके काम नहीं आ सकता। क्योंकि उसे इस बात की श्रद्धा ही नहीं है कि जो मेरे हाथ में है वह रुपया है। इसीप्रकार इस लोक में दानधर्म करनेवाले लोग तो बहुत हैं, लेकिन यह दानधर्म श्रद्धा के बिना उनकी आत्मा का हितकारी नहीं है। धर्म की शुरुआत श्रद्धा से होती है।

पाँच सौ का नोट हाथ में होते हुये भी जब तक उसका ज्ञान नहीं है तब तक वह पाँच सौ के नोट को फेंक भी सकता है, फाड़ भी सकता है लेकिन जब उसे 500 के नोट का बोध होता है तो फिर वह उसे सहेजकर और सँभालकर रखता है। वह उसे फेंक नहीं सकता, फाड़ नहीं सकता, क्योंकि उसे उस कागज की कीमत की श्रद्धा हो गई है। उसीप्रकार जब हृदय में धर्म की श्रद्धा जन्म लेती है, तो ऐसा लगता है कि धर्म नहीं तो कुछ भी नहीं। धर्म बिना जग सूना

है, धर्म बिना जीवन नीरस है। संसार में उसे सिर्फ धर्म ही सारभूत दिखाई देता है।

किसी ने कहा है–

''धरम ही सार है जग में धर्म सबसे अमोलक है।''

रावण तीन खण्ड का अधिपति था। धर्म नष्ट हो जाने पर तीन खण्ड का राज्य भी उसके सम्मान का कारण नहीं बन सका। राम के पास तीन खण्ड का राज्य नहीं था लेकिन हृदय में धर्म की श्रद्धा थी इसीलिये राम की यश-पताका आज तक फहरा रही है। धन के साथ धर्म होता है तो नाम की यश पताका युगों-युगों तक फहराती है। जिसप्रकार फल के बिना वृक्ष निष्फल है व्यर्थ है, उसीप्रकार धर्म के बिना धन व्यर्थ है।

आचार्य भगवन् कुरल काव्य में लिखते हैं–

धर्मात् साधुतरः कोऽन्यो, यतो विन्दन्ति मानवाः।
पुण्यं स्वर्गप्रदं नित्यं, निर्वाणञ्च सुदुर्लभम्।।4-1।।

अर्थात् धर्म से मनुष्य को मोक्ष मिलता है और उससे स्वर्ग की भी प्राप्ति होती है। फिर भला धर्म से बढ़कर लाभदायक वस्तु और क्या है? अर्थात् कुछ भी नहीं। जीवन में क्रियाओं के साथ-साथ धर्म की सच्ची श्रद्धा भी होनी चाहिये क्योंकि धर्म की श्रद्धा के बिना धर्मक्रियायें की जायें तो व्यर्थ ही हैं।

जैसा कि सुभाषित सहस्रम् में कहा है–

वरं मुहूर्तमेकं च धर्मयुक्तस्य जीवनम्।
तद्धीनस्य वृथा वर्ष कोटीकोटी विशेषतः।।67।।

अर्थात् धर्म सहित मनुष्य का एक मुहूर्त का जीवन अच्छा है और धर्मरहित मनुष्य का कोटी वर्ष का जीवन व्यर्थ है।

धर्म की शुरूआत सम्यग्दर्शन से होती है। धर्म को पाना है तो सबसे पहले सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना होगा। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में बाधक तत्त्वों का परिहार करना होगा। आचार्य भगवन् कुंदकुंददेव बता रहे हैं–किन कारणों के होने पर सम्यग्दर्शन नहीं

होता? जो व्यक्ति उग्र स्वभावी है, दुष्ट स्वभावी है, मिथ्याभाषी है वह सम्यग्दर्शन से रहित है।

किसी नगर में एक उग्रस्वभावी व्यक्ति रहता था। सारे नगरवासी उसके उग्रस्वभाव के कारण बहुत परेशान थे। जो व्यक्ति क्रोधी हो उसके निकट कोई नहीं आना चाहता। क्रोधी व्यक्ति बेहोश होता है। क्रोध में व्यक्ति अंधा हो जाता है उसको कुछ भी बोध नहीं रहता। बहुत से लोग पूजन करते हैं, दान करते हैं, जाप-स्वाध्याय करते हैं फिर भी क्रोध बहुत आता है। ध्यान रखना, जीवन में अगर धर्म आ गया है तो फिर क्रोध नहीं आ सकता और अगर क्रोध आ रहा है तो समझ लेना अभी जीवन में धर्म नहीं आया है। छोटी-छोटी बातों पर हम मंदिर जाना छोड़ देते हैं। लाख बाधायें आने पर भी धर्मात्मा जीव कभी धर्म को नहीं छोड़ता।

आचार्य भगवन् लिखते हैं–

धर्मान्नास्त्यपरा काचित् सुकृतिर्देह धारिणाम्।
तत्त्यागान्न परा काचिद् दुष्कृतिर्देह भाजिनाम्।।4-2।।

धर्म से बढ़कर दूसरी और कोई नेकी नहीं और उसे भुला देने से बढ़कर कोई बुराई भी नहीं है।

आजकल के धर्मात्मा दिखाऊ हैं, कमाऊ नहीं। जो कमाऊ धर्मात्मा होते हैं वो थोड़े धर्मध्यान से बहुत धर्म कमा लिया करते हैं लेकिन जो दिखाऊ धर्मात्मा होते हैं वो दिखावा करते-करते चारित्र के मार्ग पर आगे तो बढ़ जाते हैं परन्तु जैसे ही कोई प्रतिकूल निमित्त सामने आते हैं, तो उनका दिखावा खोने लगता है और वह कभी कह भी सकता है–**''जो रखो तुमाओ धर्म।''**

भगवान् पार्श्वनाथ भव-भव तक घोर उपसर्गों को सहन करते रहे, लेकिन कभी धर्म को नहीं छोड़ा। भगवान् पार्श्वनाथ कमाऊ धर्मात्मा थे, दिखाऊ धर्मात्मा नहीं थे। उन्होंने इतना धर्म कमाया कि कैवल्य की प्राप्ति हो गई। सोना अग्नि में तपने के बाद ही निखरता है। धर्मात्मा जीव धर्म करते हुये आंनदित होता है। वह विपत्तियों में भी धर्म पालनकर विपत्तियों से बचने का पुरुषार्थ करता है। सच्चा श्रद्धावान् जीव कभी धर्म को नहीं छोड़ता। आप घर में रहते हैं, आपस में पति-पत्नी में कई बार खटपट हो जाती है। पति भी गुस्से में आकर कह देता है–

अब लौटकर घर नहीं आऊँगा और चला जाता है। पत्नी भी गुस्से में कह देती है—हाँ, मत आना। पति चला तो जाता है कुछ देर बाद दो-चार गलियों में घूमकर जब गुस्सा ठंडा हो जाता है तो घर वापिस आ जाता है। जब आपस में खटपट होने पर आप घर नहीं छोड़ते, फिर मंदिर में थोड़ा सा विपरीत वातावरण बनने पर धर्म और धर्मायतनों को कैसे छोड़ सकते हैं? धर्म से इतना प्रेम करो कि तुम्हारे और धर्म के बीच में कोई तीसरा आ ही न सके। जीवन में धर्म आते ही स्वभाव में शीतलता अपने आप आ जाती है।

किसी नगर में एक क्रोधी व्यक्ति रहता था। सारे नगरवासी उसके क्रोधी स्वभाव के कारण परेशान थे। एक दिन किन्हीं दिगम्बर जैनाचार्य का नगर में आगमन हुआ। भव्यता के साथ उनकी आगवानी की गई। जिनालय में उनका प्रवचन कराया गया। वह क्रोधी व्यक्ति भी प्रवचन में बैठा था। संत वाणी ने उस व्यक्ति को बहुत प्रभावित किया। वह इतना प्रभावित हुआ कि उन दिगम्बराचार्य के साथ ही चल पड़ा। कुछ दिनों बाद समाचार आया कि उन भाई साहब ने दीक्षा ग्रहण कर ली है, अब वो दिगम्बर साधु बन गये हैं। नगरवासियों को विश्वास ही नहीं हो रहा था कि इतना क्रोधी व्यक्ति साधु बन गया। गाँववाले एक दिन टोली बनाकर उन नवोदित मुनिराज के दर्शन करने गये। उन मुनिराज को उनके गुरु ने शांतिसागर नाम दिया था। गाँववाले दर्शनार्थ पहुँचे। मुनिराज शांतभाव से पाटे पर विराजमान थे।

एक युवक ने कहा—भो मुनिवर! आप धन्य हैं जो आपने यह परम दिगम्बर भेष धारण किया है। आपने हमारे नगर को धन्य कर दिया है। आपको बारम्बार नमोस्तु-3। महाराज श्री! आपके गुरु ने आपका नाम क्या रखा है? मुनिराज ने कहा—शांतिसागर। युवक बोला—अच्छा! शांतिसागर! कितना सुंदर नाम है। आज हम आपके दर्शन करके धन्य हो गये। कुछ धर्मचर्चा करके उस युवक ने फिर से पूछा—भगवन्! मैं आपका नाम भूल गया, आपका नाम क्या है? मुनिराज बोले—शांतिसागर। थोड़ी देर चर्चा करने के बाद उसने पुनः पूछा—भगवन्! आपका नाम क्या है? मुनिराज ने थोड़े उग्र स्वर में कहा—अभी तो बताया था मेरा नाम शांतिसागर है। जब सभी लोग दर्शन करके वापिस जाने लगे तो उस युवक ने कहा—भगवन्! अब हम सभी वापिस गाँव जा रहे हैं, गाँव में सभी लोग आपका नाम पूछेंगे और मैं फिर आपका नाम भूल गया हूँ, भगवन्! कृपया आप पुनः बता दीजिये, आपका नाम क्या है? मुनिराज के सब्र का बाँध

अब टूट चुका था। मुनिराज ने उग्र होकर कहा–अभी एक दूँगा तो ठीक हो जायेगा। व्यक्ति बोला–धन्य हैं आप। वास्तव में आपका नाम शांतिसागर नहीं, क्रांतिसागर रखना चाहिये था।

ध्यान रखना, एक वैराग्य ज्ञानात्मक होता है और एक वैराग्य भावनात्मक होता है। ज्ञानात्मक वैराग्य आत्मज्ञान से सहित होता है और यही सच्चा वैराग्य है। भावनात्मक वैराग्य आत्मज्ञान से रहित होता है, सिर्फ भावुकता में आकर वैराग्य ओढ़ा जाता है जो विपरीतता आने पर खत्म हो जाता है।

सम्यग्दृष्टि जीव उग्रस्वभावी नहीं होता। अगर उग्रस्वभावी है तो अभी मात्र बाहर से धर्म आया है, भीतर से धर्म नहीं आया। यह उग्रता जब तक जीवन में बनी रहती है तब तक धर्म प्राप्त होने के बाद भी धर्म के खोने में समय नहीं लगता। धर्म की जब श्रद्धा आती है तो अंतरंग की उग्रता स्वयं ही खो जाती है। जब तक तीव्र राग, द्वेष, मोह रूप परिणाम आत्मा में बने हुये हैं तब तक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हो सकती।

सम्यग्दर्शन के साथ कभी दुष्टता के भाव नहीं हो सकते। दुष्ट स्वभावी कौन होता है? जो दूसरों को दु:खी करके आनंद मनाता है, दूसरों की आँखों से बहते हुये आँसुओं को देखकर जिसकी आँखों में शीतलता का अनुभव होता हो उसे दुष्ट स्वभावी जानना चाहिये।

दो मित्र हैं। एक मित्र की कोई वस्तु दूसरे ने छिपा दी। अब वो बेचारा परेशान हो रहा है, दु:खी हो रहा है। दूसरा आनंद मना रहा है, प्रसन्न हो रहा है, यह दुष्टता का भाव है। सम्यग्दृष्टि जीव सरलस्वभावी होता है। वह कभी ऐसा मजाक नहीं करता, जिससे किसी दूसरे का अहित हो जाये।

एक देव ने कौतुहलवश नारायण लक्ष्मण से कह दिया बलदेव श्री राम का मरण हो गया है। जैसे ही नारायण लक्ष्मण के कानों में ये शब्द पड़े, सुनते ही लक्ष्मण ने प्राण त्याग दिये। अहो! धन्य हैं वे धर्मात्मा जिनके वचनों से कभी किसी को रंचमात्र भी कष्ट नहीं होता।

जो दुर्भावना से भरा होता है वही दूसरों के प्रति कष्टदायी वचनालाप कर सकता है। अज्ञानता में हम न जाने कितने पाप का अर्जन कर लेते हैं? आजकल वर्तमान में ''फर्स्ट अप्रैल'' (First April) का दिन आता है जिसे ''अप्रैल फूल डे'' (April Fool Day) ''मूर्ख दिवस'' के रूप में मनाया जाता है। उस दिन सभी लोग एक-दूसरे को मूर्ख बनाने के प्रयास

में कुछ भी झूठ बोल देते हैं, जिससे बड़ी-बड़ी दुर्घटनायें भी घट जाती हैं। ध्यान रखना, दुनिया में मूर्ख व्यक्ति ही दूसरों को मूर्ख बना सकता है, धर्मात्मा जीव कभी किसी को मूर्ख नहीं बनाता। दुष्टस्वभावी लोगों के जीवन का यही धर्म है कि दूसरों का कैसे भी बुरा हो। किसी के बिगड़ते हुये काम को भी जो अपनी कुशलता से बना दे, वह धर्मात्मा जीव कहलाता है और जो किसी के बनते हुये काम को भी बिगाड़ने का प्रयास करे, वह दुर्भावना से युक्त है। दुर्भावना से भरा हुआ जीव सम्यग्दर्शन से रहित है।

जिन शास्त्रों में सम्यग्दर्शन की चर्चा न हो, जिन शास्त्रों में सम्यक्त्व की बात न हो, वह सच्चे शास्त्र नहीं हैं। वह जिनप्रवचन नहीं है। सम्यग्दर्शन जहाँ है वहीं सच्चा धर्म है। सच्चे धर्म की चर्चा, आत्महित की चर्चा जिनमें है वही सच्चे शास्त्र हैं। सम्यग्दृष्टि जीव सच्चे शास्त्र के अलावा किसी भी शास्त्र को न पढ़ता है, न सुनता है, न सुनाता है।

ध्यान रखना, सदैव जिनवाणी सुनना जिससे हमारा सम्यक्त्व प्रखर हो। ऐसी वाणी सुनना जिसमें तत्त्व की देशना हो। जो तत्त्व देशना से सहित हो वही सच्ची वाणी है, वही सच्चे शास्त्र हैं। ज्ञानी जीवों को स्वसमय का अध्ययन करने के बाद ही परसमय का अध्ययन करना चाहिये। आज के युवा बच्चे आकर कहते हैं—गुरुदेव! सूर्य आग का गोला है। क्यों कहते हैं वे ऐसा? क्योंकि उन्होंने स्वसमय का अध्ययन नहीं किया। सूर्यबिम्ब आग का गोला नहीं, अपितु सूर्यबिम्ब में आतप नामकर्म का उदय पाया जाता है। इस आतप नामकर्म के कारण सूर्य मूल में तो ठंडा है लेकिन उसकी किरणें गर्म होती हैं। चंद्रमा में उद्योत नामकर्म का उदय होता है जिससे वह मूल में ठंडा है और उसकी किरणें भी ठंडी होती हैं।

इसलिये पहले स्वसमय का अध्ययन करना चाहिये। जब आप स्वसमय का अध्ययन कर लेंगे फिर परसमय का अध्ययन आपको भ्रमित नहीं कर पायेगा।

सुनना है तो तत्त्व देशना सुनना। जिसे सुनने से रागद्वेष की वृद्धि हो, जिससे क्रोध, मान, माया, लोभ बढ़ते हों, ऐसी देशना मिथ्यादेशना है। आत्मा का हित चाहनेवाला कभी दुष्टभाषी नहीं हो सकता। आत्मज्ञानी जीव अपने आप में डूबा रहता है वह व्यर्थ में बोलना ही नहीं चाहता।

आचार्य भगवन् पूज्यपाद स्वामी ने समाधितंत्र में कहा है—

यन्मया दृश्यते रूपं तन्न जानाति सर्वथा।
जानन्न दृश्यते रूपं ततः केन ब्रवीम्यहम् ।।18।।

अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा मुझे जो शरीर आदि रूपी पदार्थ दिखाई दे रहा है वह अचेतन होने से बिल्कुल भी नहीं जानता और जो पदार्थ को जाननेवाला चैतन्य रूप है, वह मुझे इन्द्रियों के द्वारा दिखाई नहीं देता, इसलिये मैं किसके साथ बात करूँ?

सम्यग्दृष्टि के वचन स्वपर हितकारी होते हैं। प्रथम तो वह बोलता ही नहीं और बोलता भी है तो उसके मुख से वही वचन निकलते हैं जो स्वपर के लिये हितकारी हों। सम्यग्दृष्टि जीव ऐसे वचन नहीं बोलता है जो दुर्भावना से सहित हों और ना ही ऐसी देशना सुनता है जो दुर्भावना से भरी हुई हो। दुर्भावना से आत्मा का पतन होता है।

उग्र तीव्र जो दुर्भावी, दुष्ट दुश्रुत जो दुर्भाषी।
मिथ्यामत में अनुरक्ति, धर्म विरुद्ध महारागी।।
सम्यग्दर्शन से, हो-हो-2, वह रहित कहाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2, संहिता दिखलाये रे।।

अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

❑❑❑

(पृष्ठ नं. 238 का शेष)

अष्टांग नमस्कार है। क्षुल्लक, ऐलक, अर्जिका आदिक को पञ्चाङ्ग नमस्कार है तो यह प्रणाम नाम की भक्ति है। (6) छठवीं भक्ति है मन की शुद्धि रखना - देखिये पडगाहने के समय जो मनशुद्धि वचनशुद्धि कायशुद्धि कहा है, जो अपनी शुद्धि का निवेदन किया है उसमें केवल शब्द कहने मात्र से बात न बनेगी। मन से शुद्धि रखना, सातवीं वचन से शुद्धि रखना, अयोग्य वचन न बोलना (8) काय से शुद्धि रखना अर्थात् यत्नाचार से इस काय की प्रवृत्ति करना, जिसमें किसी जीव को बाधा न हो। (9) एषणा शुद्धि - यत्न से उठना, देखकर ही चलना जिसमें किसी जीव को बाधा न हो सके। ऐसी नवधाभक्तिपूर्वक श्रावक मुनिजनों को आहारदान करता है। मायने भोजन शुद्ध होना, जैसा पात्र के लिए योग्य चाहिए दिन में ही बनाना, शोधकर बनाना, शुद्ध होकर बनाना ऐसा भोजन एषणाशुद्धि कहलाता है।

पं. सदासुखदास जी ने भी मुनिराज और क्षुल्लकजी की चर्या के विषय में कहा भी है-

नवधा भक्ति : पात्र को दान देनेवालों को मुनि तथा श्रावक का, जैसा पद हो उसके अनुसार नवधा भक्तिपूर्वक दान देना चाहिए।

नव प्रकार की भक्ति के नाम - संग्रह 1. उच्च स्थान 2. पादोदक 3. अर्चन 4. प्रणाम 5. मनशुद्धि 6. वचनशुद्धि 7. कायशुद्धि 8. भोजनशुद्धि। 9.

मुनिराज को तथा क्षुल्लक को - 'हे स्वामी! तिष्ठ, तिष्ठ, तिष्ठ' इसका अर्थ है - कृपा कर खड़े रहें, रुक जावें - ऐसा तीन बार कहना चाहिए। जिनका अति पूज्यपना देखकर जिसके चित्त में उनके प्रति अति अनुराग होगा, वही तीन बार आदरपूर्वक कहेगा। अन्य श्रावक आदि योग्य पात्र भी घर आवें तो - आईये, पधारिये, विराजिये इत्यादि आदर के वचन कहना, वह संग्रह या प्रतिग्रह है।1।

बुलाकर उच्च स्थान पर आसन देना 2, प्रासुक प्रामाणिक जल से पैर धोना, धुलाना 3, जैसा समय जैसा पात्र हो उसके योग्य स्तवन पूज्यपना के वचन कहना 4, मुनि श्रावक की योग्यता अनुसार नमस्कार आदि करना 5, मन की शुद्धता करना तथा बोलना 6, वचन की शुद्धता करना, कहना, अयोग्य वचन नहीं बोलना 7, काय की शुद्धि करना व कहना, यत्नाचार सहित चलना, उठना इत्यादि 8, भोजन शुद्धि करना व बोलना, पात्र योग्य शुद्ध भोजन देना।9।

यहाँ कोई प्रश्न करे - वर्तमान में कोई आचार्य, मुनि एवं इन्हीं के अनुसार चलने वाले विद्वान, श्रावक आदि ऐसा कहते हैं कि वस्त्रधारी की अष्टद्रव्य से या अर्घ्य से पूजा नहीं करना चाहिए अन्यथा मिथ्यात्व का दोष आता है?

इसका समाधान यह है - आचार्य भगवन् कुन्दकुन्द देव ने दर्शनपाहुड गाथा-18 में तीन लिंग जिनशासन में कहे हैं चौथा लिंग जिनशासन में नहीं कहा गया, ऐसा कथन किया है। वह जिनशासन वर्णित तीन लिंग इस प्रकार है।

1. जिनरूप अर्थात् जिनमुद्राधारी मुनिराज का लिंग।
2. उत्कृष्ट श्रावक ऐलक-क्षुल्लक जी का लिंग।
3. उपचार महाव्रती आर्यिका का लिंग।

इन जिनशासन मान्य तीन लिंगों में मुनि लिंग वस्त्ररहित तथा उत्कृष्ट श्रावक एवं आर्यिका लिंग वस्त्राच्छादित है। ऐसा सूत्रपाहुड गाथा-22 में कहा है।

साथ ही प्रथम शताब्दी के सर्वमान्य आचार्य कार्तिकेयस्वामी ने गाथा-360 में तीन प्रकार के पात्रों को नवधाभक्ति पूर्वक दान देने का कथन किया है एवं परवर्ती अन्य आचार्यों ने भी नवधाभक्ति पूर्वक तीन प्रकार के पात्रों को दान देने का उल्लेख किया है, तब मुनि, आर्यिका, उत्कृष्ट श्रावक, श्राविका की नवधाभक्ति में अष्ट द्रव्य से अथवा अर्घ्य से पूजा का कथन आगम प्रमाण से सिद्ध ही होता है।

अत: वर्तमान के जो आचार्य, मुनि, विद्वान अथवा श्रावक आगम प्रमाण को बाधित कर स्वयं के आगम विरुद्ध स्वतंत्र चिंतन को मान्यता देते हैं अथवा आगम प्रमाणित कहते हैं, उनका वह स्वतंत्र चिंतन ही मिथ्या ठहरता है। अत: आचार्य, मुनि,

(शेष पृष्ठ नं. 272 पर)

(सम्यक्त्व रहित जीव की पहिचान)

खुद्दो रुद्दो रुट्ठो, अणिट्ठ पिसुणो सगव्वियोऽसूयो।
गायणजायणभंडणदुस्सणसीलो, दु सम्मउम्मुक्को।।44।।

*** अन्वयार्थ ***

(**खुद्दो**) क्षुद्र प्रकृतिवाले, (**रुद्दो**) रौद्र प्रकृतिवाले, (**रुट्ठो**) रुष्ट प्रकृतिवाले (**अणिट्ठ**) अनिष्ट करनेवाले, (**पिसुणो**) चुगलखोर, (**सगव्वियो**) गर्व-सहित, (**असूयो**) ईर्ष्यालु, (**गायण**) गायक, (**जायण**) याचक, (**भंडण**) गाली देनेवाले, कलह करनेवाले (**दु**) और (**दुस्सण सीलो**) दूसरों को दोष लगाना स्वभाव है जिसका ये सब (**सम्म उम्मुक्को**) सम्यग्दर्शन से रहित होते हैं।

अर्थ–क्षुद्र-रौद्र स्वभाववाले, रुष्ट प्रकृतिवाले, दूसरों का अनिष्ट चाहने या करनेवाले, चुगलखोर, अभिमानी, असहिष्णु (ईर्ष्यालु), गायक, याचक, कलह करनेवाले (गाली देनेवाले) और दूसरों को दोष लगानेवाले ये सब सम्यक्त्व रहित होते हैं।

गाथा - 44

(प्रवचन)

●

क्षुद्रभाव सम्यक्त्व में बाधक

21.10.2013

भिण्ड (म.प्र.)



राजा वसु का असत्य भाषण करने से जमीन में धंसता सिंहासन, खड़े हैं पर्वत, और नारद

55

रयणोदय

रुष्ट अनिष्ट या हो गायक, क्षुद्र रौद्र या हो याचक।
चुगलखोर या अभिमानी, ईर्ष्यालु कलही श्रावक।।
परदोष दाता, हो-हो-2, सम्यक्त्व न पाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2, संहिता दिखलाये रे।।

'**जयदु जिणागमपंथो**' अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

तीर्थंकर भगवंत की दिव्यध्वनि जिनश्रुत है, जिनागम है। जिनागम में वर्णित आत्मकल्याणकारी मार्ग, आत्महितकारी पंथ '**जिनागम पंथ**' है। परस्पर रागद्वेष को बढ़ानेवाले आगमबाह्य पंथ उन्मार्ग हैं। वीतरागता को देनेवाला, '**परस्परोपग्रहो जीवानाम्**' का प्रतीक '**जिनागम पंथ**' सन्मार्ग है।

अपने अंदर इतनी उदारता होनी चाहिये कि दूसरों की अच्छाई को देखकर हमारा मन पुलकित हो जाये। जहाँ अपने साथ-साथ सभी का अच्छा करने के भाव हों वहीं उदारता का भाव होता है। जहाँ सिर्फ अपनी उन्नति की भावना होती है वहाँ उदारता खो जाती है। जीवन जीना है तो उदारता के साथ जियो। उदार व्यक्ति का दृष्टिकोण समष्टि को समाहित करनेवाला

होता है। उदारता ही मनुष्य को ऊपर उठाती है और इतना ऊपर उठाती है कि एक दिन लोकाग्र पर ले जाकर विराजमान कर देती है।

ध्यान रखना, सिद्धत्व की उपलब्धि क्षुद्रता से नहीं उदारता से होती है क्योंकि सिद्धत्व की प्रथम शर्त है—सम्यग्दर्शन। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में उदार भावना कारण है। संकीर्ण मानसिकतावाला स्वार्थी प्रकृति का होता है जबकि उदार व्यक्ति निस्वार्थ होता है। उसके पास अगर भोजन की एक थाली है तो स्वयं भी करेगा और दूसरा भूखा मिल जाये तो उसे भी करायेगा। आप संकीर्णता को चुनोगे तो आत्मा का पतन निश्चित है और उदारता को चुनोगे तो उदारता उद्धार का सोपान है। इतिहास साक्षी है कौरवों ने संकीर्णता को चुना तो परिवार कलंकित हो गया और पाण्डवों ने उदारता का परिचय दिया तो आज तक आदर्श माने जाते हैं।

परिवार उदार भावना से ही संचालित होते हैं। परिवार का अर्थ है—जिसमें रहनेवाला प्रत्येक व्यक्ति सभी के हित का ख्याल रखता है। जहाँ स्वार्थ की भावना आ जाती है वहाँ परिवार विघट जाता है। राम को वनवास परिवार से नहीं स्वार्थ भावना से हुआ था। ध्यान रखना माताओ! घर में रहना तो कौशल्या बनकर रहना, केकई बनकर मत रहना। अगर केकई बनकर स्वार्थसिद्धि का उपक्रम किया जायेगा तो परिवार विघट जायेगा। हमारी कर्तव्य-परायणता स्वार्थों से घिरी नहीं होना चाहिये। जब कर्तव्य परायणता में स्वार्थ की परतें आना शुरू हो जाती हैं तब उदारता खोने लगती है।

राम ने क्षुद्र मानसिकता से ऊपर उठकर जीवन जिया इसलिये वह मर्यादा पुरुषोत्तम कहलाये। जो मर्यादा में जीता है वही महापुरुष हुआ करता है। मर्यादा में जीनेवाले पुरुषों का जीवन त्याग और बलिदानमय होता है। मर्यादा को जीवन्त बनाने के लिये बहुत बलिदान की आवश्यकता होती है।

क्षुद्र व्यक्ति संकीर्ण विचारधारावाला होता है। उसके हृदय में, उसके विचारों में विशालता नहीं होती। वह कूपमंडूक की तरह अपना जीवन व्यतीत करता रहता है। उसे मानसरोवर की विराटता का अनुभव ही नहीं हो पाता। क्षुद्र व्यक्तियों के हृदय इतने विशाल नहीं हो पाते जिसमें विश्वमैत्री की भावना प्रवेश कर सके। हृदय से संकीर्णता की दीवारों को अलग करके अपने

हृदय को इतना विशाल बनाने की आवश्यकता है कि सारा विश्व आपके हृदय में समाहित हो जाये।

जगत में अपने-अपने की पहिचान करनेवाले जीव तो बहुत हैं लेकिन सारे जगत को अपना कहनेवाले जीवात्मा विरले हैं। सम्यग्दृष्टि जीव को सभी जीवों में एक सा स्वरूप दिखाई देता है, अपने-पराये का भेद नजर नहीं आता। उसकी दृष्टि कारणद्रव्य पर होती है, बाहर की पर्याय उसकी दृष्टि में भेद पैदा नहीं कर पाती। इस समभाव में जीना ही सच्चा जीना है। अर्हंत शासन में सम्यग्दर्शन जीवन है, सम्यग्ज्ञान जीवन है और सम्यक्चारित्र जीवन है अर्थात् रत्नत्रय ही जीवन है इसके बिना जीवन भी मृत्यु ही है।

मृत्यु का अनुभव करते हुये अनंतभव व्यतीत हुये हैं कभी जीवन का अनुभव नहीं कर पाये। जो जीवन हमें मृत्यु देता हो, जो जीवन हमें मृत्यु के द्वार तक ले जाता हो वह जीवन जीवन नहीं, जो मृत्यु से बचा ले वही सच्चा जीवन है। वह सच्चा जीवन रत्नत्रय है। ये वो मार्ग है जो मृत्यु से बचाकर शाश्वत जीवन प्रदान करता है। रत्नत्रय में सर्वप्रथम उपादेय सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन ही ज्ञान और चारित्र को समीचीनता प्रदान करता है। जब तक क्षुद्र भावना है– तब तक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होती। संकीर्ण विचारवाला व्यक्ति मिथ्यादृष्टि होता है। जहाँ ऐसे भाव हों कि अपना तो अपना दूसरे का भी अपना। जहाँ दूसरे की वस्तु को भी अपना बनाने का भाव हो, यही विचारों की संकीर्णता है। उदारचित्त व्यक्ति के हृदय में तो **''वसुधैव कुटुम्बकम्''** का भाव होता है। भगवान् महावीर की देशना प्राणीमात्र के लिये थी किसी व्यक्ति विशेष के लिये नहीं थी। विशालहृदयी व्यक्ति सबके भले की सोचता है और क्षुद्र विचारधारावाला जीव सिर्फ अपने और अपनों के भले की सोचता है।

सभी जीव स्वभाव की अपेक्षा शुद्धचैतन्य भगवान् आत्मा हैं और कर्मानुसार भिन्न-भिन्न दिखाई देते हैं। सभी का आत्मा सिद्धों जैसा है लेकिन धर्म को न पहिचानने के कारण आत्मा के उस स्वरूप को जान नहीं पाते। वस्तु का निर्णय उसके धर्म से होता है जैसे शक्कर का निर्णय उसके मिठास गुण द्वारा किया जाता है वैसे ही आत्मा का निर्णय ज्ञान-दर्शन गुण से किया जाता है।

चार सहेलियाँ पानी भरने के लिये कूप पर गईं। चारों ने अपने-अपने पात्र कुएँ में डाले। सभी पात्रों में पानी आ गया। पानी अलग-अलग पात्रों के कारण अलग-अलग संज्ञा पा रहा है, बाल्टी का पानी, घड़े का पानी आदि लेकिन सभी पात्रों में जो पानी है वो एक जैसा ही है। हम बाहरी पात्रानुसार पानी को भी भिन्न-भिन्न मानने लगते हैं। हमारी यही सोच हमें पानी के यथार्थस्वरूप से वंचित कर देती है।

धरती पर विचरण करनेवाले जीवों की अनेकानेक पर्यायों के बीच वही एक भगवान् आत्मा है। पाण्डवों को कौरव और कौरवों को पाण्डव नजर आ रहे हैं इसलिये विवाद है, जब आत्मा को सभी में वही एक स्वभाव गुणरूप आत्मा नजर आने लगे तो कोई विवाद नहीं रहता।

धर्म, देह से परिचय नहीं कराता, देह में बैठे आत्मा से परिचय कराता है। सम्यग्दृष्टि जीव देह से आत्मा की पहिचान नहीं करता, वह आत्मा की पहिचान आत्मस्वभाव से करता है। मिथ्यादृष्टि जीव देह और आत्मा को एक मानता है।

छहढाला में कहा भी है–

''देह जीव को एक गिनै बहिरातम तत्त्व मुधा है''।।3-4।।

देह और जीव को एक माननेवाला बहिरात्मा, देह और जीव को भिन्न-भिन्न माननेवाला अंतरात्मा और आत्मा को आत्मा मानकर, जानकर जो उसी स्वरूप को उपलब्ध हो गया वो परमात्मा कहलाता है।

जिस दिन अपने देह देवालय में विराजित आत्म प्रभु नजर आयेंगे उस दिन प्राणी मात्र में भी वही भगवान् आत्मा नजर आने लगेगा। जब प्राणीमात्र में अपने जैसा भगवान् आत्मा नजर आता है तब क्षुद्रता की दृष्टि खो जाती है। अनंत बार जनम-मरण धारण किये लेकिन एकबार भी सच्ची श्रद्धा को धारण नहीं किया, सम्यग्दर्शन को प्राप्त नहीं किया। अनादि से जीव ने मात्र देह पर दृष्टि रखी है जिससे अपने और पराये का भेद नजर आता रहा, जब दृष्टि आत्मस्वभाव पर जाती है तो अपने-पराये का भेद खो जाता है और प्राणीमात्र के प्रति आत्मा में मैत्री का भाव जागृत हो जाता है। अंतरंग की गहराईयों से मैत्री के स्वर फूटने लगते हैं।

मैत्रीभाव जगत में मेरा सब जीवों से नित्य रहे।
दीन दुःखी जीवों पर मेरे उर से करुणास्रोत बहे।।

ध्यान रखना, अगर अर्हंत भगवान् द्वारा प्रतिपादित सम्यग्दर्शन का अनुभव करना है तो अपने हृदय से क्षुद्र मनोवृत्ति को हटाकर हृदय को विशाल बनाने की जरूरत है। अपनी चित्त-वृत्तियों को उदार बनाने की आवश्यकता है। हृदय की विशालता और उदारता ही आत्मा को मोक्षमार्ग की ओर ले जानेवाली है, उदारता आत्मा को पवित्र करनेवाली है। सम्यग्दर्शन के आते ही दृष्टि निर्मल और आचरण पवित्र हो जाता है। क्षुद्रता का अवसान होते ही रौद्रभाव विलय को प्राप्त हो जाते हैं। जो दूसरों को दुःखी देखकर आनंद का अनुभव करता है उसे रौद्र स्वभावी जानना चाहिये।

आचार्य भगवन् उमास्वामी महाराज ने तत्त्वार्थसूत्र के नौवे अध्याय में ध्यान चार प्रकार का कहा है–

''आर्त्त-रौद्र-धर्म्य-शुक्लानि''।।28।।

अर्थात् ध्यान चार प्रकार के होते हैं–आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान।

दूसरों को पीड़ा, कष्ट, दुःख में, देखकर आनंद आना रौद्रध्यान है।

आचार्य भगवन् पूज्यपादस्वामी सर्वार्थसिद्धि में लिखते हैं–

''रुद्रः क्रूराशयस्तस्य कर्म तत्र भवं वा रौद्रम्।'' (सूत्र 28-टीका)

रुद्र का आशय क्रूर है, इसका कर्म या इसमें होनेवाला रौद्र है। प्राणियों की हिंसा करके आनंद मनाना हिंसानंदी रौद्रध्यान है। झूठ बोलकर आनंद मनाना मृषानंदी रौद्रध्यान है। एक बार झूठ बोलने का फल सातवें नरक की प्राप्ति है जो बार-बार झूठ बोलता हो उसे कितनी पर्यायों में दुर्गति का पात्र बनना पड़ेगा? हम दसलक्षण धर्म की पूजन में पढ़ते हैं–

''वसु झूठ सेती नरक पहुँचा''

हम जिनवाणी को सुनकर भी अपने विचारों, भावों को नहीं बदल पाते। हमें असत्य से डर

नहीं लगता। झूठ बोलने के बाद अगर आत्मा में पश्चाताप का भाव आ जाये तो भी कर्म हल्का हो जाता है। इसीलिये रोज आलोचना पाठ के माध्यम से स्वकृत दोषों की आलोचना किया करो। क्या कहते हैं आलोचना पाठ में?–

सुनिये जिन अरज हमारी, हम दोष किये अतिभारी।।2।।

जब अपने दोषों का बोध होता है तो आत्मा ग्लानि से भर उठता है, आत्मा की यही विशुद्धि कर्म की शक्ति को क्षीण करने में कारण बनती है।

सम्राट श्रेणिक ने यशोधर मुनिराज पर उपसर्ग करके सातवें नरक की आयु का बंध किया था। जब सम्राट श्रेणिक बोध को प्राप्त हुआ तो अपने दुष्कृत्य के प्रति ग्लानिभाव से भर गया, पश्चाताप की अग्नि में हृदय झुलसने लगा। उस पश्चाताप की अग्नि में वह सातवें नरक का आयुकर्म अपकर्षित होकर प्रथम नरक की आयु मात्र शेष रह गया। कहाँ तो प्रशांत महासागर सम अपार जलराशि जैसी सातवें नरक की आयु और कहाँ नख में भरे पानी की तरह प्रथम नरक की 84000 वर्ष की अल्प आयु।

जिसप्रकार जलती हुई अग्नि में ईंधन डालने पर उसकी लपटें वृद्धि को प्राप्त होती जाती हैं पुनः उन लपटों पर पानी के छीटे डाल दिये जायें तो वह अग्नि शीघ्र ही शमन हो जाती है उसीप्रकार आत्मविशुद्धिरूपी जल कर्मों की ज्वाला को शांत कर देता है।

जगत में जीव निरन्तर चेतन और अचेतन पदार्थों के विषय में चिंतन कर कर्मों को बाँधते रहते हैं, और उन कर्मों के फल को कालान्तर में भोगते हैं।

निर्ग्रंथ साधु हजारों श्रावकों की आँख के तारे होते हैं। चौबीस घण्टे में एक बार संयम की साधना को बढ़ाने के लिये आहार चर्या को जाते हैं। सच्चा जैनी श्रावक आहार कराते समय सतत भावना भाता है–हे भगवन्! मुनिराज का आहार निरन्तराय हो जाये। अगर अंजुली में बाल आ जाये तब आचार्य कहते हैं–जो कर्म जिस आत्मा ने बाँधा है उसे उसका फल भोगना ही पड़ता है।

जब आत्मा अपने आपको धिक्कारता है उसीसमय उसका प्रतिक्रमण हो जाता है। साधु रोज अपने आप को पापी कहता है, किसी दूसरे को पापी नहीं कहता। उठते ही साधु का सबसे

पहला काम है प्रतिक्रमण। प्रतिक्रमण की शुरूआत कहाँ से होती है?

पापिष्ठेन दुरात्मना जड़धिया मायाविना लोभिना।।
रागद्वेषमलीमसेन मनसा दुष्कर्म-यन्निर्मितम्।।2।।

हे भगवन्! मुझ पापी, दुष्ट, जड़बुद्धि, मायावी, लोभी, राग-द्वेषरूपी मल से मलीन, मन के द्वारा जो पाप का अर्जन किया है।

जो अपनी आत्मा में दोष देखने लग जाता है वह धर्मात्मा बन जाता है। ऐसा धर्मात्मा जीव ही आत्मा का हित कर पाता है। जो दूसरों के दोष देखता रहता है वह पापी है, आत्मा का अहित करता है।

गिरी हुई, भूली हुई, पड़ी हुई परवस्तु उठाकर अपना बना लेना चोरी है, चोरी करके आनंदित होना चौर्यानंदी रौद्रध्यान है। बुंदेलखण्ड में एक कहावत है–**''माय बरे वो सोनो जासें नाक कान कटें।''** इसीप्रकार का भाव पराई वस्तु को देखकर होना चाहिए– **''माय बरे वा वस्तु जासें आत्मा दुःखी होय।''** चोरी करना महापापरूप परिणाम है।

आचार्य भगवन् सुभाषित सहस्रम् में लिखते हैं–

अदत्तदोषेण भवेद् दरिद्रो, दारिद्र्यदोषेण करोति पापम्।
पापादवश्यं नरकं प्रयाति, पुनर्दरिद्रः पुनरेव पापी।।91।।

अर्थात् चोरी के दोष से मनुष्य दरिद्री होता है, दरिद्रता के दोष से पाप करता है पाप से अवश्य ही नरक जाता है, वहाँ से आकर पुनः दरिद्री होता है और दरिद्रता के कारण पुनः पापी होता है। पाप से बचना है तो परवस्तु ग्रहण से बचना होगा।

परिग्रह के कारण भी जीव दुर्गति का पात्र बनता है। वर्तमान में जिसका पॉकेट (Pocket) जितना गर्म है वह उतना ही आनंदित है। अज्ञानी जीव भूल जाता है कि यह आनंद पापास्रव का कारण है जो कालान्तर में दुःखरूप में फलित होगा। परिग्रह जितना बढ़ता जाता है, उतना ही जीव आनंद मनाता है। उसे शायद यह पता नहीं कि ये परिग्रहसंरक्षणानंदी रौद्रध्यान चल रहा है। अशुभध्यान चल रहा है। वैभव चक्रवर्ती भरत के पास भी था, छहखण्ड का राजा था,

लेकिन वह विचार करता था कि मेरे आत्मगुण वैभव के अलावा कुछ भी मेरा अपना नहीं है। ये वैभव, ये धन-सम्पदा सब पुण्य का फल है मेरे आत्मा का नहीं। इसलिए सदैव रौद्रभाव से बचना चाहिये। निज आत्मवैभव को जानकर उसकी श्रद्धाकर उसे ही प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना चाहिये, यही इस पर्याय की सार्थकता है। इसी भावना के साथ...।

रुष्ट अनिष्ट या हो गायक, क्षुद्र रौद्र या हो याचक।
चुगलखोर या अभिमानी, ईर्ष्यालु कलही श्रावक।।
परदोष दाता, हो-हो-2, सम्यक्त्व न पाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2, संहिता दिखलाये रे।।

अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

❑❑❑

(जिनधर्म के विनाशक)

वाणर-गद्दह-साण-गय-बग्घ-बराह कराह।
मक्खि जलूय-सहावणर, जिणवरधम्म-विणास।।45।।

*** अन्वयार्थ ***

(**वाणर**) बंदर, (**गद्दह**) गधा, (**साण**) कुत्ता, (**गय**) गज (**बग्घ**) बाघ, (**बराह**) सूकर, (**कराह**) कछुआ-कच्छप, (**मक्खि**) मक्खी, (**जलूय**) जौंक, (**सहावणर**) स्वभाववाले नर, (**जिणवरधम्म**) जिनवर कथित धर्म के, (**विणास**) विनाशक हैं।

अर्थ—बंदर, गधा, कुत्ता, गज, बाघ, सूकर, कछुआ, मक्खी और जौंक स्वभाववाले मनुष्य जिनधर्म के विनाशक हैं।

गाथा - 45

(प्रवचन)

●

धर्म के नाशक नहीं प्रकाशक बनें।

22.10.2013

भिण्ड (म.प्र.)



गजस्नान



गज, स्नान के उपरान्त अपने ऊपर धूल डालता हुआ।



जिनपूजा से पुण्यार्जन



गृहस्थ के व्यापार, स्त्री प्रसंग आदि में पुनः पापार्जन



56

रयणोदय

हाथी गधा बाघ बंदर, कच्छप जोंक श्वान सूकर।
मक्खी सम स्वभाववाले, होते हैं जो नारी-नर।।
जिनधर्म के ये, हो-हो-2, नाशक कहलाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2, संहिता दिखलाये रे।।

'**जयदु जिणागमपंथो**' अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

तीर्थंकर भगवंत की दिव्यध्वनि जिनश्रुत है, जिनागम है। जिनागम में वर्णित आत्मकल्याणकारी मार्ग, आत्महितकारी पंथ '**जिनागम पंथ**' है। परस्पर रागद्वेष को बढ़ानेवाले आगमबाह्य पंथ उन्मार्ग हैं वीतरागता को देनेवाला, '**परस्परोपग्रहो जीवानाम्**' का प्रतीक '**जिनागम पंथ**' सन्मार्ग है।

अंधकार को दूर करने के लिये दीप जलाने की आवश्यकता है। संसार में हर आत्मा के सामने कदम-कदम पर अंधकार है। सिद्धालय में विराजित अनंतानंत सिद्ध भगवानों की आत्मा भी हमारी और आपकी तरह संसार के अंधकार से घिरी हुई थी लेकिन उन्होंने अपनी पर्याय में सम्यक् आचरण का दीप जलाकर अपनी आत्मा को पूर्ण ज्ञानमय रोशनी से रोशन कर

लिया और हमेशा-हमेशा के लिये इस संसार के चिर अंधकार से निकलकर शुद्धात्मा लोक को प्राप्त हो गये।

आपको दो आँखें प्राप्त हुई हैं। ये आँखें दो जलते हुए दीप हैं, इनके प्रकाश में, इनके आलोक में, अपना हर कदम देखकर रखना। आगे की चार हाथ जमीन को जीवरक्षा की दृष्टि से देखकर चलना। अगर आपने इन दो दीपों का उपयोग नहीं किया तो तत्काल आपका भविष्य अंधकारमय हो जाएगा, आप तुरंत दुर्घटनाग्रस्त हो जायेंगे। अगर आपने इन दो सुंदर दीपों का उपयोग किया तो आपका अंधकारमय भविष्य भी सुधर जायेगा।

इतना सुन्दर जीवन सुंदरतम बनाने के लिए मिला है। हमारा जीवन सुंदर से सुंदरतम तभी बन सकता है, जब हम अपने भावों को अशुभ परिणमन से बचाकर शुभ और शुद्ध परिणमन की ओर परिणमित करने का पुरुषार्थ करें।

भावों को सँभालने से जीव के भव-भव सँभल जाते हैं, और भावों को बिगाड़ने से भव-भव बिगड़ भी जाते हैं। हमारे भाव ही हमारे भविष्य का निर्माण करते हैं इसलिए अपनी रुचि को, अपने भावों को पहिचानो। जिन भावों से आत्मा का अहित होता है उनसे बचने का प्रयास करना चाहिये।

खोटे स्वभाववाले मनुष्य अपनी आत्मा का ही अहित नहीं करते, अपितु वे जिनधर्म के भी विनाशक होते हैं। आचार्यदेव कुंदकुंदस्वामी पैंतालीसवीं गाथा में कुछ खोटे स्वभाववाले जीवों का कथन कर रहे हैं।

आचार्य भगवन् कहते हैं–"**वाणर**" अर्थात् बंदर के स्वभाववाले जीव जिनधर्म के विनाशक होते हैं। बंदर की चपलता और चञ्चलता लोक में प्रसिद्ध है। बंदर का स्वभाव अति चञ्चल हुआ करता है। बंदर के हाथ में कितनी भी कीमती वस्तु दे दी जाये, वो अपने चञ्चल स्वभाव के कारण उस वस्तु को तोड़-फोड़कर नष्ट कर देगा, क्योंकि उसे मूल्यवान वस्तु की दुर्लभता का ज्ञान नहीं होता। बंदर के हाथ में अगर आइना आ जाये तो क्या करेगा? कुछ समय में टुकड़े-टुकड़े कर देगा। उस आइने में अगर वह चाहे तो अपना अक्स भी देख सकता था लेकिन अपने स्वभाव के कारण वह ऐसा नहीं कर पाता, अपितु उस कीमती आइने के टुकड़े-टुकड़े कर डालता है। इसीप्रकार कोई चञ्चलस्वभावी मनुष्य यदि धर्म को धारण कर ले तो

अपने चंचल स्वभाव के कारण शीघ्र ही वह धर्म का नाश कर देता है। उसकी दृष्टि में धर्म की कोई कीमत नहीं होती। वह देखादेखी में धर्म धारण कर लेता है इसीलिए वह इस अनमोल धर्म का वह मूल्य नहीं समझ पाता। वह अपने चञ्चलस्वभाव के कारण निरंतर भोगों की ओर दौड़ लगाता है लेकिन भोगों से कभी तृप्ति नहीं होती।

आचार्य भगवान् कुलभद्रस्वामी सारसमुच्चय में कहते हैं–

भुक्त्वाप्यनन्तरं भोगान् देवलोके यथेप्सितान्।
यो हि तृप्तिं न सम्प्राप्तः स किं प्राप्स्यति सम्प्रति।।75।।

हे आत्मन्! स्वर्गलोक में इच्छानुसार भोगों को निरंतर भोगकर भी जो निश्चय से तृप्त नहीं हुआ, वह प्राणी क्या वर्तमानकालीन मनुष्य भव में प्राप्त होनेवाले तुच्छ भोगों से तृप्त हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता। चंचलस्वभावी मनुष्यों द्वारा धर्म का विघात ही होता है।

''**गद्दह**'' अर्थात् गधे जैसे स्वभाववाले मनुष्य भी जिनधर्म के विनाशक हैं।

''**पशुनाम् चान्डाल गर्दभः**''

अर्थात् पशुओं में गधे को चाण्डाल की संज्ञा दी गई है। गधा जब भी घास खाता है जड़ से उखाड़कर खाता है। घास को जड़ से उखाड़कर खाना ये उसकी कृष्णलेश्या का प्रतीक है। कृष्णलेश्यावाला व्यक्ति अगर फल खाने के लिए किसी वृक्ष के पास जाये तो वह फल नहीं तोड़ेगा, वह डाली नहीं तोड़ेगा, अपितु उस वृक्ष को जड़ से काटकर फल खायेगा। ऐसा कृष्ण लेश्यावाला जीव क्रूर परिणामी होता है। क्रूर परिणामी जीव कभी धर्म का रक्षक नहीं हो सकता। उसके द्वारा श्रेष्ठ धर्म का सदैव विनाश ही किया जाता है इसलिए अपने परिणामों को तोलते रहना, कहीं हमारे परिणाम गधे जैसे स्वभाव के तो नहीं हैं, अगर ऐसे परिणाम हैं तो आप धर्म के विध्वंसक हैं।

''**साण**''–कुछ श्वानस्वभावी लोग हुआ करते हैं। जिसप्रकार कुत्ता दूसरे नये कुत्ते को देखकर गुर्राता है भौंकता है, उसीप्रकार कुछ लोग भी हुआ करते हैं जिनको अपने साधर्मीजनों की संगति रुचिकर नहीं लगती। साधर्मियों के बीच पहुँचकर सिर्फ लड़ाई-झगड़ा और कलह ही करता है। श्रेष्ठकार्य करनेवाले सत्पुरुषों के प्रति वह द्वेषभाव रखता है, ईर्ष्याभाव रखता है।

अपना विचार आप स्वयं कर लेना कि कहीं हमारे अंदर साधर्मियों को देखकर द्वेष का भाव तो नहीं आता, अगर आता हो तो अपने इस खोटे स्वभाव को बदलने का प्रयास करना चाहिये अन्यथा आप भी जिनधर्म के नाशक कहलाओगे।

सुभाषित सहस्रम् में कहते हैं–

न विना परिवादेन रमते दुर्जनो जनः।
श्वेव सर्व रसान् भुक्त्वा विना मेध्यं न तृप्यते।।248।।

अर्थात् दुर्जन मनुष्य निंदा के बिना नहीं रमता जैसे कुत्ता सब रसों को खाकर भी विष्ठा के बिना संतुष्ठ नहीं होता। कुत्ते को कितना भी सुस्वादु भोजन खिलाया जाये, कितने भी सुस्वादु व्यंजन खिलाने का प्रयास किया जाये लेकिन वह उस भोजन को नहीं खाता अपितु गंदगी और मल ही खाने में उसकी रुचि होती है क्योंकि "**क्षैरेयं खोदरे न तिष्ठति**" अर्थात् कुत्ते के पेट में घी नहीं ठहरता है।

इसीप्रकार श्वानस्वभावी लोग होते हैं उन्हें भक्ष्य-अभक्ष्य का विवेक नहीं होता। घर का बना हुआ शुद्ध और मर्यादित भोजन उसे अच्छा नहीं लगता अपितु बाजार का अशुद्ध अमर्यादित और अभक्ष्य भोजन ही उसे रुचिकर लगता है। ये श्वानस्वभावी लोग धर्म के नाशक हैं।

आचार्य आगे कहते हैं–"**वराह सहावणर**" अर्थात् सूकर स्वभावी मनुष्य धर्म का घात करनेवाले हैं। जिसप्रकार सुअर को मल ही प्रिय होता है, शुद्ध मिष्ठान्न उसके लिए व्यर्थ मालूम पड़ते हैं। उसीप्रकार इस स्वभाववाले मनुष्य दोषग्राही दृष्टिवाले होते हैं, वे गुणों में आनंदित नहीं होते उन्हें तो दोषों में आनंद आता है। दोषग्राही मानव कभी भी धर्म का पालन नहीं कर सकता। वह धर्म को दूषित ही करेगा, धर्म को पोषित नहीं कर सकता।

"**कराह**"–कुछ लोग कछुआ स्वभावी हुआ करते हैं, जिसप्रकार कछुआ की पीठ का आवरण इतना कठोर होता है कि किसी भी शस्त्र द्वारा उसे भेदा नहीं जा सकता, उसीप्रकार कुछ लोग होते हैं, जिन्हें कितना भी समझाया जाये लेकिन वो अपने कठोरस्वभाव को नहीं छोड़ते हैं। जिनवाणी कितनी भी सुनें, गुरु उन्हें कितना भी धर्मोपदेश दें, लेकिन वो कोरे घड़े

की तरह ही रहते हैं, उनपर कोई असर नहीं होता।

आचार्य सोमदेव ने यशस्तिलकचम्पु उत्तरार्ध में कहा भी है–

दुराग्रह-ग्रहग्रस्ते विद्वान् पुंसि करोतु किम्।
कृष्ण-पाषाण-खण्डेषु मार्दवाय न तोयदः।।15।।

अर्थात् दुराग्रहरूपी ग्रह से ग्रस्त पुरुष के विषय में विद्वान् क्या करें? क्योंकि मेघ काले-पाषाणखण्ड को कोमल करने के लिये समर्थ नहीं होता। ऐसे स्वभाववाले मनुष्य अपना भी अहित करते हैं और धर्म के भी विध्वंसक होते हैं।

''**मक्खि**''–कुछ लोभी प्रकृति के लोग हुआ करते हैं उन्हें आचार्य ने मक्खीस्वभावी कहा। जिसप्रकार मक्खी गंदगी में ही रहती है उसीप्रकार लोभी जीव लोभकषाय की गंदगी में ही जीता-जीता मर जाता है। उसके जीवन में कभी धर्म करने का अवसर आ जाये, कभी दानादि करने का अवसर आ जाये तो उसके प्राण सूखते हैं, दुःखी हो जाता है, क्लेश को प्राप्त हो जाता है। ऐसे जीव के द्वारा कभी धर्म का उत्थान नहीं हो सकता हमेशा धर्म का पतन ही होगा। अगर लोभ करना ही है तो प्रश्नोत्तर श्लोकसंग्रह ग्रंथ में कहते हैं–

आदेयः क्वात्र लोभो हि तपोध्यानश्रुतादिषु।
मोक्षसौख्ये सुधर्मादौ न चान्यत्राक्षशर्मणि।।17।।

लोभ कहाँ ग्रहण है? तप, ध्यान, शास्त्र, मोक्ष संबंधी सुख और समीचीन धर्म आदि में लोभ करना आदेय है, अन्य इन्द्रियसुख में लोभ करना आदेय नहीं, हेय है।

आचार्य कहते हैं–''**जलूयसहावणर**'' अर्थात् जौंकस्वभावी नर भी धर्म के विनाशक होते हैं क्योंकि दुर्जनों की प्रीति सदैव दोषों में रहती है। भले वह श्रेष्ठ गुणवान व्यक्तियों के मध्य बैठा हो तो भी अपने स्वभाव के अनुसार गुणवान व्यक्तियों के गुणों को ग्रहण नहीं कर पाता। उनके अंदर भी कोई न कोई अवगुण या दोष खोजने का प्रयास करने लगता है। ये जौंक स्वभाववाले लोग होते हैं।

दोषमेव समादत्ते न गुणं सगुणे जनः।
जलूकास्तन संपृक्तं रक्तं पिबति नामृतम्।।256 सु.स.।।

अर्थात् दुर्जन मनुष्य गुणवान् मनुष्य में दोष ग्रहण करता है, गुण नहीं क्योंकि जोंक गाय के स्तन पर लगकर भी मात्र खून ही पीती है, दूध को ग्रहण नहीं करती।

गज स्वभाव वाले—आचार्य गुरुवर श्री विरागसागर जी महामुनिराज ने रत्नत्रयवर्धिनी टीका में लिखा है—जो व्यक्ति निन्दनीय काम-भोग आदि में आसक्त होकर, उसी में सुख का अनुभव करता है, यद्यपि वह सुख स्थायी नहीं होता। वह व्यक्ति पापाचरण में प्रवृत्ति के कारण धर्म विराधक ही है ऐसा जानना चाहिए। जिसप्रकार हाथी स्पर्शन इन्द्रिय से संबंधित विषय-सुख में आसक्ति रखने के कारण अपने विनाश का स्वयं कारण बनता है, इसीतरह विषयासक्त जीव भी अपना अनिष्ट ही करता है।

आचार्य उमास्वामी जी महाराज प्रशमरति प्रकरण ग्रन्थ में कहते हैं—

शयनासन - संवाहन - सुरत - स्नानानुलेपनासक्तः।
स्पर्शव्याकुलितमतिर्गजेन्द्र इव बध्यते मूढः।।45।।

अर्थात् कोमल बिछावन, अच्छे तकिये वाली शय्या, कोमल आसन, शरीर की मालिश, कामक्रीड़ा, स्नान, उबटन आदि में आसक्तिवाला व्यक्ति स्पर्शनेन्द्रिय के विषय सुख के लिये लालायित गजेन्द्र की तरह बन्धन को प्राप्त (दण्ड आदि का पात्र) होता है।

इसीप्रकार स्वभावतः अधिक समय तक जलाशय में स्नान करके पुनः मिट्टी या कीचड़ से स्वयं अपने शरीर को गन्दा कर लेता है उसीप्रकार अज्ञानियों की क्रिया को जो सविपाक निर्जरा का कारण होते हुए भी 'संवर' (कर्मागमन) से रहित होती है। उसे गजस्नान की तरह निष्फल ही जानना चाहिए।

आचार्य ब्रह्मदेव कृत बृहद्द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ की (गाथा 36) की संस्कृतवृत्ति में कहा है—

''या पुनरज्ञानिनां निर्जरा सा गजस्नानवत् निष्फला,
यतः स्तोकं कर्म निर्जरयति बहुतरं बध्नाति...''।

अर्थात् अज्ञानियों की जो निर्जरा है वह हाथी के स्नान की तरह निष्फल ही है, क्योंकि वह कर्म की निर्जरा तो थोड़ी ही करता है और कर्मबंध अधिक से अधिक करता है। इसतरह जो व्यक्ति (आंशिक) क्षीण किये गये कर्मों की तुलना में कर्मबंध अधिक करता है अर्थात् कर्मबंध की क्रियायें अधिक करता है तथा जो अपने सम्यक्त्व या चारित्र को बार-बार मलिन करता है वह अज्ञानी व्यक्ति भी जैनधर्म का विराधक ही है ऐसा मानना चाहिए।

व्याघ्र (बाघ) स्वभाव वाले–व्याघ्र हिंसा प्रेमी व मांसाहारी होता है वह निर्दय होकर निर्बल प्राणियों को मारता है, हमेशा क्रूर दृष्टिवाला एवं नाखूनों व दाढ़ों द्वारा प्राणियों को भय उत्पन्न करनेवाला होता है। इसतरह जो व्यक्ति निर्दय, करुणाहीन, हिंसाप्रेमी व रौद्ररूप वाला होता है वह अप्रशस्तध्यान और पापपूर्ण आचरण से अपना तो अनिष्ट करता ही है जैनधर्म की छवि को भी मलिन करता हुआ धर्म का नाशक ही होता है।

बंधुओ! हमें अपने स्वभाव का सतत् परीक्षण करते रहना चाहिये कि कहीं ये दोष हमारे स्वभाव में तो नहीं हैं, अगर हैं तो दूर करने का प्रयास करना चाहिये। धर्म के नाशक नहीं, धर्म के प्रकाशक बनकर पर्याय को सार्थक करना चाहिये। इसी शुभ भावना के साथ...

हाथी गधा बाघ बंदर, कच्छप जोंक श्वान सूकर।
मक्खी सम स्वभाववाले, होते हैं जो नारी-नर।।
जिनधर्म के ये, हो-हो-2, नाशक कहलाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2, संहिता दिखलाये रे।।

अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

❑❑❑

(पृष्ठ नं. 252 का शेष)

विद्वान या श्रावक यदि इस वर्तमान काल में अपने आगम विरुद्ध स्वतंत्र चिंतन को प्रसिद्ध करते हैं तो उनके द्वारा जिनशासन मलिन ही किया जाता है।

अत: सभी को चाहिए आगम परम्परा को ही मान्यता देकर अनादि मिथ्यात्व को गलित करें। आगम विरुद्ध स्वतंत्र चिंतन को महत्त्व देकर मिथ्यात्ववर्द्धन न करें।

यहाँ पुन: प्रश्न किया – वर्तमान में कोई आचार्य, मुनि, विद्वान आदि कहते हैं कि वस्त्रधारी आर्यिका की नवधाभक्ति न करके सात भक्ति करना चाहिए अर्थात् पाद प्रक्षालन एवं पूजा नहीं करना चाहिए, अन्यथा मिथ्यात्व का दोष आयेगा।

इसका समाधान इस प्रकार है – जिनागम की श्रद्धा करने वाला तो सम्यग्दृष्टि होता है। हाँ, जिसे जिनागम देखकर भी श्रद्धा न हो उसे मिथ्यात्व का दोष आता है अर्थात् वह मिथ्यादृष्टि होता है।

वर्तमान में जो कोई आचार्य, मुनि, विद्वान ऐसा कहते हैं कि आर्यिका माताजी वस्त्रधारी हैं अत: नवधाभक्ति न करके सात भक्ति करना चाहिए, पादप्रक्षालन एवं पूजा नहीं करना चाहिए, उन्हें सर्वप्रथम तो कार्तिकेयानुप्रेक्षा का आगम प्रमाण देखना चाहिए, फिर भी यदि अपना आगम विरुद्ध स्वतंत्र चिंतन ही प्रसिद्ध या मान्य करते हैं तो उन्हें उसी समय से जैन मुनि आदि के रूप में जैनाभासी जानना चाहिए। क्योंकि ये भव भीरू नहीं हैं, श्रुत का अवर्णवाद करते हुए स्वतंत्र निजमत के पोषक हैं, ये जिनमत के पोषक नहीं हैं।

इस पंचमकाल में पूर्व में भी ऐसे पुण्य प्राप्त किन्तु स्वतंत्र निजमत के पोषक जैनाचार्य मुनि, विद्वान हुये हैं जो स्वतंत्र निजमत के पोषक होने से जैनाभासी कहलाये। और उन्होंने मूलसंघ की परंपरा के विरुद्ध कथन लोक में प्रसिद्ध किया। अरे रे! वे श्रावक भी पुण्यहीन हैं जिन्होंने आगमविरुद्ध वचन स्वीकार कर अपना संसार दीर्घ कर लिया, किन्तु धन्य हैं वे श्रावकगण जिन्होंने जिनागम की श्रद्धा कर अपना संसार विच्छेद किया है और कर रहे हैं।

स्वतंत्र निजमत के पोषक विद्वान एवं तपस्वियों के विषय में कहा भी है–

पण्डितै-र्भ्रष्टचारित्रै-र्बठरैश्च तपोधनै:।
शासनं जिनचन्द्रस्य निर्मलं मलिनीकृतम्।।

अर्थात् चारित्रभ्रष्ट पण्डितों ने और बनावटी तपस्वियों ने जिनचन्द्र के निर्मल शासन को मलिन कर दिया।

अहो! विचार करो, जब जिनेन्द्र देव ने जिनशासन में तीन लिंग मान्य किये हैं, और यह तीनों लिंग सम्यग्दर्शन पूर्वक व्रतों को स्वीकार करने वाले हैं, गुणों को प्रगट करने वाले हैं यथायोग्य दीक्षा से प्रगट होते हैं, तो उनके स्वरूप में एवं पूज्यता में भेद करना अज्ञानता है।

फिर बोलो – वस्त्र की अपेक्षा यदि पूज्यता या अपूज्यता है, तो क्या वस्त्ररहित पूज्य होता है? नहीं, वस्त्ररहित पूज्य नहीं होता अपितु जो सकल संयम, रत्नत्रय गुण से सुशोभित वस्त्ररहित मुनिलिंग है वह गुणों की अपेक्षा पूज्य है। इसी तरह आर्यिका उपचार महाव्रत से अर्थात् सम्यग्दर्शन पूर्वक व्यवहार व्रतों से वस्त्रसहित लिंग की धारी है वह भी अपने गुणों से पूज्य है।

यहाँ वस्त्ररहित एवं वस्त्रसहित लिंग तो मुनि, आर्यिका की पहिचान है, वास्तव में इन लिंगों में प्रगट गुण पूज्य होने से सहचारी लिंग भी पूज्यता को प्राप्त है। इसमें कोई दोष नहीं है।

अहो! जिस तरह वस्त्र वेष्टित शास्त्र, जिनागम मुनिजन के द्वारा भी पूज्य हैं, यहाँ प्रयोजन में जिनवाणी है नाना प्रकार के वेष्टन नहीं, उसी प्रकार आर्यिका माताजी भी उनसे निम्न पद धारियों के द्वारा पूज्य हैं, यहाँ पूज्यता आर्यिका पद में स्थित गुणों की है वस्त्र की नहीं।

अहो! बड़ी चिंता की बात है कहीं आर्यिका माताजी के विषय में स्वतंत्र चिंतन की प्रसिद्धि के निमित्त से जैनाभासी जीव यह न कहने लग जायें कि वस्त्राच्छादित जिनागम पूज्य नहीं है। अत: सत्पात्रों के विषय में हम आचार्य श्री पूज्यपाद स्वामी की सर्वार्थसिद्धि में कथित सूक्ति सतत् स्मरण रखें–

(शेष पृष्ठ नं. 328 पर)

(सम्यग्दर्शन की उत्कृष्टता)

सम्म विणा सण्णाणं, सच्चारित्तं ण होदि णियमेण।
तो रयणत्तय-मज्झे, सम्मगुणुक्किट्ठमिदि जिणुद्दिट्ठं।।46।।

* अन्वयार्थ *

(**सम्म विणा**) सम्यग्दर्शन के बिना (**सण्णाणं**) सम्यग्ज्ञान (**सच्चारित्तं**) और सम्यक्चारित्र (**णियमेण**) नियम से (**ण**) नहीं (**होदि**) होते हैं; (**तो**) इसलिए (**रयणत्तय-मज्झे**) रत्नत्रय में (**सम्मगुणुक्किट्ठं**) सम्यग्दर्शन गुण उत्कृष्ट है (**इदि**) यह (**जिणुद्दिट्ठं**) जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

अर्थ–सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र नियम से नहीं होते हैं; इसलिए रत्नत्रय में सम्यग्दर्शन गुण उत्कृष्ट है यह जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

गाथा - 46

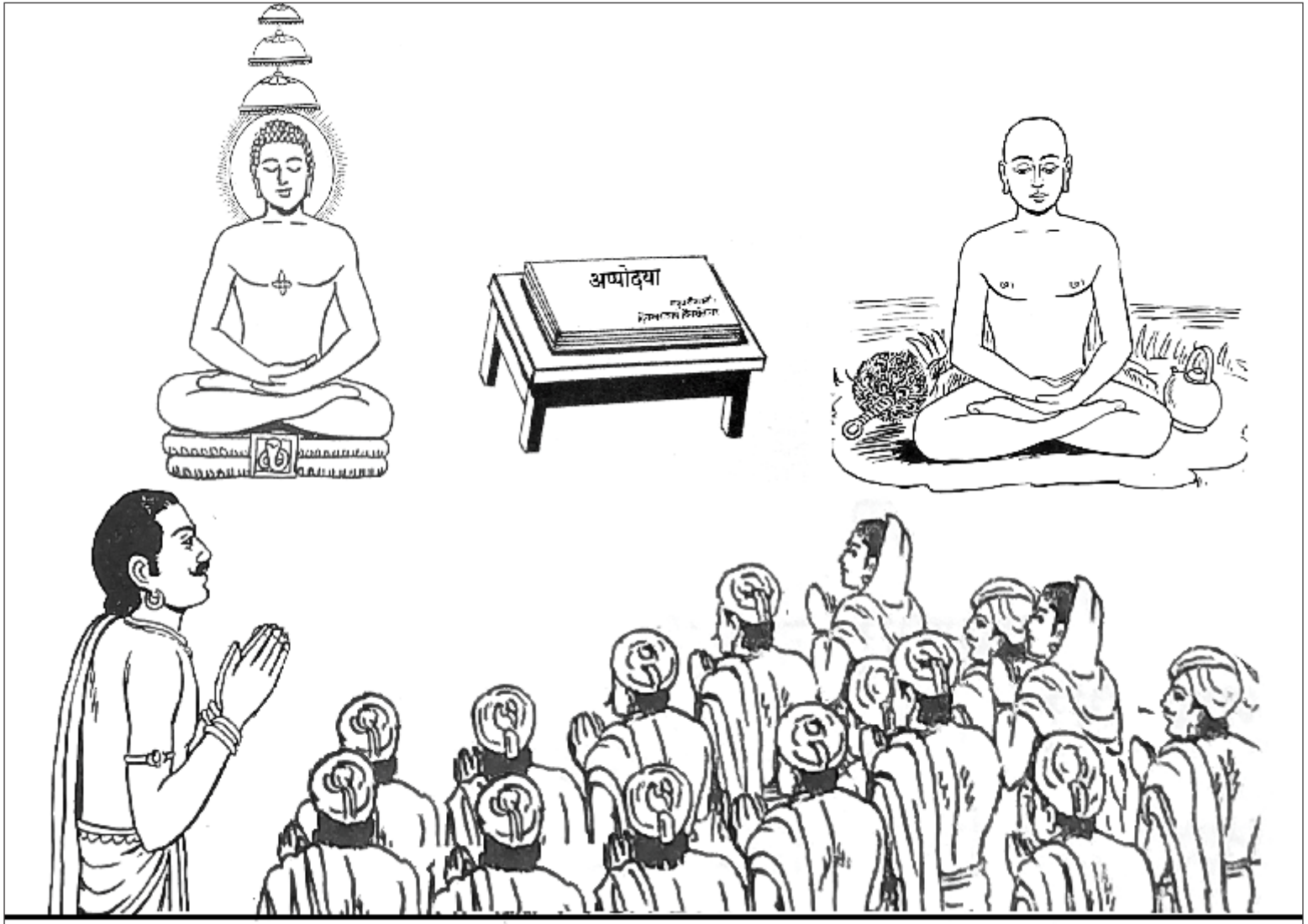
(प्रवचन)

●

अहो! महिमा सम्यक्त्व की

3.10.2013

भिण्ड (म.प्र.)



सच्चे देव-शास्त्र गुरु और भक्ति करते सच्चे धर्मात्मा श्रावक।

57

रयणोदय

सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं, हो फिर सम्यग्ज्ञान नहीं।
समकित सम्यग्ज्ञान नहीं, फिर सम्यक्चारित्र नहीं।।
समकित रत्नत्रय, हो-हो-2, में श्रेष्ठ कहाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु श्रावक की, हो-हो-2 संहिता दिखलाये रे।।

'**जयदु जिणागमपंथो**' अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

तीर्थंकर भगवंत की दिव्यध्वनि जिनश्रुत है, जिनागम है। जिनागम में वर्णित आत्म-कल्याणकारी मार्ग, आत्महितकारी पंथ '**जिनागम पंथ**' है। परस्पर रागद्वेष को बढ़ानेवाले आगमबाह्य पंथ उन्मार्ग हैं। वीतरागता को देनेवाला, '**परस्परोपग्रहो जीवानाम्**' का प्रतीक '**जिनागम पंथ**' सन्मार्ग है।

आचार्य भगवन् कुंदकुंदस्वामी अपनी शिष्यसभा के मध्य विराजमान थे। एक मुनिराज ने पूछा—भो आचार्य देव! इस लोक में सर्वश्रेष्ठ वस्तु क्या है जो हम सभी भव्यजीवों के योग्य हो? आचार्य भगवन् कुंदकुंददेव ने कहा—भो शिष्य! इस लोक में सर्वश्रेष्ठ वस्तु सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन के होने पर यह जीव सहज ही उस उत्कृष्ट तत्त्व को प्राप्त कर लेता है, जो

अरिहंत, सिद्ध परमात्माओं के प्रगट हुआ है। जब तक जीव को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होती है तब तक वह उस परमात्मतत्त्व को प्राप्त नहीं कर पाता है जिसकी चाह करता है, जिस परमात्मतत्त्व की इच्छा करता है, जिसकी सतत् भावना करता है कि मैं भी परमात्मा बनूँ। परमात्मा वही बनेगा जो परमात्मतत्त्व को प्राप्त करेगा। जब तक परमात्मतत्त्व अर्थात् परमात्म स्वभाव प्रगट नहीं होता, तब तक जीव परमात्मा नहीं बनता। परमात्मस्वभाव की प्राप्ति में प्रधान कारण है सम्यग्दर्शन। इसीलिये आचार्य कुंदकुंददेव ने अपने शिष्यों के मध्य यह स्पष्ट घोषणा की, इस लोक में सर्वोत्कृष्ट वस्तु यदि कोई है तो वह सम्यग्दर्शन है।

सम्यक्त्व कौमुदी में कहा है–

सम्यक्त्वरत्नान्नपरं हि रत्नं, सम्यक्त्व मित्रान्न परं हि मित्रम्।
सम्यक्त्व बन्धोर्न परो हि बन्धुः, सम्यक्त्व लाभान्न परो हि लाभः।।17।।

सम्यक्त्वरूपी रत्न से बढ़कर दूसरा रत्न नहीं है, सम्यक्त्वरूपी मित्र से बढ़कर दूसरा मित्र नहीं है, सम्यक्त्वरूपी बन्धु से बढ़कर दूसरा बंधु नहीं है और सम्यक्त्व के लाभ से बढ़कर दूसरा लाभ नहीं है। (सर्वो. श्लो. पृष्ठ-54)

अहो! जिसने सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं किया उन्हें सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिए। जिन्हें सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ है उन्हें सम्यग्दर्शन की रक्षा करना चाहिए और जिन्हें सम्यग्दर्शन की रक्षा का भाव आया है, उन्हें सम्यक्चारित्र को प्रगटकर रत्नत्रय मार्ग की अनुभूति करते हुए अरिहंत दशा को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना चाहिए। यह सम्यग्दर्शन क्या वस्तु है? किसे कहते हैं सम्यग्दर्शन? आचार्य भगवन् बताते हैं–सम्यग्दर्शन का अर्थ होता है सही श्रद्धा। सही श्रद्धा किसकी? जो लोक में परमार्थभूत है, यथार्थ है, सही है। वस्तुस्वभाव की श्रद्धा होना ही सम्यग्दर्शन है। सच्चे देव, शास्त्र, गुरु की सच्ची श्रद्धा सम्यग्दर्शन है। आचार्य कहते हैं–देव, शास्त्र, गुरु इतना ही नहीं, जो सच्चे हैं, यथार्थ हैं, जो परमार्थभूत हैं ऐसे सच्चे देव का श्रद्धान्, सच्चे शास्त्र का श्रद्धान् और सच्चे गुरु का श्रद्धान करना। लोक में पुस्तकें तो बहुत मिल जायेंगी, परंतु हर पुस्तक का नाम सच्चा शास्त्र नहीं है।

आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहते हैं–

आप्तोपज्ञ - मनुल्लंघ्य - मदृष्टेष्टविरोधकम्।
तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम्।।9।।

जो वीतरागी देव द्वारा कहा गया है, खण्डनरहित अर्थात् अनुलंघनीय है, प्रत्यक्ष और अनुमान आदि प्रमाणों के विरोध से रहित है, वस्तुस्वरूप का प्रतिपादक है, सब जीवों का हितकारक है और मिथ्यात्व को नष्ट करनेवाला है, वह सच्चा शास्त्र है।

जिसमें सच्चे देव की वाणी है वही सच्चा शास्त्र है। किसकी वाणी? सच्चे देव की वाणी। उस वाणी का नाम ही जिनागम है, उस वाणी का नाम ही जिनवाणी है, उस वाणी का नाम ही सरस्वती है। विचार करना, हमें तो कोई भी पुस्तक मिल जाये हम तुरंत पढ़ लेते हैं, कहते हैं—हमने स्वाध्याय कर लिया। आपने वाचन किया है, स्वाध्याय नहीं किया, स्वाध्याय तो महान तप है।

आचार्य भगवन् धर्मसंग्रह श्रावकाचार में स्वाध्याय की परिभाषा इसप्रकार बताते हैं—

स्वाध्यायोऽध्ययनं स्वस्मै जैनसूत्रस्य युक्तितः।
अज्ञान प्रतिकूलत्वात्तपः स्वेष परं तपः।। 9-212।।

अपने लिये जिनागम का युक्तिपूर्वक अध्ययन करना स्वाध्याय कहलाता है। अज्ञान का विरोधी होने के कारण यह स्वाध्याय तपों में श्रेष्ठ तप कहा गया है।

एकमात्र जिनेन्द्रदेव की वाणी का ही स्वाध्याय कहा गया है। जो जिनेन्द्र वाणी आचार्य, उपाध्याय, साधुजनों के मुख से मुखरित होती है, वही सच्ची वाणी कहलाती है। जिनेन्द्र देव की जो वाणी है उसे वैसा ही कहना जिनवाणी है। उसे न अन्य प्रकार से कहना, न अन्य मानकर कहना, न अन्य जानकर कहना, जैसी है वैसी ही कहना। सच्चे देव की वाणी जगत में एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक सभी जीवों के लिये हितकारी है।

जिनेन्द्रवाणी मात्र संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव ही सुन सकते हैं फिर एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय या असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के लिए वह हितकारी कैसे हो सकती है? जो वाणी श्रवण नहीं कर सकते, उन जीवों के लिये वह हितकारी कैसे हो सकती है?

ध्यान रखना, एकेन्द्रिय जीव ने भले ही जिनवाणी नहीं सुनी। परंतु संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव ने प्रभु का उपदेश सुना है, जिसमें कथन आया है—भो जीव! यदि तू अपना आत्महित करना चाहता है तो एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यंत सभी जीवों पर दया कर, उन पर करुणा कर, उनकी रक्षा कर, उनकी हिंसा मत कर, इसप्रकार जिनेन्द्रदेव ने उपदेश दिया है। अब विचार करो, भगवान् की वाणी में एकेन्द्रिय आदि जीवों का हित आया कि नहीं आया? अवश्य आया।

ध्यान रखना, जिन जीवों ने जिनेन्द्रदेव की वाणी श्रवण नहीं की है क्या उन जीवों के परिणाम एकेन्द्रिय आदि जीवों की रक्षा के हो पाते हैं? नहीं हो पाते। वे हिंसा करते हुए भी प्रसन्न होते हैं। लोक में ऐसे भी जीव हैं जो एकेन्द्रिय आदि जीवों के प्रति रक्षा का भाव तो नहीं लाते अपितु उन्हें अपने भरण-पोषण का साधन समझते हैं। जिनेन्द्रदेव ने उपदेश दिया कि अगर कोई जीव दु:खी हो तो उस जीव की रक्षा करना, उसपर करुणा करना। कभी किसी जीव को सताना मत। कभी किसी जीव के प्राण हरण मत करना। कभी किसी जीव की हिंसा मत करना, क्योंकि वह जीव भी भगवान् आत्मा है। भले ही उस जीव को अभी अपने सुख-दु:ख को व्यक्त करने की सामर्थ्य न मिली हो परंतु वह जीव भी परमात्मशक्ति से भरपूर है। आपको भूख लगी, आपने बोल दिया मुझे भूख लग रही है, जल्दी से भोजन लाओ। लेकिन घर में जो अभी-अभी जन्मा है, उसे भी भूख लग रही है पर वो बोल नहीं पा रहा है कि मुझे भूख लग रही है, मेरे लिए दूध लाओ। वो बोल नहीं पा रहा है तो क्या उस जीव की रक्षा नहीं करना चाहिए? क्या उस जीव को भोजनपान नहीं देना चाहिए? देना चाहिए।

ध्यान रखो, जैसे हम उस शिशु की रक्षा करते हैं जो अभी आपकी तरह अपने सुख-दु:ख को व्यक्त नहीं कर पा रहा, असमर्थ है, ऐसे ही एकेंद्रिय आदि जीव भी असमर्थ हैं। जिनेन्द्रदेव कहते हैं—इन सब जीवों की रक्षा करो। प्रभु के इस उपदेश में उन जीवों का भी हित है, क्योंकि कोई भी जीव अपने प्राणों का नाश नहीं चाहता है।

आचार्य भगवन् पद्मनंदीस्वामी पद्मनंदी पंचविंशतिका में लिखते हैं—

इष्टो यथात्मनो देह:, सर्वेषां प्राणिनां तथा।
एवं ज्ञात्वा सदा कार्या दयासुधारिणामपि।।14-7।।

जिसप्रकार अपना शरीर अपने लिये इष्ट है उसीप्रकार सभी प्राणियों के लिये अपना शरीर

इष्ट है, ऐसा जानकर सब प्राणियों पर दया करनी चाहिये।

संसार में सभी जीव व्यवहार प्राणों से जीते हैं। एकेन्द्रिय जीवों के चार प्राण, दो इंद्रिय जीवों के छह प्राण, तीन इन्द्रिय जीवों के सात प्राण, चार इन्द्रिय जीवों के आठ प्राण, असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के नौ प्राण और संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के दस प्राण होते हैं

आचार्य श्री नेमिचंद्रस्वामी ने द्रव्यसंग्रह में कहा है–

तिक्काले चदुपाणा, इंदियबलमाउआणपाणो य।
ववहारा सो जीवो, णिच्छयणयदो दु चेदणा जस्स।।3।।

अर्थात् जिसके व्यवहार नय से तीनों कालों में इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये चार प्राण होते हैं और निश्चयनय से जिसमें चेतना प्राण हो वह जीव है।

जिस जीव को जितने प्राण प्राप्त हुये हैं वह उतने प्राणों का अनुभव करना चाहता है, जीना चाहता है। आपको पाँच इन्द्रियाँ मिली हैं, इन्द्रियाँ प्राण कहलाती हैं। अगर कोई आपकी आँख फोड़ने लग जाये तो क्या आपको अच्छा लगेगा? नहीं। आप अपने प्राण की रक्षा करना चाहेंगे और उस व्यक्ति से कहेंगे कि कभी किसी जीव के लिए इसतरह से दु:ख नहीं देना चाहिये, यह हिंसा है। अगर आज तू हिंसा के परिणाम करेगा तो तेरे साथ भी ऐसा ही होगा।

आचार्य भगवन् सर्वोपयोगी श्लोक संग्रह में कहते हैं–

तथात्र यो वली घातं, दुर्बलस्य करोत्यधीः।
स परत्राप्य वाप्नोति, तस्माद् घातमनेकशः।।

जो बलवान् मनुष्य इस जगत में दुर्बल का घात करता है वह बुद्धिहीन मनुष्य परभव में उससे अनेक बार घात को प्राप्त होता है।

ध्यान रखना, अज्ञानता में अशुभभाव करते हुए जीव जिन अशुभ कर्मों का बंध करते हैं, उन कर्मों का फल उन्हें इसभव में अगले भव में अथवा भव-भव में भी प्राप्त हो सकता है। इसलिए जिनेन्द्रदेव ने भव्यजीवों के लिये समोशरण सभा में उपदेश दिया कि प्राणीमात्र की रक्षा करो। प्राणीमात्र की रक्षा दो प्रकार से होती है। एक तो उनके प्राणों की रक्षा करना प्राणी रक्षा है दूसरा उन जीवों के लिए आत्महित का मार्ग बताकर, उन्हें आत्महित में लगा देना प्राणियों की

रक्षा है। जिनेन्द्रदेव ने दोनों प्रकार से प्राणीरक्षा का उपदेश दिया है।

अध्यात्म शास्त्रों में आत्मस्वभाव का कथन करते हुए आचार्य भगवन् कुंदकुंद जैसे महान् संत सम्बोधित करते हैं–भो आत्मन्! अपने आत्मस्वभाव को पहिचानो, आत्मगुणों को पहिचानो, आत्मगुणों की सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र जैसी निर्मल पर्यायों को पहिचानो। द्रव्य की उत्कृष्टता और निकृष्टता उसकी पर्याय से होती है। हम सभी ने यह खूब सुना होगा कि मनुष्य पर्याय श्रेष्ठ पर्याय है और स्त्री पर्याय हीन है। आत्मद्रव्य स्त्री पर्याय में भी है, आत्म द्रव्य मनुष्य पर्याय में भी है, परंतु जैसी पर्याय होती है द्रव्य को भी वैसा ही सम्बोधन प्राप्त होता है। मनुष्य पर्याय इसलिए श्रेष्ठ है क्योंकि इसमें जीव यदि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चाारित्र को प्रगट करले, रत्नत्रय को प्रगटकर व्यवहार रत्नत्रय-निश्चय रत्नत्रय, भेद रत्नत्रय-अभेद रत्नत्रय को प्राप्त कर ले और आत्मस्वरूप का अनुभव करता हुआ मोक्षमार्ग पर आगे बढ़ जाये तो अरिहंत केवली हो जाता है। यह इस पुरुष पर्याय की योग्यता है।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में आचार्य श्री कार्तिकेयस्वामी कहते हैं–

रयणु व्व जलहिपडियं मणुयत्तं तं पि होइ अइदुलहं।
एवं सुणिच्च इत्ता मिच्छकसाए य वज्जेह।। 297।।

समुद्र में पड़े हुये रत्न की तरह मनुष्यत्व का मिलना बड़ा दुर्लभ है, ऐसा निश्चय करके मिथ्यात्व और कषायों को छोड़ो।

मनुष्य पर्याय को श्रेष्ठ पर्याय कहा जाता है। चूँकि स्त्री पर्याय में पूर्ण निर्ग्रंथता प्रगट नहीं हो पाती इसलिए स्त्री पर्याय को प्राप्त जीव कहता है–मेरी पर्याय हीन है, तुच्छ है। स्त्रियाँ भावना करतीं हैं–''काश मुझे भी यह नर पर्याय प्राप्त होती तो मैं भी ऐसा महान पुरुषार्थ करके इस संसार से मुक्त हो जाती।'' द्रव्य की उत्कृष्टता या निकृष्टता पर्याय से होती है। संसारी पर्याय कर्मप्रदत्त है। कर्मप्रदत्त पर्याय में भी जीव उत्कृष्टता-निकृष्टता का विचार करता है, चिंतन करता है क्योंकि ये कर्मप्रदत्त पर्याय भी जीव के हित और अहित में कारण होती है।

अब बात करते हैं, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप गुण पर्याय की। इन गुण पर्यायों के निमित्त से भी जीव में उत्कृष्टता और निकृष्टता का व्यवहार होता है। जिन

जीवों के आज तक सम्यग्दर्शन पर्याय प्रगट नहीं हुई है वे जीव निकृष्ट कहलाते हैं। भले ही वे जीव कर्मप्रदत्त पर्याय की अपेक्षा से कितने भी उत्कृष्ट क्यों न हों। अहो! कर्मप्रदत्त पर्याय कैसी है? कर्म ने जीव को सामान्य मनुष्य नहीं, महापुरूष बना दिया। परंतु उस जीव के सम्यग्दर्शन पर्याय प्रगट नहीं हुई तो उसकी वह सम्राट आदि रूप जो भी पर्याय प्रगट हुई है वह निकृष्ट है।

ध्यान रखना, जिस जीव को सच्चे देव, शास्त्र, गुरु की श्रद्धा होती है ऐसा श्रद्धावान् जीव इसलोक के किसी भी पद की चाह नहीं करता। सम्यग्दृष्टि कहता है—मुझे कोई भी पद नहीं चाहिये। पद विपद है। विपद यानि विपदा है इसलिए पद नहीं चाहिए। फिर क्या चाहिए? वह कहता है—सम्यग्दर्शनादि चाहिये। बंधुओ! सम्यग्दर्शन की इतनी महानता है कि जो जीव लौकिक पदों को नहीं चाहता, उसे सम्यग्दर्शन नाना प्रकार के महान पदों में स्थापित कर देता है।

आचार्य श्री समंतभद्रस्वामी रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहते हैं—

देवेन्द्र - चक्रमहिमानममेय - मानम्,
राजेन्द्र - चक्रमवनीन्द्र - शिरोर्चनीयम्।
धर्मेन्द्र - चक्रमधरी कृत सर्वलोकम्,
लब्ध्वा शिवं च जिनभक्तिरुपैति भव्यः।।41।।

जिनेन्द्र भगवान् में भक्ति रखनेवाला भव्य सम्यग्दृष्टि जीव अपरिमित इन्द्र के ऐश्वर्य को, राजाओं के द्वारा मस्तक से पूज्यनीय चक्रवर्ती के चक्ररत्न को, समस्त लोक को अपना उपासक बनानेवाले धर्मचक्र (तीर्थंकर पद) को प्राप्तकर मोक्ष को भी प्राप्त करता है।

ध्यान रखना! सम्यग्दृष्टि जीव दीन-हीन, दरिद्र कुलों में पैदा नहीं होते, ऐसी जिनेन्द्रवाणी है। इसका तात्पर्य है सम्यग्दृष्टि जीव लोकपूजित, सर्वश्रेष्ठ, धनवैभव सम्पन्न ऐसे महान कुलों में जन्म लेता है।

कोई पूछे—आप कहाँ पैदा होना चाहेंगे? निश्चित रूप से आप कहेंगे—हम भी उच्च कुल में, लोकपूजित कुल में जन्म लेना चाहेंगे। अगली पर्याय की बात तो दूर है आप जब अपने बच्चों का विवाह भी करते हैं तो ऐसा नहीं सोचते कि चलो ऐरे-गैरे नत्थू खैरे किसी को भी

दे देंगे। आप अनेक बातों का विचार करते है–''धन सम्पन्न है या नहीं, लोक में सम्मान है या नहीं, समाज में इनका सम्मान आदि है या नहीं, कोई अपराध आदि कार्य तो नहीं किये हैं, सदाचारी है या नहीं'' इत्यादि गुण देखे जाते हैं जो लोकपूजित कहलाते हैं। जब आप विवाह आदि में भी इन सब चीजों का निर्णय करते हैं, विचार करते हैं, चिंतन करते हैं कि हम ऐसे कुल में अपनी बेटी देंगे, जिस कुल में धन-सम्पन्नता आदि हो ताकि जीवन ठीक तरह से जिया जा सके। यह सोच कोई गलत नहीं है, कोई अन्यथा नहीं है, यह विचार करने योग्य है। यह तो इसी भव की बात हुई।

अब परभव में कहाँ जाना चाहोगे? दीन-हीन कुलों में या उच्च-श्रेष्ठ कुलों में। लोकमान्य कुलों में या लोकनिंदित कुलों में। भावना करते हो कि हम भी लोकमान्य, लोकपूजित, श्रेष्ठ, सम्पन्न कुलों में पैदा हों। अगर आप ऐसा सोचते हैं तो अपनी श्रद्धा ठीक बनाये रखिये, ऐसा ही होगा। सच्चे देव, शास्त्र, गुरु का श्रद्धान् बनाये रखिये। सात तत्त्वों का सम्यक् श्रद्धान् बनाये रखिये। सात तत्त्वों में हेय, उपादेय, ज्ञेय तत्त्व का निर्णय बनाये रखिये। हेय-उपादेय-ज्ञेय तत्त्व में उपादेय का आश्रय बनाये रखिये। आप अवश्य ही लोकपूजित, लोकमान्य कुलों में उत्पन्न होंगे। वास्तव में सम्यग्दृष्टि जीव धन-वैभव की चाह नहीं करता, उसे सम्यक् श्रद्धान् से लोक के वैभव स्वयमेव प्राप्त होते हैं।

कभी-कभी दूसरों को देखकर उसके भीतर भी कुछ-कुछ होता है, चाहे वो कितना भी विचार कर ले परन्तु परिस्थितियाँ ऐसी होती हैं। जीवन जीने का तरीका ही ऐसा है कि दूसरे के पास वैभव आदि देखकर पूर्व संस्कार से मन में भाव आ ही जाता है कि हमारे पास भी ऐसा होना चाहिए। जीव उसके लिये पुरुषार्थ भी करता है। धर्मात्मा जीव धर्म के साधन चाहता है, भोगी जीव भोग के साधन चाहता है। अहो कैसी अज्ञानता है?

आचार्य भगवन् सर्वोपयोगी श्लोक संग्रह में कहते हैं–

असुरसुरवराणां यो न भोगेषु तृप्तः,
कथमपि मनुजानां तेषु भोगेषु तृप्तः।
जलनिधिजलपाने यो न जातो वितृष्णः,
तृण शिखर गताम्भः पानतः किं स तृप्येत।।582।।

जो असुर और सुरेन्द्रों के भोगों से तृप्त नहीं हुआ, वह मनुष्यों के भोगों से किसप्रकार तृप्त हो सकता है? समुद्र का जल पीने से जो संतुष्ट नहीं हो सका, वह तृण के अग्रभाग पर स्थित पानी के पीने से क्या तृप्त हो सकता है? नहीं हो सकता।

हमें स्वयं के विषय में जानना चाहिये कि हम कौन हैं? अगर हम धर्मात्मा हैं तो हमें धर्म के साधन प्रिय होंगे और भोगात्मा हैं तो भोग के साधन चाहेंगे। किसी जैन भाई से पूछो– तुम मकान कहाँ चाहोगे? वो कहेगा–मैं जिनमंदिर के पास चाहूँगा। कल जिन श्रेष्ठी श्रावक के घर आहार हुआ था। उनका मकान डेढ़ किलोमीटर दूर है, लेकिन एक मकान जिनमंदिर के पास क्रय कर लिया है इसलिये कि जब भी कोई निर्ग्रंथ वीतरागी संत आयेंगे उनको हम यहाँ आहार करा सकेंगे।

धर्मात्मा जीव भी साधन संग्रह करता है और भोगात्मा जीव भी। भोगी जीव सोचता है– मैं एक और मकान ले लूँगा तो वहाँ पर अपने भोगोपभोग के साधन इकट्ठे करके रखूँगा। स्वयं चिंतन करना कि मैं कौन जीव हूँ? धर्म के निमित्त चाहता हूँ या भोग के निमित्त चाहता हूँ? आपके पास गाड़ी है जब आपको मंदिर लाती है तो धर्म का निमित्त बन जाती है, और जब आपको संसार के कार्यों को सम्पन्न कराने ले जाती है तो भोग का साधन बन जाती है। साधन तो वही है पर उपयोग अलग है। आपका श्रद्धान् सम्यक् होगा तो आप उस साधन का उपयोग आत्महित में करेंगे और करना भी चाहिये।

आचार्य कुंदकुंददेव ने कहा–लोक में सर्वोत्कृष्ट सम्यग्दर्शन है। कोई कहता है–धर्म श्रेष्ठ है। कोई कहता है–अरिहंत भगवान् लोक में श्रेष्ठ हैं, सिद्ध भगवान् लोक में श्रेष्ठ हैं, आचार्य परमेष्ठी लोक में श्रेष्ठ हैं, उपाध्याय-साधु परमेष्ठी लोक में श्रेष्ठ हैं। आप लोगों ने पढ़ा है–"**चत्तारि लोगोत्तमा**" अर्थात् लोक में चार उत्तम हैं। इन चार उत्तमों की महिमा सम्यग्दृष्टि को ही आती है इसलिए सम्यग्दर्शन लोक में उत्तम है।

आचार्य भगवन् कुंदकुंददेव ने दर्शनपाहुड में कहा है–

सम्मत्तादो णाणं णाणादो सव्वभाव उवलद्धी।
उवलद्धपयत्थे पुण सेयासेयं वियाणेदि।।15।।

सम्यक्त्व से ज्ञान और ज्ञान से सारे पदार्थों की उपलब्धि होती है। जिसे पदार्थों की उपलब्धि (अनुभूति) हो गई है, वही श्रेय और अश्रेय को जानता है।

जो जीव सम्यक्त्वविहीन है उसे लोक में कितने भी उत्तम से उत्तम पदार्थ मिल जायें, साक्षात् अरिहंत देव भी क्यों न मिल जायें तो भी वह उनकी मान्यता नहीं करेगा। आचार्य, उपाध्याय, साधु, धर्म कुछ भी प्राप्त हो जायें तो भी वह जीव इन लोकोत्तम पदार्थों की मान्यता नहीं करेगा। क्यों? क्योंकि उसके पास सम्यग्दर्शन जैसी उत्तम दृष्टि नहीं है। उत्तम वस्तु की कद्र उत्तम जीव ही कर पाता है। जिसके पास सम्यग्दर्शन है वही आत्मद्रव्य और परमात्म द्रव्य की कद्र करता है। परमात्मा की महिमा श्रद्धालु जीव को आती है। जब तुम्हारा कहीं कोई काम नहीं बनता, सारे काम बिगड़ते ही जाते हैं, तब जाते हो प्रभु संभवनाथ के पास, कहते हो—हे प्रभु! मेरा कार्य आपके श्री चरणों की कृपा से ही संभव है। मैंने सभी जगह जाकर देख लिया, कहीं भी मेरा कार्य नहीं हुआ। हे सम्भव प्रभु! अब आपके दरबार में आया हूँ, मुझे पूरा विश्वास है जो कार्य दुनिया में कहीं संभव न हो वो आपके दरबार में संभव होता है। दृढ़ श्रद्धा सम्यग्दृष्टि को ही आती है। सम्यग्दृष्टि जीव को ही आत्मा में परमात्मा की महिमा, पंचपरमेष्ठी की महिमा आती है। मिथ्यादृष्टि जीव भी धर्मात्मा जीव की संगति में आकर पंचपरमेष्ठी की महिमा या निजात्मद्रव्य की महिमा जानने लगता है, पहिचानने लगता है, समझने लगता है, इसलिए हमेशा धर्मात्मा पुरुषों की संगति करना चाहिये।

आचार्य भगवन् शिवार्य महाराज भगवती आराधना में कहते हैं—

जहदि य णिययं दोसं पि दुज्जणो सुयणवइयर गुणेण।
जह मेरुमल्लियंतो काओ णिययच्छविं जहदि।। 352 ।।

दुर्जन भी सज्जन की संगतिरूप गुण से अपने दोष छोड़ देता है। जैसे मेरु का आश्रय करता हुआ कौवा अपनी छवि (कालारंग) छोड़ देता है अर्थात् कौवा भी स्वर्णमय मेरु के समीप आकर स्वर्णिम सा दिखने लगता है।

सम्यग्दृष्टि जीव को सच्चे देव, शास्त्र, गुरु, पंचपरमेष्ठी, सात तत्त्व, निज आत्मद्रव्य की महिमा आती ही है, परन्तु मिथ्यादृष्टि जीव भी उसके सानिध्य को प्राप्त होकर इनकी महिमा को प्राप्त हो जाता है। वह भी विचार करने लगता है—अरे! मैं कहाँ भटक रहा था? आनन्द तो यहीं है।

लोक में सर्वश्रेष्ठ वस्तु सम्यग्दर्शन है। ज्ञान-चारित्र भी तभी सम्यक् होते हैं जब सम्यग्दर्शन हो। जब तक सम्यग्दर्शन नहीं है तब तक ये भी संसार के कारण हैं। कोई जीव चारित्र का पालन कर रहा है परंतु सम्यग्दर्शन नहीं है तो वह चारित्र संसार का कारण है। किसका कारण है? चार गतियों का। किसका कारण है? चौरासी लाख योनियों का। सम्यग्दर्शन के अभाव में शुभ क्रियाओं का पालन करता हुआ भी जीव मुक्ति नहीं पाता।

बंधुओ, पर्याय के परिणमन हम रोज देखते हैं। ये कर्मप्रदत्त पर्यायें कभी किसी की नहीं होतीं। कर्मप्रदत्त पर्याय में जो परिवर्तन होता है उसे हम पूरे जीवनभर देखते रहते हैं। हम बालक से युवा, युवा से प्रोढ़, प्रोढ़ से वृद्ध हो जाते हैं। ये सब कर्मप्रदत्त पर्यायें हैं। कर्मप्रदत्त पर्याय का कभी विश्वास नहीं करना चाहिये, ये अवश्य छूटती हैं। मुझ जीवद्रव्य की जो कर्मसंयोगी पर्याय है वह ही दुःख का कारण है।

आचार्य कुंदकुंददेव नियमसार जी में कहते हैं–

णरणारयतिरियसुरा पज्जाया ते विभावमिदि भणिदा।
कम्मोपाधिविवज्जिय पज्जाया ते सहावमिदि भणिदा।।15।।

मनुष्य, नारकी, तिर्यंच और देव ये जीव की चार पर्यायें विभावपर्याय अर्थात् कर्माधीन पर्यायें हैं तथा कर्मोपाधि विवर्जित जो सिद्ध (मुक्तात्मा) पर्याय है वह आत्मा की स्वभाव पर्याय है।

परमसुख का कारण ये कर्मसंयोगी पर्याय या कर्मप्रदत्त पर्याय नहीं हैं। निज आत्मा के आश्रित जो पर्याय प्रगट होती है वही परमसुख का कारण है। पर्याय फिर तुझे धोखा नहीं देगी, वो पर्याय तुझे अनंतसुख की ओर ले जायेगी।

सर्वप्रथम आत्मा में सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिये। इसके बिना न ज्ञान साथ देता है, न चारित्र साथ देता है। अगर सम्यग्दर्शन का साथ है तो ज्ञान भी साथ देता है और चारित्र भी साथ देता है। सम्यग्दृष्टि जीव का बिगाड़ नहीं होता, उस जीव को उत्कृष्ट फलों की प्राप्ति होती है। चाहे सांसारिक उत्कृष्ट फल हों या मोक्षफल हो।

आचार्य भगवन् कुंदकुंददेव रयणसार की छियालिसवीं गाथा में कहते हैं–सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र नियम से नहीं होते हैं, इसलिए रत्नत्रय के मध्य में सम्यग्दर्शन गुण से उत्कृष्ट और कोई दूसरा गुण नहीं है ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

रत्नत्रय में प्रधान गुण कौन है? सम्यग्दर्शन यानि सच्ची श्रद्धा। किनकी? जो सच्चे देवादि हैं उनकी। ध्यान रखना, श्रद्धा हर किसी की नहीं। श्रद्धा तो तुमने न जाने कहाँ-कहाँ की है। पर वो श्रद्धा समझो फूलनदेवी है। फूलनदेवी का नाम सुना है तुमने? पहले चंबल की रानी थी, डकैत थी, लोगों को लूटती थी, ऐसे ही मिथ्या श्रद्धा तुम्हारा आत्मवैभव लूटती है। जो श्रद्धा सम्यग्दर्शन के साथ प्रगट होती है वह ज्ञान और चारित्र को समीचीनता देती है।

लाटी संहिता में कहा है–

सम्यक्त्वं दुर्लभं लोके सम्यक्त्वं मोक्षसाधनम्।
ज्ञानचारित्रयोर्बीजं मूलं धर्मतरोरिव।। 2-1।।

जगत में सम्यग्दर्शन दुर्लभ है, सम्यग्दर्शन मोक्ष का कारण है, सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र का बीज है तथा धर्मरूपी वृक्ष की जड़ के समान है।

वास्तव में सम्यग्दृष्टि जीव रत्नत्रयधारी होकर आत्महित को साध पाता है। हम सभी को कर्मप्रदत्त श्रेष्ठ पर्याय प्राप्त हुई है, जैनकुल मिला है। अब इस पर्याय में आपको करने योग्य श्रेष्ठ कार्य करना चाहिये। श्रावकधर्म और श्रमणधर्म का भावपूर्वक पालन करते हुए अपनी पर्याय को सफल करना चाहिये। इसी भावना के साथ...

सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं, हो फिर सम्यग्ज्ञान नहीं।
समकित सम्यग्ज्ञान नहीं, फिर सम्यक्चारित्र नहीं।।
समकित रत्नत्रय, हो-हो-2, में श्रेष्ठ कहाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु श्रावक की, हो-हो-2, संहिता दिखलाये रे।।

अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

❑❑❑

(सम्यक्त्व हानि के कारण)

कुतवकुलिंगिकुणाणी, कुवयकुसीले कुदंसणकुसत्थे।
कुणिमित्ते संथुय थुदि, पसंसण सम्महाणि होदि णियमं।।47।।

* अन्वयार्थ *

(**कुतव**) मिथ्यातप (**कुलिंगि**) कुलिंगी/मिथ्यावेष धारण करनेवाले (**कुणाणी**) मिथ्याज्ञानी (**कुवय**) मिथ्याव्रत (**कुसीले**) मिथ्याशील (**कुदंसण**) मिथ्यादर्शन (**कुसत्थे**) मिथ्याशास्त्र (**कुणिमित्ते**) झूठे निमित्तों की (**संथुय**) संस्तुति (**थुदि**) स्तुति और (**पसंसण**) प्रशंसा करने से (**णियमं**) नियम से (**सम्महाणि**) सम्यक्त्व की हानि (**होदि**) होती है।

अर्थ–मिथ्यातप, कुलिंगी (मिथ्यादृष्टि साधु), मिथ्याज्ञानी, मिथ्याव्रत, मिथ्याशील, मिथ्यादर्शन, मिथ्याशास्त्र और झूठे निमित्तों की संस्तुति, स्तुति और प्रशंसा करने से नियम से सम्यक्त्व की हानि होती है।

गाथा - 47

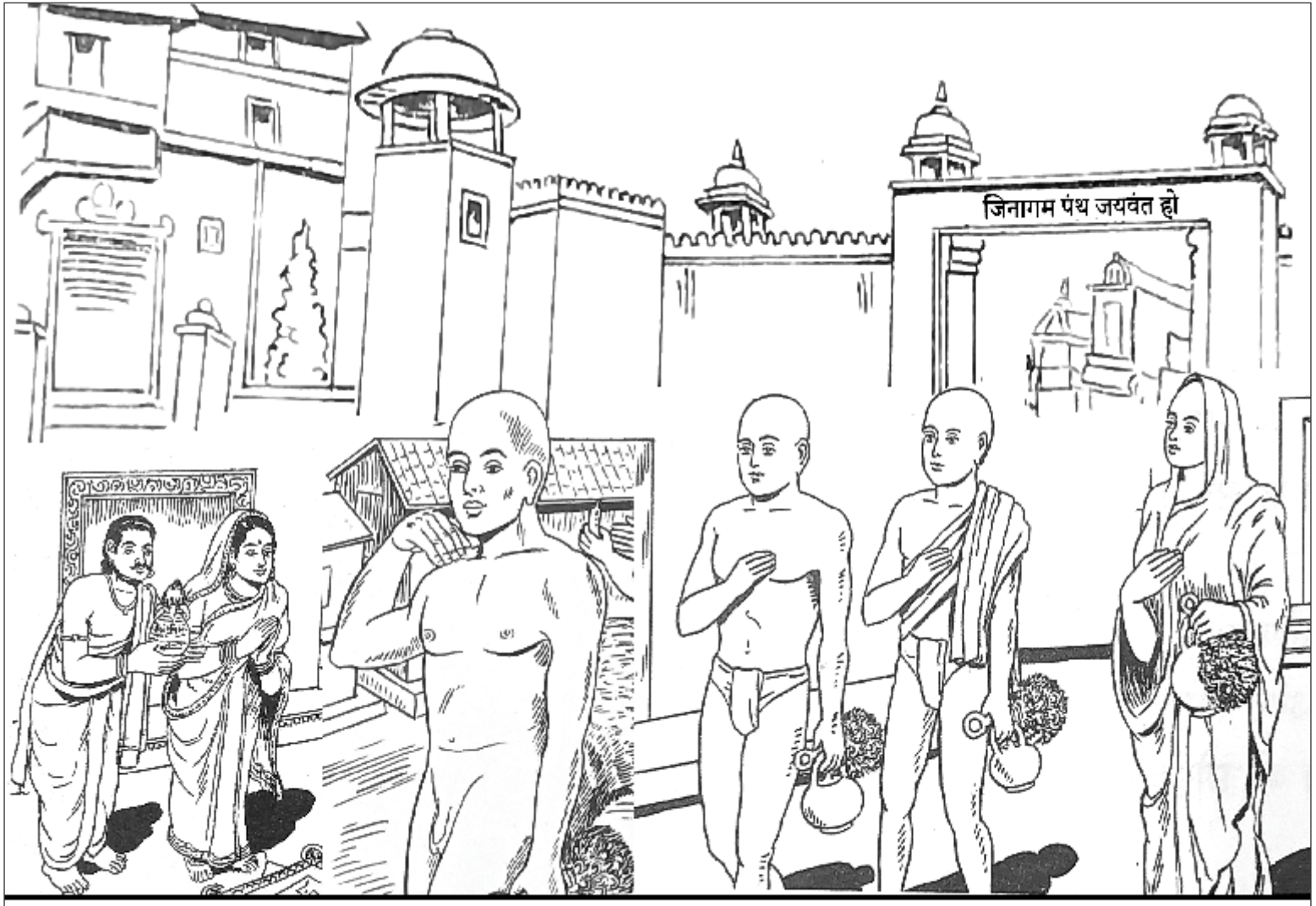
(प्रवचन)

●

सम्यक्त्व हानि के निमित्त

11.10.2014

बड़ौत (उ.प्र.)



जिनागम में वर्णित प्रथम मुनिलिंग, द्वितीय उत्कृष्ट श्रावक का लिंग, तृतीय आर्यिका का लिंग।

58

रयणोदय

कुतप कुलिंगी कुज्ञानी, कुव्रत कुशील कुश्रद्धानी।
मिथ्याशास्त्र निमित्तों की, संस्तुति अनुशंसा प्राणी।।
समकित हानि के, हो-हो-2, सब हेतु बताये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2, संहिता दिखलाये रे।।

'**जयदु जिणागमपंथो**' अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

तीर्थंकर भगवंत की दिव्यध्वनि जिनश्रुत है, जिनागम है। जिनागम में वर्णित आत्म-कल्याणकारी मार्ग, आत्महितकारी पंथ '**जिनागम पंथ**' है। परस्पर रागद्वेष को बढ़ानेवाले आगमबाह्य पंथ उन्मार्ग हैं। वीतरागता को देनेवाला, '**परस्परोपग्रहो जीवानाम्**' का प्रतीक '**जिनागम पंथ**' सन्मार्ग है।

आचार्य भगवन् कुंदकुंद देव ने सम्यग्दर्शन को सबसे उत्कृष्ट बताया है। जो वस्तु उत्कृष्ट होती है, यदि वह पुण्य पुरुषार्थ से प्राप्त हो जाये तो विचार करना चाहिये कि उस वस्तु को हानि न हो। अथवा उस उत्तम वस्तु को हानि किन चीजों से पहुँच सकती है?

जब आप बाजार से कोई वस्तु लाते हैं, तो आपको यह भी बताया जाता है कि इस वस्तु

को इन चीजों से बचाकर रखना है, अन्यथा आपकी यह वस्तु खराब हो सकती है। कोई मेडिसिन (Medicine) लाते हो तो बताया जाता है कि इसको धूप में मत रखना, छाया में रखना। गर्म स्थान पर मत रखना, शीतल स्थान पर रखना आदि। मूल्यवान वस्तु को किन-किन चीजों से हानि पहुँचती है, हमें उसका भी ज्ञान करना जरूरी है। लोक में सबसे दुर्लभ सम्यग्दर्शन है। हम सभी ने अनेक बार मनुष्य पर्याय प्राप्त की है, देव पर्याय प्राप्त की है, नारकी, तिर्यंच की पर्याय प्राप्त की है। यहाँ से जाने के बाद इन चार गतियों में कोई न कोई पर्याय इस जीव को अवश्य प्राप्त होगी। इसलिए चारगतिरूप पर्यायों का मिलना दुर्लभ नहीं है अगर दुर्लभ है तो सम्यग्दर्शन, जिसे जीव ने कभी प्राप्त नहीं किया।

चारों गतियों में जितनी पर्यायें प्राप्त होती हैं वे सब कर्मप्रदत्त हैं, परंतु सम्यग्दर्शन कर्मप्रदत्त नहीं है। जब जीव के द्वारा सम्यक् पुरुषार्थ किया जाता है योग्य कालादि की प्राप्ति होती है तब जीव को सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है। बंधुओ! धन सुलभ है, तन सुलभ है, परिवारिजन सुलभ हैं, पर सम्यग्दर्शन सुलभ नहीं है।

आचार्य भगवन् जिनसेनस्वामी हरिवंश पुराण में कहते हैं–

सम्यग्दर्शन लाभस्य दुर्लभत्वादभव्यवत्।
भव्या अपि निमज्जन्ति भव दुःख महोदधौ।।3-138।।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति दुर्लभ होने से भव्यजीव भी अभव्यों के समान सांसारिक दुःखरूप महासागर में डूबते हैं।

आपने जन्म प्राप्त किया, आपको तन मिल गया। आपने जन्म प्राप्त किया, आपको परिवारिजन मिल गये। आपने जन्म प्राप्त किया तो आपके पिता के पास जितना धन था वह आपका हो गया। परंतु आपके पिता, परिवारिजन और धन आपको सम्यग्दर्शन नहीं दे सकते। सम्यग्दर्शन आपको स्वयं स्वविवेक जाग्रतकर, स्वहित को समझकर, अहित के प्रति हेय की भावना कर, प्राप्त करना होता है।

सच्चे देव, शास्त्र और गुरु की श्रद्धा करनेवाले जीव लोक में बहुत दुर्लभ हैं। जो सच्चे देव, शास्त्र, गुरु के पास आते हैं उन्हें सच्ची श्रद्धा हो, कहा नहीं जा सकता। देखनेवाले को ऐसा लगता है–ये सच्चे देव की, सच्चे गुरु की, सच्चे शास्त्र की निकटता को प्राप्त हैं, इन्हें

तो सम्यग्दर्शन होगा ही। परंतु कोई सच्चे देव के पास आता है और मिथ्या देवों की भी उपासना करता है। कोई सच्चे गुरुओं को पूजता है, उनकी वैयावृत्ति करता है और कुलिंगी साधुओं को भी वही सम्मान देता है। सोचता है कि इनसे भी हमारा भला होता है। कोई सच्चे शास्त्रों की श्रद्धा करता है और मिथ्या शास्त्रों की भी प्रशंसा करता है, ऐसे जीवों को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होती।

जिनेन्द्र भगवान् ने सात तत्त्व कहे हैं उनका श्रद्धान् करना ही सम्यग्दर्शन है।

पं. दौलतराम छहढाला की तीसरी ढाल में कहते हैं–

जीव अजीव तत्त्व अरु आस्रव, बंध रु संवर जानो।
निर्जर मोक्ष कहे जिन तिनकों, ज्यों का त्यों सरधानो।।3-3।।

जिनेन्द्रदेव ने जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व कहे हैं। इन सात तत्त्वों की सच्ची श्रद्धा करना ही सम्यग्दर्शन है।

इन तत्त्वों का जीव ने कभी ज्ञान नहीं किया। श्रद्धान् कैसे होगा? घर में सात संतानें हों तो उनके नाम तो पता होते हैं। जिनेन्द्र भगवान् ने जो सात तत्त्व कहे हैं उनके नाम भी ज्ञात नहीं होंगे। जनरल स्टोर की दुकान में कितनी वस्तुयें हैं? आप सबके नाम जानते हो, सबका काम जानते हो। सात तत्त्वों के नाम और उनका कार्य क्या है? ये आप ठीक तरह से नहीं जानते। विचार करना, इसभव की सम्पदा, अतीत में अर्जित की गई सारी सम्पदा और भविष्य में जितने भव धारणकर धन-सम्पदा कमाओगे वो सारी संपदा भी इकट्ठी कर कहा जाये कि मैं यह संपदा भेंटकर जिनेन्द्र भगवान् की वाणी सुनना चाहता हूँ, तो जिनेन्द्र वाणी उससे भी ज्यादा मूल्यवान है।

हे तीन भुवन के स्वामी, सुनो मेरी करुण कहानी।
जो समवशरण में खिरती, वो सुनी नहीं जिनवाणी।। (गीतांजलि)

जिनेन्द्र वाणी केवल जीव हित के लिये है। हमारी ऐसी श्रद्धा होनी चाहिये कि जिनेन्द्रदेव की वाणी हमें अवश्य सुनना है। सिर्फ सुनना ही नहीं है, उसके अनुरूप अपना जीवन भी बनाना है। जीवन में आप कितने रूप परिवर्तन करते हो। पिता के सामने, माँ के सामने, पत्नी

के सामने, बच्चों के सामने आपका रूप अलग-अलग होता है। एक बार जिनेन्द्र वाणी के अनुसार जीवन परिवर्तन करके देखो आपका जीवन सर्वश्रेष्ठ और सुंदर हो जायेगा। हमें जिनवाणी के अनुरूप अपना जीवन निर्मित करना होगा।

अहो! अनादि से जीव को सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का श्रद्धान् नहीं हुआ इसलिये उनकी वाणी पर श्रद्धा नहीं आई। सात तत्त्वों का श्रद्धान् कैसे होगा? अनादि से जीव ने कभी जिनवाणी नहीं सुनी। जिनवाणी की सच्ची श्रद्धा नहीं की। यह जीव जिनेन्द्र देव के द्वारा कथित तप को प्राप्त न होकर अन्य-अन्य मिथ्यातपों को प्राप्त होता रहा। तप तो किया, पर दूसरों को देखकर किया। कौन-सा तप करने योग्य है, किस तप का क्या फल प्राप्त होता है? यह समझकर कभी सम्यक् तप नहीं किया।

तप चाहैं सुरराय, कर्मशिखर को वज्र है।
द्वादश विधि सुखदाय, क्यों न करे निज शक्तिसम।। द. पू.।।

एक तप वह है जो जीव के लिये भव-भ्रमण का कारण होता है और एक तप वह है जो जीव के भवच्छेद और आत्मशांति का कारण होता है।

सम्यग्दर्शन की हानि किनसे होती है, यह जानना जरूरी है। जिन जीवों को सच्चे देव, शास्त्र, गुरु का अकाट्य श्रद्धान् है, जो जिनेन्द्र देव के द्वारा बताये हुए सात तत्त्व—जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। इनका यथार्थस्वरूप जानकर निर्मल श्रद्धान् करते हैं ऐसे जीवों को अपने श्रद्धान् में हानि करनेवाले कारणों को अवश्य जानना चाहिये। बरसात का मौसम आ गया है, जैसे इन दिनों में कौन सी वस्तु आपको घर में किस तरह से रखनी है, कब कौन सी वस्तु को चेक करना है, देखना है, खराब तो नहीं हो रही है, आप इन सबका विचार करते हैं। उसीप्रकार आत्मा में अगर सम्यग्दर्शन पैदा हुआ है, सच्चा श्रद्धान् उत्पन्न हुआ है तो वह किन कारणों से खराब हो सकता है? हमारी श्रद्धा किन कारणों से डिग सकती है, किन कारणों से छूट सकती है? उन कारणों का परिज्ञान भी बहुत जरूरी है। जो वस्तु जितनी दुर्लभता से प्राप्त होती है उस वस्तु को खराब करनेवाले कारण उतने ही सुलभ होते हैं और बिना जुटाये ही प्राप्त हो जाते हैं। घर में कोई वस्तु लम्बे समय से रखी हुई हो तो उसके ऊपर फफूँद लग जाती है। फफूँद को कोई आमंत्रित नहीं करता, अपने आप आ जाती है। वस्तु को

हानि पहुँचानेवाले कारण स्वयमेव प्राप्त हो जाते हैं।

आपने घर पर अनाज रखा, देखभाल कर रखा, ठीक तरह से रखा, फिर भी अनाज में घुन लग गया। क्या आपने उसको बुलाया था? कब लग गया? पता भी नहीं चला। जो विवेकीजन होते हैं वे पहले ही वह उपाय कर लेते हैं जिससे घुन न लगे। उन्हें ज्ञान होता है, कि अमुक वस्तु हमारी इस वस्तु को खराब कर सकती है। आचार्य भगवन् कुंदकुंददेव ने रयणसार ग्रंथ की सैंतालीसवीं गाथा में यही सम्बोधन प्रदान किया है कि सम्यग्दर्शन की हानि के कारण कौन-कौन से हैं? उन कारणों को जानकर हमें उनसे दूर रहना चाहिये।

आचार्य भगवन् कहते हैं–**कुतप** अर्थात् मिथ्या तप, खोटा तप। जिनेन्द्र भगवान् ने बारह प्रकार के तप कहे हैं। आचार्य कुंदकुंदस्वामी भावप्राभृत में कहते हैं–''**बारसविहतवयरणं**'' अर्थात् तपश्चरण के बारह भेद होते हैं। जिनमें छह अंतरंग तप और छह बहिरंग तप कहे हैं। जो दूसरे लोगों की दृष्टि में आते हैं, देखने में आते हैं उनको बहिरंग तप कहते हैं। अन्तरंग तप जो अन्तरंग में धारण किये जाते हैं। जो बाह्य लोगों की दृष्टि में नहीं आते हैं उन्हें अन्तरंग तप कहा जाता है, इसप्रकार यह बारह प्रकार का तप है।

श्रुतसागरसूरि ने भावप्राभृत गाथा 76 की टीका में बारह तपों का वर्णन किया है–जिनमें छह बाह्य तप हैं और छह अंतरंग तप हैं।

अनशन–चार प्रकार के आहार का त्याग करना, अर्थात् उपवास करना अनशन तप है।

अवमौदर्य–एक ग्रास आदि अल्पाहार लेना, अवमौदर्य तप है।

वृत्ति परिसंख्यान–गिनती के घरों में भोजन करना अथवा भोजन की वस्तुओं की संख्या निश्चित करना आदि वृत्ति परिसंख्यान तप है।

रस परित्याग–घी, दूध, दही, मीठा, तेल और नमक इन छह रसों में किसी रस का त्याग करना रस परित्याग नाम का तप है।

विविक्त शय्यासन–जन्तु, स्त्री, पशु और नपुंसकों से रहित शून्यागार आदि स्थानों में आसन लगाना, बैठना, शैया (सोना) अथवा ठहरना विविक्त शय्यासन तप है।

कायक्लेश—मात्र जल और भात आदि का भोजन कर शरीर को क्लेश पहुँचाना। अथवा आतापनादि योग धारण करना, कायक्लेश है। ये छह बाह्य तप हैं।

बाह्य तप भोजन आदि की अपेक्षा रखकर प्रवृत्त होते है, दूसरों के देखने में आते हैं अथवा अन्य मत में पाषण्डि गृहस्थों के द्वारा भिन्न रूप से भी किये जाते हैं, इसलिए बाह्य तप कहलाते हैं। इस बाह्यतप से कर्मों का भस्म होना, इन्द्रियों को ताप करना, संयम रक्षा, राग का नाश, कर्मनाश, ध्यान, आशा का निवृत होना, शरीर के तेज का ह्रास होना, ब्रह्मचर्य स्थिरता, दु:ख सहन करने का अभ्यास होना, सुख में आसक्ति का न होना, तथा आगम की प्रभावना होना आदि फल की प्राप्ति होती है।

अब छह प्रकार के अंतरंग तप को कहा जाता है—चूँकि यह तप अन्य मतावलम्बियों के अशक्य है, स्वसंवेदन से ही इसका अनुभव होता है और बाह्य पदार्थों की इसमें अपेक्षा नहीं रहती, इसलिए यह अंतरंग तप कहलाता है। प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये छह अंतरंग तप के भेद हैं। इनमें प्रायश्चित्त के नौ, विनय के चार, वैयावृत्य के दश, स्वाध्याय के पाँच, व्युत्सर्ग के दो और ध्यान के चार भेद हैं। इसप्रकार बाह्य और अंतरंग के भेद से यह बारह प्रकार का तप है।

लोक में अनेक जीव मिथ्यातप करते हैं, कुतप करते हैं, खोटे तप करते हैं। खोटे तपों का फल भी उन्हें खोटे रूप में ही प्राप्त होता है। एक व्यक्ति ने उपवास किया। उससे किसी ने पूछा—आपने यह उपवास क्यों किया है? वह कहता है—मैंने यह उपवास कर्मों का क्षय करने के लिये किया है। दूसरे व्यक्ति ने भी उपवास किया। जब उससे किसी ने पूछा—आपने यह उपवास क्यों किया है? वह कहता है—मैंने उपवास इसलिए किया, जिससे मेरे अन्दर ऐसी चमत्कारी शक्ति उत्पन्न हो जाये कि मैं सबको अपने वश में कर लूँ।

भो अज्ञानी! तू स्वयं को वश में कर नहीं पाया दूसरों को वश में करना चाहता है। जिनेन्द्र देव कहते हैं—स्वयं को वश में कर, दूसरों से प्रयोजन मत रख। अज्ञानी जीव का प्रयोजन पर का होता है और ज्ञानी जीव का प्रयोजन स्व का होता है।

कुलिंग—जिनेन्द्र भगवान् की मुद्रा जिनलिंग कहलाती है। जिनलिंग को छोड़कर अन्य जितने भी लिंग धारण किये जाते हैं वे सब कुलिंग कहलाते हैं। जिनेन्द्र भगवान् ने तीन लिंग

कहे हैं। एक निर्ग्रंथ मुनिराज का, दूसरा ऐलक-क्षुल्लक जी का और तीसरा आर्यिका माताजी का। ये तीन भेष या लिंग ही जिनेन्द्र भगवान् ने बताये हैं इनके अलावा और कोई चौथा भेष नहीं बताया, लिंग नहीं बताया।

विचार करनेवाली बात यह है कि जिन लिंगों से यह जीव अरिहंत, सिद्धदशा को साधने में समर्थ हो सकता है वो लिंग ही धारण करने योग्य हैं, स्वीकार करने योग्य हैं, मान्यता के योग्य हैं। और जिन लिंगों को धारण करने के बाद अरिहंत, सिद्धदशा न साक्षात् प्राप्त हो सकती है और न परम्परा से, वे जिनलिंग नहीं कहलाते। वे लिंग कुलिंग कहलाते हैं। मुनिमुद्रा, जिनलिंग है साक्षात् अरिहंत, सिद्धदशा प्रगट करने में कारण है। जो आर्यिका का लिंग है या ऐलक, क्षुल्लक का लिंग अथवा भेष है वह परम्परा से अरिहंत, सिद्धदशा को प्रगट करने में कारण है।

आचार्य श्री कुंदकुंदस्वामी दर्शनप्राभृत में कहते हैं–

एक्कं जिणस्स रूवं बीयं उक्किट्ठसावयाणं तु।
अवरट्ठियाण तइयं चउत्थं पुण लिंगदंसणं णत्थि।।18।।

अर्थात् एक जिनेन्द्र भगवान् का नग्न रूप, दूसरा उत्कृष्ट श्रावकों का और तीसरा आर्यिकाओं का, इसप्रकार जिनशासन में तीन लिंग कहे गये हैं। चौथा लिंग जिनशासन में नहीं है।

इन तीन लिंगों को जिनलिंग के अंतर्गत स्वीकार किया है। इनके अलावा जितने भी लिंग हैं, वे कुलिंग कहलाते हैं। जिनसे न तो साक्षात् अरिहंत, सिद्ध दशा की प्राप्ति होती है और न ही परम्परा से अरिहंत, सिद्ध दशा का मार्ग प्राप्त होता है यह मिथ्या भेष कहलाते हैं। सम्राट, सम्राट के भेष में ही शोभायमान होता है, दरबारी के भेष में शोभायमान नहीं होता। अगर कोई दरबारी के भेष में अपने को कहे कि मैं भी सम्राट हूँ तो ये उसकी भूल ही है। दरबारी, दरबारी ही रहेगा और सम्राट, सम्राट ही रहेगा। जिनेन्द्र देव के द्वारा कहे गये इन तीन लिंगों के सिवाय लोक में जितने भी भेष कहे गये हैं वे अरिहंत, सिद्ध दशा को प्रगट करने में असमर्थ हैं। इसलिए कुतप की श्रद्धा मत करना, कभी कुलिंग की श्रद्धा मत करना। जो हमें अपनी मंजिल तक पहुँचाने में साधक न हों, उनका श्रद्धान् करने से हमारा पतन ही होगा, कभी उत्थान

या उन्नति नहीं हो सकती। कुलिंग की श्रद्धा करने से सम्यग्दर्शन की हानि होती है।

आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहते हैं–

भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागमलिंगीनाम्।
प्रणामं विनयं चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः।।30।।

सम्यग्दृष्टि मनुष्य भय, आशा, स्नेह अथवा लोभ से कुदेव, कुशास्त्र और कुलिंगियों को न प्रणाम करें और न उनकी विनय करें।

कुज्ञानी–जिसके सच्चे देव, शास्त्र, गुरु का श्रद्धान् न हो, जिसके सात तत्त्वों का श्रद्धान् न हो, अपितु मिथ्यामार्ग की प्ररूपणा हो वह जीव मिथ्याज्ञानी है। जिनेन्द्रदेव ने कहा कि संसार में जितने भी जीव हैं, सभी परमात्मशक्ति से भरपूर हैं। सभी जीव स्वतंत्र परमात्मा बन सकते हैं, कोई किसी के आधीन नहीं है। हम किसी के आधीन नहीं हैं। अगर हम परमात्मा बनना चाहें, तो हमारी आत्मा में परमात्मा बनने की स्वतंत्र शक्ति विद्यमान है। हम सोचें हमें कोई परमात्मा बना देगा तो जिनेन्द्रदेव कहते हैं–तुम्हें इस जगत में कोई परमात्मा बनानेवाला नहीं है। अगर तुम स्वयं परमात्मा बनना चाहते हो तो पुरुषार्थ करो। तुम स्वयं परमात्मा बन जाओगे। जैसे प्रत्येक बीज स्वयं ही वृक्षत्वपने को धारण कर लेता है, वृक्ष बन जाता है और स्वयं ही अपने फलों को प्रगट कर लेता है ऐसे ही प्रत्येक जीव परमात्मा का बीज है, वह स्वयं ही अपना पुरुषार्थ करके परमात्मा बन सकता है। कोई दूसरा इस जगत में किसी को परमात्मा बनानेवाला नहीं है। अगर कोई कहे, तू मेरी शरण में आ, मैं तुझे परमात्मा बना दूँगा तो वह मिथ्याज्ञानी है।

ध्यान रखना, ये जिनशासन है, यहाँ कोई किसी को परमात्मा नहीं बना सकता। कोई किसी को ज्ञानी नहीं बना सकता। जीव को स्वयं ही पुरुषार्थ करना होगा, स्वयं को ही प्रयास करना होगा। पिताजी अपने बेटे के लिये पेन दिला सकते हैं, पुस्तकें दिला सकते हैं, कॉपी दिला सकते हैं और भी साधन दिला सकते है, परंतु ज्ञानी नहीं बना सकते। इसके लिये उसे स्वयं ही पुरुषार्थ करना होगा। जिनेन्द्रदेव कहते हैं–भो आत्मन्! तुम्हें स्वयं ही पुरुषार्थ करके परमात्मा बनना होगा। तुम्हें कोई दूसरा परमात्मा नहीं बना सकता। तुम सोचो, मैं

भगवान् की शरण में चला जाऊँगा तो भगवान् मुझ पर उपकार कर देंगे, वे मुझे परमात्मा बना देंगे, वे मुझे संसार के दु:खों से बचा लेंगे, तो भगवान् कहते हैं–मैं कुछ नहीं कर सकता। तुमने अगर मेरी शरण प्राप्त की है और तुम स्वयं परमात्मा बनना चाहते हो, तो बनो। तुम पुरुषार्थ करोगे तो अवश्य परमात्मा बन जाओगे। कोई तुमसे कहे–मेरी शरण में आ, मैं तुम्हें भगवान् बना दूँगा। वह कुज्ञानी है।

मिथ्या शास्त्र–जिन शास्त्रों में संसार के विषयभोगों की चर्चायें हों, वे शास्त्र जीव का हित नहीं कर सकते। जीव का हित करनेवाले सच्चे शास्त्र तो जीवों को संसार, शरीर, भोगों के यथार्थस्वरूप से परिचय कराके उनसे विरक्त कराते हैं।

आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी रत्नकरण्ड श्रावकाचार में सच्चे शास्त्र का लक्षण बताते हुए लिखते हैं–

आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टविरोधकम्।
तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम्।।9।।

जो सच्चे देव का कहा हुआ, खण्डन रहित अर्थात् अनुलंघनीय है, प्रत्यक्ष–अनुमानादि प्रमाणों से विरोधरहित, तत्त्वों का उपदेश करनेवाला अर्थात् वस्तुस्वरूप का प्रतिपादक है, सब जीवों का हितकारक है और मिथ्यामार्ग अर्थात् कुमार्ग का खण्डन करनेवाला है, वह सच्चा शास्त्र है।

यदि संसार, शरीर, भोगों में आसक्त बनानेवाले खोटे शास्त्र हित करनेवाले होंगे तो भाई! इनको पढ़ने की जरूरत ही क्या है? संसारी जीव तो अनादि से संसार, शरीर, भोगों में ही आसक्त है। उसका हित हो ही जाना चाहिये था। आत्महितकारी शास्त्र वही है जिसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की प्राप्ति का मार्ग निहित है। जिन शास्त्रों में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की प्राप्ति का मार्ग नहीं है, वे मिथ्याशास्त्र हैं। प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोगस्वरूप जिनेन्द्रदेव की निर्मलवाणी में जीवों के लिये संसार का यथार्थस्वरूप बताया गया है, शरीर का यथार्थस्वरूप बताया गया है, भोगों का यथार्थस्वरूप बताया गया है। लोक में ऐसे अनेक मिथ्याशास्त्र हैं जिनमें शरीर के शृंगार का बहुत वर्णन

मिलता है। शरीर के सौन्दर्य का बढ़ा-चढ़ाकर व्याख्यान किया जाता है। अमुक स्त्री की आँखें नीलकमल के समान हैं। आँखें तो आपको भी मिलीं हैं, आप सुबह से उठकर देखना आँखों में कितना सौन्दर्य भरा पड़ा है? इस शरीर की रचना अस्थि, मज्जा आदि धातुओं से हुई है। शरीर के अंदर से जो पदार्थ निकलते हैं वे इतने अपवित्र होते हैं, कि अपने शरीर से निकले हुए पदार्थों से स्वयं को ही ग्लानि पैदा होती है। इस शरीर के सौन्दर्य का जो कथन होता है वह वास्तव में चर्म का होता है, शरीर के भीतर के धर्म का कथन नहीं होता। भीतर जो शरीर का धर्म है वह इतना ग्लानि युक्त है, कि उस पर दृष्टि भी नहीं डाली जाती। इसलिए संसार, शरीर और भोगों के जो यथार्थस्वरूप का कथन करनेवाले हैं और उनसे विरक्त करानेवाले हैं वे शास्त्र ही सम्यक् शास्त्र हैं। जो संसार, शरीर और भोगों में आसक्त करानेवाले शास्त्र हैं वे सब मिथ्याशास्त्र हैं।

लोक में ऐसे भी जीव हुए हैं जिन्होंने अन्यथा कथन किया, कहा—जीवन संसार के भोग भोगने के लिए मिला है इसलिए जी भरकर भोग भोगो। "**किसने देखा नरक, किसने देखा स्वर्ग**" इसतरह के कथन करके जगत के भोले-भाले जीवों को संसार में भटका दिया। परंतु जिनेन्द्रदेव ने बताया—यह जीव अनादि से आज तक शरीर और भोगों में आसक्ति के कारण ही संसार में परिभ्रमण कर रहा है।

एक सेठजी सामायिक कर रहे थे। सामायिक करते समय उन्हें प्यास सताने लगी, पानी-पानी-पानी करने लगे। जो उपयोग जिनवाणी में लगा था अब पानी में लग गया। अहो! इस परिणाम से पर्याय बिगड़ गई। सेठजी को श्रेष्ठ पर्याय प्राप्त होना चाहिये थी परंतु परिणामों का खेल देखो, सेठजी पानी में मेंढक बन गये। जो भोगों में आसक्त बना रहता है, उन्हीं की इच्छा और चाह करता रहता है मरकर ऐसी खोटी पर्यायों में चला जाता है। पल दो पल के भोग परिणाम से जब ऐसी दुर्गति हो सकती है तो जिस जीव ने जीवनभर भोगों की चाह की हो उसकी क्या गति होगी? जिनेन्द्रदेव कहते हैं—इन भोगों का यथार्थस्वरूप जानकर, इनसे विरक्त होकर, आत्मस्वरूप में स्थित होना चाहिये। व्यवहार-निश्चय धर्म को जानकर यदि निश्चय धर्म में स्थित हो सकते हो तो निश्चय धर्म में स्थित हों और जब नहीं हो सकते तो व्यवहार धर्म में स्थित हों, इससे ही आत्मा का हित होगा। संसार, शरीर, भोगों में

स्थित होने से आत्मा का अकल्याण होगा, हित नहीं होगा। जो संसार, शरीर, भोगों में आसक्त करानेवाले शास्त्र हैं वे मिथ्या शास्त्र हैं। ऐसे मिथ्या शास्त्रों का जो श्रद्धान् करता है वह अपने सम्यक्त्व की हानि करता है।

मिथ्याव्रत—जो व्रत आत्महितकारी न होकर भववर्धक हैं वे मिथ्याव्रत कहलाते हैं। मिथ्याव्रत और समीचीन व्रत कौन से हैं, पहले इसका निर्णय करो। आचार्य भगवन् उमास्वामी महाराज ने तत्वार्थ सूत्र ग्रंथ में सम्यक् व्रत का स्वरूप इसप्रकार बताया है—

''हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्''।।7-1।।

अर्थात् हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह से विरत होना ही सम्यक् व्रत है। श्रावक और मुनिराज के व्रत ही सम्यक्व्रत हैं इनके अलावा जो व्रत लोक में प्रचलित हैं वे सम्यक्व्रत नहीं हैं। जिनसे आत्मा का हित नहीं होता उन मिथ्याव्रतों को त्यागकर सम्यक्व्रतों को धारण करना चाहिये। श्रावकों के बारह व्रत हैं, ग्यारह प्रतिमायें हैं, अष्ट मूलगुण हैं इनको धारण करने से मोक्षमार्ग प्रशस्त होता है, मोक्षमार्ग में गति मिलती है, मोक्षमार्ग निर्मित होता है। यदि कोई जीव खोटे व्रत धारण करता है, मिथ्याव्रत धारण करता है, देवी-देवताओं के व्रत धारण करता है तो इससे उसका हित नहीं होता। हित जिनेन्द्रदेव के द्वारा बताये हुये व्रतों को धारण करने से ही होता है।

मिथ्या प्रयोजन से धारण किये गये व्रत मिथ्याव्रत कहलाते हैं। जैसे रावण ने ब्रह्मचर्य व्रतपूर्वक बहुरूपिणीविद्या शान्तिनाथ भगवान् के जिनालय में बैठकर चौबीस दिन में सिद्ध की। क्या इस व्रत को सम्यक् व्रत कहेंगे? नहीं। जिस व्रत से आत्महित नहीं होता वह सम्यक् व्रत की कोटि में नहीं आता। रावण का प्रयोजन बहुरूपिणी विद्या सिद्धकर राम को पराजित करने का था। जिसका प्रयोजन ही मिथ्या है उसका व्रत कभी सम्यक् नहीं हो सकता। प्रयोजन आत्महित का होना चाहिये, कर्मक्षय का होना चाहिये तभी वह सम्यक् व्रत कहलायेगा।

कोई मोक्षसप्तमी के व्रत करते हैं अपने बच्चों से कराते हैं। एक बार एक बच्चे से पूछा—बेटा! आपने यह व्रत क्यों रखा है? बच्चे ने कहा—मेरी मम्मी ने कहा था। क्या कहा था तुम्हारी मम्मी ने? उन्होंने कहा था कि अगर ये व्रत करोगी तो तुम्हारी शादी अच्छे घर में

होगी। अब विचार करो, यह व्रत सम्यक् हुआ या मिथ्या? बच्चे से ये कहते–बेटा! ये व्रत धारण करने से तुम भी भगवान् दशा को प्राप्त करोगे तो वह सम्यक् व्रत हो जाता। अच्छे कुल में शादी होना, संस्कारित परिवार मिलना, सभी अनुकूलतायें प्राप्त होना ये सांसारिक फल सम्यक् व्रत पालन से अपने आप ही मिल जाते हैं। कोई कलेक्टर (Collector) बनता है तो ये नहीं कहता कि मैं कलेक्टर (Collector) बन जाऊँगा तो मेरे इतने चपरासी होंगे। अरे कलेक्टर (Collector) बन जायेगा तो चपरासी तो तुझे मिल ही जायेंगे। कहने का तात्पर्य यही है कि व्रत का प्रयोजन सम्यक् होना चाहिये। व्रत का प्रयोजन अगर विपरीत है तो वह व्रत मिथ्या व्रत है।

कुशील–जो मिथ्या शील को धारण करनेवाले हैं, उनकी संगति करने से भी सम्यग्दर्शन की हानि होती है।

आचार्यश्री कुंदकुंदस्वामी शीलप्राभृत में लिखते हैं–

सीलं तवो विसुद्धं दंसणसुद्धी य णाणसुद्धी य।
सीलं विसयाण अरी, सीलं मोक्खस्स सोपाणं।।20।।

शील विशुद्ध तप है, शील दर्शन की शुद्धि है, शील ही ज्ञान की शुद्धि है, शील विषयों का शत्रु है और शील मोक्ष की सीढ़ी है।

उपरोक्त जितने भी कारण बताये हैं, ये सब सम्यग्दर्शन की हानि के कारण हैं इनसे दूर रहना चाहिये। मिथ्याशील धारण करने से भी सम्यक्त्व की हानि होती है।

कुनिमित्त–खोटे निमित्तों का आश्रय करना भी सम्यक्त्व की हानि का हेतु है। जिस कार्य का जो निमित्त होता है वह उसी निमित्त से होता है। यह हमेशा के लिये समझ लेना। जैसे साइकिल (Bicycle) का पहिया साइकिल (Bicycle) में ही लगता है, बाइक (Bike) में नहीं लगता, और बाइक (Bike) का पहिया बाइक (Bike) में ही लगता है, साइकिल (Bicycle) में नहीं लगता क्योंकि उसका निमित्त वही है इसीप्रकार जिस कार्य की सिद्धि में जो निमित्त होता है उस कार्य की सिद्धि के लिये उसी निमित्त का आश्रय करना योग्य है। जिस निमित्त से जो कार्य नहीं होता उस निमित्त से उस कार्य का होना माना जाये तो वह झूठा

निमित्त कहलाता है।

एक व्यक्ति जिनेन्द्रदेव के पास आया, बोला–हे भगवान्! मैं रोज आपकी पूजा करता हूँ मुझे अमुक फल प्राप्त हो जाये तो अच्छा रहेगा। अभी उस कार्य के होने का योग्यकाल नहीं आया था। किसी कार्य की उत्पत्ति में योग्यकाल भी चाहिये। जैसे चने की फसल, गेहूँ की फसल, चावल की फसल आदि जिस काल में उत्पन्न होती हैं वे उसी काल में उत्पन्न होंगी। जिस मिट्टी में उत्पन्न होती हैं उसी मिट्टी में उत्पन्न होंगी, ये निमित्त कहलाते हैं। भगवान् के पास कार्य सफलता की अर्जी तो लगा दी लेकिन अभी उस कार्य की सफलता का काल नहीं आया था अतः भगवान् की पूजा करते-करते उसने सोचा, यहाँ तो काम बन नही रहा। वह कहीं दूसरी जगह चला गया। जैसे ही वह दूसरी जगह गया उसके कार्य की सफलता का काल आ गया और उसका कार्य हो गया। वह सोचने लगा इस निमित्त से ही हमारा कार्य हुआ है। यही उसका निमित्त के प्रति मिथ्या श्रद्धान् है। कार्य पुण्य से हुआ है उस निमित्त से नहीं हुआ। उसका पुण्योदय हुआ जिससे उसका कार्य हो गया। ध्यान रखना, सम्यक् निमित्तों का आश्रय करने से ही जीव का हित होता है। मिथ्या निमित्तों का आश्रय करने से कभी जीव का हित नहीं होता।

एक चोर भी धन कमाता है और व्यापारी भी धन कमाता है। चोर के धन कमाने का मार्ग सही नहीं है, व्यापारी के धन कमाने का मार्ग सही है। पुलिस (Police) किसका पीछा करेगी? चोर का या व्यापारी का? अगर व्यापारी भी चोरी करे तो बात अलग है। जो ईमानदारी से व्यापार करता है, पुलिस (Police) कभी उसका पीछा नहीं करती। तात्पर्य यह है कुनिमित्तों का आश्रय करने से सम्यग्दर्शन की हानि होती है, इसलिए हमें सच्चे निमित्तों का अर्थात् सच्चे देव, शास्त्र, गुरु का आश्रय करना चाहिये। कुनिमित्तों की संस्तुति करने से, प्रशंसा करने से नियम से सम्यग्दर्शन की हानि होती है। अगर प्रशंसा ही करना है तो सच्चे देव, शास्त्र, गुरु की करो। अगर प्रशंसा करना ही है तो सच्चे धर्मात्मा की करो। चाहे वे मुनिराज हों, श्रावक हों या गृहस्थ हों। सच्चा धर्मात्मा जीव है तो उसकी प्रशंसा अवश्य करनी चाहिये।

नेताजी की प्रशंसा किन-किन शब्दों से करते हो? पता भी है कि नेताजी ने कितने घोटाले किये हैं, फिर भी बड़ी प्रशंसा करते हो। कर्मठ, जुझारू, ईमानदार, लगनशील कितने

विशेषण लगाते हो। अगर सच्चे देव का नाम बोलना हो, तो क्या इतने विशेषण कहते हो? यहाँ मूलनायक महावीर भगवान् हैं। भगवान् महावीर के न आगे कुछ न पीछे कुछ, ये अविनय है। नेताजी के लिये इतने विशेषण और मोक्षमार्ग के नेता के लिये कुछ भी नहीं। अरे! विनय से कहते देवाधिदेव भगवान् 108 श्री महावीर स्वामी यहाँ मूलनायक प्रभु हैं। इतना ही कह देते तो शब्दों में विनय दिखती।

हम गुरुजनों का नाम भी लेते हैं तो विनय का ध्यान नहीं रखते। क्या कहते हैं–हम वहाँ गये थे वहाँ विरागसागर मिले थे। देखो, जैसे विरागसागर इनके बच्चे हों। विनय का भाव होता तो भाषा कुछ इसप्रकार होती कि हम अमुक जगह तीर्थवंदनार्थ गये थे वहाँ पर परम पूज्य सूरिगच्छाचार्य श्री विरागसागर जी महामुनिराज का दर्शन प्राप्त हुआ था, मैं तो धन्य हो गया। अरे! संस्तुति करना है, तो सच्चे देव, सच्चे शास्त्र और सच्चे गुरुजनों की करना चाहिये। जितने उत्तम से उत्तम शब्द, उत्तम से उत्तम विशेषण आपके शब्दकोश में हों उनका उपयोग हमें उत्तम निमित्तों के लिये करना चाहिये। झूठे निमित्तों के लिये प्रशंसक शब्दों का उपयोग करने से सम्यक्त्व की हानि होती है और सम्यक् निमित्तों के लिये उत्तम शब्दों का प्रयोग करने से सम्यक्त्व की निर्मलता बढ़ती है।

आचार्य भगवन् कुंदकुंददेव ने यहाँ पर सम्यक्त्व की हानि किन निमित्तों से होती है उनका कथन किया है। हम सभी ने यह उपदेश सुना। अवश्य ही यह उपदेश आपके लिये प्रेरणा बनेगा। आप अपने सम्यग्दर्शन को निर्मल बनाने की कोशिश करेंगे। अपने सम्यक्त्व का ह्रास नहीं होने देंगे, इसी भावना के साथ....

कुतप कुलिंगी कुज्ञानी, कुव्रत कुशील कुश्रद्धानी।
मिथ्या शास्त्र निमित्तों की, संस्तुति अनुशंसा प्राणी।।
समकित हानि के, हो-हो-2, सब हेतु बताये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2, संहिता दिखलाये रे।।

अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

❑❑❑

(मिथ्यात्व ही दु:खों का कारण है)

तणुकुट्ठी कुलभंगं, कुणदि जहा मिच्छमप्पणो वि तहा।
दाणादि सुगुणभंगं, गदिभंगं मिच्छमेव हो! कट्ठं।।48।।

*** अन्वयार्थ ***

(**जहा**) जैसे (**तणुकुट्ठी**) शरीर का कोढ़ी व्यक्ति (**कुलभंगं**) अपने कुल का विनाश (**कुणदि**) कर देता है (**तहा**) उसीप्रकार (**मिच्छं वि**) मिथ्यादृष्टि जीव भी (**अप्पणो**) अपने (**दाणादि सुगुणभंगं**) दान आदि सद्गुणों का विनाश और (**गदिभंगं**) सद्गति का विनाश करता है। (**हो!**) अहो! (**मिच्छमेव**) मिथ्यात्व ही (**कट्ठं**) कष्टप्रद है।

अर्थ–जैसे शरीर का कोढ़ी व्यक्ति अपने रक्त-सम्बन्ध से अपने कुल का विनाश कर देता है उसीप्रकार मिथ्यादृष्टि भी दान आदि सद्गुणों का और सद्गति का विनाश करता है। अहो! संसार में मिथ्यात्व ही कष्टप्रद है।

गाथा - 48

(प्रवचन)

●

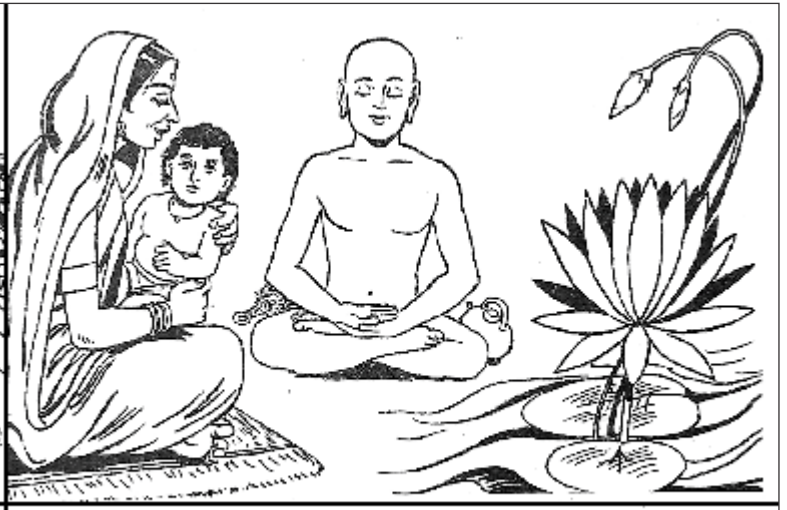
सद्गुणों का विनाशक मिथ्यात्व

13.10.2014

बड़ौत (उ.प्र.)



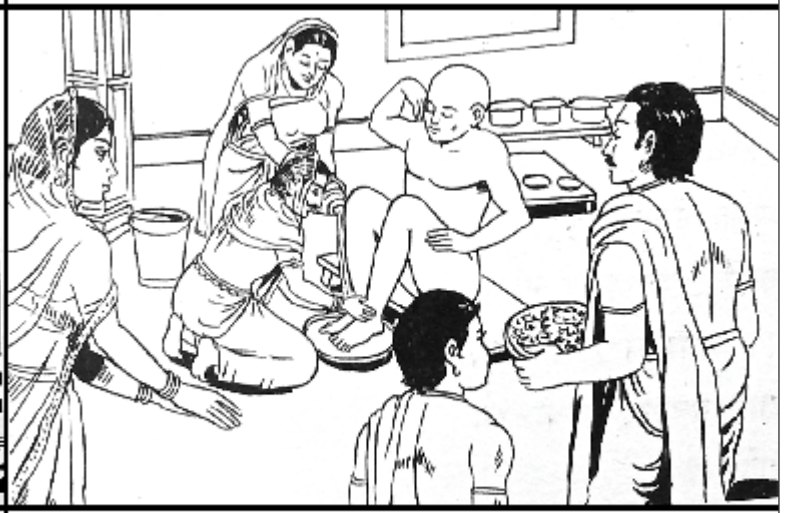
माता-पिता द्वारा संतान को सद् संस्कार।



मुनिदर्शन संगति से ही जीवन सफल।



बचपन से शास्त्र स्वाध्याय का संस्कार।



मुनिराज को आहारदान का संस्कार।

59

रयणोदय

जो तन कुष्ठ करे धारण, कुल विनाश का है कारण।
मिथ्यादृष्टि ज्ञानादि, सुगुण नाश का है कारण।।
सम्यग्दर्शन बिन, हो-हो-2, संसार बढ़ाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2, संहिता दिखलाये रे।।

'**जयदु जिणागमपंथो**' अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

तीर्थंकर भगवंत की दिव्यध्वनि जिनश्रुत है, जिनागम है। जिनागम में वर्णित आत्म-कल्याणकारी मार्ग, आत्महितकारी पंथ '**जिनागम पंथ**' है। परस्पर रागद्वेष को बढ़ानेवाले आगमबाह्य पंथ उन्मार्ग हैं। वीतरागता को देनेवाला, '**परस्परोपग्रहो जीवानाम्**' का प्रतीक '**जिनागम पंथ**' सन्मार्ग है।

किसी ने पूछा—इस जगत में, इस संसार में सबसे अधिक कष्टप्रद क्या है? दु:खप्रद क्या है? यूँ तो संसार में सभी जीव किसी न किसी दु:ख, पीड़ा, कष्ट से घिरे हुये हैं। कारण है शरीर। कारण है कर्म। कर्म दु:ख का कारण है। शरीर कर्म की स्क्रीन (Screen) है। जैसे कोई कार्यक्रम चैनल (Channel) से रिले (Relay) होता है तो स्क्रीन (Screen) पर दिखाई देता है, ऐसे

ही जो भी कर्मबंध संबंधी कार्यक्रम कर्मोदय से रिले (Relay) होता है वो शरीर की स्क्रीन (Screen) पर दिखाई देता है। इस शरीर के माध्यम से जीव नित्य दु:ख का वेदन करता है। दु:ख, सुखाभास के रूप में प्राप्त होता है। **कभी-कभी हम यह सोचते हैं कि दु:ख का कारण शरीर है परंतु वास्तव में देखा जाये तो दु:ख का कारण शरीर नहीं है, दु:ख का कारण कर्म है। सूक्ष्मता से देखा जाये तो कर्म भी दु:ख का कारण नहीं है, दु:ख का कारण जीव का अपना मिथ्यात्व भाव है।**

मिथ्यात्व का अर्थ होता है गलत मान्यता। जिसे जिनागम में मिथ्यात्व कहते हैं। उसे अपनी सामान्य भाषा में गलत मान्यता, विपरीत मान्यता कहते हैं। जो जैसा नहीं है उसको वैसा मानना मिथ्यात्व है। अनेक बार गलत मान्यता के कारण परिवार में अशांति हो जाती है। घर में किसी विषय को लेकर कोई बात हो गई, वो बात वैसी नहीं थी, पर सामनेवाले ने उसे अन्यथा समझ लिया। बस, हो गया परिवार में विवाद। हो सकता है किसी ने कोई बात किसी अन्य प्रयोजन से कही हो और सामनेवाले व्यक्ति ने उसे दूसरे प्रयोजन से समझ लिया। बात बिगड़ गई, हो गया विवाद। अनादिकाल से जीव इस मिथ्यात्व अर्थात् विपरीत मान्यता, गलत मान्यता, अन्यथा चिंतन के कारण ही दु:खी होता चला आ रहा है।

सबसे बड़ी बात तो ये है कि इस जीव ने धर्म के विषय में विपरीत मान्यता बना रखी है, यही मिथ्यात्व भाव है। कदाचित् अन्य जगह गलतफहमी हो जाये, विपरीत मान्यता हो जाये तो चल सकता है परंतु जब धर्म के विषय में विपरीत मान्यता होती है, गलत मान्यता होती है तो वह जीव मिथ्यात्व ग्रसित कहा जाता है। परिवार में किसी के साथ गलत मान्यता से विवाद हो गया हो तो कदाचित् सुधर भी सकता है। कोई समझा देता है, कहता है आपने ठीक नहीं किया। वो कहता है कि मैंने क्या ठीक नहीं किया? वो हमारे विषय में गलत सोचते हैं। तब उसे समझाया कि आपने ठीक से सुन नहीं पाया। वो आपके विषय में गलत नहीं बोल रहे थे।

मान लीजिए, परिवार में किसी व्यक्ति का नाम सुधीर है। हो सकता है परिवार में जो व्यक्ति सुधीर की चर्चा कर रहा था वह उसका अपना मित्र था। जिससे उसे कुछ पैसे आदि का लेन-देन करना था। वह व्यक्ति सुधीर नाम लेकर के घर में चर्चा कर रहा था। घर के सुधीर

ने गलतफहमी पाल ली और बात बिगड़ गई, समझ नहीं पाये। इसलिए परिवार में अगर कोई बात बिगड़ जाये तो उसे एक बार समझने की कोशिश करना चाहिये, फिर विचार करना चाहिये। कई बार गलतफहमी के कारण ही आपस के रिश्ते, आपस के सम्बन्ध बिगड़ जाते हैं, संबंधों में दरार पड़ जाती है।

यह जीव अनादि से एकमात्र विपरीत मान्यता के कारण ही अपने आत्महित से दूर रहा है। अपने और अपने स्वभाव के बीच में दरार पड़ी है। जब तक जीव की विपरीत मान्यता दूर नहीं होगी, गलत मान्यता दूर नहीं होगी तब तक जीव दु:ख का वेदन करता रहेगा। दु:खी किस कारण से है? मिथ्यात्व के कारण, गलत मान्यता के कारण।

कोई औषधी आपके रोग का निवारण करनेवाली है। आपके अंतरंग में मान्यता बन गई मैं इस औषधी का सेवन करूँगा तो मेरा स्वास्थ्य और अधिक खराब हो जायेगा। बताओ इसमें औषधी का दोष है या आपकी सोच का। दोष अपनी ही विपरीत मान्यता का है, औषधी का दोष नहीं है, औषधी तो निर्दोष है। बहुत लोग अपनी ही विपरीत मान्यताओं के कारण दु:खी बने रहते हैं।

एक बार एक व्यक्ति हमारे पास आये बोले—महाराजश्री! मैं पहले रोज जिनमंदिर जाता था, दर्शन करता था, पूजन करता था, अभिषेक करता था, स्वाध्याय करता था, धर्मध्यान करता था। मैंने कहा—करता था, करता था, क्यों कह रहे हो? करता हूँ, करता हूँ क्यों नहीं कहते? बोले—क्या बताऊँ इतना धर्मध्यान करता था, पर अब नहीं करता हूँ, इसलिए बोल रहा हूँ करता था। मैंने कहा—अब क्या बात बिगड़ गई? बोले—नया व्यापार किया था। भगवान् से भी बोल के आये थे, श्रीफल भी चढ़ाया था, उस दिन शांतिधारा, अभिषेक भी किया था, गंधोदक भी घर ले गये थे, वो प्रतिष्ठान प्रारम्भ करते समय छिड़क दिया था। थोड़े समय तक तो ठीक चला पर अब तो घाटे पर घाटा खाये जा रहे हैं। अब आप ही बताओ इतना पूजन किया, इतना स्वाध्याय किया, इतना अभिषेक किया, प्रभु को मनाया, फिर भी घाटे पे घाटा ही खाते जा रहे हैं, इसलिए मैंने सब छोड़ दिया है।

मैंने कहा—बड़ा गजब का चिंतन है आपका। कैसी विपरीत मान्यता बनाकर बैठे हो।

बोले–महाराज श्री! धर्म करने से क्या होता है? मेरे पड़ोस में मेरा मित्र व्यापारी है, उसका व्यापार दिन दूना रात चौगुना फैलता चला जा रहा है। न कभी मंदिर आता, न कभी स्वाध्याय करता, न कभी अभिषेक करता, न कभी पूजा करता, कभी मंदिर की सीढ़ियाँ भी नहीं चढ़ा फिर भी उसका व्यापार फल-फूल रहा है और मैं रोज भगवान् को मनाये जा रहा हूँ। इतने वर्ष हो गये भगवान् को पूजते-पूजते फिर भी हमारा व्यापार घाटे में जा रहा है, मैंने सब देख लिया कि धर्म करने से कुछ नहीं होता इसलिए मैंने अब धर्म करना छोड़ दिया है।

विचार कीजिये, यहाँ धर्म अन्यथा है या मान्यता अन्यथा हो गई है? ध्यान रखना, दोष धर्म का नहीं है। सूर्य प्रकाश देता है उल्लू को दिखाई न दे तो इसमें सूर्य का दोष नहीं है, इसमें दोष उल्लू का है, उसकी दृष्टि का है। संसार में सब उल्लू नहीं होते। उल्लू ही उल्लू होता है बाकी तो सब समझदार होते हैं। मैंने कहा–भाई! तुम पहले समझदार थे पर अब उल्लू बन गये हो इसलिए तुम ऐसा चिंतन करते हो कि धर्म करने से मेरा व्यापार डाउन (Down) हो रहा है, घाटा लग रहा है।

बंधुओ! सच्चे देव, शास्त्र, गुरु के स्वरूप का श्रद्धान् करना सम्यग्दर्शन है। जब उनके सत् स्वरूप के प्रति मान्यता विपरीत हो जाती है तो वही मिथ्यात्व बन जाता है। इस जीव के लिये सबसे ज्यादा कष्टप्रद मिथ्यात्व है। जहाँ-जहाँ विपरीत मान्यता है वहाँ-वहाँ जीव एकमात्र दु:ख ही पाता है। परिवार में सम्बन्ध बिगड़ जाते हैं, मित्रों से सम्बन्ध बिगड़ जाते हैं, ग्राहकों से सम्बन्ध बिगड़ जाते हैं। आकस्मिक भय उसके जीवन में आ जाता है। आदमी जब अनेक प्रकार के हादसों से गुजरता है तो फिर आकस्मिक भय उसे घेर लेता है। ऐसा लगता है कहीं कोई हादसा न हो जाये। आकस्मिक भय उसके जीवन में पैदा हो जाता है। जिनेन्द्र भगवान् कहते हैं–भाई! तू अपनी विपरीत मान्यता छोड़ सब ठीक हो जायेगा।

एक व्यक्ति किसी रास्ते से रोज गुजरता था, सालों से गुजर रहा था। किसी ने उससे कह दिया–तुम यहाँ से रोज गुजरते हो जरा सावधानी से गुजरा करो। उसने पूछा–क्या बात है? बोला–मैंने अनुभव किया है कि जब भी इस रास्ते पर इस वृक्ष के नीचे से गुजरता हूँ तो एक अलग ही फीलिंग (Feeling) होती है। कुछ अलग ही प्रकार का चिंतन आता है, माइण्ड अपसेट (Mind upset) होने लगता है इसलिए तुम जरा सावधानी से गुजरा करो।

उसने ये बात कभी सुनी न थी तो बेधड़क निकलता था। चाहे सुबह हो या शाम, दिन हो या रात कोई परेशानी नहीं थी। अगले दिन जब वह व्यक्ति उस रास्ते से गुजरा। जैसे ही वह वृक्ष आया तो वह बात याद आई, जरा सावधानी से गुजरना। अबकी बार वह वहाँ से गुजरा तो ऐसा लगा कि कुछ अजीब सा महसूस हो रहा है। ऐसा तो आज तक कभी नहीं हुआ, पर आज कुछ अजीब सा महसूस हो रहा है, वो ठीक ही कह रहे थे। उसने फिर मन को थोड़ा मजबूत किया। नहीं, ऐसा कुछ नहीं होता, कहाँ मैं व्यर्थ की बातों में पड़ गया, अरे कुछ भी नहीं है। अब उसके अंदर की दृढ़ता थोड़ी काम आई और वह पहले की तरह वैसे ही रोज निकलने लगा।

एक दिन फिर वही व्यक्ति मिला और बोला—क्यों भाई! मैंने उस दिन कहा था तुमने ध्यान दिया या नहीं? हाँ, वहाँ कुछ भी नहीं है। उस व्यक्ति ने फिर एक बार कह दिया—सुनो, इसे तुम हल्के में मत लो, ये मेरे अनुभव की बात है। अब वह व्यक्ति उस रास्ते से निकलता और जैसे ही वृक्ष आने को होता तो उसका चिंतन बदलने लग जाता। वृक्ष आ गया है, वृक्ष में कुछ है। उसकी धड़कनें बढ़ने लगी, भागो जल्दी, जल्दी क्रॉस (Cross) करो। वर्षों से गुजर रहा था, कुछ नहीं हुआ, किसी व्यक्ति ने उससे अन्यथा बात कह दी, वह बात उसके चिंतन में प्रवेश कर गई और उसको व्यर्थ का ही भय अनुभव में आने लगा। ऐसा चिंतन हो गया कि वास्तव में उस वृक्ष के नीचे से गुजरते हैं तो कुछ होता है, जबकि है कुछ भी नहीं। अपने ही अंदर कमजोरी बन रही है, अपने ही अंदर गलत मान्यता आ रही है।

ध्यान रखना, धर्मध्यान करने से जीव सुखी होता है। आपको जब ऊष्णता का अनुभव होता है तो शीतल स्थान का आश्रय करते ही ऊष्णता शांत हो जाती है। धर्म ऐसी ही शीतलता है जिसका आश्रय करने से भव-भव का संताप शांत हो जाता है। पूजन में आप रोज कहते हो—

''ॐ ह्रीं श्री देव-शास्त्र गुरुभ्यो संसारताप विनाशनाय चंदनं निर्वपामीति स्वाहा''

कौनसा ताप मेंटना चाहते हो? संसार ताप। जीवन में जितने प्रकार के विकल्प पैदा हो रहे हैं वे सब ताप हैं। हर विकल्प जीव को संतापित करता है, पीड़ित करता है। जिनेन्द्र भगवान् कहते हैं—जीव जब तक संसार में रहेगा तब तक विकल्पों से पीड़ित ही रहेगा। इसलिए **''संसार ताप विनाशनाय''** अर्थात् **''न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी''** संसार ताप का नाश

कर दो फिर जितने भी सांसारिक विकल्प हैं, वे स्वयमेव ही छूट जायेंगे। इस जीव ने कभी धर्म का सही स्वरूप नहीं समझा, इसकारण अनादि से मिथ्यात्व से पीड़ित हो संसार में दु:ख का वेदन कर रहा है।

आचार्य भगवन् गाथा-48 में कहते हैं—जिसप्रकार शरीर से कुष्ठी व्यक्ति अपने कुल का विनाश कर देता है उसीप्रकार मिथ्यादृष्टि जीव अपने दान आदि सद्गुणों का और सद्गति का विनाश करता है। अहो! मिथ्यादृष्टि कष्टप्रद है। सम्यग्दृष्टि जीव दान आदि सद्गुणों को धारण करनेवाला होता है और मिथ्यादृष्टि जीव अपने दान आदि सद्गुणों का विनाशक है।

आचार्य श्री अमितगतिस्वामी मरणकण्डिका में कहते हैं—

अहिंसादि गुणाः सर्वे व्यर्थामिथ्यात्वभाविते।
कटुकेऽलाबुनि क्षीरं, सफलं जायते कुतः।।62।।

जिसप्रकार कड़वी तूम्बी में रखा हुआ दूध सफल अर्थात् मधुर कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता। उसीप्रकार मिथ्यात्व युक्त जीव के अहिंसा आदि सर्वगुण या व्रत व्यर्थ हैं अर्थात् वे सफल नहीं हो सकते।

मिथ्यादृष्टि जीव के हाथ से दान नहीं छूटता। सोचता है, मैंने इतनी मेहनत से धन कमाया है, यूँ ही कैसे दे दूँ? मैंने धन अपने सुख के लिये कमाया है, अपने परिवार के लिए कमाया है। चले आते हैं यहाँ माँगने के लिए। हर किसी के लिए देता रहूँगा क्या? क्या मैंने धन इनके लिए कमाया था? ये मिथ्यादृष्टि जीव की मान्यता है।

सम्यग्दृष्टि जीव सोचता है, आज हमारे पास जो धन-सम्पदा है, वह अतीत भव में जो धर्मध्यान किया था उसी के फल से प्राप्त हुई है। वास्तव में यह मेरी नहीं है। धन-सम्पदा तो चंचला होती है, आज है, कल नहीं है। हम सोच रहे हैं कि ये हमारे काम आयेगी परंतु अशुभ कर्म का उदय आ गया, पापकर्म का उदय आ गया तो न जाने कब, कहाँ और कैसे वियोग को प्राप्त हो जाये? चोर ले जाये, बेटा उठा ले जाये।

एक माँ ने अपने बेटे से कहा—बेटा! ये जेवरात हैं, तू बैंक के लॉकर में रख आ। बेटे ने कहा—ठीक है रख आऊँगा। अपना ही तो बेटा है यह सोचकर माँ ने उसको सब बात बता

दी। एक दिन बेटा बोला–माँ! तुम बहुत दिनों से कहीं तीर्थयात्रा पर नहीं गई हो, ऐसा करो तुम तीर्थयात्रा कर आओ। माँ बोली–बेटा हो तो ऐसा, मुझसे कहता है कि माँ तीर्थयात्रा कर आओ। ठीक है बेटा, तू भी चलेगा? बोला–हाँ माँ, मैं भी चलूँगा और बड़े भैया को भी ले चलेंगे। माँ अपने दोनो बेटों के साथ तीर्थयात्रा पर गई। माँ तीर्थयात्रा कर रही थी, दोंनों बेटे साथ थे। छोटा भाई बड़े भाई से बोला–भैया! मुझे एक जरूरी काम आ गया है, आप माँ के साथ रहना, मैं जा रहा हूँ। वापिस आकर उसने सारा धन साफ कर दिया।

ध्यान रखना, जब धन-सम्पदा के वियोग का काल आ जाता है तो अपने भी पराये हो जाते हैं, अपने भी अपना साथ छोड़ देते हैं। हम सोचते हैं कि हमने अपनों के लिए ही तो दिया है, समय आने पर ले लेंगे। ध्यान रखना, वियोग का समय आ गया है तो अब वो तुम्हारा साथ नहीं देगा। सम्यग्दृष्टि जीव यह जानता है इसलिए सोचता है जो भी धर्म आदि करना है, दान आदि करना है अभी कर लेना चाहिये। कहा भी है–

काल करे सो आज कर, आज करे सो अब।
पल में परलय होयेगी, बहुरि करेगा कब।।

सम्यग्दृष्टि जीव का चिंतन शुभकार्य के लिए तत्काल करने का होता है। **''शुभस्य शीघ्रम्''** सम्यग्दृष्टि जीव दानादि में अग्रणी रहता है। वो सोचता है, मैं जो भी दान करूँगा वो जायेगा नहीं। जिनेन्द्रदेव ने कहा है–जो दिया जाता है, वो कई गुना होकर वापिस लौटकर आता है इसलिए मैं थोड़ा भी दान दूँगा तो वह मेरे पास ही लौटकर आनेवाला है। मिथ्यादृष्टि जीव दान आदि सद्गुणों का विनाश कर देता है। जिनेन्द्र भगवान् ने श्रावकों के लिये जो समीचीन कर्तव्य बताये हैं उन कर्तव्यों को नित्य करते हुए सम्यक्त्व में स्थिर रहना चाहिये।

आचार्य भगवन् कहते हैं–जैसे शरीर से कुष्ठी व्यक्ति अपने कुल का नाश कर देता है। उसका रक्त विकार वंशानुगत हो जाता है। कुलवंश में एक संतति से दूसरी में, इसप्रकार वंशानुगत हो जाता है और धीरे-धीरे कुलवंश का नाश हो जाता है। ऐसे ही मिथ्यादृष्टि जीव अपने कुलवंश में मिथ्यात्व के ही संस्कार बढ़ाता रहता है, कभी धर्मध्यान के संस्कार नहीं डाल पाता। ये कोई जरूरी नहीं है कि कोई जैनकुल में पैदा हुआ है तो वह सम्यग्दर्शन से सुशोभित होगा ही।

जिनकी धर्म से विपरीत मान्यता है, वो जैनकुल में जन्म लेने के बाद भी मिथ्यादृष्टि कुलवंश के हैं। उच्चजाति, नीचजाति में जन्म लेना एक अलग बात है और मिथ्यात्व पीड़ित कुलवंशों में जन्म लेना अलग बात है। जिन कुलवंशों में सच्चे देव, शास्त्र, गुरु की मान्यता नहीं है, जिन कुलवंशों में दान-पूजा आदि षट्कर्म नहीं होते, वे कुलवंश मिथ्यात्व से पीड़ित हैं।

आचार्य भगवन् पद्मनंदीस्वामी ने श्रावक के षट् कर्तव्य निम्न प्रकार बताये हैं–

देवपूजा गुरूपास्तिः, स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां, षट्कर्माणि दिने-दिने।।

देवपूजा, गुरुजनों की उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान ये षट् कर्तव्य श्रावक को अपनी शक्ति के अनुसार प्रतिदिन करना चाहिये।

धन, दान नहीं दोगे तो भी जायेगा। दान दोगे तो भी जायेगा। जो आया है उसका जाना तय है। जब जिस जीव के जाने का समय आ जाता है उसे कोई रोक नहीं सकता। घर में कोई व्यक्ति है, घर-परिवार के कार्य करता रहे तो भी जायेगा, धर्म-पालन आदि कार्य करे तो भी जायेगा। जाना तो निश्चित है। घर-संसार के कार्य करते हुए दुर्गति में जायेगा और धर्मध्यान करता हुआ सुगति में जायेगा।

सम्यग्दृष्टि जीव के अंदर धनभोग के प्रति आसक्ति नहीं होती। सम्यग्दृष्टि जीव अवसर पाकर यथायोग्य धन का उपयोग करने की निरंतर भावना करता रहता है। सोचता है, कब मुझे अवसर मिले और मैं अपनी धनराशि आदि का धर्मकार्य में उपयोग करूँ। तन का, मन का, धन का और इस जीवन का जितना उपयोग सद्कार्यों में हो जाये वो ही सार्थक है। न तन रहेगा, न मन रहेगा, न धन रहेगा और न ये जीवन रहेगा, चारों ही समय के साथ छूटेंगे, इसलिए सम्यग्दृष्टि जीव इन चारों का समय रहते हुए उपयोग करना चाहता है। मिथ्यादृष्टि जीव न तन का उपयोग कर पाता, न मन का उपयोग कर पाता, न धन का उपयोग कर पाता और न इस जीवन का उपयोग कर पाता, मात्र संग्रहवृत्ति में ही पड़ा रहता है।

ध्यान रखो, धर्मध्यान किसी पर निर्भर होकर मत करना। आपका बेटा बिगड़ जाये, तो

क्या आपसे पूछकर जुआ खेलने जाता है? पिताजी! मैं जुआ खेलने जा रहा हूँ आप अनुमति दीजिये, क्या बेटा पूछता है आपसे? बेटा यदि शराब पीने जाता है तो क्या पूछकर जाता है? कोई भी गलत कार्य करने जाता है तो क्या आपसे पूछकर जाता है? **विचार करो, जब आपका बेटा गलत कार्य आपसे पूछकर नहीं करता तो फिर धर्मकार्य में क्यों कहते हो–बेटा! पूछकर किया करो, बिना पूछे आज आप इतना दान कर आये।** जुये में लाखों रुपये लगा दिये तब कुछ नहीं बोला, और बेटे ने धर्मकार्य में कुछ दान कर दिया तो कहते हो–बेटा! कम से कम पूछ तो लेते।

देखो, कैसी विपरीत मान्यता है। यदि बेटा संसार के कार्यों में धन नष्ट कर दे तो कुछ नहीं कहते हो, उसको दबा देते हो। अगर बेटा धर्मकार्यों में कुछ दान करता है तो उसे डाँट लगाते हो। तुम्हारा है क्या जो लुटाये पड़े हो?

ध्यान रखना, जब तुम्हारे धन के नाश का समय आ गया तो वह कहीं न कहीं तो जायेगा ही, रहेगा नहीं। इसलिए धर्मध्यान व्यक्तिगत करना चाहिये। थोड़ी डाँट लगती तो खा लेना। जब जुआ खेलने में डाँट लगती है उसे सहन कर सकते हो, तो धर्मध्यान के क्षेत्र में क्यों नहीं? **घर-परिवार में धर्मध्यान करने के लिए स्वतन्त्रता होनी चाहिये। घर में ऐसे संस्कार होने चाहिये कि हर पिता अपने पुत्र से खुद कहे–बेटा! सुनो आपको धर्मध्यान के क्षेत्र में जो भी करना हो करो हमारी ओर से पूर्ण स्वतंत्रता है, पूरा आशीर्वाद है। घर के मुखिया का ये कर्तव्य है कि वह अपने परिवार का वातावरण धर्ममय बनाये।** हमारे पास बहुत से लोग अपना रोना रोने आते हैं। सोचते हैं, ये बात किसी को सुना भी नहीं सकते और भीतर पच भी नहीं रही है तो आचार्यश्री को जाकर सुना दो। आकर कहते हैं–आचार्यश्री! बहुत परेशान हैं, बहुत दु:खी हैं। हमने पूछा क्या हुआ? बोले–बेटे ने पाँच लाख रुपये का सट्टा लगा दिया सब चला गया। "**अब पछताये होत का, जब चिड़िया चुग गई खेत।**" अपने बेटे को बचपन से ही दान के संस्कार दिये होते। कहीं उत्तम अवसर पर अपने बेटे को आगे करके कहते–बेटा! इस उत्तम कार्य में दान तुम करो, तुम बोली बोलो, ऐसा करते तो उसमें कुलवंश के संस्कार आते। वह हमेशा याद करता, हमारे पिताजी ने हमें बचपन से ही सिखाया है कि धर्मक्षेत्र में हमें दान करना चाहिये।

ध्यान रखो, मिथ्यादृष्टि जीव दान आदि सद्गुणों का विनाश करता है और सम्यग्दृष्टि जीव दान आदि सद्गुणों को प्रगट करता है। दान का अवसर पाकर हर्षित होता है, आनंदित होता है, रोमांचित होता है और कहता है—अहो! आज मेरा कैसा सौभाग्य जगा है जो आज मुझे यह अवसर प्राप्त हुआ है। मैं कब से दान देना चाहता था पर कोई लेनेवाला ही नहीं था।

ध्यान रखना, दान देनेवाला देता नहीं है लेनेवाला उपकार करता है तब वो दे पाता है। दान देनेवाला कहे कि ले लो और लेनेवाला कह दे कि नहीं चाहिये। क्या हुआ? अवसर ही नहीं मिला।

आचार्य कुंदकुंददेव कहते हैं—जिसप्रकार कुष्ठ रोग से पीड़ित व्यक्ति अपने कुल का विनाश कर देता है उसीप्रकार मिथ्यादृष्टि जीव अपने दान आदि सद्गुणों का विनाश कर देता है। वास्तव में जो परिवार कुटुम्ब है, ये तो लुटेरों का कुल है। सब आँख लगाये बैठे हैं कि कब, कहाँ, कैसे अवसर मिले और ये धन हमारे हाथ लग जाये। जो अपने सद्गुण हैं वो ही अपना वास्तविक कुल है। मिथ्यादृष्टि जीव अपने सद्गुणों का विनाश कर देता है, यानि अपने कुल का विनाश कर देता है। सद्गुणों का विकास और दुर्गुणों का विनाश करना चाहिये।

आचार्य भगवन् कुंदकुंददेव कहते हैं—अहो! मिथ्यात्व ही कष्टप्रद है। जीव अपनी विपरीत सोच के कारण विपरीत कार्यों में खूब लगा रहता है पर धर्मध्यान के कार्यों में पीछे रहता है। धर्मध्यान के कार्यों में हमेशा आगे रहना चाहिये, क्योंकि धर्म तुम्हें इसभव में सुखी करेगा और परभव में भी। धर्म भव-भव में सुख प्रदान करेगा, अनुकूलता देगा। जीवन आपका अच्छा बने, इसी भावना के साथ...

जो तन कुष्ठ करे धारण, कुल विनाश का है कारण।
मिथ्यादृष्टि ज्ञानादि, सुगुण नाश का है कारण।।
सम्यग्दर्शन बिन, हो-हो-2, संसार बढ़ाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2, संहिता दिखलाये रे।।

अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

❑❑❑

(सम्यग्दृष्टि ही धर्म को जानता है)

देव-गुरु-धम्म-गुण-चारित्त-तवायार-मोक्खगदिभेयं।
जिणवयण सुदिट्ठि विणा, दीसदि किं जाणदे सम्मं।।49।।

*** अन्वयार्थ ***

(देव-गुरु-धम्म-गुण-चारित्त-तवायार-मोक्खगदिभेयं) देव, गुरु, धर्म, गुण, चारित्र, तपाचार, मोक्षगति का रहस्य **(जिणवयण)** जिनदेव के वचन **(सुदिट्ठि विणा)** सम्यग्दृष्टि के बिना **(किं)** क्या **(दीसदि)** दीखते हैं? **(जाणदे)** या जाने जा सकते हैं? **(सम्मं)** सम्यग्दर्शन ही इन सबको देखता, जानता है।

अर्थ–देव, गुरु, धर्म, गुण, चारित्र, तपाचार, मोक्षगति का रहस्य और जिनदेव के वचन सम्यग्दृष्टि के बिना क्या देखे या जाने जा सकते हैं? वास्तव में सम्यग्दर्शन ही इन सबको देखता और जानता है।

गाथा - 49

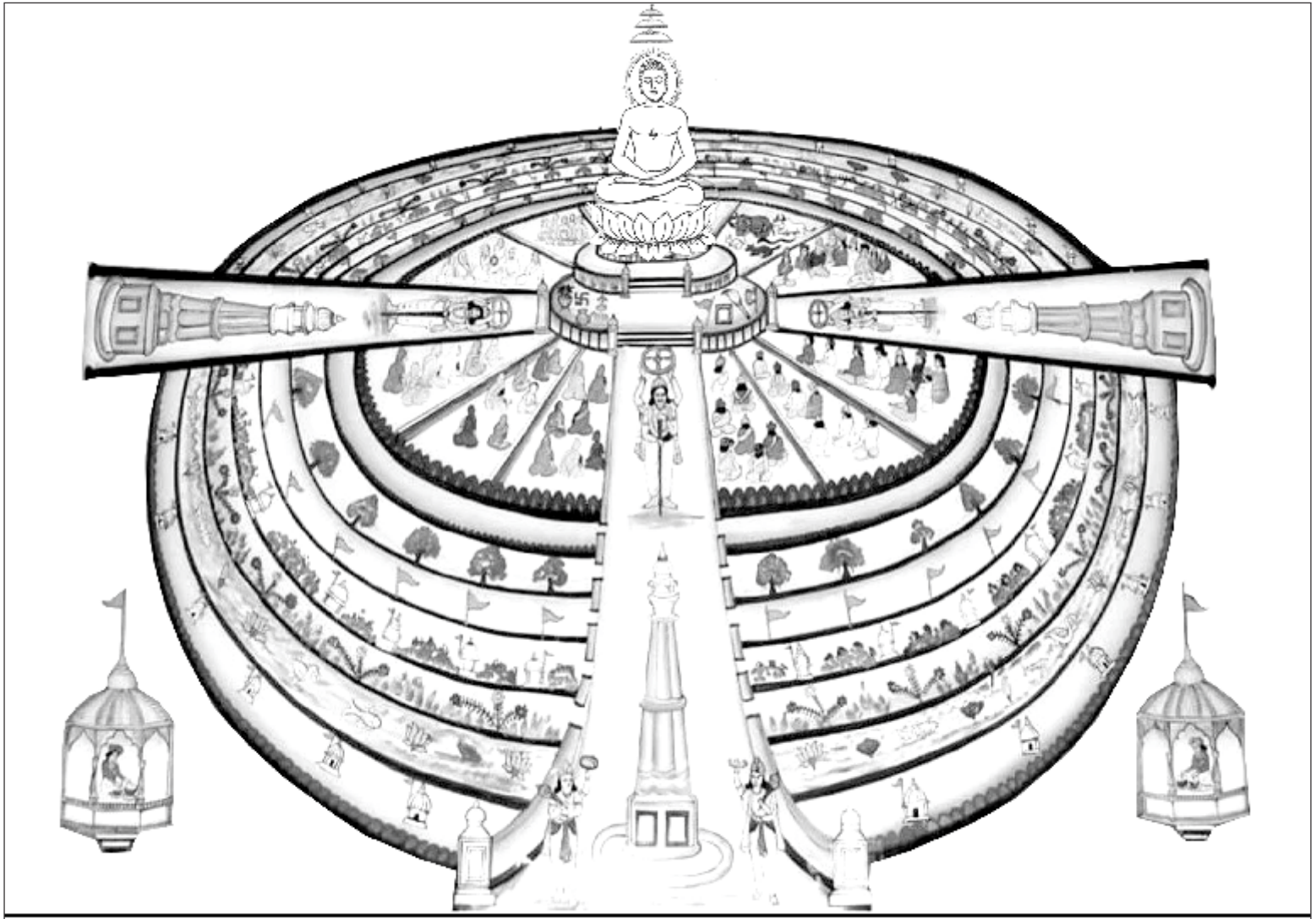
(प्रवचन)

●

जैन एकता
जिनागम पंथ से

15.10.2014

बड़ौत (उ.प्र.)



समवशरण में तीर्थंकर देव की दिव्यध्वनि में प्रकट हुआ जिनागम पंथ।

60

रयणोदय

देव, धर्म, गुरु, चारित्र, गुण, तपाचार जिनदेव वचन।
देख जान सकते हैं क्या, शिवगति रहस सुदृष्टि जन।।
इस बिन न श्रावक, हो-हो-2, न साधु कहाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2, संहिता दिखलाये रे।।

'**जयदु जिणागमपंथो**' अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

तीर्थंकर भगवंत की दिव्यध्वनि जिनश्रुत है, जिनागम है। जिनागम में वर्णित आत्म-कल्याणकारी मार्ग, आत्महितकारी पंथ '**जिनागम पंथ**' है। परस्पर रागद्वेष को बढ़ानेवाले आगमबाह्य पंथ उन्मार्ग हैं। वीतरागता को देनेवाला, '**परस्परोपग्रहो जीवानाम्**' का प्रतीक '**जिनागम पंथ**' सन्मार्ग है।

जिनेन्द्रदेव की वाणी में जो मोक्षमार्ग का कथन है वही जिनागम पंथ है। जीव ने दृष्टि को कभी सम्यक् नहीं किया, यानि सम्यग्दृष्टि नहीं बना। जब तक दृष्टि सही न हो, दृष्टि सम्यक् न हो तब तक वस्तु का यथार्थस्वरूप दिखाई नहीं देता। यदि हमें वस्तु का सही श्रद्धान् करना है, सही निर्णय करना है, सम्यक् प्रतीति करना है तो दृष्टि को सही करना होगा। जिनेन्द्र

भगवान् ने कहा—भो जीव! इस लोक में छह द्रव्य हैं, इनके प्रति अपनी दृष्टि सम्यक् करो। जीवद्रव्य, पुद्गलद्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और काल द्रव्य। इनके सही स्वरूप को देखना और जानना है। छह द्रव्यों में हम सभी जीवद्रव्य हैं। हमें अपने जीवद्रव्य को सम्यक् प्रकार से देखना, जानना हैं। अन्य पाँच द्रव्यों में एक पुद्गल द्रव्य को छोड़कर अन्य चार द्रव्यों से अपना कोई ज्यादा प्रयोजन नहीं है। चार द्रव्यों का सहयोग हम को सहज रूप से प्राप्त होता रहता है। एकमात्र पुद्गल द्रव्य है जो संसारदशा में जीव के लिये उपकारी है, दृष्टि ठीक न होने के कारण वही पुद्गल द्रव्य जीव के लिये अपकारी बना हुआ है।

पुद्गल द्रव्य का तात्पर्य है—जिसमें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण पाये जाते हैं, जो पूरण-गलन स्वभावी होता है। अपना शरीर भी पुद्गल द्रव्य है। इस शरीर को भोजन न दिया जाये तो इसके परमाणु खिरने लगते हैं, गलने लगते हैं, शरीर दुर्बल हो जाता है। शरीर को भोजनपान आदि मिलता रहे तो शरीर की स्थिति योग्य परमाणु प्राप्त होते रहते हैं, शरीर ह्रष्ट-पुष्ट बना रहता है। शरीर पुद्गल द्रव्य है और मैं जानने-देखनेवाला ज्ञाता-दृष्टा स्वभावी जीवद्रव्य हूँ। इन दोनों की संयोगी अवस्था यह मनुष्य अवस्था है, देव अवस्था है, नारक अवस्था है, एकेन्द्रिय, दो इद्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, पंचेन्द्रिय आदि तिर्यञ्च पर्यायें हैं। शरीर पुद्गल द्रव्य का परिणमन है, पुद्गल से निर्मित है। ये हमारे लिये सहयोगी है। यह सुनने में सहयोग करता है, देखने में सहयोग करता है, सूँघने में सहयोग करता है साँस लेने में सहयोग करता है, और स्पर्श करने में सहयोग करता है। स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और श्रवण इनका अनुभव इस शरीर के माध्यम से ही होता है क्योंकि इन्द्रियाँ शरीर में होतीं हैं। परंतु मैं जानने-देखनेवाला आत्मा अपने ज्ञान-दर्शन गुणों से जानता देखता हूँ, न कि इन्द्रियों से। इन्द्रियाँ साधन हैं, उपकरण हैं। उपकरण में खराबी आ जाये तो ठीक तरह से जानना-देखना भी नहीं होता परंतु आत्मा उस समय भी जानने-देखनेवाला रहता है। आत्मा के जानने-देखनें में कोई फर्क नहीं पड़ता। फर्क पड़ता है शरीर की अवस्थाओं पर। हमें जीवद्रव्य को स्वभाव से जानने की आवश्यकता है। यह तभी जाना जा सकता है जब हमारी दृष्टि समीचीन हो।

आचार्य भगवन् कुंदकुंददेव गाथा-49 में बता रहे हैं—आत्मा के हितकारी जितने भी स्व-पर निमित्त हैं, वे सभी दृष्टि समीचीन होने पर ही देखे जाते हैं, जाने जाते हैं। वे कौन-

कौन से निमित्त हैं? गाथा देखते हैं–

देव-गुरु-धम्म-गुण-चारित्त-तवायार-मोक्खगदिभेयं।
जिणवयण सुदिट्ठि विणा, दीसदि किं जाणदे सम्मं।।49।।

देव, गुरु, धर्म, चारित्र, गुण, तपाचार, मोक्षगति का भेद यानि रहस्य, जिनेन्द्रदेव के वचन ये सम्यग्दृष्टि के बिना नहीं जाने जा सकते। सम्यग्दृष्टि ही इन सबको देखता-जानता है। जिसकी दृष्टि सही होती है वही सच्चे देव को, सच्चे देव के रूप में देखता है। लोक में असंख्यात देवी-देवता हैं इन सबके बीच सच्चे देव को वही देख सकता है जिसकी दृष्टि सम्यक् होती है। तीर्थंकर देव की समोशरण सभा में देव भी होते हैं, स्वर्ग के असंख्यात देवी-देवता भी होते हैं। अब हमें यह विचार करना है–जहाँ असंख्यात देवी-देवता अपने-अपने कोठे में विराजमान हों और सच्चे देव सिंहासन पर, चार अंगुल ऊपर अधर में विराजमान हों, वहाँ सच्चे देव को, सच्चे देव के रूप में कौन देख पाता है? एकमात्र सम्यग्दृष्टि ही देख पाता है।

किन्हीं आचार्य के अनुसार समोशरण सभा में कदाचित् मिथ्यादृष्टि जीव भी होते हैं और कोई आचार्य कहते हैं कि बारह सभाओं में मिथ्यादृष्टि जीव नहीं होते। दोनों आचार्यों को अपनी-अपनी गुरु परम्परा से जो ज्ञान प्राप्त हुआ है उसके अनुसार उन्होंने कथन किया है। अगर वहाँ सम्यग्दृष्टि ही होते हैं तो वे सच्चे देव के रूप में किसको देखते हैं? जो कोठों में बैठे हुए देवी-देवता हैं उन्हें अथवा जो कमलासन पर चार अंगुल ऊपर अधर में विराजमान हैं उन्हें? किसको देखते हैं? जो अरिहंत देव हैं जिनका समोशरण लगा हुआ है, जिनकी दिव्यध्वनि खिरती है, जिनका अष्टप्रातिहार्य से युक्त अनन्तचतुष्टयस्वरूप प्रकाशित हो रहा है, ऐसे वह अरिहंत परमात्मा ही सच्चे देव हैं। जो अपने-अपने कोठों में बैठे हुए हैं वे देवगति के देव हैं, सच्चे देव नहीं हैं।

ध्यान रखना, आचार्य भगवन् कुंदकुंददेव यहाँ इस गाथा में यही बता रहे हैं–सच्चे देव को, सच्चे देव के रूप में वही देख सकता है जिसकी दृष्टि सही है। कदाचित् वहाँ कोई मिथ्यादृष्टि जीव भी हो तो वह उन्हें देख तो सकता है, जान तो सकता है पर सच्चे देव के रूप में नहीं देखता है।

एक बालक जैनकुल में पैदा हुआ। धीरे-धीरे वह चार साल का हुआ। उसके पड़ोस में जो

परिवार रहता था उनका भी एक चार-पाँच साल का बच्चा था, उसके साथ उसकी मित्रता हो गई। दोनों बच्चे साथ-साथ खेलते थे। एक दिन उन दोनों बच्चों ने एक जिनप्रतिमा को देखा। जो पड़ोसी का बच्चा था वो कहने लगा—नंगे भगवान्, नंगे भगवान्, नंगे भगवान्। उसे देखकर जो जैन बालक था वो भी कहने लगा—नंगे भगवान्, नंगे भगवान्, नंगे भगवान्। धीरे-धीरे दोनों बच्चे बड़े हुए। जो जैनकुल में जन्मा था उसके माता-पिता उसे मंदिर लाये, पाठशाला में भी भेजा। पाठशाला में जब उसने सच्चे देव का स्वरूप जाना, तब वह आठ-दस साल का हो चुका था। सच्चे देव का स्वरूप जानने के बाद उसे बोध हुआ कि इन्हें नंगे भगवान् नहीं, इन्हें सच्चे भगवान् कहना चाहिये, सच्चे देव कहना चाहिये। जब तक उस बालक की दृष्टि ठीक नहीं थी तब तक वह भी बोलता था नंगे भगवान्, जब उसे सच्चे देव का स्वरूप जानने में आया, सम्यक्स्वरूप का बोध हुआ तब वही बालक बोलने लगा—सच्चे भगवान्। क्यों बोलने लगा? क्योंकि अब उसकी दृष्टि सही हो गई है।

ध्यान रखना, जब तक इन्द्रभूति गौतम की दृष्टि सही नहीं थी तब तक वह तीर्थेश महावीर को सच्चा देव नहीं मानता था, दृष्टि जब सम्यक् हुई तो उसने तीर्थंकर महावीर को ही एकमात्र सच्चा देव माना। आचार्य कुंदकुंददेव कहते हैं—रागद्वेष से मलिन देवी-देवता लोक में बहुत मिल जायेंगे, परंतु रागद्वेष को जीतनेवाले वीतरागी देव एक मात्र समोशरण सभा में ही प्राप्त होंगे। जो उन्हें सच्चे देव के रूप में स्वीकार करनेवाला है वही सम्यग्दृष्टि है।

जैसे हमारे अन्य साधर्मी भाई हैं वैसे ही स्वर्ग के देव भी हमारे साधर्मी हैं, वो भी हमारी तरह जिनेन्द्र भगवान् के उपासक हैं, आराधक हैं, वो भी अपनी देव पर्याय का परित्याग करके सच्चे देवरूप अवस्था को प्राप्त करने की भावना करते हैं। ध्यान रखना, सम्यग्दृष्टि जीव के अंदर अन्य किसी भी देवी-देवता के प्रति, मनुष्यों के प्रति, तिर्यञ्चों के प्रति कभी निन्दा का भाव नहीं आता। कैसा होता है सम्यग्दृष्टि जीव? समीचीन दृष्टिवाला होता है। वह कभी किसी की निन्दा नहीं करता, साधर्मी जानकर अन्य जीवों पर उपकार करता है। कदाचित् वह साधर्मी न भी हो मिथ्यादृष्टि हो, ऐसे जीवों के प्रति भी वह करुणा रखता है। भावना करता है—हे भगवान्! यह जीव भी सम्यग्दृष्टि बनें। भले ही आज यह मिथ्यादृष्टि है, परंतु यह भी भावी भगवान् आत्मा है, भावी परमात्मा है। आज इनकी दृष्टि विपरीत है, अनादि से सभी जीवों की दृष्टि विपरीत रही है, मैं भी कौन सा दूध का धुला हूँ, अनादि से मेरी भी दृष्टि विपरीत थी।

संसार में जितने भी जीव हैं, सभी जीव अनादि से विपरीत दृष्टिवाले ही रहे हैं। बाद में सच्चे देव की वाणी को श्रवण करके, सच्चे गुरु की वाणी को श्रवण करके अपनी दृष्टि को बदला है और सम्यग्दृष्टि बनकर अपना आत्महित किया है। हे प्रभो! यह जीव भी अपनी मिथ्यादृष्टि छोडकर सम्यग्दृष्टि अवस्था को प्राप्त करे। सम्यग्दृष्टि जीवमात्र के प्रति करुणा से भरा होता है, दया से भरा होता है, जीवमात्र के प्रति उत्तम भावना रखता है।

सच्चे गुरु के प्रति सच्ची दृष्टि रखो। सम्यग्दृष्टि जीव ही सच्चे गुरु की सच्चे गुरु के रूप में श्रद्धा करता है। सच्चे गुरु को देखकर भी मिथ्यादृष्टि जीव उन्हें सच्चा गुरु नहीं मानता। क्या कहता है? नंगे महाराज। ध्यान रखना, जन्म से तो सभी नग्न होते हैं, विकारों को ढकने के लिये वस्त्रों के आवरण बाद में ओढ़े जाते हैं। निर्ग्रंथ मुनि भले ही परिग्रह से रहित होने के कारण नग्न होते हैं परंतु मुनिराज रत्नत्रय गुण के वस्त्रों को धारण कहते हैं। जो रत्नत्रय गुण के वस्त्र धारण करते हैं वे शरीर में होकर भी अशरीरी आत्मा का अनुभव करते हैं। जिनमुद्रा परम वंदनीय है, यह अरिहंत मुद्रा लोक में दुर्लभ है। स्वर्ग के देव भी जिनमुद्रा धारण नहीं कर पाते। स्वर्ग के देवों में शक्ति तो बहुत है, एक छोटा सा देव भी पूरा जम्बूद्वीप उठाकर फेंक दे इतनी शक्ति है पर वो शरीर का बल है, आत्मबल नहीं है। शरीर का बल होना अलग बात है और आत्मबल होना अलग बात है। जिसकी दृष्टि सम्यक् होती है वह अपने आपको वीर्य गुण से रचा हुआ मानता है। मैं आत्मा अनन्तवीर्य गुण का स्वामी हूँ, अनन्त शक्ति का धारी हूँ ऐसा जानकर, मानकर अपनी प्रगट शक्ति के अनुसार अपने आत्मबल को और विकसित करने के लिए चारित्र के मार्ग को स्वीकार करता है। जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से सुशोभित हैं वे ही सच्चे गुरु हैं। सम्यग्दृष्टि जीव ऐसे निर्ग्रंथ वीतरागी गुरु को ही सच्चा गुरु मानता है, अन्य भेषधारी साधुओं को सच्चा साधु नहीं मानता। भेष बदलने से कोई साधु नहीं बन जाता, अपितु अंतरंग बदलने से साधुपना आता है। मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र का त्याग करने से एवं सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र को प्रगट करने से ही सच्चे साधु बनते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव निर्ग्रंथ मुद्रा में रत्नत्रय धर्म का दर्शन करता है, निर्ग्रंथ मुद्रा का सम्मान करता है।

आचार्य भगवन् श्री शिवार्य महाराज भगवती आराधना में कहते हैं–

मिच्छत्तं वेदंतो जीवो विवरीयदंसणो होदि।
ण य धम्मं रोचेदि हु महुरं खु रसं जहा जरिदो।। 40।।

मिथ्यात्व का अनुभवन करनेवाला जीव विपरीत श्रद्धावाला होता है। उसे धर्म नहीं रुचता। जैसे ज्वर से ग्रस्त व्यक्ति को निश्चय से मधुर रस नहीं रुचता।

सच्चा धर्म सम्यग्दृष्टि जीव को ही दिखाई देता है। सच्चा धर्म क्या है? अहिंसा ही सच्चा धर्म है। **''अहिंसा परमोधर्मः''** अहिंसा ही उत्कृष्ट धर्म है। जिस जीव को अहिंसा धर्म की श्रद्धा नहीं है उस जीव को अभी धर्म मिला ही नहीं। लोक में धर्म के नाम पर अनेक प्रकार की हिंसा होती है, वहाँ धर्म नहीं है कोरी धर्म संज्ञा है। ध्यान रखो, जिनेन्द्र भगवान् ने अहिंसा को धर्म कहा है। अहिंसा दो प्रकार की है, पहली–परजीव की रक्षा करना, दूसरी–स्वजीव की रक्षा करना। स्वजीव की रक्षारूप अहिंसा भी दो प्रकार की है–एक पर से स्वजीव की रक्षा करना और दूसरी परभावों से (विभावों से) स्वजीव की रक्षा करना।

जिनेन्द्र भगवान् ने कहा–पर जीवों की रक्षा करो, किसी भी जीव को सताओ मत, किसी जीव को दुःख मत दो, किसी जीव के प्राणहरण मत करो, इसका नाम धर्म है। जो परजीव की रक्षा करता है उसे लोक में भी सम्मानित किया जाता है। एक बालक तालाब में गिर गया। उसे तैरना नहीं आता था, वह डूबने लगा। वहीं किनारे पर एक बालक खड़ा था जिसे तैरना आता था। उसने देखा, अरे! वो तालाब में गिर गया है, डूब रहा है। लोगों ने कहा, बचाओ-बचाओ उसको। वह बालक तुरंत पानी में कूँद गया और उसको तालाब से निकालकर ले आया। उसकी रक्षा हो गई। बोलो, उस बचानेवाले का लोग सम्मान करेंगे या अपमान करेंगे? लोगों ने कहा–वाह बेटा! तुमने बहुत वीरता का कार्य किया है, तुमने बहुत महान कार्य किया है, तुमने उसके प्राणों की रक्षा की है।

ध्यान रखना, वहाँ कोई किसी की हिंसा नहीं कर रहा था। उस जीव का प्राणघात होनेवाला था, उस समय बालक ने उसकी रक्षा की। उसको सम्मान मिला। समाज में सम्मान मिलता है, कभी प्रशासन से सम्मान मिलता है, कभी शासन के द्वारा भी सम्मानित किया जाता है। यहाँ व्यक्ति का सम्मान नहीं हो रहा, यहाँ व्यक्ति के अहिंसाभाव का सम्मान हो रहा है। उसकी दया का सम्मान हो रहा है। उसके रक्षाभाव का सम्मान हो रहा है। इसलिए लोकव्यवहार में परजीवों की रक्षा करना भी धर्म है।

जिनेन्द्रदेव ने ये भी कहा–भो जीव! पर से अपनी भी रक्षा करना। जिनशासन में दो प्रकार के मुनिराज होते हैं–जिनकल्पी मुनिराज और स्थविरकल्पी मुनिराज। जिनकल्पी

मुनिराज उत्कृष्ट संहनन के धारी होते हैं, अकेले रहते हुए अपनी आत्मसाधना करते हैं, संयम में दृढ़ रहते हैं। स्थविरकल्पी मुनिराज का संहनन हीन होता है इसलिए वे अकेले नहीं रहते, संघ में रहते हैं, संघ में रहकर अपने संयम की साधना करते हैं।

श्री भगवती आराधना ग्रंथ में कहा–स्थविरकल्पी मुनिराज के सामने कोई सींगवाला जानवर मारने के लिए उद्यत हो जाये तो दौड़कर भी वे अपनी रक्षा करें। जिनकल्पी मुनिराज अगर सिंह भी सामने आ जाये तो उसके सामने खड़े हो जाते हैं। स्थविरकल्पी मुनिराज का संहनन उत्कृष्ट नहीं है, हीन संहनन है। अगर किसी सींगवाले जानवर ने उन्हें सींग आदि मार दिया तो उनका संयम छूट सकता है, इसलिए कहते हैं–भो मुनिराज! आप दौड़कर भी अपनी रक्षा करना, अर्थात् परजीवों से अपनी रक्षा करना भी धर्म है। मुनिराज वहाँ भी अहिंसा धर्म का पालन कर रहे हैं।

आत्मा में राग, द्वेष, मोह, काम, क्रोध, लोभ आदि विकारों को नहीं आने देना, अपने वीतराग स्वभाव में स्थिर रहना यह परभावों से स्वजीव की रक्षा करने रूप अहिंसा धर्म है इसे निश्चय अहिंसा कहते हैं। पर की रक्षा करना एवं पर से अपनी रक्षा करना ये व्यवहार अहिंसा है। लोक में मूक पशुओं की बलि को कुछ लोग धर्म कहते हैं। ये धर्म नहीं महापाप है। धर्म के नाम पर जीवों की हिंसा करना यह पाप की कोटि में आता है, धर्म की कोटि में नहीं। जिनधर्म कहता है–"**अहिंसा परमोधर्मः**" अहिंसा ही उत्कृष्ट धर्म है।

गुण–सम्यग्दृष्टि जीव ही गुणों को देख पाता है। सम्यग्दृष्टि जीव को प्रत्येक वस्तु में गुण दिखाई देते हैं। वस्तु चेतन हो या अचेतन, हर वस्तु का अपना गुणधर्म होता है। हर वस्तु का गुणधर्म नियत है। सम्यग्दृष्टि जीव हर वस्तु को उसके गुणों से जानता है, इसीलिए वह समभाव को प्राप्त होता है, समताभाव को प्राप्त होता है। जो वस्तु को उसके गुणधर्म से नहीं पहिचानता वह समता भाव को प्राप्त न होकर विषमता को प्राप्त हो जाता है, राग-द्वेष को प्राप्त हो जाता है।

आचार्य भगवन् समन्तभद्रस्वामी रत्नकरण्डक श्रावकाचार में निर्विचिकित्सा अंग का लक्षण बताते हुए कहते हैं–

स्वभावतोऽशुचौ काये, रत्नत्रयपवित्रते।
निर्जुगुप्सा गुणप्रीतिर्मता निर्विचिकित्सिता।।13।।

शरीर स्वभाव से अशुचि है, अपवित्र है। यह रत्नत्रय गुण से पवित्र हो जाता है। ऐसे रत्नत्रयधारी मुनिराजों को देखकर उनके गुणों में प्रीति करना निर्विचिकित्सा अंग है। निर्ग्रंथ मुनिराजों का चेहरा मत देखना, निर्ग्रंथ मुनिराजों में रत्नत्रय धर्म देखना। आजकल बड़ा गड़बड़ हो गया है, लोग मुनिराजों के चेहरे देखने लगे हैं। मैं उनसे कहना चाहता हूँ—मुनिराज का चेहरा नहीं, मुनिराज में रत्नत्रय गुण को देखो। जब मुनिराज में रत्नत्रय गुण देखोगे तो मुनिराज दिखाई देंगे, क्योंकि मुनिराज रत्नत्रयधारी होते हैं। आचार्य भगवन् समन्तभद्रस्वामी ने कहा—रत्नत्रयधारी मुनिराज की मलिन देह को देखकर ग्लानि मत करना, अपितु उनके रत्नत्रय गुण में प्रीति करना निर्विचिकित्सा अंग है।

आचार्य श्री अमृतचन्द्रस्वामी ने निर्विचिकित्सा अंग को इसप्रकार कहा है—आप रास्ते में अगर विष्टा पड़ा हुआ हो तो उसे देखकर भी मन में ग्लानि मत करना, यह निर्विचिकित्सा अंग है। आचार्य भगवन् कहते हैं—उस पुद्गल द्रव्य का ऐसा ही स्वभाव है, ऐसा ही परिणमन है, वह उसका गुण है। हर द्रव्य का अपना गुण वैभव है। सम्यग्दृष्टि जीव को हर द्रव्य में उसका गुणवैभव नजर आता है। आप उसके गुण वैभव को देखकर ग्लानि क्यों करते हैं? आप तो अपने निज गुण वैभव को देखकर आनंद का अनुभव कीजिये। अहो! सम्यग्दृष्टि जीव गुणदृष्टि वाला होता है।

मेरी भावना में कहा भी है—

गुणीजनों को देख हृदय में मेरे प्रेम उमड़ आवे।
बने जहाँ तक उनकी सेवा करके यह मन सुख पावे।।

ये सम्यग्दृष्टि जीवों के लिये कहा है, मिथ्यादृष्टि जीव इससे प्रेरणा पायें कि हमारे अंदर भी गुणदृष्टि पैदा हो। सम्यग्दृष्टि जीव गुणीजनों को देखकर प्रेम को प्राप्त होता है। ध्यान रखना, केवल निजगुण-निजगुण ही मत करते रहना, सम्यग्दृष्टि जीव जहाँ भी देखता है उसे गुण ही गुण नजर आते हैं, इसलिए वह विषमता में नहीं समता में रहता है।

चारित्र—सम्यग्दृष्टि जीव ही चारित्र की महिमा को समझ पाता है, जान पाता है। मिथ्यादृष्टि को चारित्र का दर्शन नहीं होता, इसीलिए वो चारित्रवानों का दर्शन नहीं कर पाता।

जहाँ चारित्र दिखाई देगा वहाँ चारित्रवान भी अवश्य दिखाई देगा। मिथ्यादृष्टि जीव चारित्रवानों की निन्दा करता है, उपहास करता है, क्योंकि उसे उनमें चारित्र दिखाई नहीं देता। ध्यान रखना, चारित्र गुण प्रत्येक आत्मा में है। जो चारित्रवान हैं उन्होंने चारित्र गुण को आत्मा में प्रगट किया है, इसलिए वो सामान्य श्रावकों से बहुत उत्कृष्ट होते हैं। मोक्षमार्ग प्रकाशक में पंडित टोडरमल जी ने रत्नकरण्डक श्रावकाचार की गाथा का उल्लेख करते हुये कहा है–

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो, निर्मोहो नैव मोहवान्।
अनगारो गृही श्रेयान्, निर्मोहो मोहिनो मुनेः।।33।।

आचार्य भगवन् कहते हैं–निर्मोही गृहस्थ मोक्षमार्ग में स्थित है किन्तु मोही मुनि मोक्षमार्ग में स्थित नहीं है। किसी ने प्रश्न किया–ऐसा निर्मोही गृहस्थ उस मोही मुनि की वंदना करे या न करे? पंडित टोडरमल जी ने समाधान लिखा–भले ही वह निर्मोही गृहस्थ है परंतु वे मुनिराज व्यवहार चारित्र में उस निर्मोही गृहस्थ से उत्कृष्ट हैं, इसलिए वह उनकी विनय करता है, उनका सम्मान करता है इसमें दोष नहीं है।

इसलिए कहा गया है–सम्यग्दृष्टि जीव ही चारित्र को देख पाता है। भले ही वह मुनिराज मोही हैं, सम्यग्दर्शन से रहित हैं लेकिन व्यवहार चारित्र का दृढ़ता से पालन कर रहे हैं ऐसे मुनिराज को अगर सम्यक् बोध हो जाये तो तत्काल सातवें गुणस्थान में पहुँचेंगे।

विचार करनेवाली बात यह है कि ये द्रव्यलिंग भी कितना महान होता है। गृहस्थ के पास द्रव्यलिंग नहीं है, अगर उसे सम्यग्दर्शन हो तो चतुर्थ गुणस्थान में ही जायेगा। एक मुनिराज हैं जिनके पास द्रव्यलिंग है पर सम्यग्दर्शन नहीं है। उस द्रव्यलिंग की भी इतनी महिमा है कि अगर उन्हें सम्यग्दर्शन हो जाये तो मुनिराज चतुर्थ गुणस्थान में न जाकर सप्तम गुणस्थान में जायेंगे। बंधुओ, व्यवहार चारित्र को धारण करनेवाला द्रव्यलिंग भी पूज्यनीय होता है, वंदनीय होता है। पंडित टोडरमल जी ने समाधान में कहा–''द्रव्यलिंगी मोही मुनि की वंदना करते हुये भी सम्यग्दृष्टि को दोष नहीं लगता।''

तपाचार–तपाचार की महिमा सम्यग्दृष्टि जीवों को ही आती है। मिथ्यादृष्टि जीव तपाचार को देखकर मिथ्याभाषण करने लगता है–अरे! शरीर को सुखाने से क्या होता है?

श्रीमद् राजचन्द्र का शरीर बिल्कुल सूख गया था, हड्डी-हड्डी दिखती थी। उनसे जब किसी ने कहा—आपका शरीर तो बहुत दुर्बल हो गया है। राजचंद्र जी कहते हैं—हमारे दो बगीचे हैं। एक शरीर का बगीचा और एक अध्यात्म का बगीचा, जिसे आत्मा का बगीचा कहते हैं। शरीर का बगीचा सूख रहा है और आत्मा का बगीचा हरा-भरा हो रहा है।

सम्यग्दृष्टि जीव ही तपाचार की श्रद्धा कर पाता है। मिथ्यादृष्टि जीव तप को देखकर भी निन्दा करता है, कहता है—शरीर को सुखाने से क्या होता है? भो अज्ञानी! तू कैसे कह सकता है कि उसने आत्मा को नहीं जाना? वो आत्मा के बल से शरीर को सुखा रहा है। श्रीमद् राजचन्द्र जी ने कहा—मेरा शरीर का बगीचा सूख रहा है और आत्मा का बगीचा हरा-भरा हो रहा है। अब उनको देखकर कोई कहे कि शरीर को सुखाने से क्या होता है? अहो! ये तो वही जीव जानता है कि मैं अपने आत्मा के बगीचे में आराम कर रहा हूँ और देखनेवाला केवल शरीर को देख रहा है। इसलिए आचार्य भगवन् कुंदकुंददेव ने कहा—तपाचार की श्रद्धा करनेवाला, तपाचार को देखने-जाननेवाला '**सुदृष्टि**' है।

मोक्षगति का रहस्य—मोक्षगति के रहस्य को केवल सुदृष्टि अर्थात् सम्यग्दृष्टि जान पाता है। मिथ्यादृष्टि जीव संसारगति का रहस्य देखता है, उसी को जानता है, उसी में रमता है इस संसारगति में प्राप्त होनेवाले भोगों को ही सुखरूप मानता है। सम्यग्दृष्टि जीव मोक्षगति के रहस्य को जानता है अर्थात् वह आत्मा के अतीन्द्रिय अविनाशी सुख को सुख मानता है इसके अलावा किसी भी पदार्थ में सुख नहीं मानता इसलिए मोक्षगति का रहस्य जाननेवाला होता है।

अब अन्तिम लक्षण कहते हैं। **जिनेन्द्रदेव के वचन**—जिनदेव के वचन सम्यग्दृष्टि जीव ही सच्ची श्रद्धा से स्वीकार कर पाता है।

आचार्य श्री कुंदकुंदस्वामी सूत्रप्राभृत में कहते हैं—

सुत्तत्थं जिणभणियं जीवाजीवादि बहुविहं अत्थं।
हेयाहेयं च तहा जो जाणइ सो हु सद्दिट्ठी।।5।।

जिनेन्द्रदेव ने आगम का जैसा अर्थ प्रतिपादित किया है। जीव, अजीव आदि पदार्थों का जैसा स्वरूप बताया है, हेय (छोड़ने योग्य) पुद्गलादि पाँच द्रव्यों का तथा अहेय (ग्रहण करने योग्य)

निज आत्मा का जैसा स्वरूप कहा है उसे जो वैसा ही जानता है वह स्पष्ट ही सम्यग्दृष्टि है।

जिनागम में जितना भी कथन है जिनेन्द्रदेव के वचन हैं। इसलिए अंतिम बिन्दु में आचार्य कुंदकुंददेव ने कह दिया—जिनदेव के वचन का सम्यग्दृष्टि जीव ही श्रद्धान् करता है। ध्यान रखना, जिनदेव के वचन ही सच्ची शरण हैं। वर्तमान में बिखरती हुई समाज को देखता हूँ तो एक ही चिंतन आता है, अहो! किसी को भी जिनेन्द्रदेव के वचनों की श्रद्धा नहीं है इस कारण से ये भटक रहे हैं। जिनेन्द्रदेव ने एक ही मार्ग कहा है, उनके वचनों में एक ही मार्ग आया है, अगर उनके वचनों के अनुसार चलेंगे तो सब एकमार्ग के अनुयायी होंगे।

वर्तमान में समाज में अगर कोई एकता ला सकता है तो जिनागम पंथ ला सकता है। जैन एकता सिर्फ जिनागम पंथ से आ सकती है। क्योंकि जो भी जिनागम का अध्ययन करेगा, स्वाध्याय करेगा उसे एक ही मार्ग प्राप्त होगा।

संसार के सभी जीवों को मोक्षगति का रहस्य प्राप्त हो, संसार के दु:खों का अंत हो, सभी जीवों को शाश्वत सुख की प्राप्ति हो, इसी भावना के साथ...

देव, धर्म, गुरु, चारित्र, गुण, तपाचार, जिनदेव वचन।
देख जान सकते हैं क्या, शिवगति रहस सुदृष्टि जन।।
इस बिन न श्रावक, हो-हो-2, न साधु कहाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2, संहिता दिखलाये रे।।

अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

❑❑❑

(पृष्ठ नं. 272 का शेष)

पूज्येषु गुणानुरागो भक्तिः।

अर्थात् पूज्यजनों के गुणों में अनुराग होना ही भक्ति है।

अतः भो भव्यजीवो! सत्पात्रों की नवधाभक्ति कर अपना जीवन, अपनी पर्याय सफल करना चाहिए।

अब पात्रदान का फल क्या है? सर्वप्रथम इसकी गाथा देखते हैं-

सुकुल-सुरूव सुलक्खण, सुमदि सुसिक्खा सुसील सुगुणसुचरितं।
सयलं सुहाणु-भवणं, विहवं जाणह सुपत्त-दाणफलं।।21।।

आचार्य भगवन् कुन्दकुन्द देव कह रहे हैं कि उत्तम कुल, उत्तम रूप, उत्तम लक्षण, उत्तम बुद्धि, उत्तम शिक्षा, उत्तम स्वभाव, उत्तम गुण, उत्तम चारित्र, सकल सुखों का अनुभव और वैभव यह सब 'सुपत्तदाणफलं जाणह' इन सबको सुपात्र दान का फल जानो।

जब तक यह संसारी जीव संसार में रहेगा तब तक उसे किसी न किसी कुल में अवश्य जन्म लेना पड़ेगा। जीवों के एक सौ साढ़े निन्यानवे लाख करोड़ कुल होते हैं। इन कुलों में अनेकों जीव जन्म लेते हैं लेकिन इन समस्त कुलों में जो श्रेष्ठ, सम्माननीय, लोक पूजित, लोक प्रतिष्ठित कुल कहलाता है ऐसे उत्तम कुल में जन्म मिलना अत्यंत दुर्लभ है।

विचार कीजिएगा, संसार में ऐसे कितने जीव हैं जिन्हें श्रेष्ठ कुल की प्राप्ति हुई है। सबसे उत्तम कुल जैन कुल कहा गया है क्योंकि जैन कुल में आचार-विचार विशेष है। जहाँ आचार-विचार अच्छा होता है उस कुल को ही श्रेष्ठ कुल कहा जाता है। हमारे अरिहंत भगवंतों ने प्रत्येक जैनी के लिए श्रेष्ठ आचार-विचार की शिक्षा दी है उन्होंने जीवन जीने की आचार-संहिता बतलाई है। आप जीवन जियें लेकिन आचार-संहिता का पालन करते हुए जीवन जियें। आचरण विहीन जीवन जीने वाले तो बहुत होते हैं लेकिन आचरणवान जीवन जीने वाले विरले ही होते हैं।

भगवान महावीर ने कहा - जैन धर्म को मानने वाले प्रत्येक जैनी के लिए अपनी आचार संहिता के अनुसार अपना जीवन बनाना चाहिए। जो जीव पुण्यात्मा होते हैं उनका जन्म उस कुल में होता है जहाँ श्रेष्ठ आचरण का पालन किया जाता है। आप देखिएगा, जो जीव जिस कुल में जन्म लेता है उस कुल के संस्कार उस जीव में अपने आप ही आ जाते हैं। कहीं बाहर से लाना नहीं पड़ते। यदि आप श्रेष्ठ कुल में जन्मे हैं तो आपको श्रेष्ठ कुल के संस्कार मिलेंगे, और यदि आप निम्न कुल में जन्मे होते तो आपने बचपन से निम्न कुल में जो देखा होता वह संस्कार आप में आ जाता। मान लीजिए कोई व्यक्ति है जिसके कुल में शिल्पकला का कार्य होता है। अब उस कुल में जिसका जन्म होगा वह बचपन से ही शिल्पकला का कार्य होते देखेगा तो उसके अंदर भी वैसे ही संस्कार बनने लग जायेंगे। वह छोटी उम्र में ही यह भलीभाँति सीख जाता है कि हमें कैसा प्रस्तर चाहिए? कैसे शिल्पकारी करनी चाहिए? आदि। यदि किसी का जन्म कुंभकार के यहाँ हुआ तो वह मिट्टी के विभिन्न बर्तन कैसे बनाये जाते हैं यह सीख जायेगा?

कहने का तात्पर्य यह है कि जो व्यक्ति जिस कुल में जन्मता है उस कुल के संस्कार उसके अंदर स्वयमेव आ जाते हैं। ऐसे ही अगर कोई श्रेष्ठ कुल में जन्मा हो जहाँ जीवरक्षा का आचार-विचार धारण किया जाता हो। जैसे किसी भी जीव की विराधना नहीं करना चाहिए। किसी भी जीव को सताना मारना नहीं चाहिए। सभी से अच्छा मीठा बोलना चाहिए।

'जयदु जिणागम पंथो।'
'जिनागम पंथ जयवंत हो।'

❑❑❑

(मिथ्यादृष्टि की प्रवृत्ति)

ऍक्क खणं ण वि चिंतदि, मोक्खणिमित्तं णियप्पसब्भावं।
अणिसिविचिंतदि पावं, बहुलालावं मणे विचिंतेदि।।50।।

* अन्वयार्थ *

मिथ्यादृष्टि जीव (**मोक्खणिमित्तं**) मोक्ष प्राप्ति में निमित्तभूत (**णियप्पसब्भावं**) अपने आत्मस्वभाव का (**ऍक्क खणं वि**) एक क्षण भी (**ण चिंतदि**) चिन्तन नहीं करता है और (**अणिसि**) दिनरात (**पावं**) पाप का (**विचिंतदि**) चिन्तन करता है तथा (**मणे**) मन में (**बहुलालावं**) दूसरों के बारे में अनेक बातें (**विचिंतेदि**) सोचता रहता है।

अर्थ–मिथ्यादृष्टि जीव मोक्ष प्राप्ति के निमित्तभूत अपने आत्मस्वभाव का चिन्तन एक क्षण भी नहीं करता। दिन-रात पाप का चिन्तन करता है और मन में दूसरों के बारे में अनेक बातें सोचता रहता है।

गाथा - 50

(प्रवचन)

●

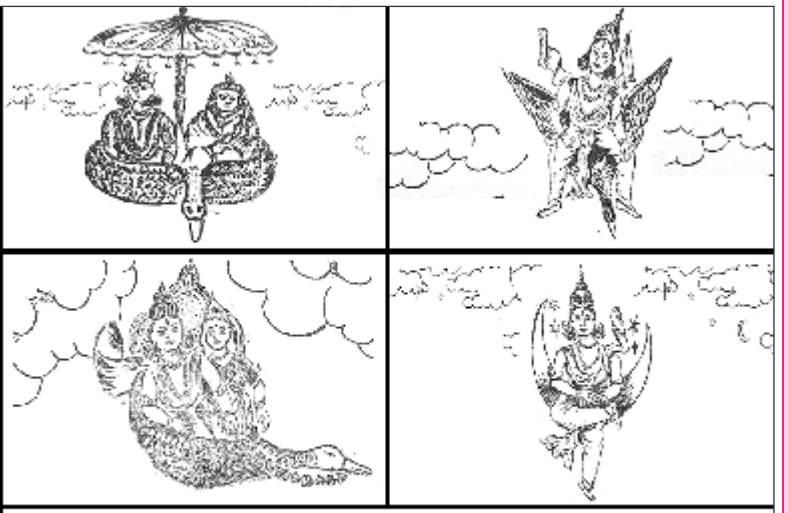
सच्चा आलोचक कौन?

16.10.2014

बड़ौत (उ.प्र.)



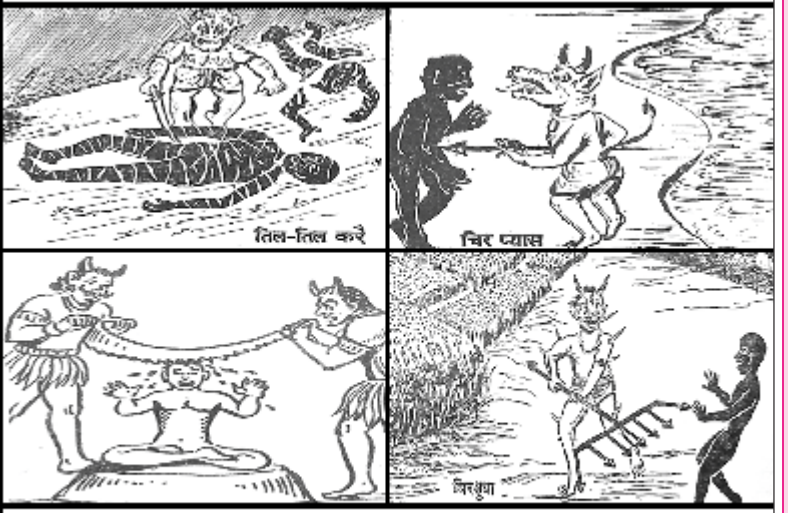
तिर्यंच गति दर्शन।



चतुर्निकाय के देव और देवगति



मनुष्यगति दर्शन



नरकगति दर्शन

61

रयणोदय

अहोरात्र अघ का चिंतन, नित पर ही पर का चिंतन।
निज स्वभाव का क्षणभर भी, करें न मिथ्यादृष्टि जन।।
मुक्ति का कारण, हो-हो-2, निज प्रभु बतलाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2, संहिता दिखलाये रे।।

'**जयदु जिणागमपंथो**' अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

तीर्थंकर भगवंत की दिव्यध्वनि जिनश्रुत है, जिनागम है। जिनागम में वर्णित आत्म-कल्याणकारी मार्ग, आत्महितकारी पंथ '**जिनागम पंथ**' है। परस्पर रागद्वेष को बढ़ानेवाले आगमबाह्य पंथ उन्मार्ग है। वीतरागता को देनेवाला, '**परस्परोपग्रहो जीवानाम्**' का प्रतीक '**जिनागम पंथ**' सन्मार्ग है।

आचार्य भगवन् कुंदकुंददेव ने बताया—जो सुदृष्टि अर्थात् सम्यग्दृष्टिजन हैं, वे ही सच्चे देव, सच्चे शास्त्र, सच्चे गुरु, सच्चे धर्म, सम्यक्चारित्र, सम्यक्स्वभाव, गुण, तपाचार और जिनेन्द्रदेव के वचनों को देख सकते हैं, जान सकते हैं। यह सन्मार्ग है। जीव ने कभी सन्मार्ग का चिंतन नहीं किया, विचार नहीं किया। बाह्य जगत और अंतर्जगत दोनों के मार्ग अलग-

अलग हैं। बाह्य जगत में जीने के लिए अनेक मार्ग हैं, परंतु अन्तर्जगत में प्रवेश करने के लिए एक ही मार्ग है।

आचार्य भगवन् कुंदकुंददेव कहते हैं–सम्यग्दृष्टि जीव निज आत्मस्वभाव का निर्णय करनेवाला होता है, मिथ्यादृष्टि जीव को अपने आत्मस्वभाव का निर्णय नहीं होता। मैं चेतन आत्मा हूँ, मैं सहज ज्ञान-दर्शन स्वभावी हूँ, मैं चेतन आत्मा ज्ञायकस्वभावी हूँ, मैं चेतन आत्मा राग-द्वेष-मोह से रहित, वीतराग निर्मोहस्वभावी हूँ, मैं चेतन आत्मा कर्माञ्जन से रहित निरंजन स्वभावी हूँ, मैं चेतन आत्मा सहज क्षमा स्वभावी हूँ, मैं चेतन आत्मा सहज मार्दव स्वभावी हूँ, मैं चेतन आत्मा सहज आर्जव स्वभावी हूँ, मैं चेतन आत्मा सहज शौच स्वभावी हूँ इसप्रकार आत्मा के अनंतगुण हैं और आत्मा अपने अनंत गुणवैभव से सदाकाल सम्पन्न है। ज्ञायकस्वभाव आत्मा का असाधारण स्वभाव है यह एकमात्र मुझ आत्मा में ही पाया जाता है, अन्य किसी भी परद्रव्य में नहीं पाया जाता। मैं ज्ञायक स्वभावी भगवान् आत्मा हूँ। राग, द्वेष, मोह मुझ आत्मा का स्वभाव नहीं है।

मिथ्यादृष्टि जीव अपने को स्वभाव से नहीं जानता, नहीं मानता, नहीं स्वीकारता। मिथ्यादृष्टि जीव अपने को संयोगी पर्यायरूप से ही जानता है, मानता है और उसी से अपनी पहिचान करता है। मिथ्यादृष्टि जीव मैं पुरुष हूँ, स्त्री हूँ, मनुष्य हूँ, तिर्यञ्च हूँ, नारकी हूँ, देव हूँ इसतरह संयोगी पर्यायरूप से ही सर्वथा अपनी पहिचान करता है।

आचार्य भगवन् श्री पूज्यपादस्वामी समाधितंत्र ग्रंथ में कहते हैं–

नरदेहस्थमात्मानमविद्वान् मन्यते नरम्।
तिर्यञ्चं तिर्यगङ्गस्थं सुराङ्गस्थं सुरं तथा।।8।।
नारकं नारकाङ्गस्थं न स्वयं तत्त्वतस्तथा।
अनंतानंतधी शक्तिः स्वसंवेद्योऽचलस्थितिः।।9।।

अर्थात् अपने स्वरूप को न समझनेवाला मूर्ख बहिरात्मा मनुष्य देह में स्थित आत्मा को मनुष्य, तिर्यंच शरीर में स्थित आत्मा को तिर्यंच, देव शरीर में स्थित आत्मा को देव तथा नारक शरीर में स्थित आत्मा को नारकी मानता है किन्तु वास्तव में कर्मोपाधि से रहित शुद्ध आत्मा मनुष्य, तिर्यंच, देव और नारकीरूप नहीं है। निश्चय से यह आत्मा अनंतानंत ज्ञान और शक्ति

से युक्त है, स्वानुभवगम्य है चैतन्यस्वभाव में सदा स्थिर रहता है। अज्ञानी जीव संयोगी पर्याय रूप से अपने को मानता रहता है।

सम्यग्दृष्टि जीव निश्चय से अपने को सहजस्वभाव रूप से जानता है, व्यवहार से अपने को संयोगी पर्यायरूप से भी मानता है, किन्तु संयोगी पर्यायरूप से अपने को सर्वथा नहीं मानता। जिनेन्द्रदेव कहते हैं—एकांत से अपने को एक रूप पहिचानोगे तो भूल करोगे। निश्चय की अपेक्षा कोई अपने को सर्वथा शुद्ध जानता है। कहता है—मैं सर्वथा शुद्ध हूँ। आचार्य भगवन् कहते हैं—अगर तुम सर्वथा शुद्ध हो तो फिर जो तुम्हारी वर्तमान संयोगी पर्याय दिखाई दे रही है, क्या ये गलत है? क्या ये असत्य है? ध्यान रखना, व्यवहार की अपेक्षा यह भी सत्य है। जो एकांत से वस्तुस्वरूप को ग्रहण करता है वह एकांतमति होता है।

जो निश्चय-व्यवहार दोनों से वस्तुस्वरूप को जानता है वह सम्यग्दृष्टि है। सम्यग्दृष्टि जीव अपने सहज शुद्ध आत्मस्वभाव का निर्णय करता है, साथ ही उसे यह भी निर्णय रहता है कि मैं वर्तमान में अपने स्वभाव में न रहकर परभाव को प्राप्त हूँ। मुझे परभाव से छूटने के लिए अब स्वभाव का आश्रय करना होगा। परभाव से छूटने के लिए वह जिनेन्द्रदेव ने जो मार्ग बताया है उसका आश्रय करता है। आत्मा में परभाव किस कारण से उत्पन्न हो रहा है इसका निर्णय करता है। सम्यग्दृष्टि जीव निज सहज शुद्ध आत्मस्वभाव को पहिचानकर उसकी मान्यता करता है, श्रद्धान् करता है और भावना करता है कि मुझे यही शुद्धात्मस्वभाव प्राप्त करने योग्य है।

संसारदशा में जीव अपने सहज शुद्ध ज्ञायकस्वभाव का निर्णय करता हुआ भी अपने स्वभाव में स्थिर नहीं हो पाता। कारण? संयोगी पर्याय। यह जो कर्मजनित मनुष्य पर्याय हमें प्राप्त हुई है इस पर्याय की इतनी आवश्यकतायें हैं कि जीव अपने सहज शुद्धस्वभाव का निर्णय करता हुआ भी उस स्वभाव में ठहर नहीं पाता। कर्मजनित विकारों से प्रभावित होता रहता है। कभी क्षुधा लगती है, कभी तृषा लगती है, कभी नाना प्रकार की शारीरिक वेदनायें होती हैं। जीव जिस पर्याय में जन्म लेता है उस पर्याय में अनेक जीवों से उसके संबंध जुड़ जाते हैं, उन संबंधों के कारण जीव उनके अनुसार ही प्रवृत्ति करता रहता है। उनके अनुसार प्रवृत्ति करते रहने के कारण जो आत्मस्वभाव का निर्णय हुआ है उसमें स्थिरता नहीं आ पाती। उपयोग

कभी कर्मजनित पर्याय में जाता है, कभी सम्बन्धों में जाता है और कभी आवश्यकता पूर्ति के साधनों में जाता है। स्वभाव का निर्णय हुआ है, निर्णय में स्थिर है परंतु स्वभाव में स्थिर नहीं है। स्वभाव को प्राप्त करने के लिए जीव को विभाव के कारणों से छूटना होता है तब स्वभाव में स्थिरता आ पाती है।

संसारी जीव ने यह जान लिया कि मैं सहज शुद्ध ज्ञान-दर्शनस्वभावी हूँ, चैतन्यस्वभावी हूँ। **''शुद्धचिद्रूपोऽहम्, निरञ्जनस्वरूपोऽहम्, वीतरागस्वरूपोऽहम्''** परंतु ये मात्र निर्णय है, स्वभाव की प्राप्ति नहीं है। इस निर्णय के बाद संसारी जीव को स्वभाव की प्राप्ति का मार्ग अपनाना होता है। स्वभाव में क्यों नहीं आ पाता? क्योंकि विभाव में प्रवृत्त रहता है। संसार के कार्य कर रहा है, व्यवहार के कार्य कर रहा है, लोकव्यवहार के कार्य कर रहा है, परिवार के कार्य कर रहा है, व्यापार के कार्य कर रहा है और कदाचित् कोई ये कार्य न भी कर रहा हो तो दूसरों को सुधारने का कार्य कर रहा है। अपना कार्य कब करेगा? धर्मोपदेश देना स्वभाव में रहना नहीं है। धर्मोपदेश देना भी पर के प्रति करुणाभाव है।

ध्यान रखना, ये कोई सर्वज्ञ देव की समोशरण सभा नहीं है जहाँ सहज दिव्यध्वनि खिरती हो। यहाँ सहज नहीं खिरती, बुद्धिपूर्वक खिरती है। यहाँ तो चिंतन करके, विचार करके बोला जाता है। अभी हम कुछ अन्यथा बोल दें, कुछ का कुछ बोल दें, तो कहोगे—महाराज श्री! क्या बोल रहे हैं? बोलने का विवेक नहीं है। अगर आगम के अनुसार बोलें तो कहोगे—गुरुदेव ने क्या बात कही है, आनंद आ गया।

जीव ने आज तक कभी अपने सहज शुद्ध स्वभाव का, ज्ञायकस्वभाव का आश्रय नहीं किया, इसलिए मिथ्यादृष्टि बना हुआ है। ऐसा मिथ्यादृष्टि जीव निरंतर पाप ही पाप में लगा रहता है। यहाँ प्रश्न होता है—क्या सम्यग्दृष्टि जीव पाप में नहीं लगता? सम्यग्दृष्टि जीव पापों का त्यागी नहीं होता, अगर पापों का त्यागी होगा तो जीवन में चारित्र प्रगट हो जायेगा। आचार्य श्री नेमिचंदस्वामी जीवकाण्ड में कहते हैं—**'चारित्तं णत्थि जदो'** अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव के चारित्र नहीं होता। हिंसा का परित्याग करेगा तो अहिंसामहाव्रत या अहिंसाअणुव्रत आयेगा। असत्य का त्याग करेगा तो सत्यमहाव्रत या सत्याणुव्रत आयेगा। चोरी पाप का त्याग करेगा तो अचौर्यमहाव्रत या अचौर्याणुव्रत आयेगा। कुशील का त्याग करेगा तो ब्रह्मचर्य महाव्रत या

ब्रह्मचर्याणुव्रत आयेगा और परिग्रह पाप का त्याग करेगा तो अपरिग्रहमहाव्रत या परिग्रह परिमाण अणुव्रत आयेगा। सम्यग्दृष्टि जीव असंयत कहलाता है, असंयमी कहलाता है, क्योंकि वह पापों का त्यागी नहीं होता।

जैसे मिथ्यादृष्टि पाप में लीन रहता है क्या ऐसे ही सम्यग्दृष्टि भी पाप में लीन रहता है?

नहीं, सम्यग्दृष्टि पापों का त्यागी न होने के कारण पाप क्रियाओं को करता जरूर है परंतु अपनी पापक्रिया की निंदा भी करता है। मिथ्यादृष्टि अपनी पाप क्रियाओं की निंदा नहीं करता। सम्यग्दृष्टि अपनी पाप क्रियाओं की निंदा करता है, गर्हा करता है, यथाशक्ति प्रायश्चित भी ग्रहण करता है और निरंतर यह भावना करता है—मैं इन पाप क्रियाओं से कब छूट जाऊँ? कब इनका परित्याग कर दूँ? हे भगवन्! इन पाप क्रियाओं के कारण मुझ पापी आत्मा ने संसार में बहुत परिभ्रमण किया है, अब मैं और परिभ्रमण नहीं करना चाहता। हे जिनदेव! आपके द्वारा बताये हुए धर्ममार्ग पर चलना चाहता हूँ इसप्रकार सम्यग्दृष्टि जीव जिनेन्द्र भगवान् के पास आकर अपनी आत्मनिंदा करता है।

कहता है—

सुनिये जिन अरज हमारी, हम दोष किये अति भारी।
तिनकी अब निवृत्ति काजा, तुम शरण लही जिनराजा।।

सम्यग्दृष्टि जीव अपनी आलोचना करता है। मिथ्यादृष्टि जीव दूसरों की आलोचना करता है, चाहे वह सम्यक् हो या मिथ्या उसे तो आलोचना करने से प्रयोजन है। सम्यग्दृष्टि जीव पर की आलोचना से बचता है और स्व की आलोचना करता है। अपने को पापरहित करना चाहता है इसलिये सतत् आत्मनिंदा, आत्मगर्हा को प्राप्त होता है। अपनी आत्मशक्ति, आत्मबल, आत्मचिंतन को बढ़ाता है। सम्यग्दृष्टि जीव सतत् अपने आत्मस्वभाव का चिंतन करता है और भावना करता है—हे भगवन्! मुझे इतना संबल दो कि मैं अपने आत्मस्वभाव को प्राप्त कर सकूँ। विभाव के कारण मैं अपने स्वभाव को प्राप्त नहीं हो पा रहा हूँ, मैं अपने विभावों को हटाना चाहता हूँ।

बंधुओ, विभाव को हटाना है तो पहले विभाव के कारण को हटाना पड़ेगा। वर्तमान में कुछ एकान्तवादियों ने जिनागम को अपने दूषित विचारों से प्रदूषित करने का प्रयास किया है।

कुछ मिथ्यावादी इसप्रकार कथन करते हैं–स्वभाव का आश्रय करो, विभाव हट जायेगा। जिनागम में यह आता है–विभाव के कारण हटाओ, स्वभाव का आश्रय करो तब विभाव हटेगा। मिथ्यावादी कहते हैं–विभाव के कारण को हटाने की कोई जरूरत नहीं है, तू स्वभाव का आश्रय कर, विभाव हट जायेगा।

ध्यान रखना, जिनेन्द्रदेव का मार्ग है कि विभाव का त्याग करो, स्वभाव का आश्रय करो तब विभाव हटेगा। विभाव के कारण दूर किये बिना, उसका त्याग किये बिना, जीव स्वभाव का निर्णय तो कर सकता है परंतु स्वभाव को प्राप्त नहीं हो सकता। जल का स्वभाव शीतल है यह निर्णय हो गया लेकिन जल चूल्हे पर चढ़ा हुआ है, अग्नि जल रही है। अब बताओ, जब तक अग्नि का निमित्त उसे प्राप्त है तब तक क्या वह जल अपने शीतल स्वभाव में आ सकता है? नहीं आ सकता। इसलिए जिनेन्द्रदेव ने विभाव कारण के त्याग का मार्ग बताया है, कारण का अभाव किये बिना विभाव का अभाव संभव नहीं है।

सम्यग्दृष्टि जीव देव, धर्म, गुरु, चारित्र, गुण, तपाचार, जिनवचन इन सबको देख, जान सकता है अर्थात श्रद्धान् कर सकता है। मिथ्यादृष्टि जीव इनका आश्रय नहीं करता। स्वभाव का निर्णय होना अलग बात है और स्वभाव की प्राप्ति होना अलग बात है। क्या स्वभाव के निर्णय का आश्रय करने से स्वभाव की प्राप्ति हो जायेगी? नहीं। विभाव का कारण जानकर, उसका त्यागकर, स्वभाव का आश्रय करने से, विभाव का अभाव होता है यही जिनकथित सम्यक् मार्ग है।

जल को यह बोध हो गया, यह निर्णय हो गया कि मैं शीतल स्वभावी हूँ, अब जल अग्नि पर चढ़ा-चढ़ा अपने स्वभाव का चिंतन करता रहे, तो क्या जल अपने शीतल स्वभाव को प्राप्त हो जायेगा? नहीं हो सकता। जल को क्या करना पड़ेगा? अग्नि का संयोग त्यागना पड़ेगा। जैसे ही जल अग्नि का संयोग त्यागेगा, अपने शीतल स्वभाव को प्राप्त होना शुरू हो जायेगा। ऐसे ही हमारा आत्मा रागादि विकारी भावों के निमित्त से विभावदशा को प्राप्त होता रहता है। सम्यग्दृष्टि जीव अपने सहज शुद्ध आत्मस्वभाव का निर्णय करता है, उसका चिंतन करता है एवं आत्मस्वभाव को प्राप्त करने के लिए व्रतों का आश्रय करता है, गुणों का आश्रय करता है, चारित्र का आश्रय करता है, तप का आश्रय करता है, दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप आराधनाओं का आश्रय करता है, विभावों का परित्याग करता है।

ध्यान रहे, किसी भी कार्य की सिद्धि के लिये समीचीन मार्ग चाहिये। अनादि से यह जीव संसार, शरीर, भोग के निमित्तों का आश्रय करता आ रहा है। बहिरंग निमित्त बाह्य पदार्थ होते हैं और अंतरंग निमित्त कर्म होता है। कई बार जीव बहिरंग निमित्त प्राप्त न भी हो तो भी अपने कर्म के कारण अंदर ही अंदर झुलसता रहता है, जलता रहता है, इच्छायें करता रहता है।

आचार्य भगवन् कुंदकुंददेव इस गाथा में मिथ्यादृष्टि जीव की प्रवृत्ति किसतरह की होती है, बतला रहे हैं–

मिथ्यादृष्टि जीव **(मोक्ख णिमित्तं)** मोक्षप्राप्ति में निमित्तभूत, **(णियप्पसब्भावं)** अपने आत्मस्वभाव का **(ऍक्क खणं वि)** एक क्षण भी **(ण चिंतदि)** चिंतन नहीं करता। **(अणिसि पावं विचिंतदि)** वह निरन्तर यानि दिन-रात (अहोरात्र) पाप का ही चिंतन करता है। और क्या करता है? **(मणे बहुलालावं)** मन में दूसरों के बारे में अनेकप्रकार की बातें **(विचिंतेदि)** सोचता रहता है। अपने विषय में नहीं सोचता दूसरों के विषय में सोचता रहता है और पाप का चिंतन करता रहता है।

संसार में जीव बिना कुछ करे रहता नहीं है, उसे कुछ न कुछ तो करना ही पड़ता है। व्यक्ति सोता हुआ भी कुछ न कुछ करता है। ये मत सोचना कि हम तो सो रहे थे, हम कुछ कर ही नहीं रहे थे। हम तो बैठे हुए थे, हम कुछ कर ही नहीं रहे थे। हम तो लेटे हुए थे हम कुछ कर ही नहीं रहे थे। ध्यान रखना, कर्मोदय से होनेवाली मन-वचन-काय रूप क्रिया को जीव हरसमय प्राप्त है। बिना कुछ करे संसार में जीव रहता ही नहीं है। इसलिए जीव को विवेकपूर्वक, चिंतनपूर्वक, विचारपूर्वक जो करने योग्य है उसको करना चाहिये, जो नहीं करने योग्य है उसका परित्याग करना चाहिये। मिथ्यादृष्टि जीव एक क्षण भी आत्मस्वभाव का चिंतन नहीं करता।

किसी संत ने सेठ से कहा–सेठ जी! कुछ आत्महित का विचार करो। सेठ बोला–कर रहे हैं, वही तो करना है। आप सही कह रहे हैं। आप ऐसा आशीर्वाद दो कि जल्दी से घर में बहु आ जाये। संतजी ने कहा–ठीक है आपको जल्दी निवृत्ति मिले ऐसा मेरा आशीर्वाद है।

कुछ समय बाद बेटे का विवाह हो गया, घर में बहु आ गई। संतजी को पता चला कि सेठजी के घर में बहु आ गई है, सेठ जी ने कहा था कि बहु आ जाये फिर आत्मकल्याण करूँगा। संतजी

ने सोचा, सेठ अभी तक आया क्यों नहीं? चलो चलकर देखते हैं। संतजी एक दिन सेठ जी के घर पहुँच गये। सेठजी बहु के हाथों से बने दूध-नाश्ता आदि का मजा ले रहे थे। संतजी की आवाज सुनते ही बाहर निकले। अरे, संतजी! आप। संत ने कहा—सेठजी! आपने आशीर्वाद लिया था, कुछ हुआ कि नहीं? सेठ जी बोले—संतजी! आपका आशीर्वाद ऐसा फला कि घर में बहु नहीं लक्ष्मी आई है लक्ष्मी। अच्छा? हाँ, इतना ध्यान रखती है, सुबह से दूध-नाश्ता सब तैयार करके रख देती है, कहती है पापाजी नाश्ता कर लीजिये। संतजी! क्या बताऊँ इतना तो बेटा भी नहीं पूछता था, जितना बहु पूछती है। संत ने कहा—सेठजी! अब बहु आ गई। अब अपने आत्महित का विचार करो। सेठजी ने कहा—संतजी! आप बिल्कुल ठीक कह रहे हैं। अब घर में बहु आई है वो बहुत ध्यान रखती है, वो भी क्या सोचेगी कि मैं आई और पापाजी निकल गये। संतजी! इसलिए सोच रहा हूँ थोड़ा समय और व्यतीत कर लूँ, फिर आपने जो कहा है वही करना है। थोड़ा समय और निकला। सेठजी विचार करने लगे, कि छह महीने हो गये हैं घर में एक खिलौना आ जाता तो अच्छा रहता। एक पोता आ जाता तो ठीक रहता।

सेठजी से मिलने संतजी पुनः आये। बोले—सेठजी! इतना समय हो गया अब तो विचार करो। सेठजी बोले—संतजी! एक पोता और आ जाये फिर निश्चिंत होकर जाऊँगा। आप आशीर्वाद दो जल्दी निवृत्ति मिले। संतजी ने कहा—ठीक है सेठजी! जल्दी निवृत्ति मिले यही आशीर्वाद है। थोड़ा समय और निकला, पता चला एक नन्हा अतिथि घर में आनेवाला है। समय आने पर पोते का जन्म हुआ, खुशियाँ मनाई गईं, सब कुछ हो गया।

संतजी को पता चला, सोचा चलो फिर मिलकर आते हैं। सेठजी पोते को गोदी में लेकर दूध पिला रहे थे। संतजी पहुँच गये, बोले— सेठजी! अब तो पोता भी हो गया, अब आप आत्महित का विचार करो। सेठ जी बोले—संतजी! वही विचार कर रहा हूँ। बस ये थोड़ा बड़ा और हो जाये तो फिर निवृत्त हो जाऊँ। संतजी ने कहा—सेठ जी! जितना-जितना पोता बड़ा होगा, उतने-उतने ही आप छोटे होते चले जायेंगे। आपकी आयु उतनी ही कम होती चली जायेगी, घटती चली जायेगी, शीघ्र विचार करो। सेठ ने कहा—यही सोच रहा हूँ। कुछ समय बाद पोता बड़ा हो गया। सेठजी को फिर चिंता लगी अब इसकी शादी और हो जाये।

अहो! जीव निरंतर पर की चिंता में लगा रहता है, कभी अपनी चिंता नहीं करता। आत्मचिंतन तो करता है, पर आत्मस्वरूप की प्राप्ति का जो मार्ग है उसे प्राप्त नहीं करता। सेठ पहले पुत्र के राग में था, फिर बहु के राग में पड़ गया, फिर पोते के राग में पड़ गया। भीतर रागादिभाव बनते जा रहे हैं और कहता है—मैं ज्ञायकस्वभावी हूँ, मैं ज्ञायकस्वभावी हूँ, मैं ज्ञायकस्वभावी हूँ....। अहो अज्ञानता! विभावों का त्याग करने के लिये कोई चिंतन नहीं करता। विभाव के निमित्तों का त्याग नहीं करना चाहता, उन्हीं के राग में पड़ा रहता है और तोते की तरह रटता रहता है—मैं सहज शुद्ध ज्ञायकस्वभावी भगवान् आत्मा हूँ। सम्यग्दृष्टि जीव निरंतर यह विचार करता है कि जितना जल्दी हो सके उतना जल्दी संसार के निमित्तों से निवृत्ति मिले।

सोचता है—

कब समता उर में लाकर, द्वादश अनुप्रेक्षा भाकर।
ममतामय भूत भगाकर, मुनिव्रत धारूँ वन जाकर।।

जो निर्णय किया है, मैं कब उसे प्राप्त करूँ? ध्यान रखना, स्वभाव का निर्णय होना अलग बात है और स्वभाव की प्राप्ति होना अलग बात है। जैसे आपने दुकान पर किसी वस्तु को देखकर निर्णय कर लिया कि मुझे यह वस्तु प्राप्त करना है और आप घर आ गये। आपकी इतनी सामर्थ्य नहीं है कि उस वस्तु को खरीद सकें। आपने वस्तु का निर्णय किया है, निर्णय का अर्थ ये नहीं है कि आपको वह वस्तु प्राप्त हो गई है। उसे प्राप्त करने के लिये अब आपको उपाय करना होगा। धन इकट्ठा करना पड़ेगा, तब वह वस्तु आपको प्राप्त होगी। वस्तु का निर्णय मात्र निर्णय है, प्राप्ति नहीं। प्राप्ति मार्ग से होती है मात्र निर्णय से नहीं।

भो आत्मन्! सहज शुद्ध ज्ञायकस्वभाव का निर्णय करो। जब तक निर्णय नहीं होगा तब तक प्राप्ति का मार्ग भी नहीं मिलेगा। मिथ्यादृष्टि जीव पर के चिंतन में लगा रहता है। पर का चिंतन पर के हितरूप होगा या पर के अहितरूप होगा। पर का चिंतन तो पर ही है, रागद्वेष को पैदा करनेवाला है। एक द्वेष को पैदा करता है एक राग को पैदा करता है, दोनों ही आत्मा के अहितकारी हैं। **दूसरों का बुरा सोचना बुरा है पर दूसरों के राग में पड़कर उनका भला सोचते रहना और अपना हित बिल्कुल न विचारना ये भी उतना ही बुरा है। तू जिसका भला सोच रहा है उसका भला हो जायेगा तो तुझे क्या मिलेगा? लोकव्यवहार में दूसरों**

का भला करना चाहिये, हित करना चाहिये परंतु भो भोले जीव! साथ में अपना भी हित करना चाहिये। निर्ग्रंथ योगी स्वहित और थोड़ी देर उपदेश देकर परहित भी करते हैं। केवल परहित में ही लगे रहना साधुओं का स्वभाव नहीं है, ये साधुमार्ग नहीं है, साधु का मार्ग निरंतर स्वहित में लगना है, किंचित पर का हित भी सोचते हैं। परहित कौन सा? मात्र सांसारिक हित नहीं सोचते, पारमार्थिक हित सोचते हैं। जिसे स्वहित का मूल्य पता हो गया वह सभी जीवों को उसी में लगाना चाहता है।

बंधुओ! संसार का हित तुम्हारे पुण्य और अहित पाप पर आधारित है। पुण्य का उदय होगा तो सबकुछ तुम्हारे अनुकूल होता चला जायेगा और पाप का उदय होगा तो अनुकूल भी प्रतिकूल हो जायेगा। परमार्थ मार्ग पुरुषार्थ साध्य होता है। इसके लिये पुरुषार्थ करना पड़ता है। इसलिए ज्ञानी संत निरंतर आत्महित की बात करते हैं, परमार्थ मार्ग की बात करते हैं। भो भव्य! संसार के, रागद्वेष के बंधन से निवृत्त होकर, अपने वीतराग स्वभाव को पहिचानकर, उसकी प्राप्ति के लिये त्यागमार्ग पर चलो। जितनी पर से निवृत्ति होगी, उतनी स्वभाव में प्रवृत्ति होगी।

जब तक रागद्वेष के खूँटों से बँधे रहोगे तब तक स्वभाव की प्राप्ति नहीं हो सकेगी इसलिए जिनेन्द्रदेव का यह मार्ग समझकर अपने आत्मस्वभाव का निर्णय करो। सम्यग्दृष्टि जीव निज स्वभाव का चिंतन करता है। मिथ्यादृष्टि स्वभाव से अपरिचित रहता है उसे पाप के कार्य और पर का चिंतन ही आता है। सुबह उठकर क्या करते हो? घर की चिंता, परिवार की चिंता, इसकी-उसकी चिंता, ये करना, वो करना, इसी में लगे रहते हो। अरे! पाँच मिनिट बैठकर भावना भाया करो कि मैं रागादि विभावों से रहित, सहज वीतरागस्वभावी, ज्ञायक भगवान् आत्मा हूँ।

स्वरूप स्तुति में कुछ पंक्तियाँ लिखी थीं–

हूँ आत्मा उपयोगमय ज्ञायकस्वभाव मेरा अहा।
निर्द्वन्द हूँ निर्बन्ध हूँ आनंदकंद सहज अहा।।
नित शान्तरस मय जानकर, निज शान्तरस नित पानकर।
निज शांतरस में लीन हूँ, ध्रुव रूप निज अनुभव अहा।।1।।

यही मेरा स्वरूप है, यही मेरा स्वभाव है। अपने स्वभाव का चिंतन करोगे, तो स्वभाव ख्याल में रहेगा। जब स्वभाव का ख्याल रहेगा तो उसकी प्राप्ति के लिए कुछ उपाय भी करोगे।

यदि स्वभाव का चिंतन नहीं है तो बाह्य कार्य और उपलब्धियों में अहंकार होगा। मेरे पास सब कुछ है, मैं बड़ा आदमी हूँ।

ध्यान रखना, चाहे व्यक्ति कितना भी बड़ा आदमी बन जाये, निर्ग्रंथ संतों के चरणों में तो नतमस्तक ही होता है। कारण क्या है? वो जानता है कि संत अपने आत्मगुण वैभव से उच्चता को प्राप्त हुए हैं और मैं अभी केवल बाहरी वैभव से उच्च हुआ हूँ। ये बाहरी वैभव इनके सामने तुच्छ है। बंधुओ, अपने अंतरंग वैभव को जानकर पहिचानकर, अपने स्वभाव को जानकर पहिचानकर उसकी श्रद्धा करो, सम्यग्दृष्टि बनो। आत्मस्वरूप का नित्य चिंतन करो और पापों से निवृत्त होने के लिये जितनी शक्ति हो उतना पाप निमित्तों का त्याग करो, जिससे अपने स्वभाव को प्राप्त कर सको। इसी भावना के साथ....

अहोरात्र अघ का चिंतन, नित पर ही पर का चिंतन।
निज स्वभाव का क्षण भर भी, करें न मिथ्यादृष्टि जन।।
मुक्ति का कारण, हो-हो-2, निज प्रभु बतलाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2, संहिता दिखलाये रे।।

अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

❑❑❑

भगवती जिनदीक्षा : एक दृष्टि

• श्रमणाचार्य विमर्शसागर

स्वात्म स्वभाव की दृढ़ प्रतीति करनेवाला, संसार-शरीर-भोग के स्वभाव का सतत् समीक्षक, भव्य मुमुक्षु आत्मा, विभाव संसार से मुक्ति की भावना करनेवाला कर्म-क्षयकारी भगवती जिनदीक्षा की शरण लेता है। यह जिनदीक्षा ही सिद्धि में कारण मानी गई है।

आचार्य भगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने अष्टपाहुड में कहा है -

णवि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासणे जइ वि होइ तित्थयरो।
णग्गो वि मोक्ख मग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे।।

(सूत्र प्राभृत 23)

अर्थात् जिनशासन में वस्त्रधारी को सिद्धि नहीं कही, चाहे वह तीर्थंकर भी क्यों न हो। नग्न दिगम्बर वेष ही मोक्षमार्ग है, शेष सभी उन्मार्ग हैं।

दीक्षार्थी का स्वरूप-

वण्णेसु तीसु एक्को कल्लाणगो तवोसहो वयसा।
सुमुहो कुंछारहिदो लिंगग्गहणे हवदि जोग्गो।।

(प्रवचनसार ता.वृ. 25)

अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीन वर्णों में से किसी एक वर्ण का, नीरोग, तप में समर्थ, अतिबाल-अतिवृद्धपने से रहित, योग्य आयुवाला, सुन्दर, दुराचार आदि लोकापवाद से रहित ऐसा पुरुष ही जिनलिंग ग्रहण के योग्य होता है।

शान्तस्तप: क्षमोकुत्सो वर्णेष्वेकतमस्त्रिषु।
कल्याणांगो नरो योग्यो लिंगस्य ग्रहणेमत:।।

(योगसार प्राभृत-8/51)

जो शांत है, तप के लिए समर्थ है, निर्दोष ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीन वर्णों में से किसी एक वर्ण का है सुन्दर शरीर के अवयवों का धारक मनुष्य निर्ग्रन्थ लिंग के ग्रहण योग्य माना गया है।

विशुद्ध कुलगोत्रस्य सद्वृत्तस्य वपुष्मत:
दीक्षायोग्यत्वमाप्नातं सुमुखस्य सुमेधस:। (महापुराण-39/158)

जिसका कुल गोत्र विशुद्ध है, चरित्र उत्तम है, मुख सुन्दर है और प्रतिभा अच्छी है ऐसा पुरुष ही दीक्षा योग्य माना गया है।

प्राज्ञेन ज्ञातलोकव्यवहृतिमतिना तेन मोहोज्झितेन, प्राग्विज्ञात: सुदेशो द्विजनृपतिवणिग्वर्णवर्ण्योऽपूर्ण:।
भूभृल्लोकाविरूद्ध: स्वजनपरिजनोन्मोचितोवीतमोहश्चित्रापस्मार रोगाद्यपगत इति च ज्ञाति संकीर्त्तनाद्यै:।। (आचारसार-1/9)

अर्थात् जो दीक्षार्थी योग्यदेश का ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वर्ण में श्रेष्ठ, परिपूर्ण अंगवाला, राजा और लोक से अविरुद्ध, स्वजन-परिजन से अनुमति सहित निर्मोही, अपस्मार आदि विचित्र रोगों से रहित है उसकी जाति आदि के द्वारा सर्वप्रथम मोहरहित प्रज्ञाशील लोक व्यवहार के ज्ञाता आचार्य उसकी शुद्धि को जानते हैं।

प्रश्न - क्या शूद्र दीक्षा ले सकता है?

(शेष पृष्ठ नं. 364 पर)

(मिथ्यादृष्टि आत्मा को नहीं जानता)

मिच्छामदि मद-मोहासव-मत्तो बोल्लदे जहा भुल्लो।
तेण ण जाणदि अप्पा, अप्पाणं सम्मभावाणं ।।51।।

*** अन्वयार्थ ***

(**मिच्छामदि**) मिथ्याज्ञानी (**मद-मोहासव-मत्तो**) मद और मोह की मदिरा से मतवाला होकर (**जहा भुल्लो**) भुलक्कड़ के समान (**बोल्लदे**) प्रलाप करता है (**तेण**) इसलिए वह (**अप्पा**) अपनी आत्मा को और (**अप्पाणं**) आत्मा के (**सम्मभावाणं**) साम्यभावों को (**ण जाणदि**) नहीं जानता है।

अर्थ–मिथ्याज्ञानी जीव मद और मोह की मदिरा से मतवाला होकर भुलक्कड़ के समान प्रलाप करता है; इसलिए वह आत्मा को और आत्मा के साम्यभावों को नहीं जानता है।

गाथा - 51

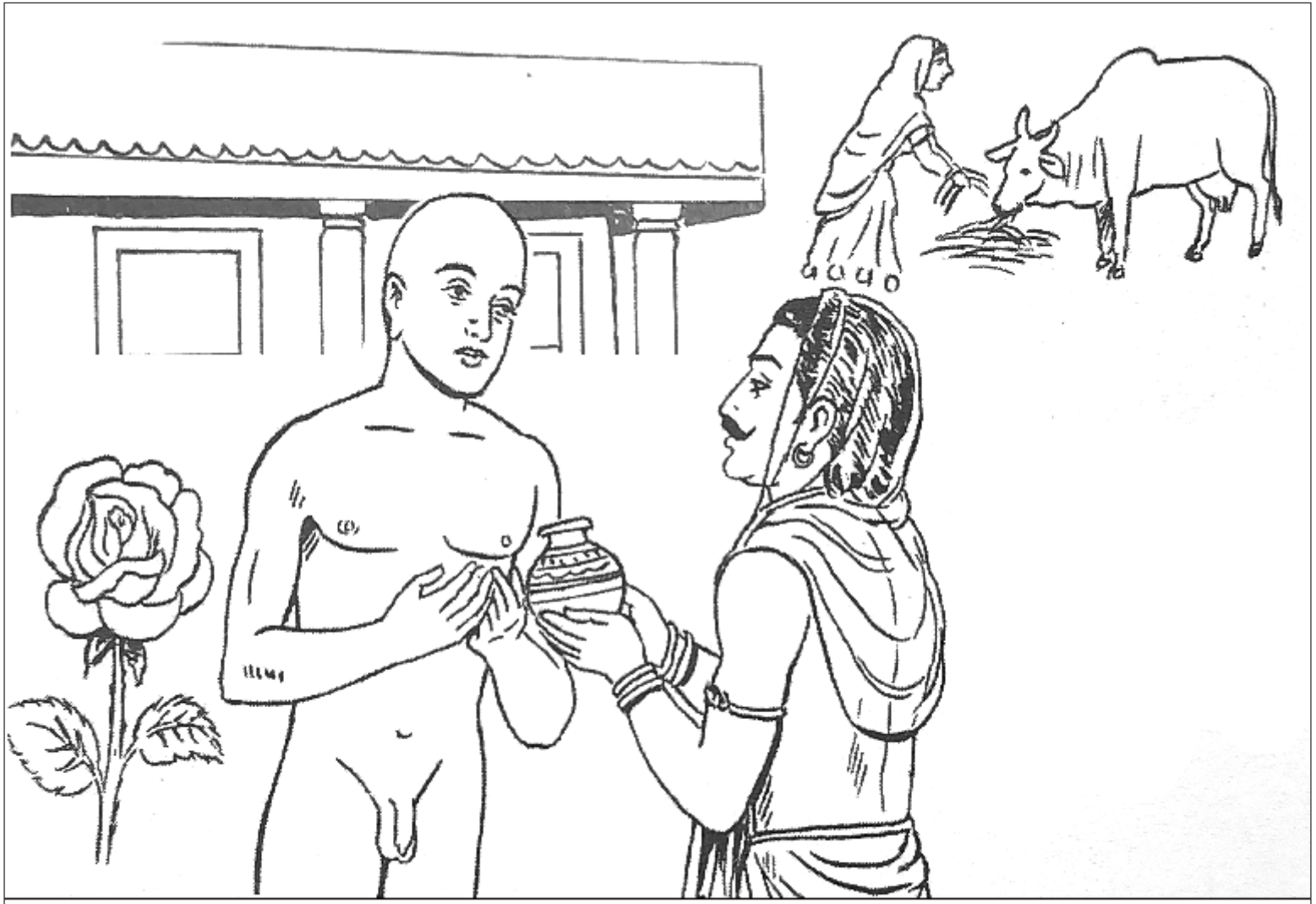
(प्रवचन)

●

अनादिनिधन गूगल कौन?

17.10.2014

बड़ौत (उ.प्र.)



गाय घांस खाती है, घांस डालने वाले को नहीं देखती, ऐसी ही होती है दिगम्बर जैन मुनि की गोचरी वृत्ति।

62

रयणोदय

मोह मद्य पीनेवाला, होकर मद से मतवाला।
हो स्वच्छंद भुलक्कड़ सम, कुछ का कुछ कहनेवाला।।
मिथ्यात्वी आतम, हो-हो-2, समभाव न पाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2, संहिता दिखलाये रे।।

'**जयदु जिणागमपंथो**' अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

तीर्थंकर भगवंत की दिव्यध्वनि जिनश्रुत है, जिनागम है। जिनागम में वर्णित आत्म-कल्याणकारी मार्ग, आत्महितकारी पंथ '**जिनागम पंथ**' है। परस्पर रागद्वेष को बढ़ानेवाले आगमबाह्य पंथ उन्मार्ग हैं। वीतरागता को देनेवाला, '**परस्परोपग्रहो जीवानाम्**' का प्रतीक '**जिनागम पंथ**' सन्मार्ग है।

जीव अनादिकाल से मिथ्यात्व से पीड़ित है। जीव को कभी रत्नत्रय धर्म का उपदेश प्राप्त नहीं हुआ। कभी सम्यग्दर्शन आदि के निमित्तों का आश्रय नहीं हुआ, इसकारण जीव अपने आत्मस्वरूप को भूला हुआ मात्र कर्मोदय से प्राप्त होनेवाले सुख-साधनों को ही अपना हितकारी समझता रहा। धन्य हैं वीतरागी देव, वीतराग वाणी जिससे जीव अपने आत्मस्वरूप

से परिचय करते हैं और अपने सहज शुद्ध ज्ञायकस्वभावी आत्मा को पहिचानकर स्वयं सुखी होते हैं। पर निमित्त से सुख की चाह करना मदहोशी है। **मिथ्यादृष्टि जीव अपने आत्मस्वभाव से अपरिचित होने के कारण बाह्य पदार्थों में सुख की मान्यता करता हुआ निरंतर मदहोशी में जीता रहता है। बाह्य पदार्थों के संयोग-वियोग को देखकर भी उसे सम्यक् बोध नहीं होता।** यही सोचता रहता है कि इन पदार्थों का आश्रय करके मैं सुखी हो जाऊँगा। अहो! मिथ्यात्व जीव को इसतरह मदहोश कर देता है कि वह सत्य-असत्य का निर्णय ही नहीं कर पाता, हित-अहित का भेद नहीं कर पाता, कल्याण-अकल्याण को नहीं समझ पाता।

भो जीव! निजात्मा को निजस्वभाव से पहिचान। निजात्मा को निजस्वभाव से जान। ज्ञान-दर्शनस्वभावी निजात्मा में स्थित होकर सच्चे अतीन्द्रिय-अविनाशी सुख को प्राप्त कर। जीव कदाचित् पुण्ययोग और सम्यक् पुरुषार्थ से शुभ निमित्तों का आश्रय करके, उपादान शक्ति को प्राप्त होकर निर्णय को प्राप्त होता है कि मैं सहज, शुद्ध, ज्ञानदर्शनस्वभावी आत्मा हूँ, यह निर्णय जीव का श्रद्धान् कहलाता है, सम्यग्दर्शन कहलाता है। परंतु निर्णय, निर्णय ही है प्राप्ति नहीं। आत्मवस्तु का निर्णय, आत्मवस्तु की प्राप्ति नहीं है। सम्यग्दृष्टि जीव वर्तमान पर्याय की जो भी आवश्यकतायें होती हैं, उनकी पूर्ति भी करता है, क्योंकि निर्णयमात्र से अभी आत्मवस्तु प्राप्त नहीं हुई। अब वह वर्तमान पर्याय की आवश्यकता को जानकर आसक्ति को त्यागकर वैभाविक निमित्तों से छूटने का उपाय करता है। विभाव के निमित्तों से छूटकर उपयोग को अपनी आत्मा में लगाता है, तब वह जीव अपने आत्मस्वभाव को प्राप्त होता है। यदि विभाव के निमित्तों का त्याग नहीं करता तो कितना भी निर्णय को प्राप्त हुआ हो, उन्हीं विभावों को उत्पन्न करता रहता है। इसलिए जीव सम्यग्दृष्टि होकर भी अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल भोगने के योग्य बना रहता है। अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल भी अनन्तकाल होता है।

सम्यग्दृष्टि जीव जिसने यह निर्णय किया है कि मुझे अपने सहज शुद्ध ज्ञान-दर्शन-स्वभावी आत्मा को ही प्राप्त करना है। मेरे साथ जो भी पदार्थ संयोग को प्राप्त होते हैं वे मुझ आत्मा के नहीं हैं, समय के साथ वियोग को प्राप्त हो जाते हैं। मैं अकेला था, अकेला हूँ, अकेला ही रहूँगा, अकेला ही रहता हूँ, ऐसा विवेक जागृत हो जाने के कारण अब वह पर पदार्थों को अपनी आत्मा में नहीं लगाता, अपितु कर्मोदय से प्राप्त होनेवाली वर्तमान पर्याय का उन पदार्थों के निमित्त से मात्र तात्कालिक समाधान करता है। चिंतन करता है—मैं आत्मा इस

लोक के समस्त जीवद्रव्य, पुद्गलद्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य सबसे पृथक् हूँ, अकेला हूँ।

छहढाला में कहा भी है–

''पुद्गल नभ धर्म अधर्म काल, इन तैं न्यारी है जीव चाल''।। 2-3।।

पुद्गलद्रव्य, आकाश द्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, कालद्रव्य और जितने भी मुझसे पृथक् जीवद्रव्य हैं, मैं उन सबसे पृथक् हूँ। वर्तमान पर्यायसम्बन्धी जितने भी जीवद्रव्य हैं वे कभी मुझ आत्मा के साथ एकत्व को प्राप्त नहीं हो सकते। कभी किसी के शरीर में कोई व्यंतर आदि शक्तियाँ प्रवेश कर जाती हैं। तब उस शरीर में एक तो वह जीव स्वयं है और दूसरा व्यंतर देव और प्रवेश कर गया। एक शरीर में दो जीव आ गये और भी इस शरीर के अन्दर अनंत जीव हैं, परन्तु कोई भी जीव एक-दूसरे के साथ एकत्व को प्राप्त नहीं है, सब अलग-अलग हैं। व्यंतर आदि की चेष्टायें उसी व्यक्ति की चेष्टायें लगती हैं परन्तु वह व्यक्ति अलग है, उसकी आत्मा अलग है, व्यंतर की आत्मा अलग है। कभी दो जीव एक नहीं हो सकते। ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव मानता है, जानता है।

मिथ्यादृष्टि जीव इस सम्यक् बोध से अपरिचित रहता है। आत्मा को स्वभाव से नहीं जानता। मिथ्यादृष्टि अपने को जीव या आत्मा कहता है, परंतु अपने आत्मा को या पर के आत्मा को उसके स्वभाव से नहीं जानता। आत्मा के विषय में मिथ्यादृष्टि जीव भी कदाचित् बहुत कुछ जानता है, परंतु आत्मा को उसके स्वभाव से नहीं जानता। ऐसे अनेक जीव हैं जो क्षयोपशम के बल पर आत्मा के विषय में बहुत कुछ व्याख्यान कर सकते हैं परंतु उन्हें वास्तव में आत्मस्वभाव से आत्मा का निर्णय हो, सम्यग्दर्शन हो, यह कोई जरूरी नहीं है। जब तक मिथ्यात्व रहता है तब तक जीव की रुचि आत्मा से बाह्य परपदार्थों में ही जाती है।

एक परिवार के पाँच सदस्य एक साथ भोजन करने बैठे। भोजन में नमकीन भी है, मिठाई भी है, गरम पेय भी हैं, शीतल पेय भी हैं। जिसकी रुचि जिसमें होगी, वह उसी वस्तु को ग्रहण करेगा। जिसको शीतल पेय पसंद है तो उक्त सभी वस्तुओं में वह शीतल पेय को ही ग्रहण करेगा। इसका नाम है रुचि। यह पुद्गल पदार्थों की रुचि बताई है जो रसना इन्द्रिय के विषय हैं। इसीतरह ही जीव की रुचि जब अपने आत्मा के विषय में होती है, तब वह छहों द्रव्यों के

बीच एकमात्र निज आत्मद्रव्य को ही स्वीकार करता है, पर में रुचि नहीं लेता। ऐसा आत्मरुचि रखनेवाला जीव सम्यग्दृष्टि होता है।

परीक्षा का समय निकट हो, किसी विद्यार्थी का कैमिस्ट्री (Chemistry) का विषय कमजोर हो और स्कूल में अनेक विषयों के प्रोफेसर एक साथ बैठे हों तो जिसप्रकार वह विद्यार्थी अपने विषय को समझने के लिये सिर्फ कैमिस्ट्री (Chemistry) के प्रोफेसर के पास ही जाता है, अन्य में रुचि नहीं लेता उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि जीव की रुचि केवल निज आत्मा में होती है। उसकी रुचि न तो परजीवों में होती है और न पुद्गल आदि परपदार्थों में। हमेशा यह स्मरण रहता है कि मैं कौन हूँ? मेरा स्वभाव क्या है?

ध्यान रखना, ऐसा निर्णय होने के बाद भी अभी उसे आत्मवस्तु मिली नहीं है। निर्णय को ही आत्मवस्तु की प्राप्ति मत मान लेना। बाजार में आपको कोई वस्तु पसंद आ गई, उसमें आपकी रुचि हो गई, मैं इसे प्राप्त करूँगा ये भावना भी हुई। लेकिन जेब में पैसे नहीं है जिससे वस्तु प्राप्त हो सके। यहाँ वस्तु का निर्णय तो है पर अभी वस्तु प्राप्त नहीं है। वस्तु को प्राप्त करने के लिए जो मार्ग है उसको प्राप्त करना होगा। अनादि की भूल है कि जीव ने अपनी आत्मा में रुचि न लेकर एकमात्र बाहर के जड़ पदार्थों में रुचि रखी है, परजीवों में रुचि रखी है। उनमें आसक्त रहने के कारण अपने आत्मस्वभाव से अपरिचित रहा मिथ्यादृष्टि बना रहा।

मिथ्यादृष्टि जीव कैसा होता है? आचार्य भगवन् कहते हैं–

(मिच्छामदि) मिथ्यादृष्टि जीव **(मदमोहासवमत्तो)** मद और मोह की मदिरा से मतवाला होकर **(जहा भुल्लो)** भुलक्कड़ के समान **(बोल्लदे)** प्रलाप करता है, बोलता है, बकता है, कहता है **(तेण)** इसलिए वह **(अप्पा अप्पाणं)** अपनी आत्मा को और आत्मा के **(सम्मभावाणं)** साम्यभाव को **(ण जाणदि)** नहीं जानता।

मिथ्यादृष्टि जीव मोहरूपी मदिरा का पान करने के कारण मद से मतवाला हो जाता है। मोह क्या करता है? मोह से जीव आत्मस्वभाव से विमुख होकर परपदार्थों में अपनत्व दिखाता है। मोह अपने से भिन्न पर-पदार्थों में अपनापन दिखाता है। विचार करना, अपने में अपनापन है या अपनों में अपनापन है। आत्मपदार्थ में अपनापन है या आत्मपदार्थ से भिन्न परपदार्थों में अपनापन है।

सम्यग्दृष्टि जीव अपने श्रद्धान् को बिगड़ने नहीं देता। आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहते हैं–

इदमेवेदृशमेव तत्त्वं नान्यन्न चान्यथा।
इत्यकम्पायसाम्भोवत् सन्मार्गेऽसंशया रुचिः।।11।।

परमार्थस्वरूप तत्त्व का लक्षण यही है, इसप्रकार ही है, अन्य नहीं है, अन्यप्रकार भी नहीं है इसप्रकार सच्चे देव–शास्त्र–गुरु के विषय में तलवार की धार पर रखे हुए पानी के समान अटल श्रद्धान् निःशंकित अंग है। सम्यग्दृष्टि जीव की ऐसी दृढ़ आस्था होती है।

भले ही परपदार्थ बिगड़ जायें, परपदार्थ का वियोग हो जाये, नष्ट हो जायें, कुछ भी हो जाये परंतु सम्यग्दृष्टि अपने श्रद्धान् को नष्ट नहीं होने देता। वह जानता है, श्रद्धान् अति दुर्लभ है। परपदार्थ तो कर्मोदय से आते–जाते रहते हैं। जिसप्रकार घर का आँगन अपना है लेकिन घर के आँगन में आई हुई धूप अपनी नहीं है। धूप का कारण सूर्य है। उदित हो गया तो धूप आ गई, अस्त हो गया तो धूप चली गई। उसीप्रकार बाह्य पदार्थरूपी धूप का संयोग कर्मरूपी सूर्य के कारण होता है। कर्मरूपी सूर्य उदय में आता है, तो परपदार्थरूपी धूप आत्मारूपी आँगन में आ जाती है, कर्मोदयरूपी सूर्य अस्त होता है तो आत्मारूपी आँगन में आई हुई परपदार्थरूपी धूप अपने से दूर चली जाती है।

भो जीव! अपने आत्मपदार्थ को समझ, जो तेरे साथ था, तेरे साथ है और हमेशा तेरे साथ रहेगा, क्योंकि वो तू ही है। धूप–छाँव की तरह जो परपदार्थ हैं उनमें एकत्व मत कर, उनमें भिन्नत्व का बोध कर। भले ही व्यवहार से परपदार्थों को अपना माना जाता है, अपना जाना जाता है, अपना कहा जाता है, परंतु सम्यग्दृष्टि जीव यह जानता है कि सहज, शुद्ध, ज्ञान दर्शनस्वभावी आत्मा के अलावा मेरा अपना कुछ भी नहीं है। इसलिए सम्यग्दृष्टि जीव के ऊपर मोहरूपी मदिरा का नशा नहीं रहता। मोह–मदिरा अपने से भिन्न परपदार्थों में अपनापन लाती है। जब मोह की मदिरा उतर जाती है तब उस सम्यग्दृष्टि जीव की मान्यता भी बदल जाती है। उसके अंतस में यह दृढ़ श्रद्धान् होता है कि एकमात्र निज आत्मा ही मेरा है, आत्मा से भिन्न परपदार्थ न मेरे थे, न हैं और न कभी होंगे। मात्र व्यावहारिक जीवन में व्यवहार से परपदार्थों में अपनेपन की बात करता है, क्योंकि परपदार्थ अभी छूटा नहीं और निज पदार्थ अभी मिला नहीं है। निजपदार्थ

को प्राप्त करना है और मोह के कारण जिसमें अपनापन था उससे छूटना है।

अनादि से कर्मों के कारण यह शरीर आत्मा के साथ लगा हुआ है। आपने जान लिया कि शरीर मेरा नहीं है, मान लिया कि शरीर मेरा नहीं है। जान लिया कि आत्मा मेरा है, मान लिया कि आत्मा मेरा है। अब आप शरीर की व्यवस्था करोगे या नहीं? अवश्य करोगे। क्यों? क्योंकि अभी न शरीर छूटा है और न आत्मा मिला है। शरीर और आत्मा में भेदविज्ञान होने के बाद कथंचित् ऐसा भी कह दिया जाता है कि आत्मा मिल गया और शरीर छूट गया, क्योंकि आत्मा का स्वरूप बोध हो गया है और शरीर का स्वभाव समझ आ गया है। लोक में जब किसी का पता मिल जाता है तो कहने लगते हैं कि अब कोई चिंता की बात नहीं है मैंने उसे खोज ही लिया है।

आजकल तो गूगल (Google) भी आपको गन्तव्य तक पहुँचा देता है। जिसप्रकार गूगल (Google) आपको बताता है–अब दाँए मुड़िये, अब बाँये मुड़िये। अब आप यहाँ पहुँच गये हैं, अब आपको यहाँ पहुँचना है, सब कुछ बता देता है। ऐसे ही अरिहंत परमात्मा अनादि अनिधन गूगल (Google) हैं। प्रभु सब जीवों को रास्ता बता रहे हैं, जो जहाँ भटके हुए हैं वहीं से रास्ता बता रहे हैं–बेटा! यहाँ से ऐसे चलो तुम्हें सम्यक् मार्ग मिल जायेगा, तुम अपनी मंजिल पर पहुँच जाओगे।

मिथ्यादृष्टि जीव मोह मदिरा से मतवाला होकर अपने से भिन्न परपदार्थ को अपना मानता है। अज्ञानी जीव को जितने अनुकूल पदार्थ मिलते हैं उतना ही अभिमान पैदा होता है। निर्ग्रंथ आचार्यों ने निर्ग्रंथ तपोधन को संबोधित करते हुये कहा–भो साधक! गर्व मत करना। यदि आपको आहार में षट्रस व्यंजन मिल जायें, रोज मिलने लग जायें तो रस गारव मत करना। अभिमान मत करना कि मैं जहाँ भी जाता हूँ, अच्छे-अच्छे व्यंजन मिलते हैं। ये सब पुण्य कर्म के उदय से है इसलिए रस गारव मत करना।

कुछ लोग मोह में बौरा जाते हैं, तो कुछ अभिमान में बौरा जाते हैं, उन्मत्तता आ जाती है। जो व्यक्ति उन्मत्त हो जाता है वह भुलक्कड़ के समान जो कुछ मन में आता है वैसा बोलने लग जाता है। जिस जीव के अभिमान नहीं होता वह बहुत विनम्र व्यवहार करता है। अभिमानी व्यक्ति के बोलने का ढंग बदल जाता है, चलने का ढंग बदल जाता है, उठने-बैठने का ढंग

बदल जाता है। मोह पर में अपनापन लाता है। ज्ञानी जीव जानता है कि पर पदार्थ मेरा नहीं है, एकमात्र निज आत्मपदार्थ ही मेरा है।

भगवान् श्री आदिनाथ स्वामी के समक्ष नीलांजना का मरण हुआ। नीलांजना के साथ क्या-क्या गया? स्वर्ग का कौन सा वैभव उस जीव के साथ गया? यह प्रेक्टिकल (Practical) है, इसको हमेशा चिंतन में रखना चाहिये। यह चिंतन में रहेगा तो पर पदार्थों में अपनापन नहीं आयेगा, अभिमान उत्पन्न नहीं होगा। अभिमानी जीव सम्यक्त्व को भी नष्ट कर देता है इसलिए केवल श्रावकों से ही नहीं, निर्ग्रंथ साधकों से भी कहा गया कभी अभिमान मत करना।

देखो, लोग जय-जयकार करते हैं। जय-जयकार परछाई की तरह है। परछाई हमेशा साथ नहीं रहती। इच्छा मत करना कि लोग हमारी जय-जयकार करते रहें, अन्यथा अभिमान जाग्रत हो जायेगा। मैं आत्मा मार्दवस्वभावी हूँ, मद विभावी नहीं हूँ। अभिमान करना मेरा स्वभाव नहीं है, विभाव है, विकृति है, बुराई है। बुराई कभी प्रतिकूलता में और कभी अनुकूलता में भी आती है। अनुकूलता और प्रतिकूलता दोनों में साम्यभाव रखना ही साधना है। मिथ्यादृष्टि जीव को आत्मा के साम्यभाव का बोध नहीं होता। सम्यग्दृष्टि जीव को आत्मा के साम्यभाव का सतत स्मरण रहता है, इसलिए वह अनुकूलता हो या प्रतिकूलता दोनों के निमित्त से होनेवाले मद-मोह आदि को स्वीकार नहीं करता, अपितु आत्मा के सहज साम्यभाव में रहता है।

बंधुओ, यह समभाव बहुत दुर्लभ है। आहार के समय मुनिराज की किसी के यहाँ विधि मिल जाये। यद्यपि मुनिराज अपना नियम लेकर निकले हैं, लेकिन दूसरे चौकेवाले ने सोच रखा था कि आज महाराज उनके चौके में जा सकते हैं। संयोग से विधि भी वहीं मिल गई। तो वो कहता है—हम पहले ही कह रहे थे, जैसे अवधिज्ञानी हो, मनःपर्ययज्ञानी हो। कितनी जल्दी अपने भीतर का साम्यभाव समाप्त हो जाता है।

निर्ग्रंथों को उनके स्वभाव से देखना, स्वरूप से देखना। निर्ग्रंथ मुनिराज समतास्वभावी होते हैं, समभाव के धारी होते हैं। उन्हें दोनों बराबर हैं। न कोई अमीर, न कोई गरीब। उनकी दृष्टि में अमीर-गरीब का भेद नहीं होता। वो साम्यस्वभाव के धारी होते हैं। इसलिए आचार्य भगवन् कुंदकुंददेव ने साधुजनों को कहा—भेद मत करना, गोचरीवृत्ति करना।

गोचरीवृत्ति का तात्पर्य है, जैसे गाय को अपने भोजन यानि चारे से प्रयोजन होता है, चारा अमीर आदमी ने डाला है या गरीब आदमी ने, इससे उसे कोई प्रयोजन नहीं होता। ऐसे ही साधक अपनी दृष्टि अंजुलि पर रखते हैं। यह नहीं देखते कि कौन दे रहा है? यही निर्ग्रंथ वीतरागी संतों का समभाव है।

मिथ्यादृष्टि जीव इस समभाव को नहीं जानता, भेदभाव को प्राप्त हो जाता है। सम्यग्दृष्टि जीव साम्यभाव को प्राप्त होता है। आत्मा के सुख आदि स्वभाव गुण हैं उनको जानकर साम्यभाव को ग्रहण करता है, क्षोभ को प्राप्त नहीं होता। क्षोभ का तात्पर्य है–राग, द्वेष। किसी वस्तु में रागद्वेष न करना साम्यभाव है। साम्यभाव को प्राप्त सम्यग्दृष्टि जीव अपने आत्मपदार्थ को, अपनी आत्मवस्तु को ग्रहण करता है। सहज, शुद्ध, ज्ञानदर्शनस्वभावी आत्मा को प्राप्त करने का मार्ग साम्यभाव ही है। जो ऐसे साम्यभाव को प्राप्त होता है वही मोक्षमार्गी है, वही निर्ग्रंथ मुनि है, वही निर्वाणमार्गी है, वही अपने आत्मपदार्थ को प्राप्त करनेवाला है।

अहो! आत्मा के साथ साम्यभाव का एकत्व है। आत्मा का क्षोभ के साथ भिन्नत्व है। ऐसे एकत्व-विभक्त स्वरूप आत्मा को जानकर, संसार के भोगों से मुक्त होने का प्रयास करना चाहिये, ऐसा जिनेन्द्र भगवान् का उपदेश है, यही आचार्य भगवन् कुंदकुंददेव की वाणी है।

मोह मद्य पीनेवाला, होकर मद से मतवाला।
हो स्वच्छंद भुलक्कड़ सम, कुछ का कुछ कहनेवाला।।
मिथ्यात्वी आतम, हो-हो-2, समभाव न पाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2, संहिता दिखलाये रे।।

अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

❑❑❑

(उपशमभाव से संवर और निर्जरा होती है)

पुव्वट्ठिद खवदि कम्म, पविसदु णो देदि अहिणवं कम्मं।
इह-परलोय-महप्पं, देदि तहा उवसमो भावो।। 52।।

*** अन्वयार्थ ***

(**उवसमो भावो**) भव्य जीवों का उपशमभाव (**पुव्वट्ठिद कम्म**) पूर्व में स्थित/बद्ध कर्मों का (**खवेदि**) क्षय करता है, (**अहिणवं कम्मं**) नये कर्मों को (**पविसदु**) प्रवेश करने (**णो देदि**) नहीं देता, (**तहा**) तथा (**इह-परलोय महप्पं**) इस लोक और परलोक में माहात्म्य (**देदि**) देता है/प्रगट करता है।

अर्थ–भव्यजीवों का उपशमभाव पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय (निर्जरा) करता है, नये कर्मों को प्रवेश नहीं करने देता (नये कर्मों का संवर करता है) तथा इस लोक और परलोक में माहात्म्य प्रगट करता है।

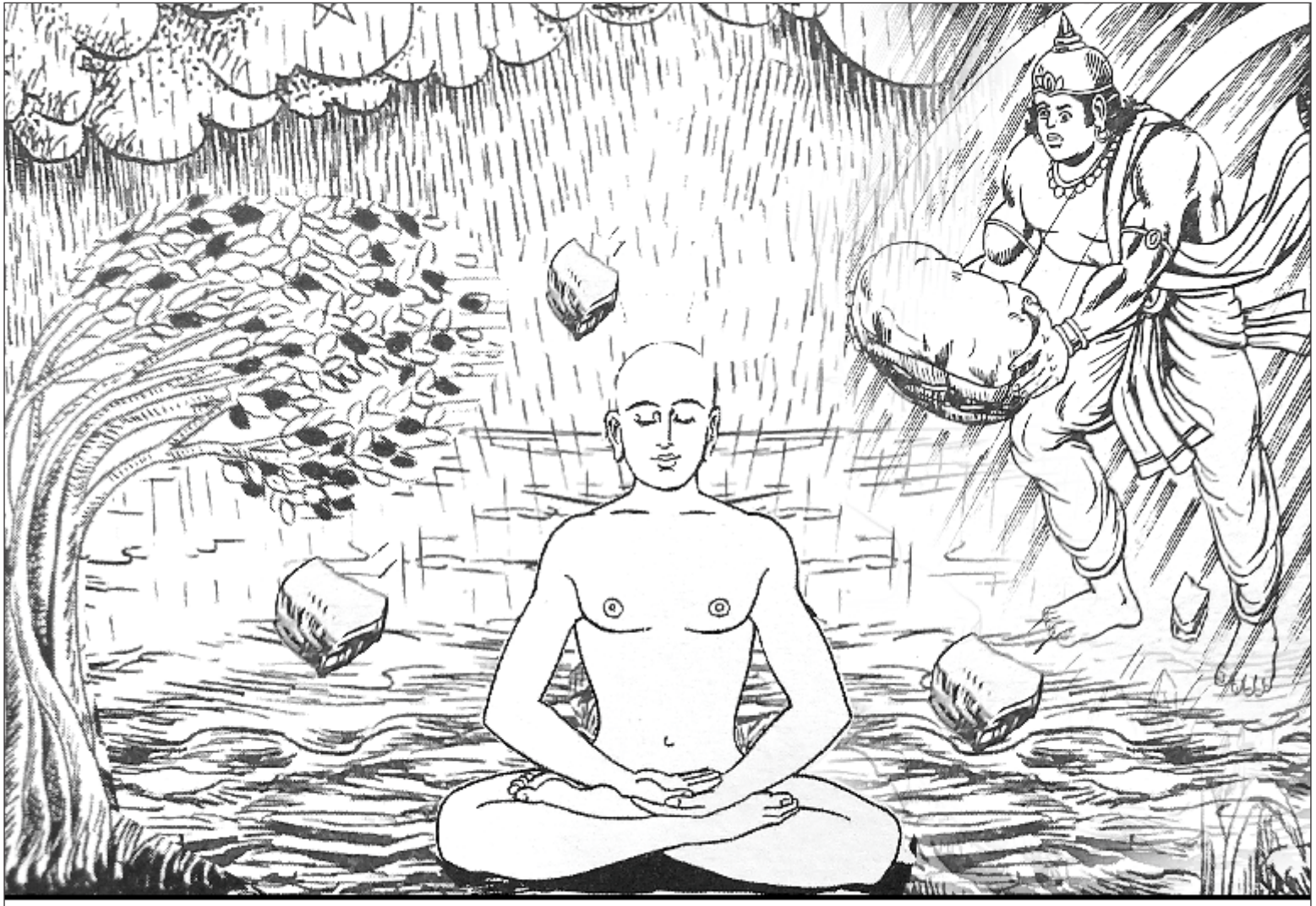
गाथा - 52

(प्रवचन)

●

सिग्नल
प्रभुवाणी के

25.10.2014
बड़ौत (उ.प्र.)



महामुनि पार्श्व पर कमठ अर्थात् शंबर देव कृत उपसर्ग

63

रयणोदय

भवि जीवों का उपशम भाव, कर्मों का क्षय करे अभाव।
अभिनव कर्म प्रवेश नहीं, प्रगटाता है संवरभाव।।
इह-पर लोकों में, हो-हो-2, माहात्म्य दिखाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2, संहिता दिखलाये रे।।

'**जयदु जिणागमपंथो**' अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

तीर्थंकर भगवंत की दिव्यध्वनि जिनश्रुत है, जिनागम है। जिनागम में वर्णित आत्म-कल्याणकारी मार्ग, आत्महितकारी पंथ '**जिनागम पंथ**' है। परस्पर रागद्वेष को बढ़ानेवाले आगमबाह्य पंथ उन्मार्ग हैं। वीतरागता को देनेवाला, '**परस्परोपग्रहो जीवानाम्**' का प्रतीक '**जिनागम पंथ**' सन्मार्ग है।

भव्यजीव जिनवाणी श्रवणकर प्रफुल्लित हो उठता है। जैसे सूर्य की किरणों को प्राप्तकर सरोवर में कमल विकसित हो जाते हैं उसीप्रकार सच्चे जिनेन्द्रदेव की वाणी को सुनकर भव्य जीवों के हृदयकमल विकसित हो जाते हैं, प्रफुल्लित हो जाते हैं, आनंदित हो जाते हैं।

किसी भव्यजीव ने प्रश्न किया—संसार परिभ्रमण करते-करते, दु:ख भोगते-भोगते, मेरा

अनंतकाल व्यतीत हो गया। अब मैं संसार के सुख-दु:ख नहीं चाहता, कर्मों से मुक्ति चाहता हूँ। कर्मों के कारण मैंने अनंतभव धारण किये, दु:ख भोग-भोगकर आत्मा को दु:खी किया है। मैं ही अपने दु:ख का कारण हूँ, यह सुनकर बहुत दु:ख होता है। भगवन्! कोई उपाय बतायें, जिससे मैं अपने कर्मों का क्षय कर आत्मा को पूर्ण सुखी बना सकूँ?

ध्यान रखना, मैं ही अपनी आत्मा के दु:ख का कारण हूँ, यह सुनकर भव्यजीव दु:खी होता है। अज्ञानी-मिथ्यादृष्टि जीव ऐसा स्वीकार ही नहीं करता। वह दूसरों को दोष देता है, दूसरा निमित्तमात्र होता है। अपने दु:ख का कारण जीव स्वयं है, यह बात सुनकर भव्यजीव आत्मनिन्दा करता है। अपनी गर्हा करता हुआ कहता है–

पापिष्ठेन दुरात्मना जडधिया मायाविना लोभिना।
रागद्वेषमलीमसेन मनसा दुष्कर्म यन्निर्मितम्।।
त्रैलोक्याधिपते जिनेन्द्र! भवतः श्री पादमूलेऽधुना।
निंदा पूर्वमहं जहामि सततं वर्वर्तिषुः सत्पथे।।2।।

हे तीन लोक के अधिपति जिनेन्द्रदेव! मुझ पापी, दुष्ट, जड़बुद्धि, मायावी, लोभी, रागद्वेष से मलिन मन के द्वारा मैंने जिन पापकर्मों का उपार्जन किया, उन पापकर्मों को मैं इससमय आपके अनंत चतुष्टयरूपी लक्ष्मी से सम्पन्न चरणकमलों में आत्मनिंदा पूर्वक छोड़ता हूँ और निरंतर सन्मार्ग में प्रवृत्ति करने की इच्छा करता हूँ।

अहो! मैं पापी हूँ, दुरात्मा हूँ, जड़बुद्धि हूँ, मायावी हूँ, क्रोधी हूँ, लोभी हूँ। मैंने अनंत भवों में जितने दुष्कर्म किये, उन सब दुष्कर्मों का फल मेरी आत्मा ने ही भोगा है। वास्तव में आत्मा निजभावों का फल भोगता है। अहो! मैं जो भी भाव करता हूँ उन भावों का फल मेरे आत्मा को ही भोगना पड़ता है। मेरे भावों का फल कोई दूसरा नहीं भोगता। मैंने ही बुरेभाव, खोटेभाव करके अपनी आत्मा को दु:ख दिये हैं खोटे फल दिये हैं, ऐसा आत्मनिन्दा का चिंतन भव्यजीव के हृदय में उमड़ता है।

रावण जब अंतिम बार युद्ध करने के लिए उद्यत हुआ तो मार्ग में उसे अनेक प्रकार के अशुभ निमित्त दिखाई दिये। रावण के मंत्रीगण, पटरानी मंदोदरी और सभी सभासद जान रहे

थे कि ये जितने भी निमित्त वर्तमान में दिखाई दे रहे हैं ये सब रावण की मृत्यु के सूचक हैं। फिर भी रावण अहंकार के वशीभूत हो उन सब निमित्तों को देखता हुआ भी, जानता हुआ भी उन्हें झुठलाने की कोशिश करता है। सीता के पास जाता है, कहता है—भो सीते! देख अब मैंने बहुरूपिणी विद्या सिद्ध कर ली है, अब मैं राम को अवश्य जीतूँगा।

सीता ने जब यह सुना तो उसे बहुत दु:ख हुआ। रावण से कहने लगी—भो दशानन! मैं बहुत अभागिन हूँ। मेरे कारण मेरे पुत्र के समान देवर लक्ष्मण को शक्ति लगी। बस तुम राम से इतना कह देना यह अभागिन सीता आपको स्मरण करके अभी तक जीवित है, उसने प्राण भी नहीं त्यागे और राम को युद्ध में मारना मत, ये मुझे वचन दो। तब रावण मन ही मन विचार करता है कि अहो! यह सीता मेरी नहीं हो सकती, ये राम की ही है।

रावण को पश्चाताप होता है, अहो! मैंने अपने कुल को कलंकित करनेवाला यह कार्य क्यों किया? मेरे सहोदर विभीषण ने मुझे बहुत समझाया, पर मैंने अपने ही भाई को दोष देकर घर से निकाल दिया। मेरे भाई, मेरे पुत्र, राम के पास बँधे पड़े हैं। अहो! मैंने यह कुलनाश करनेवाला कैसा बुरा कार्य कर लिया? अब अगर सीता भी मुझे चाहेगी तो भी मैं सीता को नहीं चाहूँगा। रावण सम्बोधि को प्राप्त हो गया। सोचने लगा, अगर मैं सीता को यूँ ही राम के लिए सौपता हूँ तो त्रिखण्डाधिपति रावण का यश कलंकित हो जायेगा। इसलिए मैं राम को जीतकर पश्चात् बड़े वैभव, सम्मान के साथ सीता राम को सौंप दूँगा। अब मेरी सीता में कोई प्रीति नहीं है। रावण विचार करता है कि मैंने अपने खोटे भावों से अपना ही कुल नाश किया, अपना धर्म नाश किया और अपनों को दोष दिया, धिक्कार है मुझे।

ऐसे ही भव्यजीव विचार करता है—मैंने अनंतभवों में अपने भावों के द्वारा अपनी आत्मा को दु:खी किया है। अब मैं आत्मा को और दु:खी नहीं करना चाहता। मैं आत्मा को सुखी करने का उपाय करूँगा, कर्मों का नाश करूँगा। हे भगवन्! मुझे उपाय बतायें, जिससे मेरे कर्मों का नाश हो?

आचार्य भगवन् कुंदकुंददेव ने ऐसे निर्मल परिणामी, भवभीरू, भव्यजीवों के लिये इस गाथा में कर्मक्षय का मार्ग बताया है। आचार्य भगवन् कहते हैं—

(उवसमो भावो) भव्यजीवों का उपशम भाव **(पुव्वट्ठिद कम्म)** पूर्व में स्थित, पूर्व में बद्ध जो कर्म हैं, उन कर्मों का **(खवेदि)** क्षय करता है और **(अहिणवं कम्मं)** अभिनव कर्मों का, नये कर्मों का, **(पविसदु णो देदि)** प्रवेश नहीं होने देता है, **(तहा)** तथा **(इह-परलोय महप्पं)** इसलोक में, परलोक में माहात्म्य, **(देदि)** देता है अर्थात् प्रगट करता है।

भो जीव! यदि तू वास्तव में अपने आत्मा को सुखी करना चाहता है, दु:ख का नाश करना चाहता है, कर्मों का क्षय करना चाहता है तो उपशमभाव को प्राप्त कर। उपशम भाव क्या है? उपशम भाव का अर्थ है—जो परिणाम आत्मा को दु:खी करनेवाले हैं उन परिणामों को वहीं का वहीं दबा देना या उपशमित कर देना, उनसे अपने उपयोग को प्रभावित नहीं करना। मैं आत्मा जानने-देखनेवाला हूँ। जानने-देखने को अगर एक शब्द में कह दिया जाये तो मैं आत्मा उपयोगमयी हूँ। ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग ये दो भेद हैं। क्रोध कषाय है, कषाय कर्म के कारण उत्पन्न होती है। यदि क्रोध उपयोग को प्रभावित करता है तो कषाय आत्मा को प्रभावित करने में कारण हो जाती है और यदि क्रोध का निमित्त आत्मा मात्र देखता है, जानता है पर प्रभावित नहीं होता उस समय वह अपने उपयोगमयी स्वभाव में स्थिर रहता है।

जैसे आप दुकान पर बैठे हुए थे, एक कार सामने से गुजरी। आपने उसे देखा, जाना। कार निकल गई, आपके ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। थोड़ी देर में वही कार लौटकर आई और दुकान के सामने लगा दी। आप नहीं चाहते कि हमारी दुकान के सामने कोई कार खड़ी करे अन्यथा ग्राहक कैसे आयेंगे? अब आप प्रभावित हुए। कार वही है जो पहले निकली थी पर आप प्रभावित नहीं हुये थे। तब आपको क्रोध नहीं आया था। अब क्या हो गया? अब कार दुकान के सामने खड़ी कर दी है इसलिये आपको तुरंत क्रोध आ गया, ऐ मिस्टर! आप कार यहाँ से हटाइये। क्या हुआ? यहाँ कषाय आपके उपयोग रूप स्वभाव को प्रभावित कर रही है। कषाय आपके ज्ञान-दर्शनस्वभाव को मलिन कर रही है। आपका उपयोग मलिन हो गया। मलिन उपयोग कर्माश्रव का कारण है, बंध का कारण है, आत्मा के दु:ख का कारण है। आपने देख लिया, गाड़ी खड़ी हो गई है, वो क्रोध का कारण हो सकती थी, पर आपने क्रोध नहीं किया सिर्फ देखा और शांत रह गये तो आप उस समय उपशमभाव को प्राप्त हो गये। जो क्रोध

आनेवाला था आपने उसको वहीं दबा दिया, अपने उपयोग को मलिन नहीं किया, यह उपशम भाव है। जो जीव अपने ज्ञान-दर्शन उपयोग को इस तरह मलिन होने से रोक लेता है, बचा लेता है वह उपशमभाव को प्राप्त होता है, उसके कर्मों का क्षय होता है।

जिसप्रकार अग्नि पर चढ़ा हुआ दूध जब खौलते-खौलते पात्र से बाहर निकलने को होता है तो उस पर कुछ पानी की बूँदें छिड़क देते हैं। उन पानी की बूँदों से वह उफनता हुआ दूध शांत हो जाता है। उसीप्रकार जब किसी व्यक्ति को क्रोध आ रहा हो, उस समय वह अपने परिणामों पर क्षमा का जल छिड़क दे तो उसका क्रोध उसी समय उपशमित हो जाता है। यह उपाय जीव जितना करेगा उतने कर्मों का क्षय करेगा।

ध्यान रखना, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद ये सब कषाये हैं। ये सारे परिणाम कषाय परिणाम हैं। जब-जब हम इन कषाय परिणामों का आश्रय करते हैं, तब-तब हम स्वयं अपने लिये दु:ख का प्रबंध कर लेते हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ कषाय तो सब जानते हैं, पर हास्य करना भी कषाय है। जब आप दूसरे की हँसी कर रहे हैं उस समय आप अपनी आत्मा को ही दु:खी कर रहे हैं। आज आप दूसरों की हँसी कर रहे हो उससे जो कर्म बँध रहा है, वो कालांतर में आपकी हँसी करायेगा।

जिनेन्द्र भगवान् कहते हैं—हास्य मत करो, प्रमोदभाव में रहो, प्रमुदित रहो। जैसे—आप घर से मंदिर जा रहे थे। आपने सोचा भी नहीं था कि हमें रास्ते में कोई निर्ग्रंथ मुनिराज का दर्शन होगा। अचानक आपको सामने से आते हुए परम वीतरागी मुनिराज दिखाई दिये। आपका रोम-रोम पुलकित हो गया। अरे! महाराज श्री आ गये। नमोस्तु भगवन्! नमोस्तु भगवन्! इसमें जो आनंद आ रहा है, ये प्रमोदभाव है हास्य नहीं है। यहाँ रोम-रोम पुलकित हो रहा है। आप घर से मंदिर की ओर चले। आप जितने-जितने मंदिर के निकट आते जा रहे हैं, आपको रोमांच बढ़ता चला जा रहा है ये प्रमुदित भाव है। जब आपने जिनालय को देखा, तो एकदम हर्षित हो गये। अंदर जाकर जब प्रभु को देखा तो जो प्रफुल्लता उत्पन्न हुई उसका कथन जिह्वा से नहीं किया जा सकता। ऐसा प्रमोदभाव जिन जीवों के अंतरंग में उत्पन्न होता है वे हास्य को जीत लेते हैं, उपशमभाव को प्राप्त हो जाते हैं। भव्यजीवों का उपशमभाव पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय

करता है।

आप कहोगे—मैं जहाँ भी देखता हूँ मुझे क्रोध के निमित्त मिलते हैं, अभिमान के निमित्त मिलते हैं, मायाचारी के निमित्त मिलते हैं, लोभ के निमित्त मिलते हैं, उपशम भाव कहाँ खोजें? कोई मेरे साथ दुर्व्यवहार किये जा रहा है अब मैं उपशम भाव कहाँ से लाऊँ?

भो आत्मन! जिस समय क्रोध का निमित्त मिलता है उसीसमय उपशम भाव को लाना होता है। भगवान् पार्श्वनाथ स्वामी पर कमठ उपसर्ग कर रहा है और प्रभु पार्श्वनाथ स्वामी उपशमभाव को प्राप्त हो गये, उन्होंने कुछ प्रतिक्रिया नहीं की। पार्श्व प्रभु ने मन में विचार किया—अहो! इस जीव ने कैसा कर्मों का आश्रव-बंध किया होगा, जो आज यहाँ उपसर्ग करने के रूप में अपने कर्मों को भोग रहा है? मैं इसके कषाय परिणाम से प्रभावित नहीं होऊँगा। मैं कषाय परिणाम से प्रभावित क्यों होऊँ? मैं अपने सहज साम्यभाव से प्रभावित क्यों न होऊँ? मुझ आत्मा में सहज-शांतभाव अनादि-अनंत है। एक ओर पर का कषायभाव है, दूसरी ओर स्वयं का सहज साम्यभाव है, उपयोग बीच में है। अब उपयोग को पता है कि उसको किससे प्रभावित होना है, पर के कषायभाव से या स्वयं के साम्यभाव से। अगर वह स्वयं के साम्यभाव से प्रभावित होगा तो उपशम भाव को प्राप्त होगा, पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय करेगा और कषायभाव से प्रभावित होगा तो पुनः नवीन कर्मों का आश्रव बंध करेगा।

संसार और संसार से मुक्ति का साधन उपयोग है। **अगर उपयोग कर्मोदय से प्रभावित होता है, पर निमित्तों से प्रभावित होता है, कषायभावों से प्रभावित होता है, तो उपयोग की यह मलिनता ही कर्मों के आश्रव-बंध में कारण बन जाती है। अगर उपयोग आत्मा के सहज-साम्यभाव से प्रभावित होता है, जिनेन्द्रदेव की वाणी से प्रभावित होता है तो कर्मबंध से बच जाता है।** जिनेन्द्रप्रभु की वाणी में आया—भो जीव! क्षमा धारण कर, क्रोध मत कर। जीव अगर प्रभु की वाणी से प्रभावित होगा, तो क्षमा धारण करेगा। जिसप्रकार आप जब किसी चौराहे से गुजरते हैं और कोई ट्रैफिक पुलिस वाला (Traffic Police) आपको रोकता है तो आप तुरंत रुक जाते हैं उससे प्रभावित हो जाते हैं। उसी प्रकार जिनेन्द्रदेव कहते हैं—क्रोध-मान-माया-लोभ ये चौराहा है, मैं तुम्हें इन चारों राहों पर जाने से रोकता हूँ। क्षमा को धारण करले, मार्दव को धारण करले, आर्जव को धारण करले, शौच को धारण करले। प्रभु

कहते हैं–रुक जा। जो प्रभुवाणी के सिग्नल (Signal) संकेत को देखकर अपने आपको रोक लेता है वह दुर्घटना से बच जाता है। प्रभु उपशमभाव की शिक्षा देते हैं। क्रोध–मान–माया–लोभ आदि कषाय परिणामों से प्रभावित होने की शिक्षा नहीं देते।

आचार्य श्री कुंदकुंदस्वामी नियमसार में कहते हैं–

कोहं खमया माणं समद्दवेणज्जवेण मायं च।
संतोसेण य लोहं जयदि खु ए चउविहकसाए।।115।।

क्रोध को क्षमा से, मान को मार्दव से, माया को आर्जव से और लोभ को संतोष से इस प्रकार चारों कषायों को साधु जीतता है।

कषाय परिणामों से प्रभावित होने का संस्कार जीव को स्वयं कर्मोदय से प्राप्त होता रहता है। अनादिकाल से इस जीव ने उपशमभाव को प्राप्त नहीं किया, इसलिए कर्मों का आश्रव–बंध बना रहा। उपशमभाव में स्थित जीव पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय करता है। भो आत्मन्! अगर कर्मों का नाश करना है तो सहज साम्यभाव में रहो, बाह्य पदार्थों से दूर रहो। जितना कम से कम पदार्थों में अपना काम हो सकता है उतनी उनकी सीमा बनालो, अन्यथा कोई भी निमित्त तुम्हें प्रभावित करता रहेगा। तुम रास्ते के पत्थर नहीं हो कि जो आया उसी ने ठोकर मार दी।

सच बात तो यही है कि संसारी जीव अनादि से रास्ते के पत्थर की तरह जीवन जीता रहा है। कभी क्रोध आया तो उसने ठोकर मार दी, कभी मान आया तो उसने ठोकर मार दी, कभी लोभ आया तो उसने ठोकर मार दी, कभी हास्य आया तो उसने ठोकर मार दी, रति, अरति, भय, जुगुप्सा जो भी परिणाम आ रहा है ठोकर मारे जा रहा है और जीव ठोकर खा–खाकर चार गति, चौरासी लाख योनियों में गिरता रहता है।

बंधुओ, उपशमभाव को धारण करो। जिस समय क्रोध का निमित्त मिले समझ लेना अब यही समय क्षमा धारण करने का है। अब मैं क्षमाभाव को धारण करता हूँ। मन से क्रोध का चिंतन नहीं, वचन से क्रोध का जवाब नहीं और काया से क्रोध के प्रति चेष्टा नहीं होना। अब मैं तीनों को संकोचता हूँ और अपने क्षमास्वभाव को धारण करता हूँ। '**ॐ नमः सिद्धेभ्यः**' क्रोध

और क्रोधी दोनों ही आकर निकल जायेंगे। फिर क्रोध प्रभावित नहीं करेगा और क्रोधी भी कब तक रहेगा? मेहमान कब तक रहता है? आया है तो जायेगा। वो तो जा ही रहा है अब तुम्हीं न जाने दो तो बात अलग है। रात आई है तो जायेगी, प्रभात अवश्य होगा।

बंधुओ, उपशमभाव प्रभात की तरह है और क्रोधादि भाव रात्रि की तरह हैं। उपशमभाव से प्रभावित होना सुप्रभात है। प्रभात तो रोज हो रहा है, अब सुप्रभात होना चाहिये। उपशमभाव नये कर्मों को प्रवेश नहीं करने देता। कर्मों के आने का कारण कौन है? अपने ही क्रोधादि भाव नये कर्मों को बुलाते हैं। उपशमभाव से पूर्वकृत कर्म क्षय को प्राप्त हो जाते हैं और नये कर्म जो आनेवाले थे वे ठिठक जाते हैं, रुक जाते हैं, क्योंकि उनको आमंत्रण नहीं मिला। कर्मों को आमंत्रित कौन करता है? क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद आदि कषायभाव कर्मों को आमंत्रित करते हैं। जीव इन विभावों को छोड़ दे तो कर्म भी आना छोड़ देंगे। जो जीव विभाव को छोड़कर स्वभाव की ओर बढ़ने लगता है, कर्म भी उससे कतराने लगते हैं, उसके पास नहीं जाते।

जैसे शराबी कभी दूध पीनेवालों के साथ नहीं रहता। शराबी ही शराबियों को आमंत्रित करते हैं। शराबी दूध पीनेवाले को आमंत्रित नहीं करता, कि आओ भाई! दूध पीलो। वो यही कहेगा, आओ भाई! एक जाम तुम भी लगाओ। जैसे शराबी, शराबियों को ही आमंत्रित करते हैं, ऐसे ही क्रोध, मान, माया, लोभरूप भावकर्मों को करनेवाला ही द्रव्यकर्मों को आमंत्रित करता है। जिसने भाव नहीं किया द्रव्य कर्म भी उसके पास नहीं आते। अभिनव कर्मों का प्रवेश नहीं होता। कर्मों का रुक जाना ही संवर कहलाता है, इसलिए उपशमभाव से जो निर्जरा होती है, कर्मों का क्षय होता है वो संवरपूर्वक होता है। भव्यजीव जब उपशमभाव को प्राप्त होता है तो संवर, निर्जरा की घटना स्वयमेव घट जाती है। उपशमभाव को प्राप्त भव्यजीवों का माहात्म्य इसलोक में भी प्रगट होता है और परलोक में भी प्रगट होता है।

भगवान् पार्श्वनाथ स्वामी का स्मरण आज हम क्यों करते हैं? क्योंकि उन्होंने उपशमभाव को प्रगट किया था और उपसर्ग को सहजता से जीत लिया था। मैं ज्ञान-दर्शन उपयोगमयी चेतन आत्मा हूँ, जानना-देखना यही मेरा स्वभाव है। रागद्वेष करना, क्रोध, मान, माया, लोभ करना

ये मेरा स्वभाव नहीं है। जीव जब कर्मोदय से प्रभावित होता है तब काषायिक परिणाम अनुभव में आते हैं। कषायों के निमित्त मिलेंगे, पर हमें प्रभावित नहीं होना।

भव्यजीव ने प्रश्न पूछा था—भगवन्! मैं अपने कर्मों का क्षय कैसे करूँ?

आचार्य भगवन् कुंदकुंदस्वामी ने उत्तर दिया—उपशमभाव को प्राप्त करो, तुम्हारे कर्मों का क्षय हो जायेगा। वह जीव प्रफुल्लित, रोमांचित, आनंदित होता हुआ कहता है—भगवन्! जो आपने मार्ग बताया है, मैं उसी को प्राप्त होकर अपने कर्मों का क्षय करूँगा। उपशमभाव रूप यह कर्मक्षयकारी पावन मार्ग संसार के सभी जीवों को प्राप्त हो, सभी जीव इस मार्ग का अनुसरणकर शुद्धात्मशरण को प्राप्त हों, इसी भावना के साथ....

भवि जीवों का उपशम भाव, कर्मों का क्षय करे अभाव।
अभिनव कर्म प्रवेश नहीं, प्रगटाता है संवरभाव।।
इह-पर लोकों में, हो-हो-2, माहात्म्य दिखाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2, संहिता दिखलाये रे।।

अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

❑❑❑

(पृष्ठ नं. 342 का शेष)

उत्तर – शूद्र भगवती जिनदीक्षा ग्रहण नहीं कर सकता, लेकिन अणुदीक्षा ग्रहण कर सकता है। शूद्र के दो भेद कहे हैं – कारूशूद्र और अकारुशूद्र। यहाँ कारुशूद्र के भी दो भेद है– स्पृश्य कारूशूद्र और अस्पृश्य कारूशुद्र। इन्हें भोज्य और अभोज्य इन संज्ञा रूप भी कहा है। तथा भोज्य कारूशूद्र को सत्शूद्र ऐसी भी संज्ञा कही गई है।

श्री प्रवचनसारजी की तात्पर्यवृत्ति में प्रक्षेपक गाथान्तर्गत कहा भी है–

'यथायोग्यं सच्छूद्राद्यपि'

अर्थात् सत्शूद्र भी यथायोग्य दीक्षा (क्षुल्लक दीक्षा) के योग्य होते हैं। प्रायश्चित्त चूलिका गाथा 154 में भी कहा है–

'भोज्यष्वे प्रदातव्वं सर्वदा क्षुल्लकवृतम्'

अर्थात् कारूशूद्र में केवल भोज्य अर्थात् स्पृश्यशूद्रों को ही क्षुल्लक व्रत देना योग्य है। यहाँ इतना विशेष है कि म्लेच्छ भूमिज मनुष्य कथंचित् भगवती जिनदीक्षा धारण कर सकता है।

लब्धिसारजी में कहा है–

दिग्विजयकाले चक्रवर्तिता सह आर्यखण्डमागतानां म्लेच्छराजानां चक्रवर्त्यादिभि: सहजात वैवाहिक सम्बन्धानां संयम प्रतिपत्तेरविरोधात्। अथवा तत् कन्याकानां चक्रवर्त्यादि–परिणीतानां गर्भेषूत्पन्नस्य मातृपक्षापेक्षया म्लेच्छव्यवपदेशभाज: संयमसंभवात् तथा जातीयकानां दीक्षार्हत्वे प्रतिषेधाभावात्।

अर्थात् दिग्विजयकाल में चक्रवर्ती के साथ जो मनुष्य आर्यखण्ड में आते हैं और चक्रवर्ती आदि के साथ उनका वैवाहिक सम्बन्ध पाया जाता है उनके संयम ग्रहण के प्रति विरोध का अभाव है अथवा जो म्लेच्छ कन्याएँ चक्रवर्ती आदि से विवाही गयी हैं उनके गर्भ से जो पुत्र उत्पन्न होते हैं वे माता के पक्ष से म्लेच्छ हैं और उनके दीक्षा ग्रहण सम्भव है।

1. जिनदीक्षा की योग्यता–

श्री प्रवचनसारजी में दीक्षार्थी की अंतरंग योग्यता इस प्रकार कही है–

णाहं होमि परेसिं ण मे परे णत्थि मज्झमिह किं चि।
इदि णिच्छिऽर्भ जिदिंदो जादो जधजादरूवधरो ।।4।।

अर्थात् मैं शुद्धचिन्मात्र से अन्य जो परद्रव्य है उनका नहीं हूँ और न परद्रव्य मेरे हैं इसलिए इस लोक में मेरा कुछ भी नहीं है। इस तरह निश्चय करता हुआ जितेन्द्रिय मुमुक्षु आत्मा का जैसा स्वयंसिद्ध स्वरूप है उसको अर्थात् यथाजात रूप को धारण करता है।

2. जिनदीक्षा की अयोग्यता–

श्री भगवती आराधना में कहा है–

पुरुष लिंग में चर्म न होना, अतिशय दीर्घता, बारम्बार चेतना होकर ऊपर उठना, ऐसे दोष यदि हों तो दीक्षा के अयोग्य है। इसी तरह यदि अण्ड भी अतिशय लम्बे हों, बड़े हों, तो गृहस्थ नग्नता के अयोग्य है।

श्री योगसार प्राभृत 8/52 में भी कहा है–

कुलजातिवयोदेह कृत्यबुद्धिकुधादय:।
नरस्य कुत्सिता व्यङास्तदन्ये लिंगयोग्यता।।

मनुष्य के निन्दित कुल, जाति, वय, शरीर, कर्म, बुद्धि और क्रोध आदिक व्यंग–हीनता हैं निर्ग्रन्थ लिंग के धारण करने में बाधक हैं, इनसे भिन्न निर्ग्रन्थ लिंग ग्रहण में कारण है।

बोधपाहुड में टीका में कहा है–

(शेष पृष्ठ नं. 384 पर)

(सम्यग्दृष्टि ज्ञान-वैराग्य में काल बिताता है)

सम्मादिट्ठी कालं, बोल्लदि वेरग्गणाणभावेहिं ।
मिच्छादिट्ठी वांछा, दुब्भावालस्सकलहेहिं ।। 53 ।।

*** अन्वयार्थ ***

(**सम्मादिट्ठी**) सम्यग्दृष्टि (**वेरग्ग-णाण-भावेहिं**) वैराग्य और ज्ञानभाव से (**कालं**) समय को (**बोल्लदि**) बिताता है, जबकि (**मिच्छादिट्ठी**) मिथ्यादृष्टि (**वांछा**) आकांक्षा, (**दुब्भावालस्स**) दुर्भाव, आलस्य और (**कलहेहिं**) कलह के द्वारा अपना समय बिताता है।

अर्थ–सम्यग्दृष्टि वैराग्य और ज्ञानभाव से समय को व्यतीत करता है; जबकि मिथ्यादृष्टि आकांक्षा, दुर्भाव, आलस्य और कलह से अपना समय बिताता है।

गाथा - 53

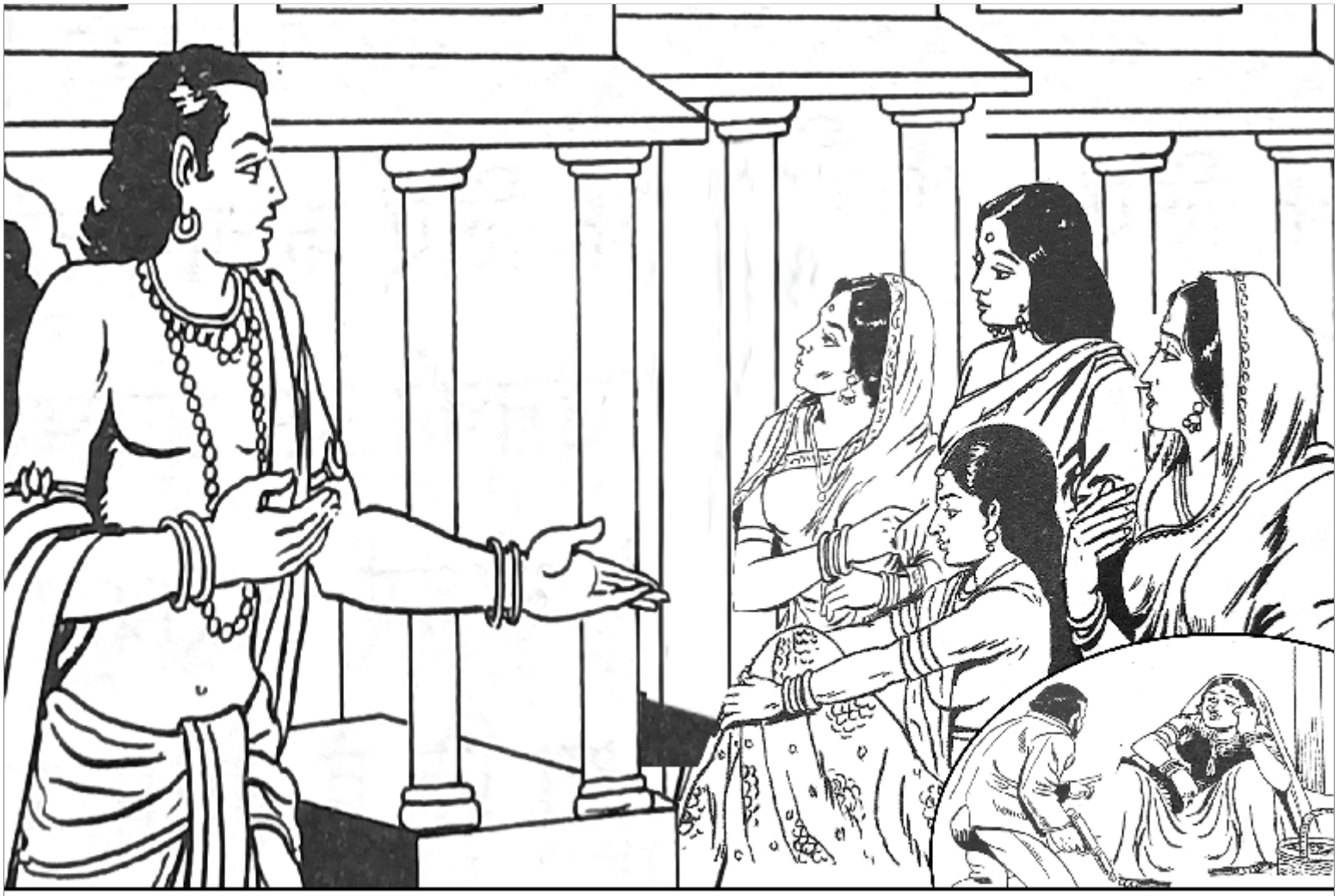
(प्रवचन)

●

वैराग्य जम्बूस्वामी का

17.09.2011

अशोकनगर (म.प्र.)



जम्बुस्वामी अपनी रानियों से प्रातः वैराग्य ग्रहण की चर्चा करते।
इन्सेट में विद्युतचोर और जम्बुस्वामी की माता।

64

रयणोदय

दृष्टि सम्यक् करो-करो, ज्ञान और वैराग्य धरो।
कलह कांक्षा आलस्य, दुर्भावों को हरो-हरो।।
मिथ्यादृष्टि ही, हो-हो-2, दुर्भाव बनाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2, संहिता दिखलाये रे।।

'**जयदु जिणागमपंथो**' अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

तीर्थंकर भगवंत की दिव्यध्वनि जिनश्रुत है, जिनागम है। जिनागम में वर्णित आत्म-कल्याणकारी मार्ग, आत्महितकारी पंथ '**जिनागम पंथ**' है। परस्पर रागद्वेष को बढ़ानेवाले आगमबाह्य पंथ उन्मार्ग हैं। वीतरागता को देनेवाला, '**परस्परोपग्रहो जीवानाम्**' का प्रतीक '**जिनागम पंथ**' सन्मार्ग है।

मनुष्य जीवन में समय की बड़ी उपादेयता है। जिन्हें समय की कीमत समझ में आती है, वे ही समय को समझ पाते हैं और जिन्हें समय का ज्ञान नहीं वे कभी समय की कीमत नहीं कर पाते। समय का अर्थ है आत्मा। जिन्हें आत्मा का ज्ञान होता है, वे ही समय की कीमत कर पाते हैं। जिन्हें आत्मज्ञान नहीं होता, वे समय की कीमत उसका सदुपयोग नहीं कर पाते।

धर्मात्मा पुरुष के लिये समय कितना मूल्यवान है वही जानता है। जो धर्मात्मा उत्कृष्ट निर्विकल्पसमाधि के योग्य हो उससे पूछो–समय की क्या कीमत है? वो कहेगा–बस दो घड़ी चाहिए। दो घड़ी समय का सदुपयोग हो जाये तो कैवल्य की प्राप्ति हो जाती है। संसार में रहते हुये समय का उपयोग तो किया लेकिन कभी समय का सदुपयोग नहीं कर पाये। समय का सदुपयोग किया होता, तो कैवल्य प्राप्तकर केवली भगवान् बनकर सिद्धों की श्रेणी में जा विराजे होते। अनंतकाल हो गया लेकिन हमें समय की कीमत करना नहीं आया। समय का सदुपयोग किसप्रकार करना चाहिए आज तक समझ ही नहीं पाये?

लोग कहते हैं–महाराज श्री! हम तो समय काट रहे हैं। जो समय काट रहे हैं, उनको समय भी काटता है। वे भगवान् के चरणों में जाकर प्रार्थना करते हैं, निवेदन करते हैं–हे प्रभो! जल्दी उठा लो, क्यों इतना कष्ट दे रहे हो, क्यों इतनी पीड़ायें दे रहे हो, क्या मुझ पर दया नहीं आती? भगवान् कहते हैं–अगर तुमने एक बार भी अपने आप पर दया की होती तो शायद तुम्हें दूसरों के सामने दया की भीख न माँगनी पड़ती। तुमने कभी अपने आप पर दया नहीं की। दो प्रकार की दया करना सीख जाओ–एक व्यवहार दया, दूसरी निश्चय दया। ज्ञानी जीवों के द्वारा दोनों प्रकार की दया पाली जाती है। अज्ञानी जीव न अपने पर दया करता है और न परजीवों पर दया करता है। कदाचित् परजीवों पर दयादृष्टि की भी जा सकती है, लेकिन जब तक स्व दया का परिणाम आत्मा में उत्पन्न नहीं होता तब तक पर दया भी आत्मा के लिए हितकारी नहीं हो सकती। तो क्या पर दया करना छोड़ दें? नहीं, पर दया करना छोड़ना नहीं है।

भगवान् महावीर का संदेश है–सब जीवों पर दया करो, हम भगवान् महावीर के संदेश को छोड़ नहीं सकते। भगवान् महावीर के संदेशों को एकान्ती मत बनाओ, उनके संदेश को अनेकान्त स्वरूप रहने दो। भगवान् महावीर ने केवल इतना ही संदेश नहीं दिया कि दूसरों पर दया करो। प्रभु महावीर ने ये भी कहा कि अपने पर दया करो। पर दया से पुण्य तो इकट्ठा हो जायेगा लेकिन मोक्ष का आधार नहीं मिलेगा। पर दया से पुण्य प्राप्त होगा और पुण्य का फल संसार में ही भोगना पड़ेगा। स्व दया का फल मोक्ष और पुण्य का फल संसार है। कदाचित् पुण्य का फल संसार भी है और मोक्ष भी है। दो फल कैसे हो सकते हैं?

भगवान् महावीर स्वामी कहते हैं—दो फल भी हो सकते हैं, यही जिनशासन है। जिसने स्वात्मा पर दया नहीं की लेकिन पर जीवात्माओं पर दया का भाव रखा, ऐसा वह पुण्यात्मा संसारी है और जिसने स्वात्मा पर दया करते हुए परजीवों पर दया की है इससे जो पुण्य प्राप्त हुआ है वह पुण्य परम्परा से मोक्ष का कारण है। जिनशासन में कहा गया है—पुण्य भी परम्परा से मोक्ष का कारण है। कब? जब मोक्षस्वरूप निज शुद्धात्मा का ज्ञान हो।

अध्यात्म शास्त्र कहते हैं—शुद्धात्मा का नाम ही मोक्ष है। जिन्हें शुद्धात्मा का ज्ञान ही नहीं, उन्हें मोक्षतत्त्व का ज्ञान कहाँ से होगा? पुण्य मोक्ष भी देता है और संसार भी देता है। अगर संसार में रहना हो तो परजीवों पर दया करो और यदि मोक्ष चाहिये तो स्वपर जीवों पर दया करो। संसार में भी सुखी रहोगे और मोक्ष सुख तो मिलना ही है। **एकमात्र भव्यजीव स्व-पर जीवों की दया कर सकता है, अभव्यजीव कभी भी स्व जीव पर दया नहीं कर सकता। अभव्यजीव को कभी अपनी आत्मा पर दया नहीं आती है। मेरी आत्मा की क्या दुर्गति हो रही है, वह कभी नहीं जान पाता। अंतरंग में सांसारिक आकांक्षायें होने के कारण परजीवों पर दया करके मात्र पुण्य का संचय करता है, ऐसा पुण्य, पाप का ही साथी है। ऐसा पुण्य, पाप से ही मैत्री रखता है। ये पुण्य गद्दार है।**

ध्यान रखना! कुछ ऐसे लोग होते हैं जो अपने निकट रहते हैं, अपनी जय-जयकार भी कराते हैं लेकिन शत्रुपक्ष से भी मिले रहते हैं उन्हें गद्दार कहते हैं। ऐसे ही जो पुण्य स्वात्महित के बारे में विचार नहीं करता, स्वात्मा पर दया नहीं करता, वह पुण्य गद्दार है। वह निज सुख-शान्ति के साथ गद्दारी करता है और पाप के साथ अनुबंध करता है, ऐसा पापानुबंधीपुण्य अभव्यजीव का पुण्य है। स्व-पर दया से प्राप्त भव्यजीव का पुण्य उसे इसभव में सुखी और परभव में योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को देनेवाला होता है जिससे स्वयमेव उसकी आत्मा में वैराग्य की परिणति उत्पन्न होने लग जाती है।

जम्बूस्वामी को वैराग्य किसने कराया? जम्बूस्वामी के अन्तरंग में पूर्व से वैराग्य ज्योतिर्मय था। बचपन से ही उनके वैराग्यमयी परिणाम थे। युवा हुए तब भी वैरागी थे। उनके वैराग्य की धारा टूटती ही नहीं थी।

आचार्य भगवन् कुंदकुंददेव कह रहे हैं—सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञान और वैराग्य में अपना समय व्यतीत करता है। सम्यग्दृष्टि जीव को कहीं ज्ञान की बात मिल रही हो, तो सारे काम छोड़कर बैठ जाता है क्योंकि उसका समय ज्ञान में ही व्यतीत होता है। सम्यग्दृष्टि जीव के अंतर में निरंतर वैराग्य की हिलोर आती रहती है। उसे ऐसा लगता है, हे भगवन्! संसार के दन्द-फन्द कब छोड़ूँ और स्वातम रस का स्वाद कब चखूँ?

सम्मादिट्ठी कालं, बोल्लदि वेरग्गणाणभावेहिं।
मिच्छादिट्ठी वांछा, दुब्भावालस्सकलहेहिं।।53।।

'**सम्मादिट्ठी**' जो सम्यग्दृष्टि है वह। '**वेरग्गणाणभावेहिं कालं बोल्लदि**'—वैराग्य और ज्ञानभाव से समय को व्यतीत करता है।

सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञानभाव में रहता है। ज्ञानभाव का अर्थ क्या है? क्या मेरा है और क्या मेरा नहीं है, इसको जानते रहना ही ज्ञानभाव में रहना है। सम्यग्दृष्टि जीव इस ज्ञानभाव में रहता है कि एकमात्र शुद्ध ज्ञान-दर्शनस्वभावी आत्मा के अलावा परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है। ज्ञानी को सदैव अपने ज्ञानस्वभाव की स्मृति रहती है और अज्ञानी को ज्ञानस्वभाव के अलावा जितने भी परपदार्थ हैं उन्हीं की स्मृति रहती है। उन परपदार्थों की स्मृति के कारण ये पदार्थ मेरा है, ये मेरा है, ये मेरा है ऐसी मान्यता करता रहता है।

अहो! आचार्य कुंदकुंददेव से पूछो कि परद्रव्य संबंधी आपका अपना क्या है? वे कहते हैं—परद्रव्य संबंधी अणुमात्र भी मेरा नहीं है।

जिस दिन मृत्यु आपका स्वागत करेगी उस दिन तुम क्या-क्या साथ लेकर जाओगे? तुम कहते हो—ये मेरा है, ये मेरा है। सोचो जरा, तुम्हारे साथ क्या-क्या जायेगा? अनादि से हमने परपदार्थों को अपना कह-कहकर अपना ज्ञानभाव खोया है। जिसका ज्ञानभाव खो गया उसका वैराग्य भी खो गया। जब तक ज्ञानभाव नहीं आता, तब तक वैराग्यभाव भी नहीं आता। सम्यग्दृष्टि ज्ञानभाव और वैराग्यभाव में रहता है।

जम्बूस्वामी से पूछो—आपको वैराग्य कहाँ से आया था? वो कहते हैं—ज्ञानभाव से आया। जम्बूस्वामी जानते थे कि संसार के ये सारे सुख-वैभव क्षणिक हैं। ये भोग आत्मा के शाश्वत

सुख का विनाश करनेवाले हैं, विघात करनेवाले हैं। हम जितना भोगों का आश्रय करेंगे उतने ही आत्मघाती कहलायेंगे। मैं अपने आत्मस्वभाव का घात नहीं कर सकता। उनकी आत्मा में सतत् वैराग्य जाग्रत होता था। जब वे युवा हुये तो माता-पिता को चिन्ता हुई कि अब बेटा बड़ा हो गया है, क्यों न बेटे की शादी की जाए। माता-पिता ने पूछा—बेटा! अब तुम्हारी उम्र इस योग्य हो गई है कि तुम विवाह करके सुखपूर्वक अपना दाम्पत्य जीवन जिओ।

जम्बूस्वामी कहते हैं—विवाह! विवाह कर-करके तो मैंने अनंत पर्यायें तबाह की हैं, अब मुझे इस पर्याय को सार्थक करने दो, मैं विवाह नहीं करना चाहता। माता-पिता ने खूब समझाया, लेकिन जम्बूस्वामी का न तो ज्ञानभाव क्षीण हुआ और न वैराग्यभाव क्षीण हुआ। माता-पिता के अति आग्रह से जम्बूस्वामी शादी करने को तैयार तो हो गये, लेकिन एक शर्त रख दी कि साँझ शादी होगी और सुबह मैं वैराग्य को धारण करूँगा, सुबह होते ही मैं निर्ग्रंथ दीक्षा अंगीकार कर लूँगा। माता-पिता ने सोचा—बेटा! शादी तो हो जाने दो, अच्छे-अच्छों के वैराग्य डगमगा जाते हैं। अप्सराओं सी सुन्दर स्त्रियों से जब तुम्हारा विवाह होगा, तो वैराग्य भी काफूर हो जायेगा। जम्बूस्वामी अपने वैराग्यभाव में, अपने ज्ञानभाव में स्थिर थे। विवाह हो गया, रात्रि होते ही नवोढा स्त्रियाँ जम्बूस्वामी के आस-पास बैठी हैं, वार्ता चल रही है। जम्बूस्वामी कह रहे हैं—मैं सुबह गृहवास त्याग दूँगा। केशलोंच कर अट्ठाइस मूलगुणों को अंगीकार करूँगा, आत्मध्यान करके कैवल्यज्ञान की प्राप्ति का पुरुषार्थ करूँगा। चारों रानियाँ समझा रहीं हैं—सुनो, ऐसा मत करो। जम्बूस्वामी की माँ भी बाहर बैठी हुई है, उनकी वार्ता को सुन रही है लेकिन पुत्र की दृढ़ता को देखकर आँखों से अश्रु बहाती है। मेरा बेटा सुबह वैराग्य को प्राप्त हो जायेगा, दु:खी हो रही है। वैरागी को देखकर मोही जीव दु:खी होते हैं, ज्ञानी जीव आनन्दित होते हैं।

उसीसमय एक चोर चोरी के प्रयोजन से आया और दरवाजे पर बैठी माँ से टकरा गया। अंधेरा तो था ही। माँ ने कहा—कौन है? उसने कहा—मैं चोर हूँ। वह चोर भी सत्यवादी रहा होगा। बोला—मैं चोर हूँ, चोरी करने आया हूँ। तुम यहाँ क्यों बैठी हो? माँ बोली—मैं इस घर की मालकिन हूँ, मेरा पुत्र सुबह वैराग्य को प्राप्त हो जायेगा, अगर तू मेरे बेटे को वैराग्य से रोक सके तो तुझे जितना चाहिये मैं उतना धन दूँगी। चोर ने सोचा—भगवान् जब भी देता है, छप्पर फाड़कर देता है। सोचने लगा, अब तो जीवनभर की व्यवस्था हो जायेगी, बैठ गया बातें सुनने के लिए।

जम्बूस्वामी को उनकी पत्नियाँ समझा रही हैं और जम्बूस्वामी अपने वैराग्यभाव में दृढ़ हैं। जम्बूस्वामी के वैराग्यभाव को सुनकर चोर धर्मात्मा हो गया, चोर को वैराग्य हो गया। वह मन ही मन सोचने लगा, धिक्कार है विद्युत तुझे, जिस धन-सम्पदा को जम्बूस्वामी सुबह छोड़कर जानेवाला है उस उच्छिष्ट को तू स्वीकार करेगा? जम्बूस्वामी ठीक ही तो कह रहे हैं, इस संसार में ऐसे सुख-वैभव मैंने कितने भवों में भोगे हैं, फिर भी उनके पीछे मन लालायित है। अहो! अब आत्मा का हित करना चाहिये। विद्युत चोर उठा और जाने लगा। माँ ने कहा– कहाँ जाते हो? मैंने कहा था मेरे बेटे को समझाना, तुम्हें जितना धन चाहिये उतना धन दूँगी और तुम चल दिये। विद्युत चोर कहता है–माँ! जिस धन के पीछे मैंने अपना निजधन खोया है, अब मैं उस निजधन की खोज में जा रहा हूँ। माँ! जम्बूस्वामी जब वैराग्य को धारण करेंगे, तब करेंगे लेकिन मैं तो अभी चला।

वैरागी के वैराग्य को दुनिया की कोई भी शक्ति रोक नहीं पाती। भगवान् महावीर को वैराग्य हुआ, तो माता त्रिशला पागलों की तरह पीछे-पीछे दौड़ने लगीं। इन्द्र ने समझाया–भो जगत्जननी! क्या आप नहीं जानतीं कि आपके पुत्र तीर्थंकर हैं? क्या महाराज सिद्धार्थ ने आपको स्वप्नों का फल नहीं बताया था, ये तीर्थंकर हैं। आप मोह के कारण इसतरह से रुदन क्यों करती हैं? माँ को प्रबोध हुआ। ओ हो! मेरा बेटा तो तीर्थंकर है। जम्बूस्वामी के वैराग्य को न तो माँ की ममता बाँध पाई, न पिता का स्नेह बाँध पाया और न ही पत्नियों का प्रेम बाँध पाया।

आचार्य अमृतचन्द्रस्वामी श्री समयसार जी की टीका कलश में कहते हैं–

'सम्यग्दृष्टिर्नियतं ज्ञानवैराग्यशक्ति'

सम्यग्दृष्टि जीव का समय ज्ञान और वैराग्य में व्यतीत होता है। मिथ्यादृष्टियों का समय अज्ञान और रागादि भावों में व्यतीत होता है। अहो! तत्त्व की बात सुनकर भी, सत्य को जानते हुए भी पर में मेरेपन की कल्पना छूटती नहीं है, क्योंकि अभी मिथ्यात्व छूटा नहीं है। भगवान् की देशना समझ में तो आ रही है, देशनालब्धि तो बन रही है लेकिन अभी सम्पूर्ण काललब्धि न होने के कारण देशना समझ में आते हुये भी अन्तः देश में प्रवेश नहीं कर पाती। ऐसी बात

नहीं है कि जीवों को देशना समझ नहीं आती, लेकिन योग्य काललब्धि की प्रप्ति न होने के कारण देशना को समझता हुआ भी बेहोश बना रहता है। पर को मेरा-मेरा कहता रहता है। सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञानभाव को प्राप्त होने के कारण जब भी अन्तर में झाँकता है, तो यही कहता है—हे भगवान् आत्मा! तुम्हारे अलावा मेरा इस संसार में कोई नहीं है। परद्रव्य का एक परमाणु भी मेरे साथ जानेवाला नहीं है। जब तक परमाणु मात्र में मेरेपन की मान्यता रहेगी, हे भगवान् आत्मा! तुम्हारा अनादर होता रहेगा। मैं ही अपने निज भगवान् आत्मा का अनादर करूँ, इससे बड़ा पाप और क्या हो सकता है। अनंत वैभव का स्वामी होकर भी दरिद्र बना हुआ हूँ, श्रेष्ठ होकर भी अश्रेष्ठ बना हुआ हूँ, परमात्मा होकर भी पापात्मा बना हुआ हूँ। कारण सिर्फ इतना है जो परपदार्थ मेरे नहीं हैं, उनमें मैंने मेरेपन की कल्पना कर रखी है। जब तक जीव ज्ञानभाव को प्राप्त नहीं होता तब तक आत्मा में वैराग्य की झन्कार नहीं आ सकती।

पं. दौलतराम जी कहते हैं—

मुनि सकलव्रती बड़भागी, भवभोगन तैं वैरागी।
वैराग्य उपावन माई, चिन्तैं अनुप्रेक्षा भाई।। 5-1।।

ज्ञानभाव होगा तो अनुप्रेक्षा का चिंतन चलेगा। यदि अज्ञानभाव होगा तो अनित्य में नित्य का चिंतन चलेगा। अपनी आत्मा में झाँककर देखना, अपने अंदर दृष्टि डाल कर देखना, कहीं अनित्य में नित्य की चिंतनधारा तो नहीं चल रही है। अनित्य में अनित्य का और नित्य में नित्य का चिंतन आ जाए तो समझ लेना ज्ञानभाव प्रगट हो गया है। मैं मनुष्य पर्याय में हूँ, मनुष्य ही बना रहूँ, मनुष्य पर्याय कहीं मेरी छूट न जाए। अहो! शिशुपना छूट गया, बचपना छूट गया, यौवन छूट गया, ये सब कुछ छूटता हुआ देखते हुए भी अज्ञानी सोचता है, जो बचा है वह न छूट जाये। मोही मिथ्यादृष्टि जीव सोचता है, मेरी पर्याय छूट न जाए, मैं ऐसा ही बना रहूँ। अहो! अनित्य में नित्य की कल्पना है।

अभी भीतर ज्ञानभाव नहीं आया है। ज्ञानभाव आ जाए तो स्वस्थ होने पर भी क्या विचारता है? ये पर्याय अनित्य है और शुद्ध ज्ञान-दर्शनस्वभावी भगवान् आत्मा नित्य है। **'नित्यं शरणं पव्वज्जामि'** मैं नित्य की शरण को प्राप्त होता हूँ। अहो! जिसे अपने आत्मा के नित्यस्वभाव

का ज्ञान हो गया, ध्रुवस्वभाव का ज्ञान हो गया, उसके लिये यह सम्पूर्ण जगत इन्द्रधनुष की भाँति लगता है। जैसे इन्द्रधनुष देखने में कितना लुभावना सुहावना लगता है लेकिन वह क्षणिक होता है, अभी बना है और अभी मिटनेवाला है। ऐसे ही जो हमारा परिवार है, कुटुम्ब कबीला है, ये सब इन्द्रधनुष की भाँति हैं। देखने में जरूर सुन्दर लगते हैं लेकिन अनित्य हैं, क्षणभंगुर हैं, मिटनेवाले हैं। मैं अविनाशी आत्मा न कभी मिटा, न कभी मिटनेवाला हूँ। जब स्वभाव की ओर अपना उपयोग जाता है तब वह उपयोग आत्मा के आश्रय से अपने लिए उपयोगी बन जाता है। यदि उपयोग परपदार्थों में जाता है, तो वही उपयोग अपने लिये अनुपयोगी हो जाता है। अपने लिये उपयोगी बन जाओ। कब तक अनुपयोगी बने रहोगे? संसार के लिए उपयोगी हो और मोक्ष के लिए अनुपयोगी हो, जबकि तुम्हारी नियति है कि तुम मोक्ष के लिए उपयोगी हो। आप मोक्ष के प्रति उपयोगी बनें, यही हमारा आशीर्वाद है।

दृष्टि सम्यक् करो-करो, ज्ञान और वैराग्य धरो।
कलह कांक्षा आलस्य, दुर्भावों को हरो-हरो।।
मिथ्यादृष्टि ही, हो-हो-2, दुर्भाव बनाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2, संहिता दिखलाये रे।।

अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

❑❑❑

(भरतक्षेत्र में पापी अधिक हैं)

अज्जवसप्पिणिभरहे, पउरा रुद्दट्ठझाणया दिट्ठा।
णट्ठा दुट्ठा कट्ठा, पाविट्ठा किण्ह-णील-काओदा।।54।।

* अन्वयार्थ *

(**अज्जवसप्पिणि**) वर्तमान अवसर्पिणीकाल में (**भरहे**) भरतक्षेत्र में (**रुद्दट्ठझाणया**) रौद्र और आर्तध्यानवाले (**णट्ठा**) नष्ट (**दुट्ठा**) दुष्ट (**कट्ठा**) दुःखी (**पाविट्ठा**) पापी (**किण्ह-णील-काओदा**) कृष्ण, नील और कापोत लेश्यावाले (**पउरा**) अधिक मनुष्य (**दिट्ठा**) देखे जाते हैं।

अर्थ–वर्तमान अवसर्पिणी काल में भरतक्षेत्र में रौद्र और आर्तध्यानवाले, नष्ट, दुष्ट, दुःखी, पापी और कृष्ण-नील-कापोत लेश्यावाले मनुष्य अधिक देखे जाते हैं।

गाथा - 54

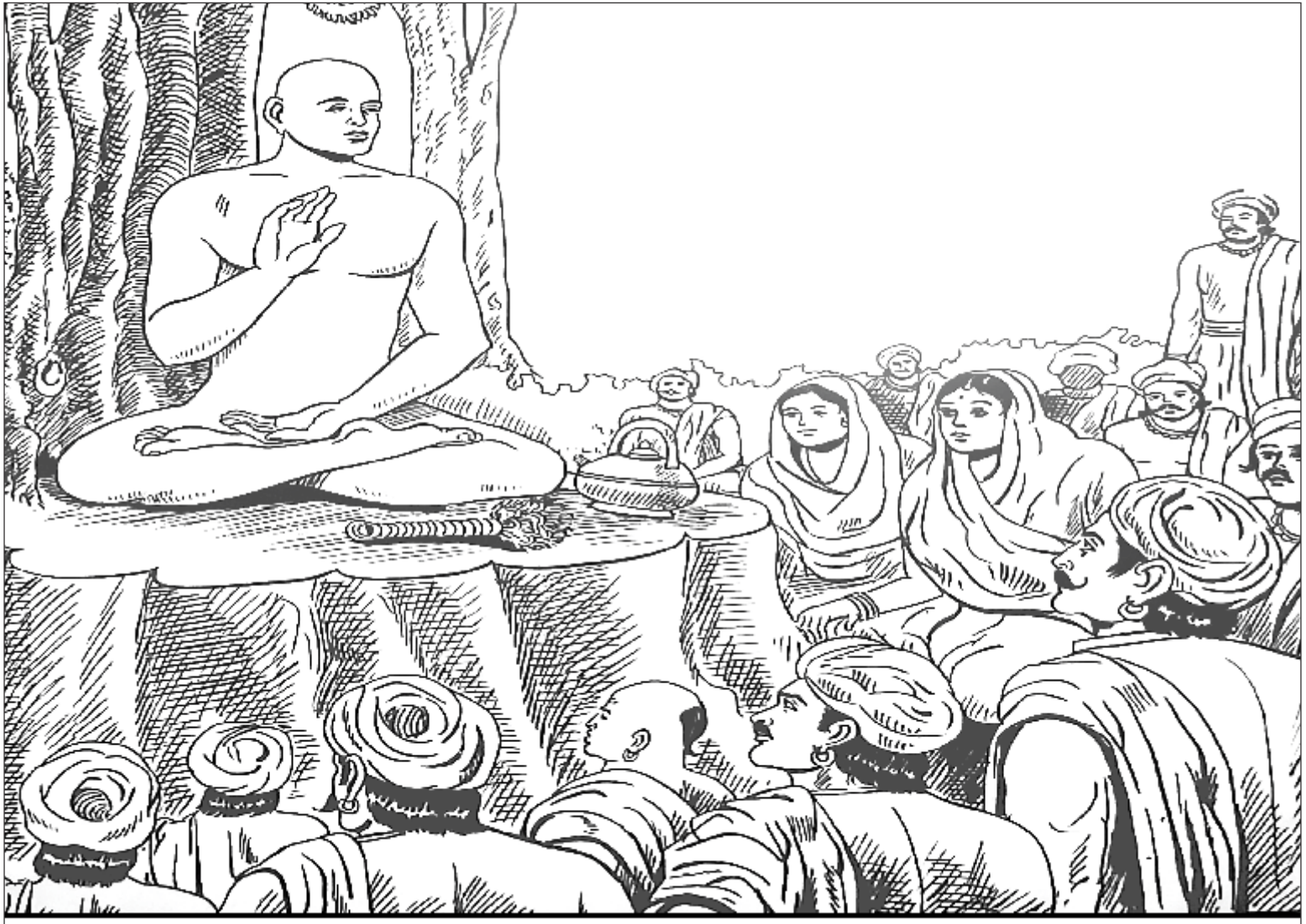
(प्रवचन)

●

मुक्ति का सोपान
समभाव

18.09.2011

अशोकनगर (म.प्र.)



आचार्य भगवन् कुन्दकुन्द देव, धर्मोपदेश करते हुए।

65

रयणोदय

आर्त-रौद्र यह ध्यान कहे, अशुभ लेश्या हृदय धरे।
अवसर्पिणी पंचमयुग में, नष्ट दुष्ट यह बुद्धि धरे।।
पापी दुःखी मानव, हो-हो-2, हर ओर दिखाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2, संहिता दिखलाये रे।।

'**जयदु जिणागमपंथो**' अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

तीर्थंकर भगवंत की दिव्यध्वनि जिनश्रुत है, जिनागम है। जिनागम में वर्णित आत्म-कल्याणकारी मार्ग, आत्महितकारी पंथ '**जिनागम पंथ**' है। परस्पर रागद्वेष को बढ़ानेवाले आगमबाह्य पंथ उन्मार्ग हैं। वीतरागता को देनेवाला, '**परस्परोपग्रहो जीवानाम्**' का प्रतीक '**जिनागम पंथ**' सन्मार्ग है।

जीवन तो किसी भी काल में जिया जा सकता है, लेकिन धर्म के साथ जीने के लिए उचित काल की प्राप्ति होना आवश्यक है। हर काल में मनुष्य जीता है, लेकिन जीते हुए यदि शाश्वत जीवन की अनुभूति न हो पायी तो वह जीना, मात्र आत्मा के दुःख के लिये ही होता है। श्रेष्ठ मनुष्य वे होते हैं जो निज आत्मा के लिए जीते हैं, सच्चे सुख के लिये जीते हैं। जो सांसारिक

सुख और इन्द्रिय विषयों के लिये जीते हैं उनका जीना मात्र अज्ञानता से भरा होता है। इस पंचमकाल में जन्म लेनेवाला कोई विरला जीव ही ऐसी भावना करता है—हे भगवन्! अगर मुझे श्रेष्ठ काल में जन्म मिला होता तो मैं निर्ग्रंथ मुनिमुद्रा को धारण करके अपनी आत्मा का पूर्ण हित कर लेता। ध्यान रखना, योग्य काल की प्राप्ति होना भी पुण्य पर निर्भर है। हम सभी ने पूर्व में इतना पुण्य नहीं किया, सच्चे धर्म का पालन नहीं किया, सम्यग्दर्शन को धारण नहीं किया अथवा कषायों में लीन रहे, इस कारण पंचमकाल में मिथ्यात्व के साथ जन्म मिला। सभी जीवों का पंचमकाल में भरतक्षेत्र में मिथ्यात्व के साथ ही जन्म होता है। पूर्व पर्याय में कदाचित् सम्यग्दर्शन प्राप्त भी हुआ तो कषाय के कारण छूट गया होगा और मनुष्य आयु का बंध कर लिया होगा इसलिए मनुष्य पर्याय में जन्म लिया। इस भरतक्षेत्र में पापी जीवों की भरमार है। इसकाल में ऐसे जीव ही जन्म लेते हैं, जिन्होंने पूर्व पर्याय में पापादि में बहुलता से प्रवृत्ति रखी होगी।

आचार्य भगवन् कह रहे हैं—

अज्जवसप्पिणि भरहे, पउरा रुद्दट्ठ झाणया दिट्ठा।
णट्ठा दुट्ठा कट्ठा, पाविट्ठा किण्ह णील काओदा।।54।।

(अज्जवसप्पिणि) इस अवसर्पिणी काल में **(भरहे)** भरतक्षेत्र में पंचमकाल में **(पउरा)** बहुत अधिक **(रुद्दट्ठ झाणया दिट्ठा)** ऐसे मनुष्य देखे जाते हैं जो आर्तध्यान और रौद्रध्यान करनेवाले हैं।

धन्य हैं वे जीव जो पापी जीवों से भरे हुए पंचमकाल में भी धर्मध्यान को उपलब्ध हो पाते हैं। आचार्य भगवन् कह रहे हैं—इस भरतक्षेत्र में इस अवसर्पिणी काल में आर्त-रौद्रध्यानी जीव बहुलता से मिलते हैं। कदम-कदम पर जीव के आर्तध्यान हो जाता है। आर्तध्यान का अर्थ है—दु:ख का अनुभव होना। आचार्य भगवंतों ने आर्तध्यान के चार कारण कहे हैं—इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग, पीड़ाचिन्तन और निदानबंध। इनके माध्यम से जिनकी आत्मा में निरन्तर दु:ख ही दु:ख बना रहता है, ऐसे जीव आर्तध्यानी कहलाते हैं।

विचार करना, इस संसार में कौन से जीव हैं जो आर्तध्यान को प्राप्त नहीं होते? प्रथम

गुणस्थानवर्ती, दूसरे गुणस्थानवर्ती, तीसरे गुणस्थानवर्ती जीव निरंतर आर्त-रौद्रध्यान ही करते हैं। चतुर्थ गुणस्थान से कदाचित् भगवान् जिनेन्द्र की आज्ञा को स्वीकार करनेवाले आज्ञा सम्यक्त्वी जीव दिखाई देते हैं अथवा कभी सत्संग किया, गुरु उपदेश से आत्मबोध हुआ, ज्ञान हुआ कदाचित् ऐसे सम्यग्दृष्टि जीवों के धर्मध्यान भी होता है, तो भी आर्तध्यान करनेवाले छट्ठे गुणस्थान तक पाये जाते हैं।

आचार्य भगवन् शिवार्य महाराज श्री भगवती आराधना में कहते हैं–

अमणुण्णसंपओगे इट्ठिविओए परिस्सह णिदाणे।
अट्टं कसायसहियं झाणं भणियं समासेण।।1697।।

अनिष्ट संयोग, इष्ट वियोग, परीषह (वेदना) और निदान ये संक्षेप में कषाय सहित आर्तध्यान के चार भेद हैं।

इष्टवियोग–इष्ट का वियोग हुआ, दु:खी हो गये। संसार में जो पदार्थ अपने को अच्छे लगते हैं, अनुकूल लगते हैं, प्रिय लगते हैं, उन इष्ट पदार्थों का किसी कारण से वियोग हो गया, तो जीव दु:खी हो जाता है। जीव सम्यग्दृष्टि, विवेकी, धर्मध्यानी हो तो विचार करेगा, जिसका संयोग हुआ है उसका वियोग निश्चित है। इसकाल में सम्यग्दृष्टि जीव दुर्लभ हैं। पंचमकाल में आर्तध्यानी जीव बहुलता से पाये जाते हैं। जो पदार्थ अपने को इष्ट हों, अच्छे लगते हों, जिनका साथ हम प्रतिपल चाहते हों, कर्मोदय से उनका वियोग हो जाये तो जीव आर्तध्यान करने लगता है। भूल जाता है कि धर्म क्या है? धर्मध्यान क्या है? हमारे कर्तव्य क्या हैं? कुछ भी याद नहीं रहता।

अनिष्ट संयोग–जो इष्ट न हो उसका संयोग हो जाना अनिष्ट संयोग है। किसी से आपका सुबह-सुबह झगड़ा हो गया। फिर आपको बोध जागृत हुआ, खेद हुआ। आपने सोचा, चलो मंदिर चलते हैं। आप भगवान् की पूजन करने आये, वेदी पर खड़े हुये, इतने में जिससे झगड़ा हुआ था वो भी आकर उसी टेबिल पर पूजन करने खड़ा हो गया। अब देखना, आपका कौन सा ध्यान चलता है? अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान चलता है। तुरन्त ही आपके मन में उथल-पुथल मच जायेगी। इस दुष्ट को भी यहीं खड़ा होना था, जब देखो तब मेरे पीछे पड़ा

रहता है, पूजन हो जाने दो फिर देखता हूँ इसको, पहुँचने दो घर पर फिर देखता हूँ। यद्यपि वो सहज भाव से आया और भगवान् की पूजा करने लगा। लेकिन आपके अंदर यह विचार आ गया कि ये जान-बूझकर यहाँ आया है, अन्यथा मंदिर में और भी वेदियाँ थीं, और भी भगवान् थे। ये ही भगवान् थे क्या? वहाँ नहीं कर सकता था क्या? न जाने कितने अशुभ विचार कर लिये। शब्दों से बोलते भी जा रहे हो–**अष्ट कर्मदहनाय धूपं निर्वपामीति स्वाहा,** और भीतर दुर्गुण की धूप से आर्तध्यान की दुर्गंध पैदा हो रही है।

पीड़ा चिन्तन–मूलाचार प्रदीप में आ. सकलकीर्ति महाराज लिखते हैं–

वातपित्तज्वरादीनां कुष्ठ शूलरुजां सति।
प्रादुर्भावे प्रतीकार शतैः क्लेशार्त्त चेतसा।।2010।।

दुःखिभिस्तद्विनाशं यदन्वहं चिन्त्यते भुवि।
आरोग्यं च तदार्त्तः स्यात्पीड़ाचिन्तन संज्ञकम्।।2011।।

अर्थ–पित ज्वर, वातज्वर, कोढ़, शूल आदि रोगों के उत्पन्न होने पर दुःखी पुरुष अपने चित्त में क्लेश उत्पन्नकर सैकड़ों उपायों के द्वारा जो प्रतिदिन उन रोगों के नाश होने का चिंतन करते हैं अथवा निरोग होने का चिंतन करते हैं उसको पीड़ा चिंतन नाम का आर्तध्यान कहते हैं।

निदान नामक आर्तध्यान को अगली कारिकाओं में आ. सकलकीर्ति जी महाराज बताते हैं–

तपश्चारित्रदानार्चा धर्मध्यानादिकान् बहून्।
कृत्वा तेषां फलेनाऽत्र पुत्रनार्यादि सम्पदाम्।।2012।।
अमुत्र स्वर्ग राज्यादिभोगानां स्वस्य रागिभिः।
आकाङ्क्षाकरणं यत्तदार्तं निदाननामकम्।।2013।।

अर्थात् जो रागी पुरुष चारित्र, दान, पूजा, धर्मध्यान आदि बहुत-सा धर्म सेवन कर उसके फल से इसलोक में पुत्र, स्त्री, धन आदि सम्पदाओं की इच्छा करते हैं तथा भविष्य में स्वर्ग, राज्य आदि के भोगों की आकांक्षा करते हैं, उसको निदान नाम का आर्तध्यान कहते हैं।

एक बार ब्रह्मा जी के दरबार में अँधेरा पहुँचा। कहने लगा–ब्रह्मा जी! आपने संसार में जो रचनायें की हैं, कृतियाँ रचीं हैं सब ठीक हैं, लेकिन आपने हमारे पीछे प्रकाश को क्यों लगा रखा है? मैंने इसका क्या बिगाड़ा है? जब देखो तब मेरे पीछे ही पड़ा रहता है। बहुत दु:खी हो गया हूँ। यद्यपि जिनशासन के अनुसार यह लोक किसी के द्वारा बनाया हुआ नहीं है। इस लोक की जितनी भी रचनायें हैं सब अनादिनिधन हैं। यह मात्र एक काल्पनिक उदाहरण है।

अँधेरा ब्रह्मा जी से प्रकाश की शिकायत करने लगा–ब्रह्मा जी! मैंने इस प्रकाश का क्या बिगाड़ा है, यह मेरे पीछे क्यों पड़ा रहता है? आप जरा उसको बुलाकर समझाइये कि अँधेरे के साथ बैर बाँधना ठीक नहीं है। ब्रह्मा जी ने अँधेरे से कहा–अगर प्रकाश तुम्हें दु:ख, पीड़ा, कष्ट देता रहता है तो तुम दोनों साथ आना, अकेले में ठीक निर्णय नहीं हो पायेगा। कल प्रात: छह बजे तुम दोनों एक साथ हमारे सामने उपस्थित होना। सामने ही वार्ता कर ली जायेगी। अँधेरे ने कहा–ठीक है कल प्रात: छह बजे मैं आता हूँ। ब्रह्मा जी ने प्रकाश को भी निमंत्रण दिया। दो बजे दोनों को उपस्थित होना था, प्रकाश अपने समय पर आ गया। ब्रह्मा जी अँधेरे का इंतजार आज तक कर रहे हैं अँधेरा आज तक नहीं आया।

ध्यान रखना, जहाँ प्रकाश होता है वहाँ अँधेरा कभी आ ही नहीं सकता। अँधेरे को शिकायत थी कि प्रकाश मेरे पीछे पड़ा रहता है। उदाहरण काल्पनिक है। ऐसे ही हम अनुकूल-प्रतिकूल निमित्तों के संयोग से अपने अंदर आर्तध्यान को जन्म देकर अपना अहित करते रहते हैं। संयोग-वियोग कर्माधीन हैं। जिसे कर्म सिद्धांत का श्रद्धान् होता है, वह इष्ट-अनिष्ट के संयोग-वियोग से ज्यादा प्रभावित नहीं होता। समभाव ही साधना का आधार है, समभाव ही मुक्ति का सोपान है। अपनी दृष्टि को समीचीन करें और पर के आश्रय से उत्पन्न होनेवाले आर्त-रौद्रध्यान से बचकर आत्मा का हित करें। तीन प्रकार की अशुभ लेश्याओं वाले जीव इस पंचमकाल में बहुलता से देखे जाते हैं।

आचार्य नेमिचंद स्वामी गोम्मटसार जीवकाण्ड में अशुभ लेश्याओं का वर्णन निम्न प्रकार करते हैं–

कृष्ण लेश्या–

चंडो ण मुचइ वेरं भंडणसीलो य धम्मदयरहिओ।
दुट्ठो ण य एदि वसं लक्खणमेयं तु किण्हस्स।।508।।

अर्थात् तीव्र क्रोध करने वाला हो, बैर को न छोड़े, युद्ध करने (लड़ने) का जिसका स्वभाव है, धर्म और दया से जो रहित हो, दुष्ट हो, जो किसी के भी वश न हो, ये सब कृष्णलेश्या वाले के चिह्न (लक्षण) हैं।

नील लेश्या–

मंदो बुद्धि विहीणो णिव्विण्णाणी य विसय लोलो य।
माणी मायी य तहा आलस्सो चेव भेज्जो य।।509।।
णिद्दा वंचण बहुलो धणधण्णे होदि तिव्वसण्णा य।
लक्खणभेयं भणियं समासदो णीललेस्सस्स।।510।।

अर्थात् काम करने में मंद हो अथवा स्वच्छंद हो, वर्तमान कार्य करने में विवेक रहित हो, कला चातुर्य से रहित हो, स्पर्शनादि पाँच इन्द्रिय विषयों में लम्पट हो, मानी हो, मायाचारी हो, आलसी हो, दूसरे लोग जिसके अभिप्राय को सहसा न जान सकें, तथा जो अतिनिद्रालु और दूसरों को ठगने में अतिदक्ष हो और धन-धान्य के विषय में जिसकी अतितीव्र लालसा हो, ये नील लेश्यावालों के संक्षेप से चिह्न बताये हैं।

कापोत लेश्या–

रूसइ णिंदइ अण्णे दूसई बहुसो स सोयभय बहुलो।
असुयइ परिभवइ परं पसंसये अप्पयं बहुसो।।511।।
ण य पत्तियई परं सो अप्पाणं यिवपरं वि मण्णंतो।
थूसइ अभित्थुवंतो ण य जाणइ हाणिवड्ढिं वा।।512।।
मरणं पत्थेइ रणे देइ सुबहुगं वि थुत्वमाणो दु।
ण गणइ कज्जाकज्जं लक्खणमेयं तु काउस्स।।513।।

अर्थात् दूसरे के ऊपर क्रोध करना, दूसरे की निन्दा करना, अनेक प्रकार से दूसरों को दु:ख देना, अथवा औरों से बैर करना, शोकाकुलित तथा भयग्रस्त होना, दूसरे के ऐश्वर्यादि सहन न कर सकना, दूसरे के ऊपर विश्वास न करना, अपने समान अन्य लोगों को भी मानना, स्तुति करनेवाले पर संतुष्ट हो जाना, अपनी हानि, वृद्धि कुछ भी न समझना, रण में मरने की प्रार्थना करना, स्तुति करनेवाले को खूब धन दे डालना, अपने कार्य-अकार्य की कुछ भी गणना न करना, ये सब कापोत-लेश्यावाले के चिह्न हैं।

अशुभ लेश्याओं से निकलने की साधना ही सम्यक् साधना है। यह साधना आपके जीवन में भी उद्घाटित हो, इसी भावना के साथ....

आर्त-रौद्र यह ध्यान कहे, अशुभ लेश्या हृदय धरे।
अवसर्पिणी पंचमयुग में, नष्ट-दुष्ट यह बुद्धि धरे।।
पापी दु:खी मानव, हो-हो-2, हर ओर दिखाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2, संहिता दिखलाये रे।।

अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

❑❑❑

(पृष्ठ नं. 364 का शेष)

कुरूपिणो हीनाधिकांगस्य कुष्ठादिरोगिणश्च प्रब्रज्या न भवति–

अर्थात् कुरूप, हीन वा अधिक अंगवाले, कुष्ठ आदि रोगवालों के दीक्षा नहीं होती।

दानशासन में भी कहा है–

लोभिक्रोधिविरोधिनिर्दयहृदां मायाविना मानिनां
केवल्यागम–धर्मसंघबिबुधां वर्णानुवादात्मनाम्।
मुञ्चामो वदतां स्वधर्ममलं सद्धर्मविध्वंसिनां
चित्तक्लेशकृतां नृणां च गुरूभिर्देया न दीक्षा क्वचित् ।।24।।

अर्थात् जो लोभी, क्रोधी, विरोधी तथा निर्दय हृदय वाले हैं मायावी हैं, मानी हैं, केवली, आगम, धर्म, संघ और विद्वानों का अवर्णवाद करने वाले हैं, अपने निर्मल धर्म को व्यर्थ कहते हैं समीचीन धर्म का विध्वंस करने वाले हैं तथा चित्त में क्लेश का अनुभव करते हैं ऐसे मनुष्य गुरुजनों द्वारा कहीं भी दीक्षा देने योग्य नहीं हैं।

अन्धैश्च बधिरैर्मूकैरंगहीनैश्च पंगुलै:।
अपाणिभिर्निरंगुल्यै–र्जिनदीक्षा विवर्ज्यते।।

अर्थात् अन्धे, बहरे, गूंगे, अंगहीन, लंगड़े, हाथरहित तथा अँगुली रहित मनुष्यों के द्वारा जिनदीक्षा ग्राह्य नहीं है।

जिनदीक्षा भावना – आचार्य कृपा

अंतरंग–बहिरंग योग्यता वाला मुमुक्षु आत्मा शुद्धात्म तत्त्व की सिद्धि के लिए निर्ग्रंथाचार्य के चरणों में जिनदीक्षा की भावना व्यक्त करता है।

भगवन् महयं संसार – सागरोत्तार–सेतुकाम्।
देहिश्रीजिनदीक्षां वै विश्ववन्द्यां विशुद्धिदाम्।

हे भगवन्! जो संसार सागर से पार करने के लिए सेतु–पुल है, विश्ववंद्य है, विशुद्धि को देने वाली है ऐसी जिनदीक्षा मुझे दीजिए।

संसारकूपसंपात – हस्तावलम्बन – दायिनीम्।
देहिदीक्षां विभो महचं कर्म विच्छेदकारिणीम्।।

जो संसार कूप में गिरने वालों को हस्तावलंबन देनेवाली है, कर्मों का क्षय करनेवाली है ऐसी जिनदीक्षा मुझे दीजिए।

भगवंस्त्वत्प्रसादेन संप्राप्य जिनदीक्षणम्।
ततो विधातुमिच्छामि निर्विण्णो गृहवासत:।।

हे भगवन्! आपके प्रसाद से जिनदीक्षा प्राप्त कर मैं तप करना चाहता हूँ। मैं गृहवास से विरक्त हो चुका हूँ। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने जिनदीक्षा की भावना का मार्गदर्शन श्री प्रवचनसार जी में इस प्रकार किया है–

आपिच्छ बंधुवग्गं विमोचिदो गुरुकमत्त पुत्तेहिं।
आसिज्ज णाणदंसणचरित्ततववीरियायारं।।2।।
समणं गणिं गुणड्ढं कुलरूववयोविसिट्ठमिट्ठदरं।
समणेहि तं पि पणदो पडिच्छ मं चेदि अणुगहिदो।।3।।

जिनदीक्षा का इच्छुक भव्य जीव अपने कुटुम्ब समूह से पूछकर, माता–पिता, स्त्री–पुत्रों से विरक्त होकर अष्टविध ज्ञानाचार, अष्टविध दर्शनाचार, तेरहविध चरित्राचार द्वादशविध तपाचार तथा आत्मशक्ति को करनेवाला वीर्याचार, इन पाँच

(शेष पृष्ठ नं. 402 पर)

(भरतक्षेत्र में सम्यग्दृष्टि दुर्लभ हैं)

अज्जवसप्पिणि भरहे पंचमयाले मिच्छपुव्वया सुलहा।
सम्मत्तपुव्व-सायारणयारा दुल्लहा होंति।।55।।

*** अन्वयार्थ ***

(**अज्जवसप्पिणि**) आज वर्तमान अवसर्पिणी-काल में (**भरहे**) भरतक्षेत्र में (**पंचमयाले**) पंचमकाल में (**मिच्छपुव्वया**) मिथ्यादृष्टि जीव (**सुलहा**) सुलभ हैं; किन्तु (**सम्मत्तपुव्व**) सम्यग्दृष्टि (**सायारणयारा**) गृहस्थ और मुनि (**दुल्लहा**) दुर्लभ (**होंति**) हैं।

अर्थ—वर्तमान अवसर्पिणी काल में भरतक्षेत्र में पंचमकाल में मिथ्यादृष्टि जीव सुलभ हैं, किन्तु सम्यग्दृष्टि गृहस्थ और मुनि दुर्लभ हैं।

गाथा - 55

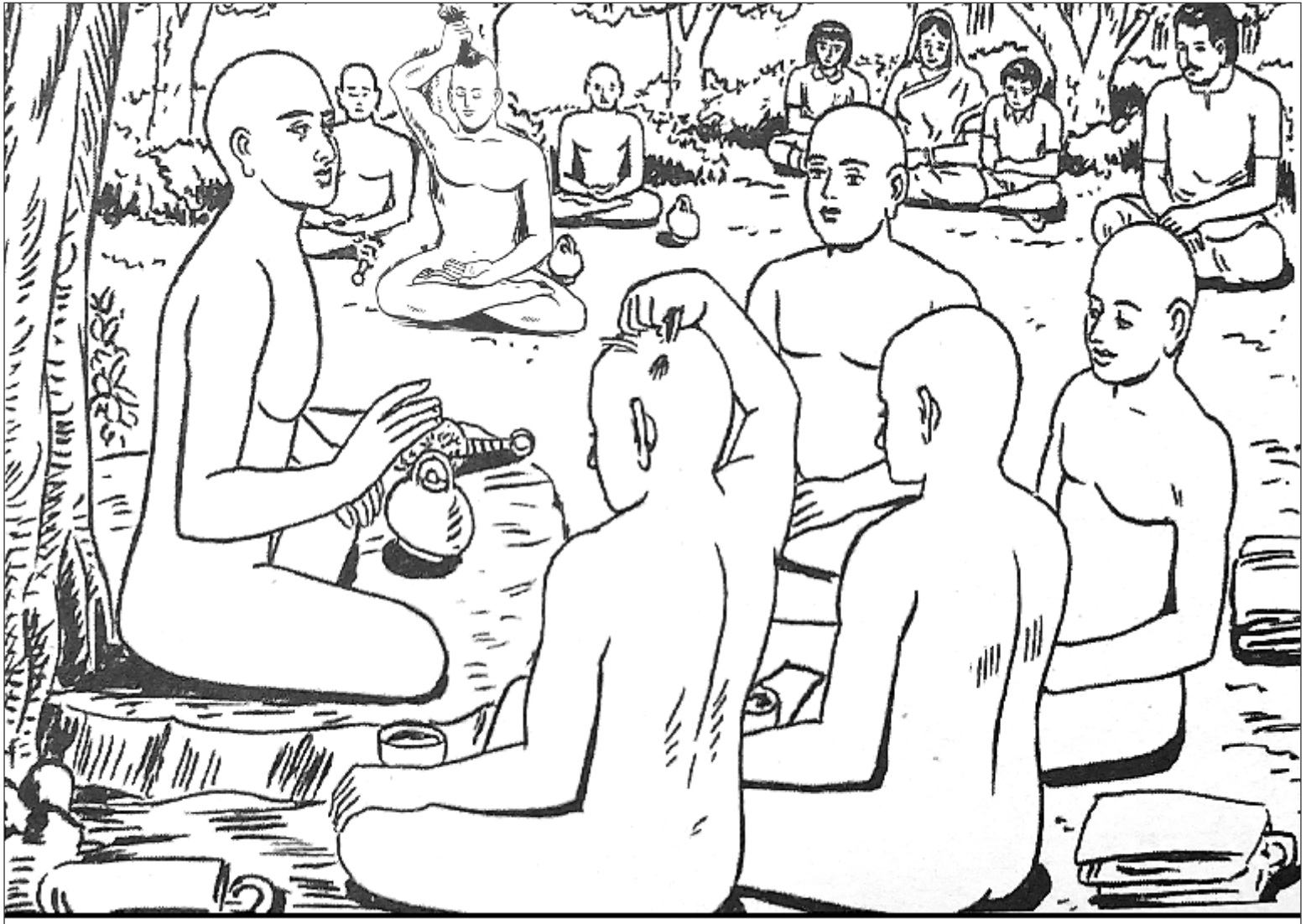
(प्रवचन)

●

प्रतिष्ठाचार्य एवं त्यागी व्रती कौन?

19.09.2011

अशोकनगर (म.प्र.)



दिगम्बर श्रमण केशलोंच मूलगुण का पालन करते हुए।

66

रयणोदय

अवसर्पिणि पंचम युग में, सम्यग्दृष्टि दुर्लभ हैं।
मिथ्यादृष्टि सुलभ सदा, कहते ज्ञानी गणधर हैं।।
भव-भव परिवर्धक, हो-हो-2, मिथ्यात्व कहाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2, संहिता दिखलाये रे।।

'**जयदु जिणागमपंथो**' अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

तीर्थंकर भगवंत की दिव्यध्वनि जिनश्रुत है, जिनागम है। जिनागम में वर्णित आत्म-कल्याणकारी मार्ग, आत्महितकारी पंथ '**जिनागम पंथ**' है। परस्पर रागद्वेष को बढ़ानेवाले आगमबाह्य पंथ उन्मार्ग हैं। वीतरागता को देनेवाला, '**परस्परोपग्रहो जीवानाम्**' का प्रतीक '**जिनागम पंथ**' सन्मार्ग है।

कल कहा था, इस अवसर्पिणी काल में भरतक्षेत्र में आर्त-रौद्र ध्यानवाले, नष्ट, दुष्ट बद्धिवाले, दु:खी और पापी जीव तथा कृष्ण, नील, कापोत इन अशुभ लेश्यावाले जीव सर्वाधिक देखे जाते हैं।

अब आचार्य भगवन् कह रहे हैं—इस पंचमकाल में भरतक्षेत्र में सम्यग्दृष्टि दुर्लभ हैं।

अज्जवसप्पिणि भरहे, पंचमयाले मिच्छपुव्वया सुलहा।
सम्मत्त-पुव्व-सायारणयारा दुल्लहा होंति।।55।।

(अज्जवसप्पिणि) इस अवसर्पिणी काल में **(भरहे)** भरतक्षेत्र में, **(पंचमयाले)** पंचमकाल में **(मिच्छपुव्वया सुलहा)** मिथ्यादृष्टि जीव सुलभ हैं। **(सम्मत्तपुव्व सायारणयारा दुल्लहा होंति)** किन्तु सम्यग्दृष्टि सागार यानि गृहस्थ और अनगार यानि मुनि दुर्लभ हैं।

कोई कहता संसार में सोना दुर्लभ है, कोई कहता चाँदी दुर्लभ है, कोई कहता हीरा-मोती दुर्लभ हैं। किसी ज्ञानी जीव से पूछा जाये, किसी धर्मात्मा जीव से पूछा जाये, गणधर भगवंतों से पूछा जाये कि इसकाल में दुर्लभ क्या है? वे कहते हैं—इस पंचमकाल में अवसर्पिणी काल में भरतक्षेत्र में सम्यग्दृष्टि जीव दुर्लभ हैं। **धर्म की चर्चा करना और धर्म का पालन करना दोनों में बहुत अन्तर होता है। धर्म की चर्चा करनेवाले जीव तो बहुत मिल जायेंगे लेकिन वास्तव में धर्म का पालन करनेवाले सम्यग्दृष्टि जीव मिलना अति दुर्लभ हैं।** धर्म की बात करनेवाले लोग बहुत मिल जाएँगे, मंदिरों में जानेवाले लोग बहुत मिल जाएँगे, लेकिन सम्यग्दृष्टि जीव मिलना दुर्लभ हैं।

काल परिवर्तन में उत्सर्पिणीकाल के बाद अवसर्पिणीकाल और अवसर्पिणीकाल के बाद उत्सर्पिणीकाल आता है। अंसख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणीकाल बीत जाने के बाद एक हुण्डावसर्पिणी काल आता है। इस काल में हम सभी ने जन्म लिया है। इस हुण्डावसर्पिणी काल में अनेक अनहोनी घटनाएँ घटती हैं।

*** जैसे तीर्थंकर के कभी पुत्रियाँ नहीं होतीं, लेकिन इस हुण्डावसर्पिणी काल में भगवान् आदिनाथ के ब्राह्मी, सुन्दरी दो पुत्रियाँ जन्मीं।**

*** चक्रवर्ती का कभी मान भंग नहीं होता लेकिन इस हुण्डावसर्पिणी काल में प्रथम चक्रवर्ती भरत का मान भंग हुआ।**

*** तीर्थंकरों के ऊपर कभी उपसर्ग नहीं होता, लेकिन इस हुण्डावसर्पिणी काल के प्रभाव से तीर्थंकरों के ऊपर भी उपसर्ग हुआ।**

*** तीर्थंकर कभी बाल ब्रह्मचारी नहीं होते, लेकिन इस हुण्डावसर्पिणी काल में पाँच तीर्थंकर बाल ब्रह्मचारी हुए।**

*** चौबीस तीर्थंकरों का जन्म अयोध्या में ही होता है और निर्वाण सम्मेदशिखर से होता है, लेकिन इस हुण्डावसर्पिणी काल में तीर्थंकरों का जन्म और निर्वाण भूमि भी पृथक्-पृथक् हुईं।**

इस हुण्डावसर्पिणी काल में इनको आदि लेकर ऐसे अन्य अनेक कार्य भी देखे जाते हैं, जो कभी नहीं होते लेकिन इस काल में हुये हैं। हम सभी ने ऐसे हुण्डावसर्पिणी काल में जन्म लिया है जहाँ केवल अग्रहीत मिथ्यात्व ही नहीं अपितु ग्रहीत मिथ्यात्व भी बहुलता से देखा जाता है।

इसलिए आचार्य भगवन् को कहना पड़ा—इस पंचमकाल में मिथ्यादृष्टि जीव सुलभ हैं। सुलभता का कारण यह है कि जन्म से ही मिथ्यादृष्टि जीव उत्पन्न होते हैं। कोई पुरुषार्थी जीव अपने स्व पुरुषार्थ से अगर धर्म की सच्ची श्रद्धा करते हैं, आत्मा के हित का विचार करते हैं, तो उनमें अल्प जीव ही सम्यग्दृष्टि पर्याय को प्रकट कर पाते हैं। बहुत से धर्म का चिंतन करनेवाले, विचार करनेवाले जीव भी पुराने संस्कारों के कारण सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं कर पाते। विचार तो करते हैं, हम भी धर्म का पालन करें, हम भी मोक्षमार्ग पर चलें, लेकिन सम्यग्दर्शन के स्वरूप को अपने आत्मा में प्रगट नहीं कर पाते।

इस पंचमकाल में पापी जीव ज्यादा हैं,कषाय बाँधनेवाले जीव ज्यादा हैं, दूसरों का बुरा विचारनेवाले जीव ज्यादा हैं। पूर्व संस्कार के कारण निरंतर कषायवृद्धि करते रहते हैं। सोचते हुए भी सम्यग्दर्शन पर्याय को उपलब्ध नहीं हो पाते। विचार करो, मनुष्य पर्याय मिलना कितना दुर्लभ है? हमको मनुष्य पर्याय की प्राप्ति हुई, दुर्लभ जिनधर्म मिला, दुर्लभ जैनकुल मिला। सद्गुरुओं का मिलना, जिनवाणी का मिलना दुर्लभ है पुण्य से वह भी प्राप्त हो गया। जिस निर्मल बुद्धि का मिलना दुर्लभ है वह बुद्धि भी मिल गई, फिर भी अज्ञानी जीव अपनी बुद्धि का उपयोग मात्र उन्मार्ग में करता है, सन्मार्ग में नहीं लगा पाता। विचार भी नहीं कर पाता, कि आत्मा का हित क्या है? आत्मा का हित मोक्ष है। मानव पर्याय मोह को बढ़ाने के लिए नहीं, मोक्ष को पाने के लिए मिली है। अज्ञानी जीव दुर्लभ मानव पर्याय को प्राप्त करके भी मोह को बढ़ाते रहते हैं। मोह को बढ़ानेवाले जीव सम्यग्दृष्टि नहीं होते, मोक्ष को पानेवाले जीव सम्यग्दृष्टि होते हैं। अहो! मैं पंचपरावर्तनरूप संसार के चक्रव्यूह से बाहर निकलकर अपनी आत्मा को मोक्षपद में स्थापित करूँ, ऐसी प्रशस्त भावना रखनेवाले जीव कदाचित् अपने कर्मों को हल्का करने काललब्धिवश सम्यग्दर्शन को उपलब्ध हो पाते हैं। अन्यथा बहुत लोग मात्र सोचते रहते

हैं कि हमें भी धर्म की शरण मिल जाये लेकिन जब तक मिथ्यात्व है तब तक धर्म की शरण नहीं मिलती है।

पंचमकाल में मिथ्यादृष्टि जीव ज्यादा हैं। संसार में ही सुख माननेवाले जीव ज्यादा हैं। घर परिवार में ही सुख माननेवाले जीव ज्यादा हैं। धन-संपदा में ही सुख माननेवाले जीव ज्यादा हैं। जब तक ऐसी बुद्धि बनी हुई है, तब तक धर्म का स्वरूप जानते और समझते हुए भी मिथ्यात्व बैठा हुआ है, मिथ्यात्व गया नहीं है। जब आत्मा में ऐसा अनुभव हो कि संसार के जितने भी सुख हैं मात्र दु:ख के दाता हैं। सच्चा सुख एकमात्र मोक्षमार्ग से ही मिल सकता है। ऐसी भावना और काललब्धि की प्राप्ति हो जाये तो सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। पंचमकाल में जन्म लेकर संसार में ही सुख है, परिवार में ही सुख है, धन-संपदा में ही सुख है, मिथ्यादृष्टि जीव ऐसी विपरीत मान्यता करता रहता है।

ध्यान रखना, ये धन, सम्पदा, वैभव, सुख नहीं है तात्कालिक व्यवस्था है। जैसे कोई व्यक्ति असाध्य बीमारी से पीड़ित था, उसे हॉस्पिटल (Hospital) ले जाया गया। हॉस्पिटल (Hospital) में सब प्रकार की अनुकूलतायें न होने से उसे एक हॉस्पिटल (Hospital) से दूसरे हॉस्पिटल (Hospital) में भेजा दिया गया और तात्कालिक व्यवस्था कर दी। ऑक्सीजन (Oxyzen) आदि लगा दी ताकि रास्ते में कोई परेशानी न हो। ऐसे ही संसार में रहनेवाले जीव के लिये अपने जीवनोपयोगी जो साधन सामग्रियाँ जरूरी होती हैं वे तात्कालिक व्यवस्थायें हैं, त्रैकालिक व्यवस्था नहीं है। मिथ्यादृष्टि जीव तात्कालिक व्यवस्था को ही त्रैकालिक व्यवस्था मान बैठता है। सोचता है कि मैं जहाँ भी रहूँ मुझे ये सब साधन सामग्रियाँ प्राप्त होती रहें, क्योंकि मुझे इनसे सुख प्राप्त होता है।

सम्यग्दृष्टि जीव ऐसा विचार नहीं करता है। वह सोचता है–भगवन्! मैं इन साधन सामग्रियों को परभव में नहीं चाहता। इसभव में कब इनको छोड़ दूँ? कब ऐसा सुअवसर आये कि मैं इन सबका त्याग करके अपने आत्मस्वरूप का ध्यान करूँ।

कब धन्य सुअवसर पाऊँ, जब निज में ही रम जाऊँ।
कर्तादिक भेद मिटाऊँ, रागादिक दूर भगाऊँ।।

सच्ची श्रद्धा रखनेवाले जीव दुर्लभ हैं। कैसे पता चले कि हमारी आत्मा में सच्ची श्रद्धा

है? आचार्य भगवन् कहते हैं–जो सम्यग्दृष्टि जीव होता है वह अपने आत्मा का श्रद्धान् करनेवाला होता है, भेदविज्ञानी होता है। स्वपर भेदविज्ञान होने के कारण निजशुद्धात्मा ही हमारे लिये उपादेय है ऐसी उसकी दृढ़ रुचि होती है, दृढ़ श्रद्धा होती है और व्यवहार में प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य इन गुणों का अनुभव करनेवाला होता है। उसकी कषायें प्रशमता को प्राप्त हो जाती हैं। प्रशमवान व्यक्ति ही सम्यग्दृष्टि हो सकता है। वह संवेग भाव रखनेवाला होता है। संसार, शरीर, भोगों से उसको भय लगता है। सोचता है–ये तो काले सर्प हैं, इन्होंने डसा कि मृत्यु हुई। जिसे ऐसी श्रद्धा उत्पन्न हुई वह संवेग भावना को धारण करनेवाला है।

प्राणीमात्र पर दयाभाव रखनेवाले जीव अनुकंपा गुणधारी हैं। किसी के ऐसे भाव हों कि मैं सिर्फ अपने परिवार के प्रति दया करूँगा, दूसरे के परिवार से मुझे क्या प्रयोजन है। अहो! ऐसी भावदशा सम्यग्दृष्टि के नहीं होती। सम्यग्दृष्टि प्राणीमात्र पर दया परिणाम रखनेवाला होता है। और कैसा होता है? आस्तिक्य लक्षणवाला होता है। सन्मार्ग यही है, न अन्य है, न अन्य प्रकार से है। सन्मार्ग के प्रति ऐसी सच्ची आस्था रखनेवाला होता है। ऐसे परिणाम अगर आत्मा में उत्पन्न होते हैं तो समझना हम सम्यग्दृष्टि हैं, अन्यथा मिथ्यादृष्टि हैं। सम्यग्दृष्टि सम्यक्त्व के आठ अंगों का पालन करनेवाला होता है।

निःशंकित अंग–सम्यग्दृष्टि निःशंकित अंग का पालन करनेवाला होता है। तत्त्व श्रद्धान् से डगमगाता नहीं है। सन्मार्ग यही है ऐसा ही है, न अन्य है, न अन्य प्रकार से है। मोक्षमार्ग के प्रति ऐसी दृढ़ आस्था, जैसे प्यासे व्यक्ति की आस्था पानी के प्रति होती है। प्यास बुझेगी, तो पानी से ही बुझेगी। दूध पीने से कभी प्यास नहीं बुझती, शिकंजी पीने से प्यास नहीं बुझती, और भी अनेकानेक पेय-पदार्थों को पीने से कभी प्यास नहीं बुझती। प्यास जब भी बुझेगी, तब पानी से ही बुझेगी। ऐसे ही आत्मा का हित जब भी होगा, एकमात्र मोक्षमार्ग, सन्मार्ग से ही होगा, अन्य मार्ग से कभी आत्मा का हित नहीं हो सकता। सम्यग्दृष्टि ऐसी दृढ़ आस्थावाला होता है। अगर कोई सोचे कि पानी से भी प्यास बुझ सकती है और दूध पीने से भी प्यास बुझ सकती है, तो ऐसा त्रिकाल में भी संभव नहीं है। ऐसे ही कोई कहे कि मोक्षमार्ग से भी आत्महित हो सकता है और अन्यमार्ग से भी आत्महित हो सकता है तो यह तीनकाल में भी संभव नहीं है। सन्मार्ग में संशयरहित दृढ़ श्रद्धा निःशंकित अंग है।

निःकांक्षित अंग–निःकांक्षित अंग सुख के विषय में मान्यता को सम्यक् बनाता है।

आचार्य भगवन् श्री समंतभद्रस्वामी रत्नकरण्ड श्रावकाचार में निःकांक्षित अंग के विषय

में लिखते हैं–

कर्म परवशे सान्ते, दुःखैरन्तरितोदये।
पापबीजे सुखेऽनास्था श्रद्धानाकांक्षणा स्मृता।।12।।

संसार का सुख कर्मों के आधीन है, पराधीन है। जब कर्म ही अपने नहीं, तो कर्म प्रदत्त सुख स्वाधीन सुख कैसे हो सकता है? वह कभी स्वाधीन सुख नहीं हो सकता। संसार का सुख कर्मों के आधीन है। संसार का इन्द्रियजन्य सुख तभी भोगने में आ सकता है जब पुण्यकर्म का उदय हो। अगर पुण्यकर्म का उदय नहीं है, पापकर्म का उदय है, तो संसार का सुख भोगने में नहीं आ सकता। **'पराधीन सपने हु सुख नाहीं'।** पुण्यकर्म के उदय से भले ही सुख मिल जाये तो वह सच्चा सुख नहीं होता। किसी व्यक्ति को भूख लगी हो, और कोई व्यक्ति उससे रूखे स्वर में कहे–आजा-आजा करले भोजन। वहाँ भोजन कितना भी सुस्वादु क्यों न हो, उसे उसमें स्वाद नहीं आयेगा। वहीं अगर प्रेम से खिलाया जाये तो नीरस-रूखा भोजन भी सरस लगता है, आनन्ददायक होता है।

संसार में एक क्षण का भी जो इन्द्रियजन्य सुख है वह भी कर्मों के आधीन है। पुण्यकर्म का उदय है तो भोजन सुख दे रहा है, पापकर्म का उदय हो तो जो भोजन सुखी कर रहा था, तृप्ति दे रहा था, वही भोजन पेट को खराब भी कर देता है, बुद्धि को विकृत भी कर देता है।

जैनकुल में कहा जाता है–गोभी नहीं खाना चाहिये। गोभी में अनेक त्रस जीव पाये जाते हैं। फूलगोभी को अगर झड़ाकर देखा जाये तो अनेक जीव निकल आते हैं इसलिए फूलगोभी नहीं खाना चाहिये। तो क्या पत्तागोभी खा सकते हैं? डॉक्टर (Doctor) कहते हैं–पत्तागोभी में एक ऐसा जीव पाया जाता है जिसे 100^0c पर भी गर्म किया जाये तो भी वह मरता नहीं है। वह जीव अगर खाने में आ जाता है तो भयानक रोग हो जाता है। वह सबसे पहला अटैक (Attack) दिमाग पर करता है और वह व्यक्ति निश्चेष्ट हो जाता है। न जी पाता है, न मर पाता है। कोटा में संघ का प्रवास था। वहाँ एक ऐसा ही व्यक्ति हमारे पास आशीर्वाद लेने आया। मैंने पूछा क्या हुआ? बोला–डॉक्टर (Doctor) ने बताया है, इसके पत्तागोभी में रहनेवाला वायरस (Virus) प्रवेश कर गया है जिसने साठ दिन बाद अटैक (Attack) किया है आप आशीर्वाद दे दीजिये।

अरे, निर्ग्रंथ गुरु तो वैसे ही आशीर्वाद देते हैं कि अभक्ष्य वस्तुओं का सेवन नहीं करना चाहिये।

मिथ्यादृष्टि विषयासक्त होने के कारण नरक की यात्रा करता है, मरकर नरक में जाता है। क्षणिक सुख के लिये संसारी जीव जीवनभर नाना प्रकार के आरम्भ, परिग्रह के कार्य करता है। बहुत आरम्भ और परिग्रह नरक आयु के आस्रव के कारण होते हैं। आचार्य श्री उमास्वामी महाराज ने तत्त्वार्थसूत्र में कहा–

''बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्याऽऽयुषः''।।6-15।।

अर्थात् बहुत आरंभ और परिग्रह नरक आयु का आस्रव है। अहो! मिथ्यादृष्टि जीव संसार और इन्द्रिय सुखों में सुख की मान्यता करने के कारण जीवनभर आरम्भ परिग्रह के कार्यों को ही संपादित करता रहता है, कभी आरम्भ-परिग्रह से छूटने का उपाय नहीं करता। कभी आत्महित करने का, मोक्षमार्ग पर चलने का विचार नहीं करता।

ध्यान रखना, धन्य हो जाता है वह परिवार, जिससे कोई धर्मात्मा जीव मोक्षमार्ग पर निकलता है। मोक्षमार्ग पर चलनेवाले साधकों को देखकर गृहस्थ श्रावक कहता है–भगवन्! आप धन्य हैं, आपने जो मार्ग चुना है, वह श्रेष्ठ है, क्योंकि आपको इस मार्ग में अब आरम्भ-परिग्रह नहीं करना पड़ेगा। हे भगवन्! आप आरम्भ-परिग्रह से रहित होकर श्रेष्ठ साधना करें। हम गृहस्थ-श्रावक आपकी श्रेष्ठ साधना में साधक बनेंगे। हम आरम्भ-परिग्रहधारी होकर भी आपको निरारम्भी और निष्परिग्रही रखेंगे। देखो, श्रावक का कितना उत्तम विवेक है। भावना करता है–मैं तो आरम्भ-परिग्रह का त्याग नहीं कर पा रहा हूँ, परन्तु हे तपोधन! आप आरम्भ और परिग्रह से दूर रहें, हम आपके सहयोगी हैं। साधु पानी नहीं भरता, झाड़ू नहीं लगाता, भोजन नहीं बनाता, क्योंकि ये आरम्भ के कार्य हैं और आरम्भ के कार्य में अनेकप्रकार के पाप होते हैं। साधुजन इन पापों से दूर रहें, इसलिए श्रावक कहता है–भगवन्! आरम्भ के लिए परिग्रह संचित करना पड़ता है। आपके द्वारा आरम्भ नहीं होगा तो परिग्रह की भी आवश्यकता नहीं रहेगी।

जैनसाधु के हाथ में झाड़ू नहीं, पिच्छी जरूर देखी होगी। ध्यान रखना, पिच्छी झाड़ू नहीं है। जैनमुनि के स्वरूप से अनभिज्ञ लोग सोचते हैं–इनके हाथ में जो पिच्छी है वो झाड़ू लगाने के लिये होती होगी। यह झाड़ू नहीं जीवों को बचाने के लिए संयम का उपकरण है।

पिच्छिका जैन साधु क्यों रखते हैं? इसका कथन आचार्य शिवार्य महाराज ने भगवती आराधना में इसप्रकार किया है–

इरियादाणणिखेवे विवेगठाणे णिसीयणे सयणे।
उव्वत्तण-परिवत्तण-पसारणाउंटणामरसे।।95।।

गमन में, ग्रहण में, रखने में, मलत्याग में, स्थान में, बैठने में, शयन में, ऊपर को मुख करके सोने में, करवट लेने में, हाथ-पैर फैलाने में, संकोचने में और स्पर्शन में पीछी से परिमार्जन करना चाहिये।

आचार्य भगवन् ने अगली गाथा में पीछी के गुणों का कथन इसप्रकार किया है–

रयसेयाणमगहणं मद्दवसुकुमालदा लघुत्तं च।
जत्थेदे पंच गुणा तं पडिलिहणं पसंसंति।।97।।

धूलि और पसीने को पकड़ती न हो, कोमल स्पर्शवाली हो, सुकुमार हो, और हल्की हो ये पाँच गुण जिस पिच्छी में हों, उस प्रतिलेखना की प्रशंसा करते हैं।

दिगम्बर जैन साधु झाड़ू नहीं लगाते, वे आरम्भ के कार्यों से दूर रहते हैं। **आचार्य भगवन् कहते हैं–जिसने आरम्भ छोड़ दिया, परिग्रह छोड़ दिया, साधु बन गया, लेकिन मिथ्यात्व को नहीं छोड़ पाया, उसका आरम्भ-परिग्रह को छोड़ना व्यर्थ है। जिसप्रकार विष मिश्रित औषधि लाभकारी न होकर हानिकारक ही होती है उसीप्रकार मिथ्यात्वरूपी विष से मिश्रित अहिंसाणुव्रत अथवा महाव्रतरूपी औषधि लाभकारी न होकर दोषकारी ही होती है।**

मोक्षमार्ग की आराधना करनेवाले आराधकों को चाहिये, सबसे पहले सम्यग्दर्शन का विचार करें, चिंतन करें। निर्णय करें कि सन्मार्ग के प्रति हमारी संशयरहित रुचि है अथवा नहीं है, नि:कांक्षित अंग है अथवा नहीं है। संसार के सुख कर्माधीन हैं और नियम से नष्ट होनेवाले हैं, शाश्वत नहीं हैं। आप चाहते हो, कि हमारे बाल सदा काले बने रहें, लेकिन सफेद हो ही जाते हैं। क्योंकि ये शाश्वत रहनेवाले नहीं हैं। जैसे ही बाल सफेद होते हैं, तुम पुन: काले कर लेते हो। बाल काले करने से तुम जवान तो हो नहीं जाओगे। भले ही तुम्हें जवानी का धोखा हो जाये, लेकिन कहलाओगे तो बुड्ढे ही।

सामान्य गृहस्थ बाल काले करवायें तो चलो माना भी जा सकता है। वे घर गृहस्थी और संसारिक जीवन जी रहे हैं। आश्चर्य तो तब होता है जब त्यागी व्रतियों को अपने बाल काले कराते देखते हैं। अहो! क्या कहें, ऐसे त्यागी व्रतियों को, जिन्हें अभी भेदविज्ञान ही नहीं हुआ, सम्यग्दर्शन ही नहीं हुआ वो क्या मोक्षमार्ग का अनुष्ठान करेंगे? ऐसे प्रतिष्ठाचार्य देखे जाते हैं जो अपने बाल काले करके पंचकल्याणकों में परमात्मा बनाने का कार्य करते हैं। जिन्हें अपनी

आत्मा का ज्ञान नहीं हुआ, जिन्हें शरीर से भेदविज्ञान नहीं हुआ, ऐसे असंयमी प्रतिष्ठाचार्य और मात्र सफेद वस्त्र धारण करनेवाले त्यागी-व्रती क्या वास्तव में त्यागी-व्रती हैं? विचार करना, प्रतिष्ठाचार्य कैसा होता है? प्रतिष्ठाचार्य सुयोग्य संयमी होता है, तब वह पाषाण की प्रतिमा को भगवान् बना पाता है।

मैं एक नगर में था। वहाँ एक त्यागी जी थे, उनके बाल कुछ काले और कुछ सफेद थे। जब मैं दूसरी बार उस नगर में गया तो चमत्कार हो गया। अबकी बार उनके सारे बाल एकदम काले थे। मैंने सोचा, क्या ये भी हुण्डावसर्पिणी काल का प्रभाव है? मैंने उनसे कहा—ये क्या करा लिया? बोले—क्या बतायें महाराज श्री! अच्छे नहीं लगते थे, सो करा लिये। अहो! अच्छे व्रत लगते हैं, कि बाल अच्छे लगते हैं? जिसे आत्मा और शरीर का भेदविज्ञान हो गया हो ऐसे ज्ञानी पुरुष के द्वारा, मोक्षमार्ग पर चलनेवाले मुमुक्षुओं के द्वारा, त्यागी व्रतियों के द्वारा, क्या ऐसा कार्य किया जा सकता है? आश्चर्य होता है। मैंने कहा—तुम अपने को भी धोखे में डालते हो और समाज को भी धोखा देते हो। सामान्य गृहस्थ तुमको देखकर यह समझते हैं कि तुम बहुत महान हो, त्यागीव्रती हो। लेकिन क्या तुम कभी किसी को सम्यक् मार्ग दिखा पाओगे?

इसलिए आचार्य कुंदकुंददेव कह रहे हैं—पंचमकाल में सम्यग्दृष्टि दुर्लभ हैं।

कर्मपरवशे सान्ते—संसार के इन्द्रियजन्य सुख नाश होनेवाले हैं, अन्तसहित हैं। और कैसे है? **दुःखैरन्त— रितोदये**—दुःखों से ही आच्छादित करनेवाले हैं, दुःखों को ही देनेवाले हैं। और कैसे हैं? **पापबीजे**—पाप का बीज हैं।

ध्यान रखना, जिससमय यह जीव संसार सुखों का भोग करता है उस समय नियम से पाप का उपार्जन करता है। संसार के सुख पाप के बीज हैं। ऐसे सुख में अनास्था का होना, आस्था नहीं होना ही सम्यग्दृष्टि का निष्कांक्षित अंग है। अपने भीतर झाँककर देखना सम्यग्दर्शन है अथवा नहीं। मात्र शास्त्रों को पढ़ लेने से सम्यग्दर्शन नहीं मिल जाता। दवाईयाँ परचे में से निकलकर नहीं आतीं। संसारी जीवों के लिए जो बीमारियाँ हैं शास्त्र उनका परचा मात्र है। उस परचे से निजात्मारूपी मेडीकल स्टोर (Medical Store) पर जाकर औषधि खरीदनी पड़ती है फिर उस औषधि का ध्यानरूपी दूध के साथ सेवन किया जाता है। जब कोई भव्य जीव इस औषधि का आत्मध्यानरूपी दूध के साथ सेवन करता है तो वह औषधि गुणकारी हो जाती है। अगर कोई ऐसी औषधि को मात्र शास्त्रों में पढ़ता रहे कि सम्यग्दर्शन का यह स्वरूप है, सम्यग्ज्ञान का यह स्वरूप है और सम्यक्चारित्र का यह स्वरूप है तो इतने मात्र से सम्यग्दर्शन,

सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की उपलब्धि नहीं हो जाती। पाप के बीज इन्द्रिय सुख में अनास्था का उत्पन्न हो जाना, आस्था नहीं रखना निष्कांक्षित अंग है।

विचार करना, ऐसी निष्कांक्षवृत्ति हमारे अंदर है, तो हम पंचमकाल में भी सम्यग्दृष्टि हैं, अन्यथा पूजा करने से, शास्त्र पढ़ने से, साधुओं की सेवा करने से सम्यग्दर्शन नहीं मिलनेवाला। ध्यान रखना, इनके बिना भी सम्यग्दर्शन नहीं मिलेगा। इनका साधन करते-करते सम्यक्त्व प्राप्ति के योग्य अपने परिणाम करोगे तो अवश्य आत्मा में सम्यक्त्व पर्याय प्रकट हो जायेगी।

निर्विचिकित्सा–निर्विचिकित्सापना आना भी बहुत दुर्लभ है।

आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहते हैं–

स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रय पवित्रते।
निर्जुगुप्सा गुण प्रीतिर्मता निर्विचिकित्सिता।।13।।

स्वभाव से अपवित्र शरीर भी रत्नत्रय को धारण करने से पवित्र हो जाता है। शरीर को पवित्र किया जा सकता है, लेकिन जब आप पवित्र करने के लिये तैयार हों तब। जल स्नान से कभी देह पवित्र नहीं होती। शरीर का स्वभाव कैसा है? अशुद्ध है, अपवित्र है, अनेक अशुद्ध पदार्थों का संग्रहालय है। देह को देखना है, तो देह में संग्रहीत पदार्थों को देखो। अत्यंत अशुचि पदार्थों का म्यूजियम (museum) है ये शरीर। देखना चाहोगे? बिना टिकट दिखायी देगा। तुम जगह-जगह जाते हो और अनेकों संग्रहालय देखते हो। कभी इस देह के संग्रहालय को भी देखो, कितना सुन्दर है ये। तुम देखते भी हो तो बाहर से देखते हो, लेकिन बाहर से देखने पर संग्रहालय में संग्रहीत पदार्थ दिखाई नहीं देंगे, उन संग्रहीत पदार्थों को देखना है तो जरा भीतर जाकर देखो। अहो! देह अशुचि पदार्थों का पिंड है। ऐसा स्वभाव से अपवित्र शरीर भी रत्नत्रय से पवित्र हो जाता है।

जिनकी देह अत्यंत अशुचिता को प्राप्त हो रही हो, जिनकी देह पर मल जमा हुआ हो ऐसे मुनिराज मिल जायें तो उनके मलिन शरीर को देखकर ग्लानि मत करना, घृणा मत करना, जुगुप्सा के भाव मत लाना। वर्तमान के श्रावक इतने विवेकी हैं कि वे मुनिराज की देह पर मल जमने ही नहीं देते, वैयावृत्ति के समय सब साफ करके चले जाते हैं। लेकिन देह को साफ करने से भीतर की ग्लानि नहीं जायेगी, जुगुप्सा नहीं जायेगी, वो सम्यग्दर्शन से ही जायेगी। केशलोंच करने से जैनमुनि के बाल भी लुचे हुए दिखाई देते हैं। मुनिराज कभी स्नान नहीं करते, अस्नान

मूलगुण के धारी होते हैं। अपने शरीर के ऊपर लगे हुए मल को कभी साफ नहीं करते। दाँत देखो तो पीले-पीले दिखाई देते हैं, लाल-लाल दिखाई देते हैं, अपने स्वभाव में व्यक्त हो रहे हैं, ऐसे साधकों को देखकर मन में ग्लानि नहीं करना। धन्य हैं ये साधक जो देह के प्रति इतने निस्पृह होते हैं। जिस शरीर में सभी जीव आसक्ति धारण करते हों, उस शरीर के प्रति इतने निस्पृह हैं। सम्यग्दृष्टि जीव रत्नत्रयवान् साधुओं को देखकर ग्लानि नहीं करता है, उनके गुणों में प्रीति रखनेवाला होता है। श्रद्धावान् जीव गुणों को देखता है, मुनिराज की शारीरिक अशुचिता को नहीं देखता।

अगर दृष्टि बाहर की ओर होगी तो बाहर की चीजें दिखायी देंगी। दृष्टि भीतर की ओर होगी तो भीतर के गुण दिखाई देंगे। बाह्यदृष्टिवाले मिथ्यादृष्टि जीवों को मात्र बाहर के कार्य दिखाई देते हैं और गुणी जीव की प्रीति गुणों में होती है। अहो! सम्यग्दृष्टि जीव निर्विचिकित्सा अंग का धारी होता है।

अमूढ़दृष्टि—सम्यग्दृष्टि अमूढ़दृष्टिवाला होता है। वह कभी भी मिथ्यात्व की, मिथ्यादृष्टि की, मिथ्या देवों की, न मन से प्रशंसा करता है, न वचन से प्रशंसा करता है, न काय से सहमति करता है। वह सच्चे देव, सच्चे शास्त्र और सच्चे गुरु का दृढ़ श्रद्धानी जीव अमूढ़दृष्टि अंग का पालन करनेवाला होता है।

अहो! मुनिराज ने मुनि को नमोस्तु नहीं भेजा और रेवती रानी को आशीर्वाद दिया। क्षुल्लक विद्याधर विचार करने लगा, हमारे गुरूदेव ने रानी के लिये आशीर्वाद दिया मुनिराज को नमोस्तु भी नहीं किया, कारण क्या है? पता लगाना चाहिए? उसने मुनिराज के कमण्डलु का पानी सुखा दिया और भेष धारण करके पहुँच गया। मुनिराज के लिये पानी आवश्यक था। वह कहने लगा—तालाब का पानी इन परिस्थितियों में तो ले सकते हैं। मुनिराज ने कहा—हाँ! परिस्थिति में तो ले सकते हैं। फिर उसने रास्ते में घास पैदा कर दी। बोला—जब कहीं से रास्ता दिखाई नहीं देता तो इस पर से निकल सकते हैं। मुनि बोले—हाँ। वो समझ गया साधु जी मिथ्यादृष्टि हैं जीव दया नहीं है इसलिए मुनिराज ने नमोऽस्तु नहीं भेजा।

विचार करना, जब तुम All out लगा देते हो, कछुआ छाप लगा देते हो, वहाँ अहिंसा महाव्रत का पालन होता है क्या? घास कितने इन्द्रिय और मच्छर कितने इन्द्रिय जीव है? जब घास और पानी का उपयोग करनेवाले मुनि के लिये नमोऽस्तु नहीं भेजा गया, तब जहाँ आराम से कछुआ छाप चलता है वहाँ चिंतन करनेवाली बात है।

रेवती रानी सम्यग्दृष्टि थी। उसने रेवती रानी की भी परीक्षा कर ली। विद्या से उसने अपने अलग-अलग रूप बनाये, कभी ब्रह्मा बना, कभी विष्णु बना, कभी महेश बना, कभी तीर्थंकर बन गया। लेकिन रेवती रानी एक बार भी नहीं गयी। तीर्थंकर के पास भी नहीं गई, क्योंकि रेवती रानी जानती थी कि तीर्थंकर 24 होते हैं 25 नहीं। अचानक हमारे नगर के पास 25वें तीर्थंकर कहाँ से आ गये। वह क्षुल्लक समझ गया यह रेवती रानी सम्यग्दृष्टि है। अमूढ़दृष्टि अंग का पालन करनेवाली है।

उपगूहन अंग–सम्यग्दृष्टि जीव उपगूहन अंग का धारी होता है। आचार्य श्री समंतभद्र स्वामी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में उपगूहन अंग के विषय में कहा–

स्वयं शुद्धस्य मार्गस्य बालाशक्तजनाश्रयाम्।
वाच्यतां यत्प्रमार्जन्ति तद्वदन्त्युपगूहनम्।।15।।

अर्थात् स्वभावतः पवित्र मोक्षमार्ग की अज्ञानी और असमर्थजनों के द्वारा उत्पन्न हुई निंदा को छिपाना उपगूहन अंग है।

सबके शरीर का संहनन एक जैसा नहीं होता। यदि कोई बाल, अशक्त जीवों के द्वारा मोक्षमार्ग मलिन हो गया हो तो कभी उनकी निंदा नहीं करना चाहिये। निंदा करनेवाला नियम से मिथ्यादृष्टि है। सम्यग्दर्शन के चार अंगों में अतिचार नहीं लगता, सम्यग्दर्शन ही नष्ट हो जाता है। अगर कोई धर्मात्मा की निंदा करता है, तो वहाँ अतिचार नहीं लगता, सम्यग्दर्शन ही नष्ट हो जाता है। आचार्यों ने मात्र चार अंगों के अतिचार कहे हैं, शेष चार अंग नियम से पालन करने योग्य हैं।

वर्तमान में बहुत से अज्ञानी जीव हैं जो सच्चे साधुओं की निंदा करते रहते हैं, तो भी अपने आपको सम्यग्दृष्टि मानते हैं। जिसके पास उपगूहन अंग नहीं है उसके पास सम्यग्दर्शन भी नहीं है, क्योंकि उपगूहन अंग में अतिचार नहीं लगता, उपगूहन अंग नष्ट हो जाता है। कदाचित् कर्मोदयवशात् किसी बाल या अशक्त जीव के द्वारा मार्ग मलिन हो गया हो, तो सम्यग्दृष्टि जीव उसको ढकने का प्रयास करता है, कभी उसकी निंदा नहीं करता। अन्यथा उससे अनेक लोगों की श्रद्धा नष्ट हो जायेगी। हानि किसकी होगी? हानि उस अज्ञानी जीव की नहीं, धर्म की होगी। अहो! अनेक लोग धर्म से दूर हो जायेंगे। सम्यग्दृष्टि को धर्म की चिंता होती है, इसलिए वह

उपगूहन अंग का सावधानीपूर्वक पालन करनेवाला होता है, दोषों को ढक देता है।

स्थितिकरण अंग–सम्यग्दृष्टि जीव स्थितिकरण अंग का पालक होता है। आचार्यश्री समन्तभद्रस्वामी रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहते हैं–

दर्शनाच्चरणाद्वापि चलतां धर्मवत्सलैः।
प्रत्यवस्थापनं प्राज्ञैः स्थितिकरणमुच्यते।।16।।

अर्थात् कोई दर्शन से, चारित्र से अथवा दोनों से चलायमान हो रहा हो तो उसको धर्मवत्सल प्राज्ञजनों के द्वारा पुनः दर्शन चारित्र अथवा दोनों में स्थित कर देना स्थितिकरण अंग है। धर्मात्मा जीव धक्का नहीं देता, सँभालने का प्रयास करता है, गले लगा लेता है। विनयपूर्वक निवेदन करता है–आप पुनः धर्ममार्ग में स्थिर हो जाईये। ये सम्यग्दृष्टियों की चर्या है।

वात्सल्य अंग–सम्यग्दृष्टि जीव वात्सल्य अंग का पालन करनेवाला होता है।

आचार्यश्री समंतभद्रस्वामी रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहते हैं–

स्वयूथ्यान्प्रति-सद्भाव सनाथापेतकैतवा।
प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं वात्सल्यमभिलप्यते।।17।।

अपने साधर्मियों के प्रति सरलता सहित, मायाचारी रहित, यथायोग्य आदर-सत्कार आदि करना वात्सल्य अंग कहलाता है।

अहो! प्राणीमात्र के प्रति वात्सल्य कब आयेगा? जब अपनी आत्मा की तरह प्राणिमात्र में भगवान् आत्मा दिखाई देगा। जब प्राणीमात्र में एक भगवत् सत्ता नजर आयेगी तब प्राणीमात्र के प्रति वात्सल्य का भाव आयेगा। वात्सल्य अंतरंग भावदशा है। जिस सम्यग्दृष्टि के वात्सल्य अंग होता है उसके उपगूहन और स्थितिकरण स्वयमेव आ जाते हैं। जिसप्रकार अपने शिशु के प्रति माँ का वात्सल्यभाव होता है। अगर वह शिशु कहीं मल विसर्जित कर दे, तो क्या वह माँ बच्चे को डाँटेगी? पीटेगी क्या? नहीं, बच्चे को स्वच्छ कर मल के ऊपर धूल आदि डालकर उसको ढक देती है, क्योंकि माँ को शिशु के प्रति वात्सल्य है। उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि के अंदर भी वात्सल्य अंग होता है, अकृत्रिम वात्सल्य भाव होता है। अगर कर्मोदयवश किसी साधर्मी के द्वारा कुछ मार्ग से विपरीत कार्य हो जाए तो वह उपगूहन स्थितिकरण कर उसे गले से लगा लेता है। वात्सल्य अंगवाले सम्यग्दृष्टि जीव की साधर्मी के प्रति गौ-वत्ससम प्रीति होती है। जैसे गाय अपने बछड़े से प्रेम करती है लेकिन उसे बछड़े से कोई स्वार्थ नहीं होता, ऐसे ही

सम्यग्दृष्टि जीव साधर्मीजनों से प्रेम करते हैं। वह प्रेम अपने स्वार्थ के लिए नहीं करते। **'गुणीजनों को देख हृदय में मेरे प्रेम उमड़ आवे'** ऐसी चर्या सम्यग्दृष्टि जीवों की होती है।

प्रभावना अंग—जो उपगूहन, स्थितिकरण और वात्सल्य अंग को धारण करनेवाला है उसके द्वारा जिनधर्म की प्रभावना होती है।

जहाँ स्थितिकरण नहीं, उपगूहन नहीं, वात्सल्य नहीं, वहाँ प्रभावना के नाम पर भीड़ तो हो सकती है लेकिन जिनशासन की प्रभावना नहीं हो सकती। अपनी प्रभावना होना अलग बात है और जिनशासन की प्रभावना होना अलग बात है।

आचार्य भगवन् कहते हैं—जो जिनशासन के माहात्म्य को बढ़ानेवाला है वही जीव प्रभावना अंग का पालन करनेवाला है।

आचार्यश्री समंतभद्रस्वामी ने प्रभावना अंग के विषय में रत्नकरण्ड श्रावकाचार में इसप्रकार लिखा है—

अज्ञानतिमिर-व्याप्ति-मपाकृत्ययथायथम्।
जिनशासनमाहात्म्य प्रकाशः स्यात्प्रभावना।।18।।

अर्थात् समुचित रीति से अज्ञानरूपी अंधकार के विस्तार को हटाकर (दूर करके) जिनशासन के माहात्म्य को प्रकाशित करना प्रभावना अंग है।

सम्यग्दृष्टि जीव नियम से जिनशासन की प्रभावना करनेवाला होगा। जिसके द्वारा जिनशासन की अप्रभावना हो रही हो, वह सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता।

आचार्य कुंदकुंददेव कह रहे हैं—इस पंचमकाल के, अपसर्पिणी काल में, भरतक्षेत्र में, सम्यग्दृष्टि जीव दुर्लभ हैं। ऐसे गृहस्थ श्रावक भी दुर्लभ हैं और साधु भी दुर्लभ हैं।

आचार्य शुभचन्द्रस्वामी से कार्तिकेयानुप्रेक्षा में किसी ने पूछा—भगवन्! इस पंचमकाल में सम्यग्दृष्टि जीव कितने हैं?

आचार्य भगवन् ने कहा—तीन, चार होंगे। प्रश्न करनेवाला आश्चर्य में पड़ गया कि इतने लोग धर्म कर रहे हैं फिर भी आप कह रहे हैं तीन, चार होंगे। पुनः पूछा—भगवन्! ये बताइये कि अधिक से अधिक कितने सम्यग्दृष्टि जीव होंगे? आचार्य भगवन् ने कहा—अधिक से अधिक चार-पाँच होंगे।

आचार्य भगवन् के कहने का तात्पर्य यह है कि इस पंचमकाल में सम्यग्दृष्टि श्रावक एवं सम्यग्दृष्टि साधु दुर्लभ हैं। जिनके अंदर सम्यग्दर्शन आलोकित हो रहा होगा, प्रकाशित हो रहा होगा, सम्यग्दर्शन के आठ अंग जिनके अंदर प्रकाशित हो रहे होंगे, ऐसे श्रावक और साधु इस काल में मिलना दुर्लभ हैं। कदाचित् कहीं मिल जायें तो ये समझना कि दुर्लभ वस्तु आज मुझे देखने को मिल रही है।

आचार्य भगवन् ने कहा–पंचमकाल में, अवसर्पिणी काल में, भरतक्षेत्र में मिथ्यादृष्टि जीव सुलभ हैं लेकिन सम्यग्दृष्टि साधु और श्रावक दुर्लभ हैं। अपने ज्ञान से अपने सम्यग्दर्शन को जानने का प्रयास करना। जब तुम्हें अपने अन्दर सम्यक्त्व जानने में आ जाये, सम्यक्त्व के अंग तुम्हें अपने अन्दर अनुभव में आने लग जायें तो समझना जीवन का सार हाथ आ गया है। ऐसे सम्यग्दृष्टि साधु और श्रावक जहाँ होंगे पंचमकाल के अंत तक उनके द्वारा जिनशासन की प्रभावना होती रहेगी। सम्यग्दर्शन से रहित श्रावक और साधुओं के द्वारा कभी जिनशासन की प्रभावना नहीं हो सकती है।

भगवान् से यही प्रार्थना करें–हे भगवन्! ऐसे सम्यग्दृष्टि श्रावक और साधु हों जिनकी चर्या में आठ अंगों का पालन दिखाई देता हो। मात्र शब्दों में दिखाई न देता हो अपितु चर्या में दिखाई देता हो, उनके द्वारा जिनशासन सदा वृद्धि को प्राप्त होता रहेगा। इसी भावना के साथ...।

अवसर्पिणि पंचमयुग में, सम्यग्दृष्टि दुर्लभ हैं।
मिथ्यादृष्टि सुलभ सदा, कहते ज्ञानी गणधर हैं।।
भव-भव परिवर्धक, हो-हो-2, मिथ्यात्व कहाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2, संहिता दिखलाये रे।।

अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

❑❑❑

(पृष्ठ नं. 384 का शेष)

आचारों को स्वीकार करके। उन परम आचार्य के पास जाकर नमस्कार करता हुआ, हे प्रभो! मुझको शुद्धात्मतत्त्व की सिद्धि करनेवाला श्रामण्य प्रदान करके स्वीकार करो। तब पंचाचार प्रवीण गुणों से भरे हुए, कुल, रूप और वय से समृद्ध मुक्ति के इच्छुक भव्यों को अतिप्रिय आचार्य कहते हैं भो भव्य! शुद्धात्म तत्त्व की सिद्धिदाता यह भगवती जिनदीक्षा है। इस प्रकार जिनदीक्षा की भावनावाला मुमुक्षु, आचार्य से कृपा युक्त किया जाता है। पुन: आचार्य भव्य मुमुक्षु के लिए जिनदीक्षा का स्वरूप कहते हैं।

कुन्दकुन्दागम में जिनदीक्षा
भगवती जिनदीक्षा विधि

ततस्तदाज्ञामृतपानपुष्टो निर्बन्धगन्धद्विपवत्प्रहृष्ट:।
बाह्यान्तरंगं परिहृत्य संगं शस्ते मुहूर्तेस्थिरलग्नपूर्ते।। (आ.सा.-10)

आचार्य की सम्मति पाकर उनकी आज्ञारूपी अमृतपान से पुष्ट होता हुआ बंधन से छूटे गंधहस्ति के समान प्रहर्षित दीक्षार्थी बाह्य और अंतरंग परिग्रह को छोड़कर स्थिर लग्न से परिपूर्ण शुभ मुहूर्त में।

प्रीत्या चैत्यगृहादि दक्षिणदिशि क्षोणीतले प्रासुके,
प्राचीसन्मुखमुत्तरस्यमथवा कृत्वा सरोजासनम्।
आसीनश्चिकुरोत्करं भवलतां वा दक्षिणावृत्तित:,
प्रोत्पाटयाविकृतिं जगत्रयनतिं स्वीकृत्य जाताकृतिम्।। (आ.सा. 11)

चैत्यगृहादि की दक्षिण दिशा में प्रासुक भूमि पर पूर्व या उत्तर दिशि मुख करके परिग्रह का त्याग कर पद्मासन से बैठ जाय, तदनंतर संसार की लता रूप शिर के केशों को दाढ़ी और मूँछों के बालों को दक्षिणावृत्ति से उखाड़ कर फेंक देवें। उसके बाद तीन जगत में पूज्यनीय हृदय के अविकार को प्रकट करनेवाले यथाजात रूप को वस्त्राभूषण त्याग कर धारण करें।

प्रदक्षिणीकृत्य जिनेन्द्र गेहे प्रविश्य जैन प्रतिबिम्ब पार्श्वे।
रम्ये स्थले वा प्रतियाज्ञयैव क्रियां विधायात्तमहाव्रतादि।।12।।

दिगम्बर मुद्रा के धारण करने के बाद तीन प्रदक्षिणा देकर जिनमन्दिर में प्रवेश कर जिनेन्द्र भगवान का दर्शन करे तथा जिनेन्द्र भगवान के बिम्ब के पार्श्व भाग में रमणीय स्थल पर बैठकर आचार्यवर्य की आज्ञा से विधिपूर्वक क्रिया विधि को धारण करके महाव्रत को ग्रहण करें।

स्थित्वा तत: प्रमुदितो गुरूवामपार्श्वे,
श्रुत्वा प्रतिक्रमणमीतियोगिवर्ग:।
योयं जिनोक्तविधिनाधिगतागमार्थ
श्चारित्रसंपदमुदंचति तां गुणालीम् ।। आ.सा. - 13।।

तदनन्तर जिनकथित विधि से आगम के अर्थ को जानने वाला वह नवीन साधु अत्यन्त हर्षित मन से गुरू के वाम पार्श्वभाग में बैठकर प्रतिक्रमण सुने तथा संघ के साधुओं को नमस्कार करके शास्त्र कथित चरित्र सम्पदा को स्वीकार करे।

दीक्षा विधि में सिद्ध भक्ति, चारित्र भक्ति, योगि भक्ति, शांति भक्ति एवं समाधि भक्ति का पाठ किया जाता है।

दीक्षा के योग्य नक्षत्र-

मुनिदीक्षा - भरणी, उत्तराफाल्गुनी, मघा, चित्रा, विशाखा, पूर्वाभाद्रपद, रेवती।

आर्यिका दीक्षा - अश्विनी, पूर्वाफाल्गुनी, हस्त, स्वाति, अनुराधा, मूल, उत्तराषाढ़ा, श्रवण, शतभिषा,

(शेष पृष्ठ नं. 420 पर)

(इस काल में भी धर्मध्यान होता है)

अज्जवसप्पिणि भरहे, धम्मज्झाणं पमादरहिदो त्ति।
होदि त्ति जिणुद्दिट्ठं, ण हु मण्णदि सो हु कुद्दिट्ठी।।56।।

*** अन्वयार्थ ***

(**अज्जवसप्पिणि**) वर्तमान अवसर्पिणी-काल में (**भरहे**) भरतक्षेत्र में (**धम्मज्झाणं**) धर्मध्यान (**पमादरहिदो त्ति**) प्रमादरहित (**होदि**) होता है (**त्ति**) यह (**जिणुद्दिट्ठं**) जिनेन्द्रदेव ने कहा है। जो ऐसा (**ण हु**) नहीं (**मण्णदि**) मानता है, (**सो**) वह (**हु**) निश्चय से (**कुद्दिट्ठी**) कुदृष्टि, मिथ्यादृष्टि है।

अर्थ–वर्तमान अवसर्पिणी काल में भरतक्षेत्र में प्रमादरहित धर्मध्यान होता है, यह जिनेन्द्रदेव ने कहा है। जो ऐसा नहीं मानता है, वह निश्चय से मिथ्यादृष्टि है।

गाथा - 56

(प्रवचन)

●

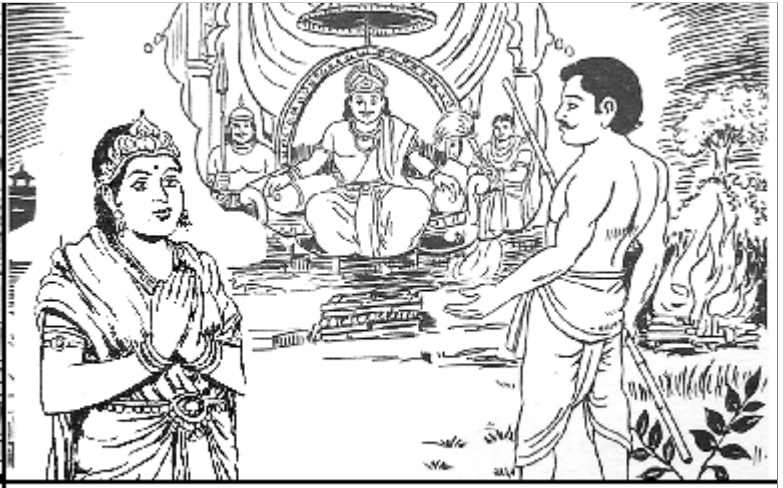
साधु एकलविहारी न हों

20.09.2011

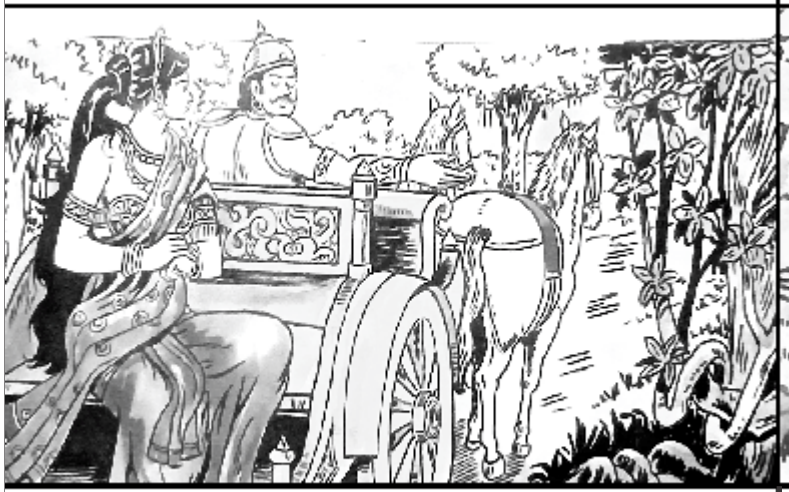
अशोकनगर (म.प्र.)



राजसिंहासन पर विराजित राम और सीता



धोबी द्वारा सीता का लोकापवाद



सेनापति कृतांतवक्र सीता को तीर्थवंदना
के बहाने वन में ले जाते हुये।



राम की आज्ञा से कृतांतवक्र सीता को
घनघोर जंगल में छोड़ते हुये।

67

रयणोदय

क्यों तू संयम खोता है, व्यर्थ अरे क्यों रोता है।
अवसर्पिणि पंचम युग में, धर्मध्यान तो होता है।।
जो न माने वो, हो-हो-2 मिथ्यात्व बढ़ाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2, संहिता दिखलाये रे।।

'**जयदु जिणागमपंथो**' अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

तीर्थंकर भगवंत की दिव्यध्वनि जिनश्रुत है, जिनागम है। जिनागम में वर्णित आत्म-कल्याणकारी मार्ग, आत्महितकारी पंथ '**जिनागम पंथ**' है। परस्पर रागद्वेष को बढ़ानेवाले आगमबाह्य पंथ उन्मार्ग हैं। वीतरागता को देनेवाला, '**परस्परोपग्रहो जीवानाम्**' का प्रतीक '**जिनागम पंथ**' सन्मार्ग है।

आचार्य भगवन् कुंदकुंददेव ने कहा—इस अवसर्पिणी काल में, भरत क्षेत्र में, पंचमकाल में सम्यग्दृष्टि साधु और श्रावक दुर्लभ हैं। दुर्लभ का अर्थ अति अल्प हैं लेकिन दुर्लभ का अर्थ यह कदापि नहीं है कि इस काल में सम्यग्दृष्टि साधु और श्रावक हैं ही नहीं। यदि दुर्लभ का अर्थ यह लिया कि इस भरतक्षेत्र के अवसर्पिणी काल के पंचमकाल में सम्यग्दृष्टि साधु होते

ही नहीं हैं तो आगम का अवर्णवाद करनेवाले माने जाओगे। इस पंचमकाल में सम्यग्दृष्टि साधु दुर्लभ हैं, इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि होते ही नहीं हैं। कुछ तथाकथित विद्वानों ने अपनी तुच्छ बुद्धि के बल से लेखनी चलाई और बिना विचारे ही कहीं ऐसा लिख दिया कि इसकाल में भावलिंगी साधु नहीं होते। ज्ञान के मद में शास्त्रों आगम की अप्राप्ति में वो विचार नहीं कर पाये कि आचार्य कुंदकुंददेव रयणसार जी में, अष्टपाहुड जी में क्या कह रहे हैं। बहुत से ज्ञान के मद में अंधे लोग बिना विचारे बोल देते हैं, बिना विचारे लिख देते हैं, मैं उनसे कहना चाहता हूँ ''बोलने और लिखने के पहले आगम अवश्य देखना चाहिये।''

पंडित सदासुखदास जी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार की भाषा टीका में लिख दिया कि इसकाल में भावलिंगी साधु नहीं हैं। अहो! ये लिखना कितना सरल है पर विचार करो इस छोटी सी पंक्ति ने आगम का कितना बड़ा अवर्णवाद कर दिया? कितने लोगों को विपरीत मार्ग में लगा दिया? आचार्य कुंदकुंददेव इसी पंचमकाल में हुए, आचार्य अमृतचन्द्रस्वामी इस पंचमकाल में ही हुए, आचार्य भगवन् जयसेनस्वामी इस पंचमकाल में ही हुए, आचार्य समन्तभद्र, अकलंक देव, पूज्यपाद, अमितगति, विद्यानंदि जैसे अनेक धुरंधर आचार्य इस पंचमकाल में ही हुए हैं। लिखना सरल है लेकिन लिखने के पहले आगम का अवलोकन कर लेना आवश्यक है। लिख तो कोई भी सकता है लेकिन आगमानुसार हो तो वह लेखन सम्यक् कहलाता है यदि आगम के विरुद्ध हो तो वही लेखन मिथ्यावचन कहलाता है। इसप्रकार के मिथ्यावचनों को पढ़कर, सुनकर अनेक बालबुद्धि जीव कहने लगे कि इस पंचमकाल में भावलिंगी साधु होते ही नहीं हैं। उन्होंने आचार्य कुंदकुंददेव के वचनों का विस्मरण कर दिया।

आचार्य श्री कुंदकुंदस्वामी ने मोक्षप्राभृत में लिखा है–

भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स।
तं अप्पसहावठिदे ण हु मण्णइ सो वि अण्णाणी।।76।।

अज्ज वि तिरयणसुद्धा अप्पा झाएवि लहहि इंदत्तं।
लोयंतिय देवत्तं तत्थ चुआ णिव्वुदिं जंति।।77।।

भरतक्षेत्र में दु:षम नामक पंचमकाल में मुनि के धर्मध्यान होता है तथा वह धर्मध्यान आत्मस्वभाव में स्थित साधु के होता है ऐसा जो नहीं मानता वह अज्ञानी है।।76।।

आज भी रत्नत्रय से शुद्धता को प्राप्त हुये मनुष्य आत्मा का ध्यानकर इन्द्रपद लौकान्तिक देवों के पद को प्राप्त होते हैं और वहाँ से च्युत होकर निर्वाण को प्राप्त होते हैं।।77।।

लौकांतिक देव का अर्थ है—एक भवावतारी ब्रह्मस्वर्ग के देव। इतने महान पुरुषार्थी जीव इसकाल में भी हो सकते हैं। ध्यान रखना, अगर कोई बिना विचारे, आगम का चिंतन किये बिना, ऐसा विपरीत कथन कर रहा हो तो सम्यग्दृष्टि जीव सबसे पहले आगम प्रमाण से देखता है कि बोलनेवाला जो बोल रहा है, बतानेवाला जो बता रहा है वह कथन आगम से प्रमाणित है, अथवा नहीं है।

वर्तमान में बहुत से ऐसे विद्वान् हैं जो अपना स्वतंत्र चिंतन आगम के नाम से परोस रहे हैं और जिन्हें अशुद्ध भोजन करने की आदत है वे बिना विचारे ही उसे शुद्ध भोजन मानकर स्वीकार कर लेते हैं। आचार्य भगवन् कहते हैं—प्रामाणिक वक्ता का कथन ही प्रमाणभूत होता है। जो वक्ता स्वयं अप्रमाणित हो उसका वचन प्रमाणभूत कैसे माना जा सकता है? इसलिए कदाचित् कोई आगम विरुद्ध कथन पढ़ने में आ जाये, तो विद्वान् कितना भी उच्चकोटि का और उत्कृष्ट क्यों न हो, उसे स्वीकार नहीं करना चाहिये, अपितु यह पूछना चाहिये कि आपने जो कथन किया है, उसका आगम प्रमाण क्या है? आप मुझे आगम का रिफ्रेंस (Reference) जरूर दें। जिससे मैं भी इस वचन को प्रमाणित मानकर स्वीकार कर सकूँ।

आचार्य भगवन् कुंदकुंददेव कह रहे हैं—वर्तमान में पापी जीव बहुत हैं, अज्ञानी जीव बहुत हैं। इनके पास इतनी फुर्सत ही नहीं है कि वो प्रमाण को देख सकें, प्रमाण माँग सकें। घर में बना बनाया भोजन मिल जाये, पढ़ने को लिखा-लिखाया विषय उपलब्ध हो जाये, और हमें कुछ न करना पड़े। पहले लोग घर में शुद्ध भोजन बनाकर करते थे और जितने भी अध्येता थे वे भी शास्त्रों का अनेकबार स्वाध्याय करने के बाद किसी निष्कर्ष पर पहुँचते थे। परन्तु आज स्थिति यह हो गई है कि स्वाध्याय कोई नहीं करना चाहता और किसी भी विषय पर निष्कर्ष देने के लिये हर कोई तुरंत तैयार है। अदालत में एक जज (Judge) भी वर्षों बाद फैसला दे पाता

है, लेकिन वर्तमान के तथाकथित सम्यग्दृष्टि तुरंत जजमेंट (Judgement) देने के लिये तैयार रहते हैं। अदालत में अगर कोई केस (Case) चल रहा हो तो फैसला लेने में तुम्हें पसीना आ जाता है, बरसों गुजर जाते हैं। और किसी भी जैन सिद्धान्त का फैसला देना हो, तो आज दस साल का बच्चा भी फैसला दे देगा, क्योंकि लेनेवाला भी इतना जल्दबाजी में है कि उसे देखने की फुर्सत ही नहीं है, कि क्या कहा जा रहा है, क्या बोला जा रहा है? यह आगमिक समाधान है अथवा नहीं है, इसका विचार ही नहीं किया जाता है।

ध्यान रखना, आचार्य भगवन् कुंदकुंददेव इसीलिए कह रहे हैं—इस भरतक्षेत्र के अवसर्पिणी काल के पंचमकाल में सम्यग्दृष्टि श्रावक और सम्यग्दृष्टि मुनि दुर्लभ हैं। दुर्लभ का तात्पर्य यह नहीं है कि इस पंचमकाल में सम्यग्दृष्टि श्रावक और साधु होते ही नहीं हैं।

जब ऐसी अवधारणायें और व्याख्यायें चल पड़ीं कि पंचमकाल में भावलिंगी साधु होते ही नहीं हैं। किसी ने पूछ लिया—क्या कहीं नहीं होते हैं? बोले—होते तो होंगे कहीं दूसरे क्षेत्र में होते होंगे। लेकिन हमने तो यही सुना है कि साधुजन तो भरतक्षेत्र के भारतदेश में ही होते हैं और कौन से क्षेत्रों में होंगे? क्या भरतक्षेत्र के म्लेच्छखंडों में होते होंगे? हो सकता है भाई पंचमकाल का प्रभाव पड़ गया हो, हुण्डावसर्पिणी काल का प्रभाव पड़ गया हो।

ध्यान रखना, मुनिराज आर्यखंड में ही होते हैं और आर्यखंड में भी भरतक्षेत्र के भारतदेश में ही होते हैं। लेकिन वर्तमान में जो श्रोता हैं वे तोता हैं। इन श्रोताओं का स्वयं का कोई विवेक नहीं है और विवेक न होने के कारण, शास्त्रीय प्रमाण न होने के कारण वे जो सुन लेते हैं उसी को स्वीकार कर लेते हैं। किसी रागी-द्वेषी वक्ता ने कह दिया कि अमुक विषय ऐसा होगा तो उसने भी मान लिया कि हाँ ऐसा ही होगा। लेकिन ध्यान रखो, कभी कोई उपदेश हो रहा हो और वह आपको समझ न पड़े, आपकी समझ में ना आ रहा हो तो तुरंत शास्त्रीय प्रमाण देखना चाहिये। वक्ता से पूछना चाहिये कि यह किस शास्त्र का प्रमाण है? कह देना, मैं तो यही जानता हूँ कि पंचमकाल में अंत-अंत तक इस भारतदेश में सच्चे भावलिंगी निर्ग्रंथ श्रमण विद्यमान रहेंगे, मैं ऐसा ही मानता हूँ।

अगर कोई तुमसे पूछे—आप शास्त्रीय प्रमाण बताइये? तो चिंता करने की कोई बात नहीं

है, कुंदकुंददेव ने अष्टपाहुड जी में और रयणसार जी में ये प्रमाण दिया है कि पंचमकाल में निर्ग्रंथ श्रमण धर्मध्यान करके लौकांतिक देव जैसी पर्याय को प्राप्त कर सकते हैं। लेकिन जो ऐसा कथन करते हैं कि इस पंचमकाल में भावलिंगी साधु नहीं होते हैं, तो उनसे अवश्य पूछना चाहिये कि इसका आगम प्रमाण क्या है, बतलाइये? आगम प्रमाण होना चाहिये, विद्वान् प्रमाण नहीं होना चाहिये। आगम प्रमाण होना चाहिये, पंडित प्रमाण नहीं होना चाहिये। पूर्वाचार्य भगवंतों ने कहीं पर ऐसा कहा हो तो बतलाइये। मैं ऐसा मानता हूँ कि आचार्य कुंदकुंददेव के इस कथन को कोई चुनौती देनेवाला नहीं हो सकता।

आचार्य भगवन् सोमदेव यशस्तिलक चम्पू में लिखते हैं–

कलौ काले चले चित्ते, देह चान्नादि कीटके।
एतच्चित्रं यदद्यापि जिनरूप धरा नरा।।

इस कलिकाल में चित्त चलायमान है। यह शरीर अन्न का कीड़ा बना हुआ है। तथापि आश्चर्य है कि आज भी जिनरूप धारण करनेवाले नरपुंगव विद्यमान हैं।

इस शरीर को कितना भी खिलाओ-पिलाओ, यह खाने पीने के लिये हमेशा तैयार रहता है। जब खिलाओ तब खाने के लिए तैयार रहता है। वर्तमान में जीवनशैली कुछ इसप्रकार की हो गई है कि दिन में तो खाने-पीने पर कोई कंट्रोल (Control) है ही नहीं, रात में भी निशाचर हो गये हैं क्योंकि यह शरीर अन्न का कीड़ा बना हुआ है। महाभारत में कहा–रात्रिभोजन प्रथम नरक का द्वार है। रात्रिभोजन को केवल जैनशास्त्रों में ही नरक का द्वार नहीं कहा है, महाभारत में भी यह प्रमाण है। मार्कण्डेय ऋषि तो यहाँ तक लिख देते हैं–जो रात्रि में भोजन करता है वह माँस खाने के बराबर है और जो रात्रि में पानी पीता है वह लहु पीने के बराबर है।

यह शरीर अन्न का कीड़ा बना हुआ है, जब खिलाओ तब खाता रहता है, जितना खिलाओ उतना खाता रहता है। अगर किसी का पेट भरा हो तो भी लौंग इलायची चबाता रहेगा। आदमी का मुख कभी शुद्ध नहीं रहता। आदमी का मुख झूठा और जूठा बना रहता है। भोजन से जूठा रहता है और झूठ बोलने से झूठा रहता है। इस पंचमकाल में भोजन करने के बाद भी, तृप्त होने के बाद भी कुछ न कुछ चबाता रहता है, खाता रहता है अन्न का कीड़ा बना हुआ है। यह

तो चैतन्य का चमत्कार ही है जो इस पंचमकाल में भी मनुष्य ने जिनरूप, जिनलिंग को धारण किया है। जिन महात्माओं ने जिनलिंग को धारण किया है, वो त्रिलोक पूज्य हैं।

आचार्य वट्टकेरस्वामी मूलाचार जी में कहते हैं–

सच्छंदगदागदीसयणणिसयणादाण भिक्खवोसरणे।
सच्छंदजंपरोचि य मा मे सत्तूवि एगागी।।150।।

अर्थात् गमन, आगमन, सोना, बैठना, किसी वस्तु को ग्रहण करना, आहार लेना और मलमूत्रादि विसर्जन करना इन कार्यों में जो स्वच्छंद प्रवृत्ति करनेवाला है और बोलने में भी स्वच्छंद रुचिवाला है, ऐसा मेरा शत्रु भी एकलविहारी न होवे।

इस पंचमकाल में अगर कोई मेरा शत्रु भी क्यों न हो तो भी वह एकलविहारी न रहे। यानि पंचमकाल में साधु होते हैं तभी तो उन्होंने ऐसा कहा है कि एकलविहारी न रहे।

आचार्य वट्टकेरस्वामी कहते हैं–अगर साधु एकलविहारी होता है तो सबसे पहले वह जिनेन्द्र भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन करता है, और जिसने जिनाज्ञा का उल्लंघन कर दिया हो क्या वह सम्यग्दृष्टि है? ध्यान रखना, जिनेन्द्र भगवान् की आज्ञा का ही जहाँ पालन नहीं किया गया वहाँ सम्यक्त्व कहाँ हो सकता है? इसलिए **आचार्य वट्टकेरस्वामी को मूलाचार जी में कहना पड़ा–मेरा शत्रु भी क्यों न हो तो भी वह एकलविहारी न रहे। एकलविहार में सबसे पहले जिनेन्द्र भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन, दूसरा गुरु आज्ञा का उल्लंघन नियम से होता है। कोई भी गुरु अपने शिष्य को ये आज्ञा नहीं दे सकता कि बेटा! तुम एकलविहारी रहना। क्योंकि गुरु ने भी तो आगम पढ़ रखा है, वे आगम विरुद्ध चर्या करने को कैसे कह सकते हैं?**

मूलाचार जी में आचार्य वट्टकेरस्वामी कहते हैं–

गुरुपरिवादो सुदवुच्छेदो तित्थस्स मइलणा जडदा।
भिंभल कुसील पासत्थदा य उस्सार कप्पम्हि।।151।।

स्वेच्छाचार की प्रवृत्ति में गुरु की निंदा, श्रुत का विच्छेद (विनाश), तीर्थ की मलिनता, मूढ़ता, आकुलता, कुशीलता और पार्श्वस्थता ये दोष आते हैं।

एकलविहार में गुरु का अपवाद होता है। लोग कहेंगे–किन गुरु के शिष्य हैं? अमुक गुरु के शिष्य हैं, अच्छा! तो क्या वे आगम को नहीं मानते। तीसरा दोष स्वच्छंद चर्या हो जायेगी। अपनी इच्छानुसार चलेंगे, प्रतिक्रमण जब करना सो कर लेंगे, सामायिक जब करना सो कर लेंगे, जब जो करना सो करना, स्वच्छंदता आ जायेगी। इसलिए आचार्य वट्टकेरस्वामी ने कहा–मेरा शत्रु भी क्यों न हो तो भी वह मेरी इतनी बात अवश्य माने कि इस पंचमकाल में एकलविहारी न रहे अन्यथा जिनधर्म की विराधना कराएगा।

क्या साधु एकलविहारी नहीं रह सकता? आचार्य कहते हैं–किसी परिस्थिति विशेष में कदाचित् साधु एकलविहारी हो सकता है। वो विशेष परिस्थिति क्या है? गुरु ने दो साधुओं का संघ बनाकर भेजा था और कदाचित् एक साधु की समाधि हो जाये, तो दूसरा साधु एकलविहारी अवश्य होगा। आचार्य कहते हैं–यदि वह एकलविहारी हो भी गया है, तो वह तुरंत अपने मूलसंघ की ओर विहार करे जिससे आगम की आज्ञा का पालन हो सके। ऐसी आज्ञा आचार्य भगवंतों ने पंचमकाल के निर्ग्रन्थों को दी है। पंचमकाल के निर्ग्रन्थों को अगर यह आज्ञा दी है तो यह बात प्रमाणित है कि पंचमकाल में भी सच्चे भावलिंगी श्रमण अवश्य होते हैं। अगर कोई विद्वान् इससे विपरीत कथन करे तो उसे मिथ्यावचन जानना चाहिये। कभी ऐसे वचनों को प्रमाणित मत मानना।

आचार्य भगवन् कुंदकुंददेव कहते हैं इसकाल में भी धर्मध्यान होता है।

अज्जवसप्पिणि भरहे, धम्मज्झाणं पमादरहिदो त्ति।
होदि त्ति जिणुद्दिट्ठं ण हु मण्णदि सो हु कुद्दिट्ठी।।56।।

(अज्जवसप्पिणि) इस अवसर्पिणी काल में **(भरहे)** भरतक्षेत्र में, **(धम्मज्झाणं)** धर्मध्यान होता है **(पमादरहिदो त्ति)** प्रमाद से रहित धर्मध्यान होता है।

अब विचार करना, प्रमादरहित कौन सा गुणस्थान होता है? प्रमादरहित सातवाँ गुणस्थान होता है। सच्चे भावलिंगी मुनिराज छठे-सातवें गुणस्थानवर्ती होते हैं। श्रावक पाँचवे गुणस्थान से ऊपर नहीं पाये जाते। ध्यान रखना, आचार्य कुंदकुंददेव के वचन को प्रमाण मानना। प्रमादरहित धर्मध्यान इस अवसर्पिणी काल के भरतक्षेत्र में होता है।

(होदि त्ति जिणुद्दिठं) ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है **(ण हु मण्णदि)** जो ऐसा नहीं मानता है **(सो हु कुद्दिट्ठी)** वह निश्चय से मिथ्यादृष्टि होता है।

शायद यह गाथा पं. सदासुखदास जी को नहीं मिल पाई होगी या रयणसार जी को पढ़ा नहीं होगा या फिर अपनी अवधारणा के अनुसार पढ़ा होगा, इसलिए स्वीकार न कर पाये होंगे।

ध्यान रखना, अवधारणा बनना सरल है, पर अवधारणा टूटना बहुत कठिन होता है। एक बार अगर किसी की कोई विपरीत अवधारणा बन जाये तो जीव आगम प्रमाण को देखने के बाद भी अपनी अवधारणा को तोड़ नहीं पाता। कारण सिर्फ इतना है कि उसका अहंकार आढ़े आता है। अहंकार के कारण वह अपना सर्वस्व विनाश कर सकता है लेकिन अहंकार का विनाश नहीं कर पाता। अहंकार को तोड़ने की सामर्थ्य आत्मा में पैदा हो जाती तो आगम प्रमाण को देखने के बाद जीव सत्य का अवर्णवाद नहीं कर पाता।

आचार्य भगवन् कुंदकुंददेव ने कहा–इस पंचमकाल में भी प्रमादरहित धर्मध्यान होता है और प्रमादरहित गुणस्थान सातवाँ कहा जाता है। आज भी छठवें-सातवें गुणस्थानवर्ती निर्ग्रन्थ योगिराज इस पंचमकाल में विद्यमान हैं। ऐसे सच्चे भावलिंगी मुनिराजों के लिये हम सभी का प्रणाम, नमस्कार, नमोस्तु, अर्पित है। जिन्हें धर्म की समझ है वे ही धर्मध्यान कर सकते हैं। जिन्हें धर्म की समझ ही नहीं है वे धर्मध्यान को उपलब्ध नहीं हो सकते।

आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहते हैं–

''सद्दृष्टिज्ञान वृत्तानि धर्मं धर्मेश्वराः विदुः''।।3।।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकता का नाम धर्म है। ऐसा धर्म निर्ग्रंथ मुनिराजों में ही पाया जाता है, वे ही रत्नत्रय के धारी होते हैं। ऐसे धर्म में मन को एकाग्र करना धर्मध्यान है। आचार्य भगवन् ने धर्मध्यान के चार भेद कहे–आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय।

चारप्रकार के धर्मध्यान में पहला आज्ञाविचय नाम का धर्मध्यान है। कोई कितना भी बड़ा विद्वान् हो जाये, कितना भी बड़ा शास्त्री हो जाये, शास्त्रज्ञ हो जाये, ज्ञानी हो जाये तो भी उसे

आज्ञाविचय धर्मध्यान का पालन तो करना ही पड़ेगा। एक सज्जन बोले–महाराज श्री! जब तक वस्तु को देख न लें तब तक उस पर विश्वास कैसे करें? मैंने कहा–तुमने प्रथम तीर्थंकर श्री आदिनाथ भगवान् को देखा ही होगा, क्योंकि जब तुम भगवान् श्री आदिनाथ जी को देख लोगे तभी विश्वास करोगे। तुमने नंदीश्वरद्वीप और सुमेरु पर्वत देखा ही होगा, क्योंकि जब तुम देख लोगे तभी विश्वास करोगे। जब तुम नरक जाकर देख लोगे तभी तुम्हें नरकों का विश्वास होगा, और जब तुम सिद्धालय में जाकर देख लोगे तब तुम्हें सिद्धालय का विश्वास होगा। जब तुम्हें सिद्धालय का विश्वास नहीं है तो सिद्धों का श्रद्धान् भी कैसे हो सकता है?

बहुत से लोग इसप्रकार के विपरीत तर्क खड़े करते हैं। सामान्य श्रावक समझ नहीं पाते, वे उनके तर्कों में उलझ जाते हैं और सोचने लगते हैं कि हाँ ये सही कह रहे हैं। एक सज्जन बोले–जब तक तुमने बॉम्बे (Bombay) देखा नहीं तब तक तुम्हें बॉम्बे (Bombay) का श्रद्धान् कैसे हो सकता है? सामान्य व्यक्ति ही कह सकता है, बात तो सही कह रहे हैं। लेकिन जिनेन्द्र भगवान् की आज्ञा का श्रद्धान् न हो तो संस्थानविचय नाम का धर्मध्यान तीनकाल में भी नहीं हो सकता। कैसे करेगा संस्थानविचय धर्मध्यान? क्योंकि लोक के संस्थान को इस जीव ने वर्तमान में तो देखा नहीं कि, ऐसा स्वर्ग होता है, ऐसा नरक होता है, स्वर्ग एवं नरक की व्यवस्था इसतरह से होती है। वर्तमान जो भी जानेगा, समझेगा वो जिनेन्द्र भगवान् की आज्ञा को स्वीकार करके ही जान पायेगा। कुछ भ्रमित लोग ऐसे भ्रमोत्पादक वचन बोल देते हैं कि जब तक देखोगे नहीं तब तक श्रद्धान् कैसे हो सकता है? भोले-भाले प्राणी उनके इन तर्कों में इसप्रकार उलझ जाते हैं जैसे मकड़ी के जाल में कोई जन्तु उलझ जाता है। वह जंतु उसी जाल में उलझा हुआ मर जाता है और मकड़ी भी उसी जाल में उलझी-उलझी मर जाती है। इसलिए मकड़जाल में कभी मत उलझना। जिनेन्द्र भगवान् की आज्ञा में जो आया है उसे स्वीकार करना। भगवान् जिनेन्द्रदेव ने कहा–नरक होता है, स्वर्ग होता है, रत्नत्रय से जीव अपना आत्महित करता है, अज्ञानता से जीव चौरासी लाख योनियों में भटकता रहता है, मिथ्यात्व के कारण आत्मा दुःखी होता है इत्यादि। जो भी जिनेन्द्र भगवान् की वाणी में आया है उसे आज्ञा मानकर स्वीकार कर लेना, आत्मा का हित होगा।

जिसे शास्त्रों के एक अक्षर का भी ज्ञान नहीं है लेकिन जिनेन्द्र भगवान् की आज्ञा से

द्वादशांग का श्रद्धान् करता है वह जीव सम्यग्दृष्टि है। वह द्वादशांग का श्रद्धानी जीव है। और कोई अंग का भी पाठी क्यों न हो जाये। अभव्य जीव ग्यारह अंगों का पाठी हो जाता है लेकिन जिनेन्द्र भगवान् की आज्ञा को स्वीकार नहीं कर पाता, ऐसा वह ग्यारह अंगों का पाठी भी मिथ्यादृष्टि है। जिसने एक अक्षर भी नहीं पढ़ पाया वह जिनेन्द्र भगवान् की आज्ञा मानने के कारण सम्यग्दृष्टि है। आचार्य भगवन् ने दस प्रकार के सम्यक्त्वों में प्रथम आज्ञासम्यक्त्व का स्वरूप इसप्रकार कहा है–

सूक्ष्मं जिनोदितं वाक्यं हेतुभिर्नैव हन्यते।
आज्ञा सम्यक्त्वमित्याहुर्नान्यथा वादिनो जिनाः।।

जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहा गया सूक्ष्मवाक्य हेतुओं द्वारा खण्डित नहीं होता, ऐसा श्रद्धान् करना आज्ञासम्यक्त्व है, क्योंकि जिनेन्द्र भगवान् अन्यथा कथन नहीं करते।

हमारे अंदर प्रथम आज्ञा सम्यक्त्व अवश्य होना चाहिये। सदैव यह चिंतन, विचार और भावना होनी चाहिये–''हे जिनेन्द्रदेव! मेरे द्वारा कभी आपकी आज्ञा का उल्लंघन न हो जाये।'' ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव धर्मात्मा है। क्योंकि वह आज्ञाविचय नाम के प्रथम धर्मध्यान का पालन करनेवाला है, आज्ञाविचय धर्मध्यान को धारण करनेवाला है।

एक बार हमसे किसी सज्जन ने कहा–महाराज श्री! जब तक हमने किसी वस्तु को देखा नहीं तब तक उसका श्रद्धान् कैसे हो सकता है? मैंने उनसे कहा–तुमने अपने दादाजी के दादाजी को देखा है? बोला–उनको तो नहीं देखा। तो फिर तुम्हारे दादाजी कहाँ से आये? तुम्हारे पिता जी कहाँ से आये? और तुम कहाँ से आये? इसप्रकार के कुतर्कों में कभी मत फँसना। जो जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है वो ही सत्य है इसप्रकार का आज्ञा सम्यक्त्व सबसे पहले अपने अंदर होना चाहिये।

जिसके आज्ञाविचय धर्मध्यान होता है वह निरंतर सोचता है कि संसार के दुःखी जीवों को किसतरह संसार से बाहर निकालूँ? कोई भी जीव संसार में दुःखी न रहें। उसके अंदर प्राणी मात्र के प्रति करुणा का निर्झर बहता है। अगर तुम वास्तव में सम्यग्दृष्टि होगे तो तुम्हारे अंदर सब जीवों के प्रति करुणाभाव अवश्य आयेगा। कोई भी जीव संसार में दुःखी न रहे, मैं कैसे इनके

दु:ख को दूर करूँ? ये भाव तुम्हारे अंदर अपने आप आने लग जायेंगे। दया, करुणा, प्रेम, मैत्री स्वयमेव तुम्हारी आत्मा में उत्पन्न हो जायेंगे।

ध्यान रखो, अनेक जीव आज्ञासम्यक्त्व को प्राप्त करके खोटी पर्यायों से बाहर निकल आते हैं।

मृगसेन धीवर मछली पकड़ने जा रहा था। रास्ते में उसे एक मुनिराज मिले। मुनिराज ने अहिंसाधर्म का उपदेश दिया। भव्यजीव मुनिराज का उपदेश सुनकर अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार नियम लेकर चले गये। वह धीवर सोच रहा था—मैंने कैसे निंद्यकुल में जन्म लिया है जिस कुल में मुझे सतत् हिंसा का कार्य करना पड़ता है, मेरा दुर्भाग्य है कि मैं कोई नियम नहीं ले सकता। मुनिराज ने देखा, सभी श्रद्धालु जा चुके हैं लेकिन एक श्रद्धालु अभी भी बैठा हुआ है। मुनिराज ने उसे अपने पास बुलाया और पूछा—क्या बात है? मृगसेन बोला—मैं जाति से धीवर हूँ, नित्य हिंसाकर्म में प्रवृत्त रहता हूँ। आज अहिंसा धर्म का उपदेश सुनकर आत्मनिंदा कर रहा हूँ। भगवन्! जिससे मेरा कल्याण हो ऐसा मार्ग बतायें। मुनिराज बोले—जाल में जो पहली मछली फँसे उसे अभयदान देने का नियम करो, तुम्हारा कल्याण होगा।

मृगसेन नियम लेकर तालाब पर पहुँचा। उसने जाल फैलाया तो मछली फँस गई। नियम का पालन करते हुये उसने उसे चिह्नित कर छोड़ दिया। फिर दूसरी जगह जाल फेंका, तीसरी जगह जाल फेंका, चौथी जगह जाल फेंका, पाचँवी जगह जाल फेंका, लेकिन जहाँ-जहाँ उसने जाल फेंका हर जगह वही मछली फँसी। पत्नी घर पर इंतजार कर रही है कि पति आयेगा तो कुछ खाने की व्यवस्था हो जायेगी। धीवर को सुबह से साँझ हो गयी लेकिन कोई मछली जाल में नहीं फँसी। उसने अपना जाल कंधे पर रखा और वापिस घर को लौट गया। जैसे ही घर पहुँचा। पत्नी ने देखा—महाशय, खाली जाल कंधे पर धरे चले आ रहे हैं। कैसा पति है? उसने अपना जाल नीचे रख दिया। जब पत्नी ने देखा कि जाल में कुछ भी नहीं है, तो बहुत बातें सुनायीं, बहुत अपशब्द बोले। पति बेचारा क्या कहता, उसने समझाया कि आज मैंने मुनिराज का प्रवचन सुना था, उन्होंने अहिंसा विषय पर बोला, तो मैंने भी एक नियम ले लिया। पत्नी कहाँ सुननेवाली थी, काए का नियम, काए का धर्म। खाने की व्यवस्था करो। क्या इसके लिये

शादी की थी, कि भूखा रखो? पत्नी ने इतने अपशब्द कहे, कि पति से सहन न हुए। उसने सोचा, मैं जब तक घर में रहूँगा तब तक इसका क्रोध बढ़ता ही रहेगा। वह शांतभाव से बाहर जाकर एक वृक्ष के नीचे लेट गया। दिनभर का भूखा था नींद लग गई। सुबह हुई तो उठने का अवसर ही नहीं मिला, सो गया तो सो गया।

सुबह पत्नी ने बाहर निकलकर देखा। सोचने लगी, रात को सर्दी बहुत थी, मैंने अपने पति को ऐसा दु:ख दिया। मुझे बिल्कुल भी दया नहीं आई। कम से कम रात को पति को अंदर ही बुला लेती। ऐसी सर्दी में पति बाहर लेटा रहा, उसने कुछ भी नहीं कहा। क्रोध शांत हो गया, बाहर निकलकर देखा, पति सोया हुआ था। उसका शरीर नीला पड़ चुका था। रात को किसी सर्प ने उसको डस लिया था। पति का मरण हो चुका था। पत्नी को अत्यंत दु:ख हुआ कि मेरी नादानी के कारण पति की मृत्यु हो गई। उसने मन ही मन संकल्प किया जो नियम पति का था वो ही नियम आज से मेरा है। इतना मात्र संकल्प करने से उसने भी अपने लिये महान पुण्य का संचय कर लिया।

आज्ञा सम्यक्त्व का पालन अवश्य होना चाहिये। जो आज्ञा सम्यक्त्व का पालन करता है वही अपायविचय धर्मध्यान को प्राप्त हो सकता है। संसार के सारे दु:खी जीवों को दु:खों से कैसे निकालूँ? ये संसारी जीव राग, द्वेष और मोह में पड़े हुए निरंतर कुगतियों में दु:ख भोगते रहते हैं। हे भगवन्! इनको सच्चे धर्म में कैसे स्थापित कर दूँ? ऐसी करुणा सम्यग्दृष्टियों के अंदर होती है जो सबका हित चाहता है अपायविचय धर्मध्यान के द्वारा आत्मा तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर लेता है।

आचार्य शिवार्य महाराज भगवती आराधना में कहते हैं–

कल्लाणपावगाणउपाये विचिणादि जिणमदमुवेच्च।
विचिणादि वा अवाए जीवाण सुभे य असुभे य।।1707।।

अर्थात् तीर्थंकर पद को देनेवाले दर्शनविशुद्धि आदि के उपाय, नि:शंकित आदि का विचार जिनभगवान् के द्वारा कथित उपदेश के अनुसार करता है। अथवा जीवों के शुभ और अशुभ कर्म विषयक अपायों का विचार करता है। इसका अभिप्राय यह है कि जीव शुभ और

अशुभ से कैसे छूटे इसप्रकार का सतत् चिंतन अपाय विचय है। अपायविचय यानि प्राणिमात्र के प्रति उनकी करुणा है।

जो कुछ भी सुख-दु:ख की प्राप्ति होती है सब हमारे ही पूर्वकृत कर्मों का फल है। कोई दूसरा मुझे दु:ख नहीं देता, दूसरा तो निमित्तमात्र होता है। हमारा कर्म ही उदय में आया है इसप्रकार का चिंतन करना विपाकविचय धर्मध्यान है।

आचार्यश्री शिवार्य महाराज ने भगवती आराधना में विपाकविचय धर्मध्यान को इसप्रकार कहा है –

एयाणेय भवगदं जीवाणं पुण्णपावकम्म फलं।
उदओदीरण संकमबंधे मोक्खं च विचिणादि।।1708।।

अर्थात् जीवों के एकभव या अनेक भव संबंधी पुण्यकर्म और पापकर्म के फल का तथा उदय, उदीरणा, संक्रम, बंध और मोक्ष का विचार करता है।

बहुत से लोगों को जैनकुल में जन्म लेने के बाद भी विपाकविचय धर्मध्यान नहीं हो पाता। यानि कर्म प्रकृतियों का श्रद्धान् नहीं है। जो कुछ भी सुख-दु:ख मुझे प्राप्त होता है वह मेरे किये हुए कर्मों का फल है, जिसे इसप्रकार कर्मसिद्धान्त का श्रद्धान् नहीं है वह जैनी कैसे हो सकता है? कर्मसिद्धान्त की विशेष प्ररूपणा एकमात्र जैनसिद्धांत में ही है।

दूसरा मुझे सुख-दु:ख देता है, ये अज्ञजनों का कथन है। सीता से पूछो, क्या राम ने जंगल भेजा? क्या धोबी ने जंगल भेजा? सीता कहती है–इसमें न राम का दोष है, न धोबी का दोष है, ये मेरे ही पूर्व में किए हुए कर्मों का फल है। यथार्थ बात यही है, अगर सीता पूर्व पर्याय में निर्ग्रंथ मुनिराज को दोष न लगाती तो आज सीता को दोष न लगता।

वेदवती की पर्याय में सीता ने एक मुनि-आर्यिका का अवर्णवाद किया था। निर्ग्रंथ मुनिराज उपवन में विराजमान थे, एक आर्यिका संघ वंदनार्थ वहाँ आया। मुनिवर की वंदना कर सभी आर्यिकायें, स्व गन्तव्य की ओर प्रस्थान कर गईं, उनमें से एक आर्यिका मुनिराज के पास कुछ तत्त्वचर्चा हेतु वहाँ रुक गईं, वो उनकी गृहस्थ अवस्था की बहन थीं। आर्यिका माताजी

कुछ विषय पूछने लगीं, उसीसमय वेदवती वहाँ से गुजरी और उसने उन मुनि-आर्यिका का अपवाद कर दिया। वेदवती की पर्याय में सीता ने जो कर्म बाँधा था उसी कर्म का फल आज भोगना पड़ा। राम की पत्नी भले ही हो लेकिन कर्म के फल तो जीव को स्वयं ही भोगना पड़ते हैं, कोई किसी के फल में सहयोगी नहीं होता। राम कहते हैं—भो सीते! चली जाओ। अहो! सीता आने के लिये तैयार है और राम कहते हैं—क्या तुझे लज्जा नहीं आती यहाँ आते हुये। ऐसे शब्द राम ने क्यों बोले? यद्यपि राम हृदय से सच्चे हैं, राम हृदय से जानते हैं कि सीता शुद्ध है लेकिन राजधर्म के कारण उन्हें भी ऐसे हृदयविदारक शब्द बोलना पड़े। सीता भी ये जानती है कि इसमें न राम का दोष है, न इसमें धोबी का दोष है और न इसमें कृतांतवक्र का दोष है, जो राम की आज्ञा से मुझे जंगल में छोड़ने के लिए आया है। मैंने पूर्व में जो कर्म किये हैं ये उनका ही फल है।

ऐसा श्रद्धान् कौन करता है? विपाकविचय धर्मध्यान का अनुभव करनेवाला, कर्म सिद्धान्त की श्रद्धा करनेवाला सम्यग्दृष्टि जीव ही ऐसा विचार करता है। अज्ञानी की दृष्टि बहिरंग निमित्त पर होती है, अपने अंतरंग कर्मोदय पर दृष्टि नहीं होती। वह सारा दोष दूसरों को देता है, अपने कर्म को दोष नहीं देता। जीव यह विचार नहीं कर पाता कि इसमें मेरा किया हुआ कर्म ही कारण है। विपाकविचय धर्मध्यान का अनुभव करनेवाला अपने कर्म को समझता है और समता धारण कर लेता है। जब तक यह कर्म उदय में है तब तक यह फल प्राप्त होता रहेगा। हम बाहर के कितने भी उपाय करलें एक भी काम आनेवाले नहीं हैं क्योंकि अंतरंग कर्मोदय है। इसलिए वह विपाकविचय धर्मध्यान को ध्यानेवाला होता है।

लोक के संस्थान का चिंतन करनेवाला संस्थानविचय धर्मध्यान है। लोक में रहनेवाले जीवादिकों के संस्थान का एवं लोकसंस्थान का चिंतन करनेवाला संस्थानविचय धर्मध्यान होता है।

आचार्य भगवन् शिवार्य महाराज ने भगवती आराधना में कहा है—

अह तिरियउड्ढलोए विचिणादि सपज्जए ससंठाणे।
एत्थेव अणुगदाओ अणुपेहाओ वि विचिणादि।।1709।।

पर्याय अर्थात् भेद सहित तथा वेत्रासन, झल्लरी और मृदंग के समान आकार सहित ऊर्ध्व

लोक, मध्यलोक तथा अधोलोक का चिंतन करना संस्थानविचय धर्मध्यान है। इसी संस्थान विचय में अनुप्रेक्षाओं का भी विचार करता है अर्थात् धर्मध्यान में संसार के अनित्यत्वादि स्वभाव का चिंतन करता है।

इसप्रकार आचार्य भगवन् कुंदकुंददेव ने कहा—आज भी इस पंचमकाल में अवसर्पिणी काल में, भरतक्षेत्र में प्रमादरहित धर्मध्यान के करनेवाले ऐसे भावलिंगी संत पाये जाते हैं, जो ऐसा नहीं मानता है वह मिथ्यादृष्टि है।

चाहे वह विद्वान् हो, पंडित हो, शास्त्रज्ञ हो, चाहे कितना भी बड़ा धर्मात्मा क्यों न हो। जिसे जिनाज्ञा ही स्वीकार नहीं है उसे अन्य आज्ञा कैसे स्वीकार हो सकती है? हम सभी भगवान् जिनेन्द्र की यह उत्तम देशना सुनकर जिनाज्ञा का पालन करते हुए दृढ़ श्रद्धान् करें। हे भगवन्! आपने जो कहा है वह सत्य कहा है, न अन्य है न अन्यथा, ऐसी सच्ची श्रद्धा हम सबकी आत्मा में प्रगट हो और हम भी अपनी शक्ति के अनुसार इस पंचमकाल में धर्मध्यान को प्राप्त होकर अपना कल्याणमार्ग प्रशस्त कर सकें। इसी भावना के साथ...

क्यों तू संयम खोता है, व्यर्थ अरे क्यों रोता है।
अवसर्पिणि पंचमयुग में, धर्मध्यान तो होता है।।
जो न माने वो, हो-हो-2, मिथ्यात्व बढ़ाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2, संहिता दिखलाये रे।।

अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

❑❑❑

(पृष्ठ नं. 402 का शेष)

उत्तराभाद्रपद।

क्षुल्लकदीक्षा–पूर्वाभाद्रपद, मूल, घनिष्ठा, विशाखा, श्रवण।

दीक्षाविधि में शुभवार, योग, लग्न आदि का विचार भी करना चाहिए।

दीक्षा के आयोग्य काल–

ग्रहोपरागग्रहणे परिवेषेन्द्रचापयो:।
वक्रग्रहोदये मेघपटलस्थगितेऽम्बरे।।159 – म.पु. 39।।

नष्टाधिमासदिनयो: संक्रान्तौ हानिमत्तिथौ।
दीक्षाविधि मुमुक्षूणां नेच्छन्ति कृतबुद्धय:।।160 – म.पु. 39।।

जिस दिन ग्रहों का उपराग हो, ग्रहण लगा हो, सूर्य–चन्द्रमा पर परिवेष (मण्डल) हो, इन्द्रधनुष उठा हो, दुष्ट ग्रहों का उदय हो, आकाश मेघ पटल से ढका हुआ हो, नष्ट मास अथवा अधिक मास का दिन हो, संक्रान्ति हो, अथवा क्षयतिथि का दिन हो, उस दिन बुद्धिमान आचार्य मोक्ष की इच्छा करने वाले भव्यों के लिए दीक्षा की विधि नहीं करना चाहते अर्थात् उस दिन किसी शिष्य को नवीन दीक्षा नहीं देते हैं।

दीक्षा ग्रहण में मासफल विचार–

दीक्षा स्वीकारणं चैत्रे बहु दु:खफलप्रदम्।
बैशाखे रत्नलाभश्च ज्येष्ठे च मरणं ध्रुवम्।।
आषाढ़े बन्धुनाश: स्याच्छ्रावणे तु शुभावह:।
प्रजाहानिर्भाद्रपदे सर्वत्र सुख माश्विने।।
कार्तिक धनवृद्धि: स्यान्मार्गशीर्षे शुभप्रदम्।
पौषे तज्ज्ञानहानि: स्यान्माघे मेधाविवर्द्धनम्।।
फाल्गुने सुखसौभाग्यं सर्वत्र परिकीर्तितम्।
दीक्षाकर्मफलं मासेष्वित्येवं च शुभाशुभम्।।

* चैत्र में दीक्षा स्वीकार करना बहुत दुखरूप फल को देने वाला
* वैशाख में रत्नलाभ
* ज्येष्ठ में मरण
* आषाढ़ में बन्धुनाश
* श्रावण में शुभदायक
* भाद्रपद में प्रजाहानि
* आश्विन में सर्वत्र सुख
* कार्तिक में धनवृद्धि
* मार्गशीर्ष में शुभदायक
* पौष में ज्ञानहानि
* माघ में बुद्धि वृद्धि
* फाल्गुन में सर्वत्र सुख सौभाग्य की प्राप्ति होती है। इस प्रकार मासों में दीक्षा लेने का शुभाशुभ फल कहा है।

पंचमकाल में भी दीक्षा संभव

तरुणस्य वृषस्योच्चै: नदतो विह्यतीक्षणात्।
तारुण्य एवं श्रामण्ये स्थास्यन्ति न दशान्तरे।।75 म.पु. 41।।

ऊँचे स्वर से शब्द करते हुए तरुण बैल का विहार देखने से पंचमकाल में लोग तरुण अवस्था में ही मुनिपद में ठहर सकेंगे

(शेष पृष्ठ नं. 452 पर)

(अशुभ और शुभ भावों का फल)

असुहादो णिरयाऊ, सुहभावादो दु सग्गसुहमाओ।
दुह-सुहभावं जाणदु, जं ते रुच्चेद तं कुज्जा।।57।।

*** अन्वयार्थ ***

(**असुहादो**) अशुभ भावों से (**णिरयाऊ**) नरक आयु (**दु**) और (**सुहभावादो**) शुभ भावों से (**सग्गसुहमाओ**) स्वर्ग-सुख और स्वर्ग आयु मिलती है अत: (**दुहसुहभावं**) दु:ख-सुख भावों को (**जाणदु**) जानो और इनमें (**ते**) तुम्हें (**जं**) जो (**रुच्चेद**) अच्छा लगे, (**तं**) उसे (**कुज्जा**) करो।

अर्थ—अशुभ भावों से नरकायु और शुभ भावों से स्वर्ग-सुख और स्वर्गायु मिलती है, अत: दु:ख-सुख भावों को जानो और तुम्हें जो अच्छा लगे, उसे करो।

गाथा - 57

(प्रवचन)

●

भावों से उत्थान-पतन

22.09.2011

अशोकनगर (म.प्र.)



भगवान् नेमिनाथ की बारात।



पशुओं को बंधनमुक्त करने का आदेश।



प्रभु नेमिनाथ की मूक पशुओं पर करुण दृष्टि



जागा वैराग्य और गिरनार की उत्तुंग चोटी
पर जाकर धारण कर लिये महामुनि के व्रत।

68

रयणोदय

अशुभभाव जो करता है, नरकायु को धरता है।
जो करता शुभभाव अरे, सहज सुखों को वरता है।।
जैसा जो चाहे, हो - हो - 2, वह भाव बनाये रे.....
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2, संहिता दिखलाये रे।।

'**जयदु जिणागमपंथो**' अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

तीर्थंकर भगवंत की दिव्यध्वनि जिनश्रुत है, जिनागम है। जिनागम में वर्णित आत्म-कल्याणकारी मार्ग, आत्महितकारी पंथ '**जिनागम पंथ**' है। परस्पर रागद्वेष को बढ़ानेवाले आगमबाह्य पंथ उन्मार्ग हैं। वीतरागता को देनेवाला, '**परस्परोपग्रहो जीवानाम्**' का प्रतीक '**जिनागम पंथ**' सन्मार्ग है।

जीव का उत्थान भावों से और पतन भी भावों से है। सुख प्राप्ति भी भावों से और दु:ख प्राप्ति भी भावों से है। संसार में जितने भी पदार्थ हैं, जितने भी द्रव्य हैं उन द्रव्यों में जीव ही एक मात्र ऐसा है जो नानाप्रकार के भाव कर सकता है। जो जीव जैसे भाव करता है वैसे ही भावों का फल उसे भोगना पड़ता है। भाव स्वयं पर आधारित हैं। भाव स्वयं की सम्पदा भी है

और विपन्नता भी है। यदि आप अपने को श्रेष्ठ बनाना चाहते हैं तो अपने भावों को श्रेष्ठ बनाइये। जगत के सभी प्राणी एकमात्र भावों से चारों गतियों को और भावों से ही पंचमगति को उपलब्ध होते हैं। यहाँ जो कुछ भी है सब भावों के कारण है। संसार भी भावों से है और मोक्ष भी भावों से है। जगत के जितने भी पदार्थ हैं वे मात्र निमित्त हैं वास्तव में उत्थान और पतन के कारण तो व्यक्ति के निजभाव होते हैं।

रावण नरक गया। रावण को नरक ले जाने में कारण कौन बना? रावण की हजारों स्त्रियाँ उसके नरक जाने में कारण नहीं हैं, एक सीता नरक जाने में कारण है। वस्तुतः देखा जाये तो सीता भी नरक जाने में कारण नहीं है, सीता के प्रति रावण के जो भाव हैं, वे भाव ही उसके नरक आयु के कारण हैं। अगर स्त्री नरक जाने में कारण होती तो चक्रवर्ती भरत के छियानवें हजार स्त्रियाँ थीं, भरत को नरक जाना चाहिये था। लेकिन वे छियानवें हजार स्त्रियाँ भी भरत के लिये नरक का कारण नहीं हो सकीं और रावण के लिये एक स्त्री नरक का कारण हो गई। कारण क्या है। चक्रवर्ती भरत की छियानवें हजार स्त्रियाँ हैं उनके प्रति चक्रवर्ती भरत का भाव और सीता के प्रति रावण का भाव अलग-अलग है। इस जगत में जो कुछ भी होता है सब भावों के कारण होता है। जिन्हें यह भावों का खेल समझ में आ जाता है वे यह जान जाते हैं कि जो कुछ भी है सब हमारे द्वारा ही रचा जा रहा है, हमारे द्वारा ही किया जा रहा है, इसका कर्ता कोई दूसरा नहीं है।

आचार्य भगवन् कुन्दकुन्ददेव समझा रहे हैं—इस संसार में रहनेवाले संसारी प्राणी कोई न कोई भाव अवश्य करते हैं। ऐसा नहीं हो सकता कि हम भाव करना बंद कर दें। प्रत्येक जीवात्मा के लिये कोई न कोई भाव तो अवश्य करना होता है, चाहे वह अच्छेभाव करे या बुरेभाव, शुभभाव करे या अशुभभाव, चाहे वह शुद्धभाव करे। जीवात्मा कोई न कोई भाव अवश्य करेगा और वह जैसा भाव करेगा वैसा ही वह फल प्राप्त करेगा।

मैं आपको सही रास्ता दिखा सकता हूँ, सत्यमार्ग का कथन कर सकता हूँ लेकिन आपके भावों में परिणमन नहीं करा सकता। अपने-अपने भावों का परिणमन अपने-अपने पुरुषार्थ पर आधारित है। स्वभाव परिणमन स्व पुरुषार्थ के आश्रित है। यदि कोई दूसरा किसी दूसरे के

परिणामों को बदलने में समर्थ होता तो मन्दोदरी रावण के परिणामों को अवश्य बदल देती। यदि कोई दूसरा किसी दूसरे के परिणामों के बदलने में समर्थ होता तो रावण सीता के परिणामों को अवश्य बदल देता। लेकिन सत्य यही है कि कोई किसी के परिणामों को बदलने में समर्थ नहीं है, जब तक वह अपने परिणाम स्वयं न बदलना चाहे।

हमें जब भाव करना ही है तो कौन से भाव करें? सिर्फ इतना निर्णय करना है। हम बाह्य पदार्थ को दोष देते हैं कि अमुक पदार्थ ने मेरे परिणाम खराब किये हैं, पदार्थ ने परिणाम खराब नहीं कराये हैं, आपने उस पदार्थ का आश्रय करके स्वयं अपने परिणाम खराब कर लिये हैं। गलती पदार्थ की नहीं है, गलती आपकी अपनी है। अपनी भूल को पहिचानो।

असुहादो णिरयाऊ, सुहभावादो दु सग्गसुहमाओ।।
दुह-सुहभावं जाणदु, जं ते रुच्चेद तं कुज्जा।।57।।

आचार्य भगवन् कहते हैं **(असुहादो)** यदि भाव अशुभ हैं तो **(णिरयाऊ)** नरक आयु का बन्ध करानेवाले हैं अर्थात् अशुभभावों से नरक आयु का बंध होता है **(दु)** और **(सुहभावादो)** यदि शुभभाव हैं तो **(सग्गसुहमाओ)** स्वर्ग सुख और स्वर्ग आयु की प्राप्ति होती है। **(दुह सुहभावं जाणदु)** अशुभभावों को दु:ख का और शुभभावों को सुख का कारण जानो तथा **(जं ते रुच्चेद तं कुज्जा)** फिर जैसा तुम्हें रुचे वैसा करो।

मैं तुम्हें राह दिखा सकता हूँ फिर जैसा तुम्हें रुचे, जैसा अच्छा लगे वैसा करो। अगर नरक में जाना अच्छा लगता है तो नरक जाओ, स्वर्ग जाना अच्छा लगता है तो स्वर्ग जाओ और मोक्ष जाना अच्छा लगता है तो मोक्ष जाओ। यह संसारी जीव यदि स्वयं अपने हित का विचार न करे तो इसमें भूल उसी की है किसी दूसरे की नहीं। कोई भी पदार्थ हमें शुभभाव या अशुभभाव करने के लिये प्रेरित नहीं करते, हम ही उनके निमित्त से अपने भाव शुभ या अशुभ बनाते रहते हैं।

तीर्थंकर श्री ऋषभदेव के समोशरण में तीर्थंकर का पोता मारीचि बैठा हुआ था। यद्यपि तीर्थंकर का पोता नहीं होता, लेकिन पूर्व पर्याय का पोता था। अब यहाँ विचार यह करना है कि जब तीर्थंकर की प्रतिमा भी सम्यक्त्व प्राप्ति का कारण है तो फिर साक्षात् तीर्थंकर का दर्शन क्या आत्महित का कारण नहीं होगा? अवश्य होगा। लेकिन प्रतिमा और तीर्थंकर का दर्शन

उन्हीं के लिये आत्महित में कारण है जो अपने भावों को निर्मल करना जानते हैं। मारीचि उन भगवान् श्री आदिनाथ स्वामी के समोशरण में बैठा है जिनका समोशरण पाकर अनेक भव्यजीव मोक्षमार्गी हो गये। जिन आदिप्रभु की दिव्यध्वनि सुनकर असंख्यात जीवों ने अपना आत्महित किया, उन्हीं भगवान् श्री आदिनाथ स्वामी के वचनों को सुन करके मारीचि का जीव अशुभभाव को प्राप्त हो गया। क्या तीर्थंकर उसके अशुभभाव में कारण थे? क्या तीर्थंकर ने उसके अशुभभाव करवाये थे? नहीं, प्रभु ने तो उत्तम मार्ग ही दिखाया था, प्रभु ने तो उत्तम बात ही कही थी, लेकिन वह जीव स्वयं अपने अशुभ परिणामों से प्रेरित होकर भगवान् के समोशरण से बाहर चला गया।

ध्यान रखना, अपनी अच्छी या बुरी होनहार सब अपने ही हाथ में है। होनहार के भरोसे मत बैठे रहना। आप तो अच्छे परिणाम करो, अच्छे भाव बनाओ, तो आपकी होनहार अच्छी है अच्छी होगी। आज का शुभ परिणाम इस बात की सूचना दे रहा है कि आपकी होनहार इससमय अच्छी है और जिससमय आपके अशुभ परिणाम हो रहे हैं वे इस बात की सूचना दे रहे हैं कि इससमय आपकी होनहार बुरी है। कोई अपने परिणामों को सँभालकर आत्मा का हित कर लेता है और कोई अपने परिणामों को बिगाड़कर आत्मा का अहित कर लेता है। संसार में जो कुछ भी हमारे साथ अच्छा या बुरा घटित हो रहा है, सब अपने भावों से हो रहा है।

लोग कहते हैं—अमुक व्यक्ति ने मुझे क्रोध दिला दिया। अरे भाई! अगर कोई व्यक्ति दूसरे को क्रोध दिलाने में समर्थ होता तो प्रभु पार्श्वनाथ को क्रोध अवश्य आ जाता। अगर कोई दूसरे को क्रोध दिलाने में समर्थ होता तो पाण्डव मुनिराजों को क्रोध अवश्य आ जाता।

ध्यान रखना, क्रोधरूप परिणमन में भी जीव के भाव ही कारण हैं और क्षमारूप परिणमन में भी जीव के भाव ही कारण हैं। पदार्थ तो निमित्त मात्र हैं, अंतरंग कारण तो जीव के ही भाव हैं। ज्ञानी जीव अपने भावों की सँभाल करते हैं, अज्ञानी जीव निमित्तों को दोष देते रहते हैं। अज्ञानीजन सिर्फ दूसरों को दोष देना जानते हैं अपने परिणामों को सँभालने की कला नहीं जानते। भगवान् महावीर स्वामी कहते हैं—आप अपने भावों को सँभाल लो, मुक्ति स्वयमेव मिल जायेगी, यही मोक्षमार्ग है। **परिणामों की सँभाल ही मोक्षमार्ग है और परिणामों का बिगाड़ना ही संसारमार्ग है। मोक्ष भी आपके हाथ में है और संसार भी आपके हाथ में है।**

दोनों चाबियाँ आपके पास हैं, जिस चाबी से जो ताला खोलना चाहो, खोल सकते हो। यदि मोक्षद्वार में प्रवेश करना चाहते हो, तो अपने शुद्धभावों का आश्रय करो। यह वो चाबी है जिससे मोक्ष का द्वार खुल सकता है। स्वर्ग का द्वार खोलना चाहते हो तो शुभभावों की चाबी लगा लो, स्वर्गद्वार का ताला खुल जायेगा और अगर संसारमार्ग खोलना चाहते हो तो अशुभभावों को चलने दो संसार का मार्ग बना रहेगा।

अपने परिणामों की सँभाल करना सीखें। जीव शुभभाव और शुद्धभाव बड़े यत्न से, पुरुषार्थ एवं परिश्रम से बना पाता है। शुभभाव बनाना कोई छोटी-मोटी बात नहीं है। कोई आपको गाली दे और आप उसे क्षमा कर दें, यह परिणति आत्मा में उत्पन्न होना बड़े पुरुषार्थ का फल है। कोई आपका बिगाड़ कर दे और आप अपने परिणामों को सँभाल लें यह बहुत बड़ी बात है। शुभभाव करना भी कोई छोटा काम नहीं है। जीव निरन्तर अशुभभावों को प्राप्त होते रहते हैं, निरन्तर अशुभभाव करते रहते हैं। अशुभभावों के कारण नरकों की यात्रा करना पड़ती है। कुछ तो ऐसे वज्र कषायी जीव होते हैं, उन्हें कोई समझाये—भाई ! अशुभभाव मत किया करो, ये दुर्गति के कारण हैं। तो कहने लगते हैं—हम नरक चले जायेंगे और क्या होगा? इस जीव की कषायें कितनी तीव्र हैं। शुभ परिणाम कर पाना बहुत कठिन है। **मन्दिर में बैठ जाने मात्र से शुभ परिणाम नहीं हो जाते अपितु जहाँ शुभ परिणाम होते हैं वहीं मन्दिर हो जाता है।**

पाना नहीं जीवन को बदलना है साधना।
धुँये सा जीवन मौत है जलना है साधना।।
पाना नहीं जीवन को बदलना है साधना।
मन्दिर में हम बहुत गये पर मन यह मन्दिर नहीं बना।
व्यर्थ जिनालय में जाना गर मन शिव सुन्दर नहीं बना।
पर की पीड़ा में मोम सा पिघलना है साधना।
पाना नहीं जीवन को बदलना है साधना।।

जीवन को पाना कोई बड़ी बात नहीं है, जीवन में अपने परिणामों को सँभाल पाना बहुत बड़ी बात है। जीवन तो सभी को उपलब्ध है। जीवन कोई भी हो, चाहे निगोदिया का जीवन

हो, चाहे चींटी का जीवन हो, जीवन तो मिलता ही है। आपके अन्दर वह पुरुषार्थ जाग जाये कि आप आज मनुष्य हो कल आप परमात्मा हो जाओ, इसका नाम साधना है। आज आप मनुष्य हो और कल नारकी हो जाओ, ये भी एक बदलाव है, लेकिन यह कोई साधना नहीं है, ये मात्र बहाव के साथ बहना है। जिसप्रकार नदी के प्रवाह में वृक्षों के सूखे पत्ते बहते चले जाते हैं, ठिकाने लग जाएँ तो लग जाएँ, उसीप्रकार कर्मों के प्रवाह में जितने भी संसारी जीव हैं सब बहते चले जाते हैं, चारों गतियों में कर्मवशात् जहाँ पहुँच जाएँ सो पहुँच जाते हैं। कर्मप्रवाह के विपरीत दिशा में बहने की सामर्थ्य पैदा करने का नाम है साधना। कर्मप्रवाह तुम्हें बहाकर लिए जा रहा है, इस प्रवाह के विपरीत तैरने की सामर्थ्य पैदा कर लेना साधना है। **अशुभभावों का प्रवाह अनादि से है, आप अपने पुरुषार्थ से अगर शुभभाव बना लेते हो, तो वह व्यवहार साधना कहलाती है। यदि ज्ञानी गुरु का सान्निध्य मिल जाए, भगवान् आत्मा की खबर हो जाए और भगवान् आत्मा की प्राप्ति के लिए शुद्धभाव का पुरुषार्थ हो जाए तो समझ लेना निश्चय साधना हमारे हाथ आ गई है।**

जब तक जीव के परिणाम शुभ नहीं होते तब तक भगवान् आत्मा की खबर नहीं मिलती। क्योंकि जिस व्यक्ति का मन व्यसनों में लग रहा हो उस व्यक्ति का मन भगवान् आत्मा की खोज में नहीं लग सकता। **जिसका मन परमात्मा में लग रहा हो उसका मन भगवान् आत्मा को खोजने में कभी भी लग सकता है। जब वह भगवान् की आराधना कर रहा है, भगवान् के गुणों का गान कर रहा है उस समय उसको उन्हीं गुणों की श्रद्धा अपनी आत्मा में हो जाए तो क्षणमात्र में भगवान् आत्मा मिल जाता है।** परमात्मा की आराधना शुभभाव है। शुभभाव में स्थित व्यक्ति क्षणमात्र में शुद्धभाव को प्राप्त करने की सामर्थ्य रखता है, लेकिन जो अशुभभाव में लगा है उसे शुद्ध भगवान् आत्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती। **जिसे शुभ भगवान् आत्मा की श्रद्धा नहीं है उसे शुद्ध भगवान् आत्मा कहाँ से मिल सकता है?** अशुभभाव करके जीव अनेक बार नरक यात्रा करके आया है, लेकिन शुभभाव के माध्यम से शुद्धभाव की प्राप्ति हो ऐसा पुरुषार्थ नहीं किया। शुभभाव को प्राप्त करना भी सरल पुरुषार्थ नहीं है, ये भी महान कठिन पुरुषार्थ है। जीव ने शुभभाव भी किये, शुभभाव के योग्य कठिन पुरुषार्थ भी किया। शुभभाव को प्राप्तकर शुद्ध की प्राप्ति का पुरुषार्थ अति दुर्लभ है। जब शुभ

से ही शुद्ध की प्राप्ति प्रबल पुरुषार्थजन्य है तो फिर जिस अज्ञानी के अशुभभाव चल रहे हों उसे कोई कहे—भैया! सुबह उठकर आपको जिनालय जाना चाहिये। क्या ये वचन उसे अच्छे लगेंगे? ध्यान रखो, जिसके भाव शुभ होंगे उसे ये वचन प्रिय लगेंगे। जिसके भाव अशुभ होंगे वह कहेगा आप ही करो धर्म, हमसे मत कहा करो।

एक व्यक्ति जो सुबह उठते ही सोचता है मैं जिनालय जाऊँगा, भगवान् का दर्शन करूँगा, पूजन करूँगा, जिनवाणी श्रवण करूँगा और निर्ग्रन्थ मुनिराजों के दर्शन-वन्दन करके उनको आहारदान दूँगा, ये शुभभाव हैं। और वह व्यक्ति जिससे किसी ने कहा—भाई साहब! सुबह आपको सबसे पहले मन्दिर जाना चाहिये। वह कहता है—मुझको मत समझाया करो, मुझे जो करना है मैं वही करूँगा, ये जीव के अशुभभाव हैं।

ध्यान रखना, शुभभाव करना भी बड़े पुरुषार्थ की बात है। कदाचित् जीव को यह शुभभाव प्राप्त हो भी जाये। हमें सबसे पहले जिनालय जाना चाहिये, गुरु उपासना करना चाहिये, जिनवाणी का श्रवण करना चाहिये, धर्मध्यान करना चाहिये, कदाचित् जीवों के ऐसे परिणाम हो भी जायें और उनसे पूछा जाए—ये सब किसलिए कर रहे हो? तो कहते हैं—हमारा परिवार सुखी रहे, हमारा व्यापार ठीक तरह से चलता रहे, हमारे घर में सुख-शान्ति बनी रहे। शुभभाव भी किसलिए कर रहा है? मात्र अपने परिवार, व्यापार, धन-संपदा के लिये। काश! सम्यग्ज्ञान होता तो कहता—हे प्रभु! आप तो भगवान बन गये, मैं कब बनूँगा। यह शुभभाव भी मोक्ष के कारण हैं। ये शुभभाव भी शुद्धभाव के साधन हैं। जिनवाणी सुनने बैठता है, तो डूब जाता है उसी में। कहता है—आज जिनवाणी सुनते-सुनते ऐसा लगा, काश! मैं भी भगवान् नेमिनाथ की तरह पुरुषार्थ कर पाता।

ज्ञानी गुरु के द्वारा शुद्ध भगवान् आत्मा के स्वरूप को न समझ पाने के कारण मात्र स्वर्ग सुखों को भोगता रहा। स्वर्ग सुखों को भोगने के बाद पुनः अनेक प्रकार के दुःखमय संसार में ही भ्रमण करता रहा। कभी एक इन्द्रियों में जन्मा, तो कभी पंचेद्रियों में जन्मा। जब जैसा पुरुषार्थ, जैसे भाव किये वैसा फल प्राप्त करता रहा। कभी अपने परिणामों को सँभाल नहीं पाया। यहाँ शुभभावों का अर्थ सम्यग्दर्शन के साथ रहनेवाले शुभभाव से है। सम्यग्दर्शन के साथ

रहनेवाले शुभभाव बड़े पुरुषार्थ से मिलते हैं। मिथ्यात्व के साथ रहनेवाले शुभभाव तो जीव कदाचित प्राप्त कर लेता है, लेकिन मिथ्यात्व के साथ रहनेवाले शुभभाव आत्मा के हित में कार्यकारी नहीं होते। ध्यान रखना, सम्यग्दर्शन के साथ रहनेवाले शुभभाव भी सर्वथा आत्मा के हित में कारण नहीं हैं, कथंचित् आत्महित में कारण हैं। सर्वथा आत्महित के कारण तो शुद्धभाव ही हैं। सम्यग्दर्शन के साथ रहनेवाले शुभभाव, शुद्धभाव को प्राप्त कराने में साधन हैं। तुम प्राप्त करना चाहो तो करलो और नहीं करना चाहो तो आचार्य भगवन् कह रहे हैं–**''जं रुच्चेद तं कुज्जा''** जैसा तुम्हें अच्छा लगे वैसा करो।

निज भगवान् आत्मा की खोज तभी हो सकती है जब अपने परिणाम शुभ हों। जब कषायें मन्द हों। भगवान् की बात तभी अच्छी लग सकती है जब कषायों की मंदता हो। जिन जीवों की कषायें तीव्र हों, मिथ्यात्व भाव बैठा हुआ हो, ऐसे जीवों को शुद्धभाव तो दूर शुभभाव के निमित्त भी रुचिकर नहीं लगते। शुभ में स्थित जीव का चिंतन शुद्धभाव की प्राप्ति के लिए होता है। चिंतन करता है, अहो! धन्य हैं प्रभु नेमिनाथ, जो विवाह करने गये थे और मुक्तिवधू से विवाह करने निकल गये। काश! मैं भी ऐसा पुरुषार्थ कर पाता। जिनवाणी सुनते-सुनते आज परिणाम बहुत निर्मल हुए। ध्यान रखना, ये शुभभाव, शुद्धभाव के साथी बनने को तैयार हैं, यहाँ खबर शुद्धभाव की आ रही है। जब मुनिराज की वीतराग मुद्रा को देखकर ऐसा लगा कि वस्त्रों को उतार दूँ, घर-परिवार को त्याग दूँ और मैं भी मोक्षमार्ग पर निकल जाऊँ। अहो! ये वो शुभभाव हैं जो शुद्धभाव की खबर दे रहे हैं।

जीव चाहे तो क्षणमात्र में शुभभाव करले, जीव चाहे तो क्षणमात्र में शुद्धभाव करले और जीव चाहे तो क्षणमात्र में अशुभभाव करले। अशुभभावों का प्रवाह तो अनादि से चल रहा है। समोशरण में बैठकर भी मारीचि की तरह अशुभभाव हो सकते हैं, साधु को देखकर भी कमठ और दुर्योधन की तरह अशुभभाव हो सकते हैं, जिनवाणी को सुनकर भी कानो में उंगलियाँ डालने के भाव हो सकते हैं। ध्यान रखना, आचार्य भगवन् कह रहे हैं–शुभभाव स्वर्ग के कारण हैं और अशुभभाव नरकायु के कारण हैं।

एक चोर चोरी करने में बहुत निष्णात था। कोई ऐसी शक्ति नहीं थी जो चोर को पकड़ सके। सम्राट बहुत परेशान था, नगर की प्रजा बहुत दु:खी थी। सम्राट ने अपने सैनिकों को आज्ञा

दी जैसे भी हो चोर का पता लगाओ। उस चोर को पिता ने एक शिक्षा दी—बेटा! यह चोरी करने का कार्य अपने पुरखों से चला आ रहा है इसलिए मेरे मरने के बाद तुम इस कार्य को छोड़ मत देना, अन्यथा कुल की प्रतिष्ठा समाप्त हो जायेगी। बेटे ने कहा—पिता जी! आप निश्चिंत रहें, मैं कुल की प्रतिष्ठा को डूबने नहीं दूँगा। कुल परम्परा से आया हुआ पुरखों का यह व्यापार मैं अनेक रूप से चलाता रहूँगा। पिता ने कहा—बेटा! मुझे पूरा विश्वास है, तुम पिता की आन-बान-शान को बना करके रखोगे। तुम जैसे पुत्र जिस कुल में हों, उस कुल परंपरा का दीपक सदैव जलता रहेगा।

बेटा! मुझे पूरा भरोसा है, लेकिन मैं तुम्हें एक शिक्षा और देना चाहता हूँ। बेटे ने कहा—कहिये पिताजी। बेटा! तुम कभी किसी जैनसाधु के पास मत जाना। तुम अगर जैनमुनि के पास पहुँच गये तो बेटा! वो यही शिक्षा देंगे कि चोरी करना पाप है इसलिए तुम कभी भूलकर भी जैनमुनि के उपदेश मत सुनना। अगर तुम मुझे यह वचन देते हो तो मैं समझूँगा कि तुम इस कुल की आन-बान-शान को बनाकर रखोगे। अन्यथा बेटा! मुझे चिंता हो रही है कि पुरखों की प्रतिष्ठा कहीं समाप्त न हो जाए। पुत्र ने कहा—पिताश्री! मैं आपको वचन देता हूँ, आज से मैं नियम लेता हूँ कि जीवन में कभी जैनसाधु का प्रवचन नहीं सुनूँगा। पिता ने बेटे को छाती से लगा लिया। धन्य है बेटा, अब मैं सुखपूर्वक मरणकर जहाँ पुरखे गये हैं वहाँ जा सकूँगा।

अहो! ऐसे अशुभभाव करोगे तो कहाँ जाओगे? आचार्य कुंदकुंददेव कह रहे हैं—अशुभभावों का फल नरकायु, नरकगति, कुगति है।

बेटे ने नियम ले लिया कि जैनसाधु का उपदेश नहीं सुनूँगा। इधर सम्राट ने सैनिकों के द्वारा पहरेदारी लगा रखी थी। एक दिन सैनिकों को उस चोर का पता चल गया। चोर को भी पता चला कि आज मैं सैनिकों के चक्कर में फँस गया हूँ, वह प्राण बचाने के लिए वहाँ से भागा। सैनिक भी पीछे-पीछे भागे। चोर को कहीं भी बचने का उपाय न दिखा। सामने एक जैनमन्दिर था। जैनमन्दिर में जैनमुनि उपदेश कर रहे थे। उसने देखा ये जैनमन्दिर है। सोचने लगा, पिताजी को मैंने वचन दिया है और जैनमन्दिर में उपदेश चल रहा है, माईक भी लगा रखे हैं, आवाज भी काफी दूर-दूर तक पहुँच रही है। उसने सोचा—प्राण जाते सो चले जाएँ लेकिन जैनमन्दिर में नहीं जाऊँगा, क्योंकि मैंने पिता जी को वचन दिया है। मुनिराज उपदेश कर रहे थे कि स्वर्ग में

देवों के पलक नहीं झपकते और उनकी छाया भी नहीं पड़ती। चोर अचानक वहाँ पहुँच गया, सो इतने शब्द उसके कान में पड़ गए। उसने अपनी उंगली कान में लगा ली। कान में उंगली डालकर भागा कि कहीं उपदेश सुनने में न आ जाये।

ध्यान रखो, जैन साधु का उपदेश कब कहाँ हित में कारण बन जाये कहा नहीं जा सकता। चोर भागता हुआ एक वेश्या के घर में घुस गया। जैसे ही वेश्या ने देखा, ये तो चोर है। इतने में पुलिसवाले पीछे से भागते हुए दिखाई दिये। वेश्या को सब समझ में आ गया कि माजरा क्या है। वेश्या ने उस चोर को पुलिसवालों को पकड़ा दिया। पुलिसवालों ने उससे खूब पूछा, सैनिकों ने खूब पूछा लेकिन उसने मुँह से कुछ भी न उगला।

वेश्या ने पुलिसवालों से कहा–इससे सच कैसे उगलवाना है मैं अच्छी तरह जानती हूँ। एक काम कीजिये, आप सभी लोग भेष बदल लीजियेगा। आप सभी को यहाँ पर देव-देवियों का रूप धारण करना है। पुलिसवालों ने देवों का रूप रखा और वेश्या ने अपनी साथियों को देवियों का रूप धारण कराया और उस चोर को जमकर शराब पिलाई। जब वह शराब के नशे में मस्त हो गया, कुछ भी सुध-बुध न रही तो उसके लिए भी देवों की तरह उत्तम वस्त्र पहिनाकर शैया पर लिटा दिया गया। जब उसका नशा कम हुआ तो उसने देखा–अरे, मैं कहाँ आ गया? यहाँ तो चारों ओर सुगन्ध ही सुगन्ध आ रही है। मेकअप (Makeup) कुछ इसप्रकार से किया गया था कि सभी लोग देव-देवियों की तरह दिखाई दे रहे थे। वह लेटा-लेटा सोचने लगा कि ये लोग कौन हैं? मैं कहाँ आ गया हूँ? मैं किस अद्भुत लोक में आ गया हूँ? उसने पूछा–मैं कहाँ हूँ? उसको बताया–आप स्वर्गलोक में हैं, ये सब स्वर्गलोक के देव-देवियाँ हैं।

उसको अचानक याद आया कि जब मैं भागता-दौड़ता आ रहा था तो मेरे कान में जैनमुनि के दो शब्द पड़े थे कि देव-देवियों की पलक नहीं झपकती और उनके शरीर की छाया नहीं पड़ती। लेकिन यहाँ तो जितने भी देव, देवियाँ अप्सरायें हैं सबके पलक झपक रहे हैं, सबकी छाया भी पड़ रही है, लगता है कोई न कोई षड़यंत्र अवश्य है। उससे खूब पूछा गया लेकिन उसने कुछ भी नहीं बोला। वो समझ गया कि ये देव-देवियों का षड़यंत्र है, पूछने का उपक्रम

चल रहा है, ये देव-देवियाँ नहीं हैं। जब सैनिक उससे कुछ भी न उगलवा सके तो उसे छोड़ दिया गया।

इस घटना के बाद उस चोर के मन में विचार आया कि आज मुझे जो जीवन मिला है यह जैनमुनि का उपदेश सुनने के कारण मिला है। अगर मैंने उपदेश न सुना होता तो आज मैं निश्चित ही फाँसी पर चढ़ा दिया गया होता। अहो! अचानक कान में पड़े हुए जैनसाधु के दो शब्द जब मुझे जीवन दे सकते हैं तो अगर मैं उनका उपदेश रुचिपूर्वक सुनूँ साधुमार्ग पर चलने लग जाऊँ तो कितना हित होगा? बुद्धि अशुभ से शुभ की ओर पलट गई। वह विचार करने लगा—अहो, साधु के वचन जीवन देनेवाले हैं, आत्मा का हित करनेवाले हैं। देखते ही देखते उसके परिणामों में इतना परिवर्तन आया कि वह उन्हीं मुनिराज की धर्मसभा में पहुँच गया। उनका महा मंगलकारी उपदेश सुनने लगा। उपदेश सुनते-सुनते अंतरंग में ऐसा पुरुषार्थ जाग्रत हुआ, कि गुरुचरणों में निवेदन करने लगा—भगवन्! मैंने अपने जीवन में बहुत पाप किये हैं, उन पापों को काटने के लिए आप मुझे निर्ग्रन्थ जिनदीक्षा प्रदान कीजिये।

पाना नहीं जीवन को बदलना है साधना।

केवल जीवन मिलना साधना नहीं है अपितु अपने जीवन को धर्म के अनुरूप बदलना साधना है। देखते ही देखते वह अशुभभाव से शुभभावों की यात्रा करने लगा। **अशुभभाव मृत्यु है, शुभभाव मृत्यु को जीतने का पुरुषार्थ है और शुद्धभाव मृत्यु पर विजय है।** आचार्य भगवन् कुंदकुंददेव ने कहा—भावों को जानो। अशुभभाव से दुख होता है, शुभभाव से सुख होता है और शुद्धभाव से मोक्ष होता है। ऐसा जानकर यदि शुद्धभाव करने की योग्यता हो तो शुद्धभाव करो, अगर योग्यता न हो तो कम से कम सम्यग्दर्शन के साथ शुभभाव अवश्य बनाते रहना।

आचार्य भगवन् पूज्यपादस्वामी इष्टोपदेश ग्रंथ में लिखते हैं—

वरं व्रतैः पदं दैवं नाव्रतैर्वत नारकं।
छाया तपस्थयो भेंदः प्रतिपालयतोर्महान्।।3।।

सम्यग्दर्शन के साथ अगर शुभभाव बनाये, व्रतों को धारण किया तो स्वर्ग की प्राप्ति होती

है और अव्रतों के साथ जिया तो नरक आयु की प्राप्ति होती है। आचार्य भगवन् कहते हैं—नरक में जाने की अपेक्षा स्वर्ग में जाना श्रेष्ठ है। क्योंकि नरकों में समोशरण मिलनेवाला नहीं है। स्वर्ग से समोशरण में जाने की पूरी योग्यता है। देवगण नंदीश्वर द्वीप जाते हैं भगवान् के कल्याणक मनाते हैं। नरक में नारकी एक-दूसरे की मार-काट में लगे रहते हैं। इसलिए व्रतों के साथ देवपद को प्राप्त करना अच्छा है लेकिन अव्रतों के साथ नरक में जाना अच्छा नहीं है। आचार्य कुंदकुंद कहते हैं—**'जं रुच्चेद तं कुज्जा'** अब जैसा आपको अच्छा लगे वैसा करो। हमारा काम तुम्हें सही मार्ग बताने का था सो हमने बता दिया, अब तुम्हें जैसा अच्छा लगे सो वैसा करो। कभी उस चोर को पिता की बात अच्छी लगती थी तो चोरी करता था। जब निर्ग्रन्थ गुरु की बात अच्छी लगी तो चोरी को छोड़कर निर्ग्रन्थ मुनि बन गया। **'जं रुच्चेद तं कुज्जा'** जैसा आपको रुचे वैसा आप करो। ध्यान रखो, अनादि से अशुभभाव करते आये हो। अब सच्ची श्रद्धा से शुभभावों का और शुद्धभावों का आश्रय करो, आत्मा का अवश्य ही हित होगा।

अशुभभाव जो करता है, नरकायु को धरता है।
जो करता शुभभाव अरे, सहज सुखों को वरता है।।
जैसा जो चाहे, हो-हो-2, वह भाव बनाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2, संहिता दिखलाये रे।।

अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

❑❑❑

(अशुभभाव के कारण)

हिंसादिसु कोहादिसु, मिच्छाणाणेसु पक्खवाएसु।
मच्छरिदेसु मदेसु दुरहिणिवेसेसु असुहलेस्सेसु ।। 58।।

* अन्वयार्थ *

(**हिंसादिसु**) हिंसादि में, (**कोहादिसु**) क्रोधादि में, (**मिच्छाणाणेसु**) मिथ्याज्ञान में, (**पक्खवाएसु**) पक्षपात में, (**मच्छरिदेसु**) मात्सर्य में, (**मदेसु**) मदों में, (**दुरहिणिवेसेसु**) दुरभिनिवेशों में, (**असुहलेस्सेसु**) अशुभ लेश्याओं में, जो वर्तता है वह अशुभभाव है।

अर्थ–हिंसादि पापों, क्रोधादि कषायों, मिथ्याज्ञान, पक्षपात, मात्सर्य, मदों, दुरभिनिवेशों, अशुभ लेश्याओं में जो वर्तता है वह अशुभ भाव है।

गाथा - 58

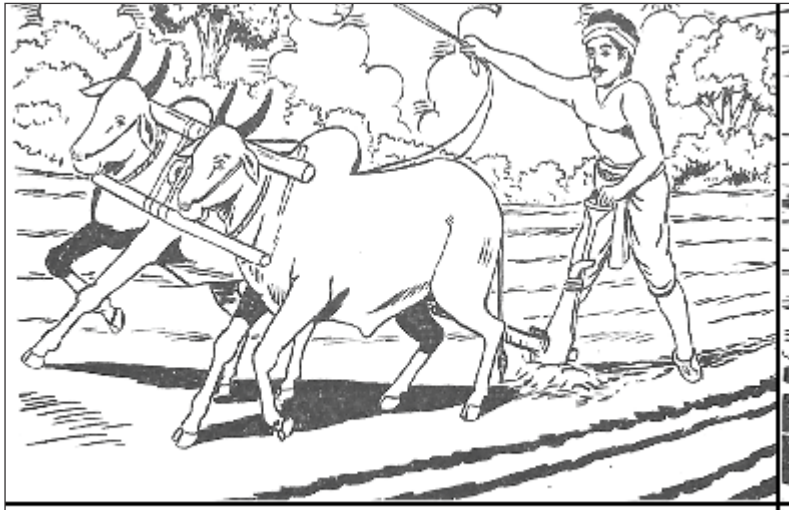
(प्रवचन)

●

पक्षपात अशुभभाव है

23.09.2011

अशोकनगर (म.प्र.)



मेरे देश की धरती सोना उगले, उगले हीरे-मोती।



धान्य पाकर किसान खुश किन्तु भूसा न मिलने से दुःखी।



पूर्वकृत धर्म के फल से सुयोग्य स्त्री की प्राप्ति।



सुयोग्य स्त्री को पाकर भी कापोत लेश्या वाला शोक करता हुआ।

69

रयणोदय

हिंसादि क्रोधादि में, मिथ्याज्ञान मदादि में।
दुरभिनिवेश अशुभलेश्या, पक्षपात विकथादि में।।
मात्सर्य आदि, हो-हो-२ सब अशुभ कहाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2, संहिता दिखलाये रे।।

'**जयदु जिणागमपंथो**' अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

तीर्थंकर भगवंत की दिव्यध्वनि जिनश्रुत है, जिनागम है। जिनागम में वर्णित आत्म-कल्याणकारी मार्ग, आत्महितकारी पंथ '**जिनागम पंथ**' है। परस्पर रागद्वेष को बढ़ानेवाले आगमबाह्य पंथ उन्मार्ग हैं। वीतरागता को देनेवाला, '**परस्परोपग्रहो जीवानाम्**' का प्रतीक '**जिनागम पंथ**' सन्मार्ग है।

अनन्तभवों से मिटते हुए जीवन को शाश्वत आकार देने के लिये हम एक सम्यक् साधना पद्धति से जुड़ने का प्रयास कर रहे हैं। अनंतभवों में हमने न जाने कितने आकार धारण किये, कितने संस्थान धारण किये, कितनी अवस्थायें धारण कीं। वे सारे संस्थान, वे सारे आकार हम सिर्फ मिटाते आये हैं, नष्ट करते आये हैं। अनंत आकारों को हमने नष्ट किया पर कभी शाश्वत

आकार हम प्राप्त नहीं कर सके। हम भी अपने जीवन में शाश्वत आकार की भावदशा उद्घाटित करें, हम भी ऐसा आकार पायें जो कभी न मिटे। यह तभी सम्भव है जब हम अपने शाश्वत आकार को मिटानेवाले भावों का परित्याग करें। वे भाव जब अभाव को प्राप्त होंगे, तभी हम शाश्वत संस्थान को उपलब्ध हो सकते हैं, जो शुद्धभाव से प्राप्त होता है।

हिंसादिसु कोहादिसु–आचार्य भगवन् कुंदकुंददेव कहते हैं–जब तक हिंसादिभाव आत्मा में उत्पन्न होते हैं तब तक अशुभभावों की प्रवृति बनी रहती है। जब तक कषायभाव आत्मा में उत्पन्न होते हैं तब तक अशुभभावों में ही वर्तन होता रहता है। कषाय अनादि से आत्मा को दु:ख देती आई है, कभी कषाय से किसी को सुख नहीं मिला। कषाय तत्काल दु:ख देती है और कषाय के साथ जो पुन: कर्मबंध होता है वह कुछ समय के बाद आत्मा को दु:ख देता है। यह कोई आवश्यक नहीं कि कषाय के साथ बाँधा हुआ कर्म हमें दु:ख देगा ही, लेकिन जिससमय जीव कषाय करता है उस समय नियम से दु:खी हो जाता है।

जिनेन्द्र भगवान् ने क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार प्रकार के कषाय परिणाम कहे हैं, इन परिणामों से आत्मा अपने आप को आज तक मुक्त नहीं कर पाया है। क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायों के माध्यम से आत्मा ने आत्मा को ही बंधक बनानेवाला अज्ञानपूर्ण कार्य किया है। क्रोध, मान, माया लोभ से आत्मा को कभी सुख नहीं होता। जैसे ही क्रोध आता है तत्काल दु:ख का अनुभव होने लगता है। मान, माया, लोभ ये परिणाम उसी समय आत्मा को दुखी कर देते हैं। आचार्य भगवन् कहते हैं–ये चार कषायें अशुभभाव हैं। अपने आपको इनसे बचाने का प्रयास करना चाहिये। जिससमय क्रोधादि कषायभाव आता हो उससमय धर्म का चिंतन करना चाहिये, भगवान् के स्वरूप का चिंतन करना चाहिये, भगवान् जिनेन्द्र के द्वारा प्रतिपादित सूत्रों का चिंतन करना चाहिये। ऐसा कर आप कषाय से प्रभावित होने से बच जायेंगे। जो व्यक्ति निरन्तर धर्मसूत्रों का चिंतन करता है वह कषायभाव से बच जाता है और जो क्रोध, मान, माया, लोभ रूप परिणाम करता है वह अपनी आत्मा को दु:खी करता है। चूँकि सबसे बड़ा दु:ख का कारण कषायभाव है इसलिए इन चारप्रकार के कषाय परिणामों से जितना हो सके अपनी आत्मा को बचाना चाहिये।

कषायोत्पत्ति के कारण अकारण नहीं हैं। उन बाह्य कारणों के मिलने का कारण अन्तरंग कर्म का उदय है। तुम्हारा अन्तरंग कर्मोदय ही तुम्हारे दु:ख का कारण है, बाह्य कारण दु:ख का

कारण नहीं है। कोई गाली देनेवाला जीव मिल जाये तो क्या करोगे? एक गाली के बदले दो गाली दोगे। क्योंकि जो एक गाली स्वीकार करता है उसके अंदर स्वयमेव दो गालियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, भले ही वह दे पाये अथवा न दे पाये, बोल पाये अथवा न बोल पाये ये अलग बात है लेकिन उसके अन्दर इतना कषायभाव पैदा हो जाता है, कि अन्दर ही अन्दर गाली पे गाली दिये जाता है। अगर कोई कषाय का निमित्त मिल जाये तो उस समय अपने आत्मा के वीतरागस्वभाव को पहिचानना। वीतरागस्वभाव को पहिचानकर चिंतन करना, अहो! मेरे शुद्धात्मा में ये कषायभाव दिखाई ही नहीं देता। इसप्रकार जब आत्मा के वीतरागस्वभाव का चिंतन होता है तो जीव उस उदय में आते हुए कर्म को जीत लेता है। जो अपनी आत्मा के वीतरागस्वभाव को नहीं पहिचान पाता है वो उसीसमय उस कषाय से प्रभावित होकर नाना प्रकार के कर्मों का आस्रव-बंध कर लेता है।

आचार्य भगवन् कहते हैं—उदय में आती हुईं द्रव्य कषायें आपके लिये दुःख का कारण हैं, ये सर्वथा नहीं कहा जा सकता। जब तक आप कषायोदय में स्वयं अपने भाव अशुभ न करें तब तक वो दुःख का कारण नहीं हैं। भूल तो अपनी है कि कर्म उदय में आते हैं और अपने भाव, कषायरूप हो जाते हैं। अगर हम अपने स्वभाव से प्रभावित रहें तो कषायों के उदय अपना कुछ भी बिगाड़ न कर पायेगें। तीर्थंकर जैसे महापुरुष जिनको हम आदर और सम्मान के साथ स्मरण करते हैं, गुण कीर्तन करते हैं, पूजा करते हैं, आराधना करते हैं, अपना आदर्श मानते हैं, उन्होंने महानता कैसे हासिल की उसको नहीं जान पाते।

भगवान् पार्श्वनाथ ने क्रोध के पर्याप्त निमित्त मिलने पर भी क्रोध को प्राप्त न होकर क्षमा को प्राप्त किया। उन्होंने उस समय अपने स्वभाव का स्पर्श किया, न कि उदय में आते हुए द्रव्यकषाय का। द्रव्यकषाय उदय में आकर नष्ट हो गई और आत्मा कर्मबन्ध से खाली हो गया। मोहनीय कर्म झड़ता गया। पार्श्वनाथ अपने आत्मस्वभाव में स्थित हो गये। नया कर्म, बन्ध को प्राप्त नहीं हो पाया। एक स्थिति ऐसी आ गई कि मोहनीय कर्म की सत्ता ही समाप्त हो गई।

ध्यान रखना, कर्म की सत्ता समाप्त हो सकती है, जब तुम अपने को सुखस्वरूप जानो। जब तुम अपने को सुख जीवास्तिकाय स्वरूप जानो। लेकिन जीव कषायों से प्रभावित होने के लिए बिल्कुल तैयार बैठा है, यह जीव की अज्ञानता है। हमारी सम्यग्ज्ञान परिणति तो यह है कि कषाय के निमित्त मिलें और हम प्रभावित न हों। आचार्य कहते हैं—कषायों से प्रभावित

होना अशुभभाव है और अशुभभाव एकमात्र दु:ख का कारण है। क्रोधादि कषायों के दलदल से हमें अपने आत्मा को अपने उपयोग को निकालने का प्रयास करना चाहिये। आत्मा निकल आयेगा, सिर्फ उपयोग को निकालने की कला सीख लो। आत्मा कषाय के दलदल से मुक्त हो जायेगा सिर्फ अपने उपयोग को निकालना सीख लो। उपयोग के निकलते ही आत्मा स्वतन्त्र होना शुरू हो जाता है। आत्महित में सबसे बड़ा बाधक कारण भी उपयोग है और सबसे बड़ा साधक कारण भी उपयोग है। आत्मा को कर्मों से बाँधने में कारण अपना ही उपयोग है और आत्मा को कर्मों से मुक्त करने में कारण भी अपना ही उपयोग है। जब उपयोग अशुभभाव में जाता है तो आत्मा कर्मों से परतंत्र होता चला जाता है, जब उपयोग अपने शुद्धस्वभाव में जमता है तो उसी समय से आत्मा कर्मों से स्वतंत्र होना शुरू हो जाता है। कषायों के दलदल से उपयोग को निकालने की कला आपको ही सीखनी होगी।

भगवान् महावीर भी आपको कषायों के दलदल से नहीं निकाल पायेंगे, न ही माँ जिनवाणी आपको कषायों के दलदल से निकाल पायेगी और न ही निर्ग्रन्थ गुरु आपको कषायों के दलदल से निकाल पायेंगे। कषायों के दलदल से निकलने की कला और आत्मा की शक्ति तुम्हें ही अपने अन्दर पैदा करनी होगी। आत्मा में शक्ति तो अनंत है लेकिन क्रोधादि कषायों में शक्ति का दुरुपयोग हो रहा है।

मिच्छाणाणेसु–मिथ्याज्ञान में जो जीव का वर्तन होता है वह सब अशुभभाव है। मिथ्याज्ञान का तात्पर्य है-विपरीत जानना। वस्तु को उसके यथार्थ स्वरूप से न जानकर विपरीतरूप से जानना मिथ्याज्ञान है।

लोक में छह द्रव्य हैं उनको सम्यक्रूप से जानना ही व्यवहार सम्यग्ज्ञान है। घर में पचासों सदस्य होते हैं, आप उन सबको जानते हो। आपके अनेक रिश्तेदार होते हैं आप उन सबको भी जानते हो। आप अपने पड़ौसी को भी जानते हो, लेकिन बड़े आश्चर्य की बात है कि इतनी भीड़ को जानते हुए भी छह द्रव्यों को नहीं जानते। इतनी भीड़ को जान लेते हो और छह द्रव्यों को यथार्थरूप से नहीं पहिचान पाते। अगर छह द्रव्यों को आप यथार्थस्वरूप से पहिचान लो तो मिथ्याज्ञान का अभाव हो जायेगा। जब तुम सही मान्यता पैदा करोगे, तभी सही जान पाओगे। जब छहद्रव्यों का यथार्थस्वरूप जानने में आता है तब जिनेन्द्र भगवान् उसको व्यवहार ज्ञानी कहते हैं, श्रद्धान् की अपेक्षा व्यवहार श्रद्धानी है। जब वह जीवात्मा छह द्रव्यों के बीच जीवद्रव्य

के यथार्थस्वरूप को जानता है, तब भगवान् कहते हैं—यह निश्चय ज्ञानी है। लेकिन छह द्रव्यों के स्वरूप का चिंतन करने के लिए आपके पास समय कहाँ है। आप कहते हो—महाराज श्री! यही बहुत बड़ी बात है कि हम प्रवचन सुनने के लिये समय निकाल लेते हैं अन्यथा हम तो दलदल में फँसे हैं। ध्यान रखो, आप बाहर के दलदल में नहीं भीतर के दलदल में फँसे हो। अगर आपके भीतर की दलदल छूट जाये तो बाहर की दलदल भी छूट जायेगी। अगर सच्चा सुख पाना है तो मिथ्याज्ञान को त्यागना होगा। मिथ्याज्ञान अशुभभाव पैदा करता है।

अज्ञानता के कारण पुद्गलद्रव्य अपना मालूम पड़ता है। जितना प्रेम आपको अपने चेतनद्रव्य से नहीं है उससे ज्यादा प्रेम अचेतन द्रव्यों से है। अनादि से आत्मा का पतन होता आ रहा है। अगर आपके मकान का थोड़ा सा हिस्सा क्षतिग्रस्त हो जाये तो आपको दुःख होने लगता है। **अगर आपकी जेब से पाँच सौ का नोट गिर जाये तो आपको दुःख होने लगता है। अहो! आत्मा का अनंत वैभव छूट रहा है उसका बिल्कुल भी दुःख नहीं होता। आत्मा का अनंत वैभव, अनंत सुख छूट रहा है उसका दुःख नहीं होता और 500 का नोट जेब से गिर जाये तो उसका दुःख होता है, क्योंकि अभी अचेतनद्रव्य अच्छा लगता है, चेतन उतना अच्छा नहीं लगता।** ज्ञानी जीव को निज चेतनद्रव्य अच्छा लगता है इसलिए वे छहखण्ड का वैभव भी तृण के समान त्याग देते है। उन्हें अचेतन में रुचि नहीं है, अब उन्हें चेतनद्रव्य अच्छा लग रहा है। ज्ञान कैसा हो गया है? सम्यग्ज्ञान हो गया है। मिथ्याज्ञान बाह्य पुद्गल आदि जड़ द्रव्यों को अपना बताता है।

वस्तु के यथार्थस्वरूप को जो नहीं जानता वह मिथ्याज्ञानी और जो वस्तु के यथार्थस्वरूप को जाने वह सम्यग्ज्ञानी है।

पक्खवाएसु—जो मनुष्य पक्षपात करता है वह निरन्तर अशुभभाव करता रहता है। आचार्य भगवन् कुंदकुंददेव मुनिराजों को सम्बोधित करते हुये कहते हैं—लाल, पीले, हरे, गुलाबी, सफेद भेष अथवा नग्न भेष ये कोई भी मोक्ष के कारण नहीं हैं। जब ऐसा कथन किया जाता है तो सारे पक्षपात दूर हो जाते हैं, सारे पक्षपात मिट जाते हैं। अहो, भेषमात्र मोक्षमार्ग नहीं है ऐसा बोध होने पर, मैं ही केवल मोक्ष प्राप्त कर सकता हूँ, ऐसा जो मात्र भेष धारण करके पक्षपाती हो जाता है उसका अज्ञानभाव टूटने लगता है।

आचार्य कहते हैं—पहले इस पक्षपात से बुद्धि हटाओ। जब तक तुम्हें अपने भेष में ही

मोक्षमार्ग दिखाई देगा तब तक अन्य भेषों के प्रति तुम नियम से पक्षपात को धारण करोगे। जहाँ देखो वहीं पक्षपात दिखाई देता है। घर में देखो तो पक्षपात, परिवार में देखो तो पक्षपात, पिता का पुत्रों के साथ पक्षपात, माँ का बच्चों के साथ पक्षपात, धर्म में देखो तो पक्षपात।

आचार्य भगवन् कुंदकुंददेव कह रहे हैं—पक्षपात अशुभभाव है। 'जा हमाई वेदी, जा तुमाई वेदी' ये पक्षपात है। 'ये मेरा मन्दिर, ये तुम्हारा मन्दिर' ये पक्षपात है। 'ये हमारे शास्त्र, ये तुम्हारे शास्त्र' ये पक्षपात है। 'ये हमारे गुरु, ये तुम्हारे गुरु', ये पक्षपात है? लोग दान भी करते हैं तो पक्षपात से करते हैं। जब तक पक्षपात है तब तक आत्मा में निर्मलभाव उत्पन्न नहीं होता। पक्षपात की बुद्धि जब तक है तब तक आत्मा में अशुभभाव होता है।

पुण्ययोग और पुरुषार्थ से कभी घर में चौका भी लगाता है तो उसमें भी पक्षपात कर बैठता है। हमारे चौके में अमुक महाराज आ जायें, कोई ऐलक, क्षुल्लक, आर्यिका न आ जायें। हमारे यहाँ तो आचार्य महाराज ही आना चाहिये। अरे भाई! पक्षपात क्यों करते हो, जो आपके भाग्य में होंगे वो ही आयेंगे, पुण्य से ज्यादा नहीं मिल सकता। ज्ञानी जीव अपने पुण्य को लेकर खड़ा होता है, मेरा पुण्य जितना होगा उतना ही प्राप्त होगा। लेकिन अज्ञानी जीव अज्ञानता के कारण पक्षपात करता रहता है। सोचता है ऐसा हो जाए, वैसा हो जाए। अगर वैसा नहीं हो पाया तो परिणाम निर्मल नहीं रह पाते, अशुभभाव हो जाते हैं। आचार्य भगवन् कहते हैं—पक्षपात अशुभभाव हैं इनसे सदैव बचने का प्रयास करना चाहिये।

मच्छरिदेसु—मात्सर्य में जो प्रवृत्ति करता है वह भी अशुभभाववाला है। दूसरे का उत्थान नहीं देख पाना, उन्नति नहीं देख पाना ये सब आत्मा के मात्सर्य भाव हैं। भाव ऐसे होने चाहिये कि मेरी भी उन्नति हो और सबकी उन्नति हो। ये भाव अपने भीतर बननेवाले मात्सर्य भाव को नष्ट करनेवाले हैं।

मदेसु—जो मदों में यानि अहंकार में निरन्तर प्रवृत्ति करते रहते हैं, आचार्य कहते हैं—ये भी अशुभभाव हैं। अहो आत्मन्! किसमें प्रवृति कर बैठे? तुम निर्मलस्वभावी आत्मा हो और तुम मदों में प्रवृत्ति कर रहे हो। तुम्हें अपने निर्मलस्वभाव का भान नहीं है, ज्ञानी जीव को निर्मलस्वभाव का भान होता है। ध्यान रखो, अगर आप त्यागी भी हो जाओ तो ये मत कहना कि मैंने छहखण्ड के वैभव को लात मार दी। जिस समय आपकी आत्मा में ये भाव आया कि

मैंने छहखण्ड के वैभव को लात मार दी, तो ये आपका अहंकार हो गया, ये आपका मद बोल रहा है। जो आपका था ही नहीं, उसे आपने छोड़ा कैसे? वो आपका था ही नहीं, फिर भी कह रहे हो कि मैंने छहखण्ड के वैभव को लात मार दी। मेरे इतने बड़े-बड़े प्रतिष्ठान थे, मेरा इतना बड़ा व्यापार था, मेरे पास इतनी धनसम्पदा थी, मैं अपना सब कुछ त्याग करके, भरा-पूरा परिवार छोड़कर इस धर्ममार्ग पर आया हूँ। अभी तुम धर्म के मार्ग पर आये ही नहीं हो। अभी भी तुम्हारा उपयोग वहीं प्रवर्त रहा है। पहले राग रूप से प्रवर्त रहा था और अब उसी के त्याग में अहम् रूप से प्रवर्त रहा है, बुद्धि है तो वहीं की वहीं। उपयोग तो वहीं का वहीं घूम रहा है। आचार्य कुंदकुंददेव कहते हैं—त्याग का भी मद नहीं होना चाहिए। जिस दिन आप अपने आत्मस्वभाव को पहिचान जाओगे उस दिन मैंने अमुक-अमुक वस्तुओं त्याग किया है, यह अहंकार भी आपका विसर्जित हो जायेगा। मदों में व्यर्थ की प्रवृत्ति नहीं करना चाहिये।

दुरहिणिवेसेसु—दुरभिनिवेशों में, मिथ्या अभिप्रायों में भी अशुभभाव होता है। बहुत सारे लोगों के मिथ्या अभिप्राय को समझ पाना बहुत जटिल होता है। क्योंकि उनकी बाहर की चेष्टा अलग होती है और उनका अन्तरंग अभिप्राय अलग होता है, उनके अभिप्राय को पहिचान पाना बहुत मुश्किल होता है। ध्यान रखना, किसी के खोटे अभिप्राय को कोई दूसरा जाने या न जाने लेकिन हर व्यक्ति अपने-अपने खोटे अभिप्राय को अवश्य जानता है। जिससमय अन्दर पैदा हुआ खोटा अभिप्राय आपके जानने में आ रहा है, समझ लेना उससमय आपका अशुभभाव चल रहा है। इसलिए आचार्य भगवन् कहते हैं—खोटा अभिप्राय त्याग देना चाहिये, इससे आत्मा का बहुत अहित होता है। जब तक विपरीत अभिप्राय बना रहता है तब तक जीव को सम्यग्दर्शन नहीं होता। अपने आत्मा के विषय में सम्यक् अभिप्राय उत्पन्न करना चाहिये तभी मिथ्याज्ञान जायेगा और सम्यग्ज्ञान आयेगा।

असुहलेस्सेसु—अशुभ लेश्याओं में जो जीव प्रवृत्ति करता है अर्थात् कृष्ण, नील, कापोत, इन तीन लेश्याओं में जिस जीव की प्रवृत्ति होती है वह निरन्तर अशुभभाव को उपलब्ध होता रहता है। कोई-कोई जीव ऐसे होते हैं कि किसी से उनका बैरभाव बँध जाये तो छुटाये नहीं छूटता। ऐसा बैर बाँधकर बैठ जाते हैं कि भव-भव तक कषायों में जलते रहते हैं। ऐसे जीव कृष्णलेश्यावाले हैं। कोई जीव ऐसे होते हैं जिन्हें स्त्रियों में आसक्ति होती है और जो आलसी होते हैं, प्रमादी होते हैं। आचार्य कहते हैं—ऐसे जीव नीललेश्या वाले हैं। कोई-कोई जीव ऐसे होते हैं जो सदा शोकभाव में बने रहते हैं। सदा रुष्ट रहना ही जिनका स्वभाव

है। जब देखो तब वे रुष्ट ही बने रहते हैं, कितना भी उत्सव का माहौल हो पर वो हमेशा किसी न किसी बात पर रुष्ट ही बने रहते हैं। जैसे नट को कितना भी प्रसन्न किया जाए वह कभी प्रसन्न नहीं होता है ऐसे ही कुछ लोग होते हैं कि उनके जीवन में चाहे कितना भी सुख का साधन हो जाए तो भी वे जब देखो तब रुष्ट ही बने रहते हैं और दु:खी होते रहते हैं, शोकाकुल होते रहते हैं ऐसे जीव कापोतलेश्यावाले हैं।

किसी किसान ने खेती की। पुण्ययोग से फसल खूब अच्छी हुई और उसको खूब धान्य मिला, लेकिन भूसा बहुत कम निकला। जब भूसा बहुत थोड़ा निकला तो वह व्यक्ति दु:खी मन से रास्ते से गुजर रहा था। उस व्यक्ति को उदास देखकर लोगों ने पूछा—भैया! इस बार तो तुम्हारी बहुत अच्छी फसल हुई है, इस बार तो तुम्हें खूब प्रसन्न होना चाहिए, उदास क्यों हो? बोला—फसल तो बढ़िया हुई लेकिन भूसा कम मिला। फसल तो अच्छी हुई दाना तो खूब मिला, धान तो खूब पैदा हुआ, लेकिन भूसा कम मिला। देखो उसे धान्य उपलब्ध होने पर प्रसन्नता होनी चाहिये थी, लेकिन वह भूसे के लिए दु:खी हो रहा है।

कापोत लेश्यावाले जीवों की ऐसी ही परिणति होती है उनके लिये कितना भी लाभ हो जाये लेकिन वे छोटी-छोटी चीजों के लिये शोकाकुल बने रहते हैं, रुष्ट बने रहते हैं, दु:खी होते रहते हैं। छोटी-छोटी बातों पर उनके परिणाम मृत्यु के हो जाते हैं। ये परिणाम कापोत लेश्या के हैं। छोटी-छोटी सी बातों पर मृत्यु के परिणाम आ जाना कापोतलेश्या का लक्षण है। ये तीन अशुभ लेश्यायें जिन जीवों के होती हैं उनके भाव सदैव अशुभ बने रहते हैं। इन अशुभभावों को छोड़ें, जीवन अच्छा बनायें।

हिंसादि क्रोधादि में, मिथ्याज्ञान मदादि में।
दुरभिनिवेश अशुभलेश्या, पक्षपात विकथादि में।।
मात्सर्य आदि, हो-हो-2, सब अशुभ कहाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2, संहिता दिखलाये रे।।

अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

❑❑❑

(अशुभभाव के कारण)

विकहादिसु रुद्दट्टज्झाणेसु असुयगेसु दंडेसु।
सल्लेसु गारवेसु य, जो वट्टदि असुहभावो सो।।59 ।।

* अन्वयार्थ *

(**विकहादिसु**) विकथाओं में, (**रुद्दट्टज्झाणेसु**) आर्त-रौद्र ध्यानों में, (**असुयगेसु**) ईर्ष्या में, (**दंडेसु**) असंयमों में, (**सल्लेसु**) शल्यों में (**य**) और (**गारवेसु**) मान-बढ़ाई में (**जो वट्टदि**) जो वर्तन होता है; (**सो**) वह (**असुहभावो**) अशुभभाव है।

अर्थ–विकथाओं, आर्त-रौद्र ध्यानों, ईर्ष्या, असंयमों, शल्यों और मान-बढ़ाई में जो वर्तन होता है; वह अशुभभाव है।

गाथा - 59

(प्रवचन)

●

तनाव (Tension) का कारण ईर्ष्याभाव

24.09.2011

अशोकनगर (म.प्र.)



मनोवती गजमोती चढ़ाकर अपना जिनदर्शन का नियम पूर्ण करती हुई।

70

रयणोदय

आर्त्तरौद्र ध्यानादि में, ईर्ष्या मान-बढ़ाई में।
माया-मिथ्या-निदानादि, शल्यों में दंडादि में।।
जो वर्तन होता, हो-हो-2, सब अशुभ कहाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2, संहिता दिखलाये रे।।

'**जयदु जिणागमपंथो**' अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

तीर्थंकर भगवंत की दिव्यध्वनि जिनश्रुत है, जिनागम है। जिनागम में वर्णित आत्म-कल्याणकारी मार्ग, आत्महितकारी पंथ '**जिनागम पंथ**' है। परस्पर रागद्वेष को बढ़ानेवाले आगमबाह्य पंथ उन्मार्ग हैं। वीतरागता को देनेवाला, '**परस्परोपग्रहो जीवानाम्**' का प्रतीक '**जिनागम पंथ**' सन्मार्ग है।

आत्मोन्नति का मार्ग कठिन नहीं है अज्ञानमार्ग से निवृत्ति कठिन है। संसारी जीव को अज्ञानमार्ग की भावना अनादि से है, अज्ञानमार्ग का संस्कार ही आत्मोन्नति में बाधक कारण है।

आचार्य भगवन् कुंदकुंददेव अज्ञानमार्ग में होनेवाले अशुभभावों का कथन यहाँ कर रहे हैं–

विकहादिसु–जो विकथाओं में लगे रहते हैं वे निरन्तर अशुभभाव करते रहते हैं।

राजकथा, चोरकथा, स्त्रीकथा और भोजन कथा ये चार विकथायें हैं। कभी प्रवचन में लड्डुओं की बात चलने लग जाये, तो सभी लोग ध्यान से सुनने लगेंगे और तत्त्व की बात चल रही हो तो कदाचित् किसी को नींद आने लगे। **भोजनकथा**–एक बार प्रवचन में उदाहरण दिया कि जिसतरह से लड्डू मिलकर एक हो जाता है उसी तरह सिद्धालय में आत्मा के सारे प्रदेश घनीभूत हो जाते हैं। एक व्यक्ति वहाँ बैठा था जिसे लड्डु पसंद था, वह तुरंत कहने लगा कि 'हमें बेसन को लड्डू अच्छो नहीं लगत आय, हमाये लाने तो मोतीचूर को लड्डु बढ़िया लगत है।' अब उससे कौन पूछ रहा है कि तुमको क्या पसंद है लेकिन ऐसा जीव तुरन्त लड्डु पर पहुँच जाता है विकथा करने लग जाता है। कहीं भोजन कथा प्रारम्भ हो जाये तो वह बढ़-चढ़कर भाग लेने लगेगा। विकथा में उसे बहुत आनन्द आता है और यदि कहीं धर्मकथा हो रही हो, रामचन्द्र जी का चरित्र कहा जा रहा हो, भगवान् महावीर स्वामी का चरित्र बताया जा रहा हो, भगवान् पार्श्वनाथ का चरित्र बताया जा रहा हो तो वहाँ उसे नींद आने लगेगी। किसी कवि ने कहा है–

धर्मकथा में आलसी, भोजन को तैयार।
प्रभुजी ऐसे नरन को बार-बार धिक्कार।।

अहो! जब धर्मकथा में नींद और भोजनकथा में जागृति हो तो समझ लेना कि उसे विकथा में आनन्द आ रहा है। विकथा अशुभभाव है। **राजकथा**–कहीं राजा-रानी अथवा राज्य शासन, प्रशासन से संबंधित कथा हो रही हो। **चोरकथा**–कहीं चोरी करने की कथा, चोरी करने के प्रयोग, चोरी के रहस्य, अर्थात् चोरी कैसे करना चाहिए इत्यादि चल रहा हो, तो उसे बहुत आनन्द आता है। अगर कोई किसी को ठगने की कला बता रहा हो कि जब भी कपड़ा नापना तो बेटा ऐसे नापना चाहिए, तो वह भी ध्यान लगाके सुनने लगेगा कि कौन सी शिक्षा दे रहे हैं, ध्यान से सुन लो कि कपड़ा कैसे नापा जाता है और मिट्टी का तेल आदि कैसे लीटर से देना चाहिए। **स्त्रीकथा**–वर्तमान में जितना भी व्यापार है, जितने भी विज्ञापन हैं सारे विकथा के साधन हैं। अधिकांश विज्ञापन विकथा कराते हैं, जहाँ स्त्री नहीं है तो भी वहाँ स्त्रीकथा होती है। लोग सोचते हैं, हम तो विज्ञापन मात्र देख रहे थे। तुम मात्र विज्ञापन नहीं देख रहे थे, विज्ञापन देखते समय जो स्त्री चिंतन हो रहा था वास्तव में वह स्त्रीकथा हो रही थी। ध्यान रखना, इन चार प्रकार की विकथाओं में जो उपयोग जाता है वह एकमात्र अशुभभाव है।

रुद्दट्ठज्झाणेसु–चार प्रकार के आर्तध्यान और चार प्रकार के रौद्रध्यान में अगर उपयोग जाता है तो उस समय अशुभभाव चल रहा है।

असुयगेसु–बहुत सारे लोग दूसरों से ईर्ष्याभाव रखते हैं, वे कभी दूसरे का भला नहीं देख पाते। इनके पास इतना धन, वैभव, संपदा, ऐश्वर्य है अगर हमारे पास होता तो कितना अच्छा होता। माँ ने अगर एक बेटे को गोदी में बिठा लिया, तो दूसरा बेटा ईर्ष्या से भर जाता है। ईर्ष्या के परिणाम अशुभभाव हैं।

मनोवती ने मन्दिर में गजमोती चढ़ाये। वे गजमोती माली के पास पहुँचे। मालिन ने सोचा, अगर सम्राट को पता चल गया कि इतने उत्तम कोटि के गजमोती हमारे पास हैं तो वह हमारे लिये दण्ड देगा। मालिन ने माली को समझाया कि हम इन गजमोतियों की एक माला बनाकर रानी के गले में पहिनायें तो ठीक रहेगा। दोनों ने मोतियों की एक सुन्दर माला बनाकर छोटी रानी को पहिनाई। यह देखकर राजा की बड़ी रानी ईर्ष्या को प्राप्त हो गई। राजा से बोली– हे राजन! आज मुझे पता चला कि जो कुछ है सब छोटी रानी के लिये है हमारे लिये तो कुछ है ही नहीं। आप एक काम करो हमारे लिये जहर की व्यवस्था करा दो।

देखो, ईर्ष्या व्यक्ति को कहाँ तक पहुँचा देती है। राजा को पता ही नहीं था कि हुआ क्या है, ये जहर की बात कहाँ से आ गई? सम्राट ने प्रेम से पूछा–क्या बात है? रानी बोली– बात क्या है? ऐसे बन रहे हो जैसे कुछ पता ही न हो। सम्राट बोला–हमें कुछ भी पता नहीं है। महारानी बोली–छोटी रानी के लिये गजमोती का हार और हमारे लिये कुछ भी नहीं। अब सम्राट को पता चला कि आखिर बात क्या है? अहो, गजमोती में इतना चित्त रखा है कि जीवन भी उसके सामने तुच्छ मालूम पड़ रहा है। सम्राट ने कहा–भो रानी! आप क्यों चिंता करती हैं? मैं अभी जौहरियों को बुलाकर उत्तम से उत्तम गजमोतियों का सुंदर हार बनवाता हूँ। छोटी रानी के हार के बीच में तो फूल पिरोये गये हैं, तुम्हें तो पूरी गजमोती की माला बनाकर दूँगा।

स्त्रियों में ईर्ष्या जल्दी उत्पन्न हो जाती है। लेकिन कुछ ऐसी भी विदुषी स्त्रियाँ हुई हैं जिनको कभी ईर्ष्या भाव छू भी नहीं सका। मनोवती उनमें से ही एक थी। ईर्ष्याभाव व्यक्ति की बुद्धि और विवेक दोनों ही नष्ट कर देता है। बहुत सारी स्त्रियों के टेन्शन (Tension) का कारण ईर्ष्याभाव होता है।

दंडेसु–असंयमी जीवों में मन, वचन, काय की विपरीत प्रवृत्ति को दण्ड कहते हैं।

संयम को धारण न करना असंयमभाव कहलाता है। असंयम अशुभभाव है और संयम शुभभाव है, इसलिए असंयमभाव से बचने का प्रयास करना चाहिये।

सल्लेसु—माया, मिथ्या और निदान ये तीन शल्य हैं। अन्तरंग में शल्य लग जाये तो बहुत पीड़ा देती है। जब वस्त्र में छोटी सी फाँस लग जाती है और बार-बार शरीर में चुभती है तो बहुत दु:ख होता है। आप बार-बार कपड़ों को देखते हो लेकिन दिखाई भी नहीं देती। जब खोजकर आप उसको निकाल देते हो तो सुखी हो जाते हो। ऐसे ही माया, मिथ्या और निदान ये तीन शल्य जीव को बहुत दु:ख देती हैं। ऐसी शल्यों में जो भाव होता है वह अशुभभाव कहलाता है।

गारवेसु—किसी-किसी को स्वयं के मान बढ़ाई की बात सुनने की तीव्र लालसा रहती है। वे भूखे-प्यासे रह जाएँ तो चल सकता है, लेकिन उनकी प्रशंसा नहीं हुई तो नहीं चल सकता। हर कोई हमारे लिये हर काम में आगे-आगे रखे, हर कार्य में हमारी पूछताछ हो, हमारी ही प्रशंसा हो, ऐसे जो भाव अन्तरंग में होते हैं, ये सब मान बढ़ाई के कारण हैं। ऐसे भाव अशुभभाव कहलाते हैं।

अगर आपका पुण्य होगा तो आपकी प्रशंसा अपने आप होगी। पुण्य का योग न हो तो घर के लोग भी चर्चा करना पसन्द नहीं करते और आप सोचते हो कि हमारी चर्चा तो सुधर्मा सभा में हो। ध्यान रखना, वे जीव महान पुण्यात्मा होते हैं जिनकी चर्चा सुधर्मा सभा में होती है। वे बिल्कुल भी नहीं चाहते कि हमारी चर्चा हो, प्रशंसा हो। अपनी प्रशंसा से उन्हें कोई मतलब नहीं, तो भी सुधर्मा सभा में भव्यजीवों के पुण्य से उनकी चर्चा होने लग जाती है। चाहने से कुछ नहीं मिलता, पुण्य से मिलता है। लोग अपनी मान बढ़ाई के लिए यहाँ तक करते हैं, अगर कोई दूसरा प्रशंसा नहीं करता तो अपनी प्रशंसा स्वयं कराने का उपाय करते हैं।

किसी नेता जी के लिये तीन माला की व्यवस्था हुई थी। नेता जी को पता चला, बस तीन ही माला। कोई बात नहीं उनने तुरन्त पैसा देकर कहा—जाओ, 25-5 मालाओं की व्यवस्था करो। कम-से-कम इतनी माला तो होनी ही चाहिए। मान बढ़ाई अशुभभाव होता है। **आपके द्वारा किया हुआ अच्छा कार्य, सदैव आपको प्रशंसा के योग्य बनाता है, इसलिए सदैव श्रेष्ठकार्य करो, अच्छे कार्य करो, मांगलिक कार्य करो, अपने आप आपकी मान बढ़ाई**

होगी। करनी नहीं पड़ती है, कहना भी नहीं पड़ता है, अपने आप हो जाती है। मान बढ़ाई में जो वर्तन करता है वह सब अशुभभाव कहलाता है। हम सभी को चाहिये कि इसतरह के जो भाव आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने बताये हैं, इन भावों से अपने को दूर रखने का प्रयास करें। निश्चित रूप से हमारी आत्मा का हित होगा। सभी के जीवन में अशुभभावों से निवृत्ति हो और शुभ व शुद्धभावों में प्रवृत्ति हो इसी मंगल भावना के साथ...

आर्त रौद्र ध्यानादि में, ईर्ष्या मान-बढ़ाई में।
माया-मिथ्या-निदानादि, शल्यों में दंडादि में।।
जो वर्तन होता, हो-हो-2, सब अशुभ कहाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2, संहिता दिखलाये रे।।

अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो

❑❑❑

(पृष्ठ नं. 420 का शेष)

अन्य अवस्था में नहीं।

भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेई साहुस्स।
तं अप्पसहावठिदे ण हु मण्णई सो वि अण्णाणी।।मो.पा. 76।।

भरतक्षेत्र में दुस्सम नामक पंचमकाल में मुनि के धर्मध्यान होता है तथा वह धर्मध्यान आत्मस्वभाव में स्थित साधु के होता है जो ऐसा नहीं मानता वह अज्ञानी है।

अज्ज वि तिरयणसुद्धा अप्पा झाएवि लहहि इंदत्तं।
लोयंतिय देवत्तं तत्थ चुआ णिव्वुदिं जंति।।77-मो.पा.।।

आज भी रत्नत्रय से शुद्धता को प्राप्त हुए मनुष्य आत्मा का ध्यान कर इन्द्रपद तथा लौकान्तिक देवों के पद को प्राप्त होते हैं और वहाँ से च्युत होकर निर्वाण को प्राप्त होते हैं।

'अद्यापि पंचमकालोत्पन्ना: समनस्का: पंचेन्द्रिया उत्तमकुलादि सामग्रीप्राप्तवैराग्येण गृहीतदीक्षास्त्रिरत्न शुद्धा: सम्यक्त्वज्ञानचारित्रनिर्मला वर्तन्त एव ये, कथयन्ति महाव्रतिनो न विद्यन्ते ते नास्तिका जिनसूत्रबाह्या:।' (मो.पा.टी. 77)

आज भी पंचमकाल में उत्पन्न सैनी पंचेन्द्रिय जीव उत्तम कुल आदि सामग्री को प्राप्त होकर वैराग्यवश दीक्षा धारण करते हैं तथा रत्नत्रय से शुद्ध रहते हैं अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के धारक रहते ही हैं किन्तु जो कहते हैं इस समय महाव्रती नहीं है। वे नास्तिक हैं उन्हें जिनशासन से बाह्य जानना चाहिए।

जिनदीक्षा में प्रदत्त भिक्षा ही सर्वोत्कृष्ट।

भगवती जिनदीक्षा में आचार्यदेव के द्वारा दीक्षार्थी को चरित्र की संपदा प्रदान की जाती है। दीक्षार्थी के जीवन की यह प्रथम सर्वोत्कृष्ट भिक्षा है जिसे प्राप्त करने के लिए वह यतिवल्लभ गुरुदेव के समक्ष विनम्र होकर, हाथ जोड़ विनयपूर्वक बार-बार याचक बनकर याचना करता है। चरित्र संपदा को प्राप्त कर अपने को ऋणी तथा गुरु को परमोपकारी मानकर सच्ची श्रद्धा करता है।

अतीत के अनंत भवों के पश्चाताप का फल वर्तमान भव में प्राप्त जिनदीक्षा ही है। आत्महित की सच्ची भावना रखने वाला जिनदीक्षा प्राप्त कर आनंदित होता है। सम्यग्दर्शन के आठ अंगों की चर्या करता हुआ सम्यक्चारित्र के मार्ग में विहरता है। द्रव्य-भाव श्रामण्य को अनुभव करता हुआ भी भाव श्रमणता को उत्कृष्ट मानकर पराश्रित द्रव्य श्रमणता से छूटने का उपाय करता है। परद्रव्य की इच्छा को मिष्ठ दूध में नींबू के समान अहितकारी मानता है। सदैव यत्नाचार पूर्वक क्रिया करता है। और गुरु द्वारा प्रदत्त चारित्र की संपदा का रक्षण करता हैं।

मुनिराज जब भाव श्रमणता में लीन होते हैं तब सहज ही निर्दोष होते हैं किन्तु जब द्रव्य श्रमणता का विकल्प आता है तब निर्दोष रहने का भाव रखना आवश्यक है। निर्दोष द्रव्य श्रमणता ही भाव श्रमणता प्राप्ति की योग्यता है। हमारे परमपूज्य निर्ग्रन्थ साधकों को इस कलिकाल में सजग रहने की आवश्यकता है। भाव श्रमणता के साथ द्रव्य श्रमणता में दोष पैदा करनेवाले साधन मोबाईल, लैपटॉप, जैसी वस्तुओं से दूर रहकर चरित्र की संपदा का रक्षण करना अनिवार्य है। तभी श्रमणता का सच्चा सुख मिलेगा।

'जयदु जिणागम पंथो।'
'जिनागम पंथ जयवंत हो।'

❑❑❑

(शुभभाव का लक्षण)

दव्वत्थिकाय छप्पण, तच्च पयत्थेसु सत्त णवगेसु।
बंधण-मोक्खे तक्कारणरूवे बारसणुवेक्खे।। 60।।

* अन्वयार्थ *

(**छप्पण दव्वत्थिकाय**) छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय (**सत्तणवगेसु तच्च-पयत्थेसु**) सात तत्त्व, नौ पदार्थ (**बंधण-मोक्खे**) बन्ध और मोक्ष, (**तक्कारणरूवे**) उसके कारणरूप (**बारसणुवेक्खे**) बारह अनुप्रेक्षाओं में जो वर्तन होता है वह शुभभाव है।

अर्थ—छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सात तत्त्व, नौ पदार्थ, बन्ध और मोक्ष, उसके (मोक्ष के) कारणरूप बारह अनुप्रेक्षाओं में जो वर्तन होता है वह शुभभाव है।

गाथा - 60

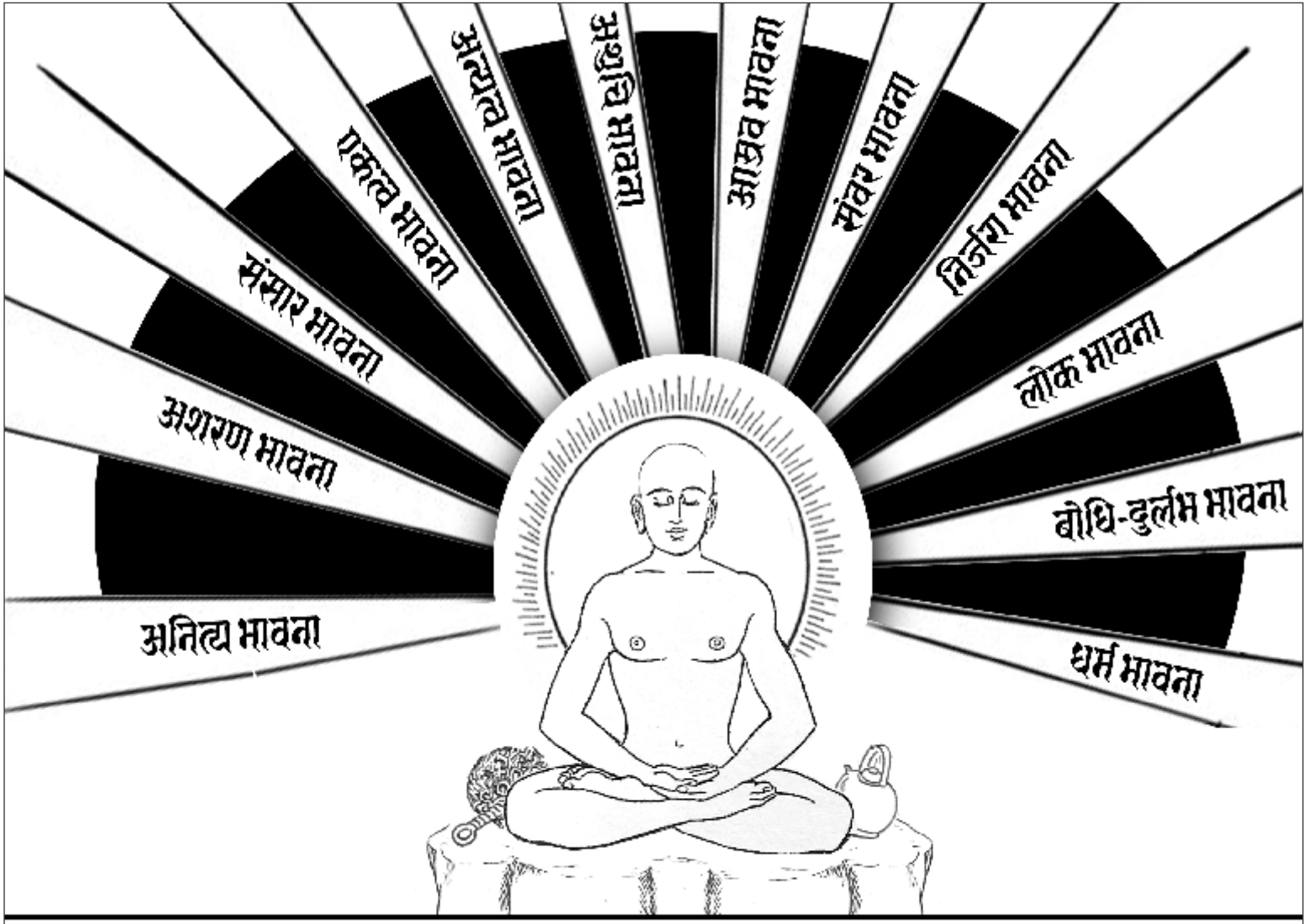
(प्रवचन)

●

मुक्ति योग्य शुभभाव दुर्लभ

25.09.2011

अशोकनगर (म.प्र.)



दिगम्बर जैन मुनि वैराग्य वृद्धि के लिए बारह भावनाओं का चिंतन करते हुए।

71

रयणोदय

सातत्त्व छहद्रव्य बताय, नौ पदार्थ पञ्चास्तिकाय।
बन्ध मोक्ष इनकी कारण, अनुप्रेक्षा जब हृदय समाय।।
इनमें प्रवृत्ति, हो-हो-2, शुभभाव कहाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2, संहिता दिखलाये रे।।

'**जयदु जिणागमपंथो**' अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

तीर्थंकर भगवंत की दिव्यध्वनि जिनश्रुत है, जिनागम है। जिनागम में वर्णित आत्म-कल्याणकारी मार्ग, आत्महितकारी पंथ '**जिनागम पंथ**' है। परस्पर रागद्वेष को बढ़ानेवाले आगमबाह्य पंथ उन्मार्ग हैं। वीतरागता को देनेवाला, '**परस्परोपग्रहो जीवानाम्**' का प्रतीक '**जिनागम पंथ**' सन्मार्ग है।

अहो आत्मन्! इस दुर्लभ मनुष्य पर्याय में आना अतीत की अनंत पर्यायों का पावन पुण्य पुरुषार्थ है। इस पर्याय में आने के बाद अनेक प्रकार के नहीं करने योग्य कार्यों को किया, अपने आप से ही शत्रुता कर बैठे, अपने आप से ही बैर बाँध लिया, अपने आप को ही दुःखी कर लिया, क्योंकि अशुभभाव में प्रवृत्ति बनी रही। आत्मधर्म को नहीं समझा, व्यवहार धर्म को नहीं

समझा, कषायों में प्रवृत्ति होने के कारण अपने आत्महित से दूर बने रहे। जब तक शुभभाव नहीं आता तब तक आत्मा अपने शुद्धस्वरूप को प्राप्त नहीं कर पाता। शुभभाव क्या हैं? आचार्य भगवन् कुंदकुंददेव श्री रयणसार जी ग्रंथ में बता रहे हैं–

दव्वत्थिकाय छप्पण, तच्चपयत्थेसु सत्तणवगेसु।।
बंधण-मोक्खे तक्कारणरूवे बारसणुवेक्खे।।60।।

अशुभभावों को जानकर उनका परित्याग और शुभभावों को जानकर उनका आश्रय करना चाहिये। हमारी आत्मा में शुभभाव कब होते हैं? शुभभाव यद्यपि ज्यादा जटिल नहीं हैं, लेकिन जटिल भी हैं। शुभभाव जटिल इसलिए नहीं हैं क्योंकि यह जीव जहाँ भी जिस पर्याय में जन्म लेता है उस पर्याय में उसका अपना परिवार होता है। प्रत्येक जीव अपने परिवार के प्रति यथायोग्य हित का भाव, दया का भाव, सुख का भाव रखता ही है। ये दया आदि परिणाम शुभभाव हैं, शुभभाव होने से उसको यथायोग्य पुण्य का संचय भी होता है। तथापि जो भाव आचार्य भगवन् मोक्ष में कारणभूत बता रहे हैं ऐसे शुभभाव का होना बहुत जटिल है। शुभभाव तो निगोदिया जीव से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त चारों गतियों में जन्म लेनेवाले सभी जीव करते हैं। ऐसा नहीं है कि सब जीवों के मात्र अशुभभाव ही हों, शुभभाव भी सभी जीव करते हैं। पुण्य का बंध भी सभी जीव करते हैं, लेकिन जो शुभभाव मोक्षमार्ग में कारण कहे गये हैं, ऐसे शुभभाव विरले जीवों के ही होते हैं।

वे शुभभाव आत्मा में कैसे उत्पन्न हों? हमें इस बात का विचार करना है। अशुभभाव कर-करके मैंने चारों गतियों में अनेकप्रकार के दु:ख सहे, कष्ट भोगे, दूसरों के द्वारा सताया गया, अथवा मैंने दूसरे जीवों को सताया, नाना प्रकार से स्व-पर को दु:ख देने में भी अनेक बार निमित्त बना। अब मैं जिससे दूसरे को दु:ख न हो और मुझे भी सुख प्राप्त हो, ऐसे शुभभाव का आश्रय करता हूँ। ऐसे शुभभाव के लिये अरिहन्त भगवान् ने छह द्रव्य कही हैं। जिस जीवात्मा के लिए छह द्रव्यों का श्रद्धान् है। वह शुभभाव को प्राप्त है। द्रव्य श्रद्धान् में जब उपयोग लगता है उस समय उसका श्रद्धान् रूप भाव शुभभाव है।

हम जिस लोक में रहते हैं, वह लोक तीन प्रकार से विभाग को प्राप्त है। ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक। इस लोक का कोई कर्ता नहीं है, यह लोक अनादि से है और अनंत काल तक ऐसा ही रहेगा। इसीलिए लोक को अनादि-अनिधन कहा गया है। इसे किसी ने बनाया नहीं है, स्वयमेव है। यह लोक छह द्रव्यों से भरा हुआ है। आकाश द्रव्य के जितने हिस्से में पाँच द्रव्य सहित आकाश द्रव्य पाई जाती है उसको लोक कहते हैं और जहाँ पर मात्र आकाश द्रव्य होता है अन्य पाँच द्रव्य—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल द्रव्य नहीं पाई जातीं उसको अलोक अथवा अलोकाकाश कहते हैं। जहाँ पर यह छह द्रव्यें पाई जाएँ उसको लोक अथवा लोकाकाश कहते हैं।

जीवद्रव्य—जिसमें ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि चेतन गुण पाये जाते हैं वह जीवद्रव्य है। हम सभी इन गुणों से हित-अहित, कार्य-अकार्य, लाभ-अलाभ का विचार कर पाते हैं इसीलिये हम सभी जीवद्रव्य हैं।

पुद्गलद्रव्य—जो भी अपनी आँखों से दिखाई दे रहा है वह सब पुद्गलद्रव्य है।

आकाशद्रव्य—जो जीव, पुद्गल एवं अन्य द्रव्यों को स्थान देता है उसे आकाश द्रव्य कहते हैं।

एक बात बताओ, दीवार में आकाश द्रव्य है यह कैसे जाना? यदि दीवार में आप कील ठोकना चाहें तो कील दीवार के अन्दर चली जाती है, इसका तात्पर्य है कि उस दीवार में भी आकाशद्रव्य है क्योंकि अन्य द्रव्यों को स्थान देना आकाशद्रव्य का ही काम है। इस लोक में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिस वस्तु के अन्दर आकाशद्रव्य न हो, आकाशद्रव्य सर्वत्र विद्यमान है। आप जिस मकान में रहते हो, वह मकान आकाश में है या मकान में आकाश है? आकाश में मकान है और मकान में आकाश है। ध्यान रखना, अगर मकान में आकाश नहीं होता तो तुम्हें रहने के लिए स्थान कैसे मिल पाता। समस्त द्रव्यों को रहने के लिए स्थान देना आकाश द्रव्य का कार्य है। इसलिए आकाश में मकान है और मकान में आकाश है। मोबाइल के लिये टावर से तरंगें आपके मकान से गुजर जाती हैं, आपकी जेब में रखा हुआ मोबाइल बता रहा है कि आपके मकान से तरंगे गुजर रही हैं। केवल आपके मकान से ही नहीं, वे तरंगें आपकी देह से भी गुजर रही हैं। लोक में जितने भी पदार्थ हैं सभी पदार्थों में आकाशद्रव्य विद्यमान है।

धर्मद्रव्य—जीव और पुद्गल क्रियाशील द्रव्यों के चलने में सहायक धर्मद्रव्य है। जैसे मछली को चलने के लिये पानी सहायक होता है, ट्रेन (Train) को चलने के लिए पटरी सहायक होती है ऐसे ही चलते हुए जीव और पुद्गल द्रव्यों को चलने में धर्मद्रव्य सहायक होता है। यद्यपि धर्मद्रव्य आँखों से दिखाई नहीं देता। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जो चीज आँखों से दिखाई नहीं देती उस चीज का अस्तित्व ही नहीं है। वायु आँखों से दिखाई देती है क्या? नहीं दिखाई देती। वायु का अस्तित्व है कि नहीं है? अस्तित्व है। कैसे जाना? वायु के स्पर्श गुण से जाना। इसीप्रकार जीव एवं पुद्गल को गमन करते हुए देखकर यह जान लिया जाता है कि धर्मद्रव्य विद्यमान है।

अधर्मद्रव्य—ठहरते हुए जीव और पुद्गलों के लिये ठहरने में जो सहयोगी होता है वह अधर्मद्रव्य है। यह अधर्मद्रव्य स्थिति में सहयोगी होती है, ठहरने में सहयोगी होती है।

अगर यह अधर्मद्रव्य न होती तो आप यहाँ बैठकर प्रवचन नहीं सुन पाते। धर्मद्रव्य न होती, तो आप घर से चलकर यहाँ तक नहीं आ पाते। धर्मद्रव्य का अधर्मद्रव्य का अपने जीवन में बहुत बड़ा उपकार है। धर्मद्रव्य का तात्पर्य धर्म नहीं है और अधर्मद्रव्य का तात्पर्य अधर्म नहीं है। ये अलग द्रव्यें हैं। इनके मात्र नाम हैं—धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य।

जिनशासन कहता है—जीव और पुद्गल को चलने में सहयोगी धर्मद्रव्य होता है और वैज्ञानिक कहते हैं—कोई ईथर नाम का द्रव्य है, उस ईथर नाम की द्रव्य के कारण जीव चलता है, गमन करता है। अब प्रश्न यह होता है—जिनधर्म में धर्मद्रव्य का स्वरूप कहा गया है वह अमूर्तिक है, लेकिन वैज्ञानिक जो ईथर द्रव्य कहते हैं वह पौद्गलिक है। इसलिए वैज्ञानिक जो ईथर द्रव्य बताते हैं, वे अभी जिनशासन में कही हुई धर्मद्रव्य को पहिचान ही नहीं पाये हैं। क्योंकि यह ईथर द्रव्य पौद्गलिक है और धर्मद्रव्य अमूर्तिक है। उसमें स्पर्श, रस, गंध और वर्ण नहीं है। पुद्गलद्रव्य में स्पर्श भी है, रस भी है, गंध भी है और वर्ण भी है। इस पुद्गलद्रव्य का जीव के प्रति बहुत उपकार है। पेट भरता है तो पुद्गलद्रव्य से भरता है। धर्मद्रव्य नहीं होता तो भोजन गले से नीचे नहीं उतरता क्योंकि वो गति में सहयोगी है। अगर अधर्मद्रव्य नहीं होता तो भोजन पेट में ठहरता नहीं। आकाशद्रव्य नहीं होता तो भोजन को स्थान कौन देता? कालद्रव्य

नहीं होता तो उस पुद्गल का परिणमन कैसे होता? इसलिए ध्यान रखना, ये छहों द्रव्य अपने जीवन संचालन में सहयोगी हैं। इस सांसारिक जीवन में छहों द्रव्यों का अपने ऊपर बड़ा उपकार है लेकिन हमें केवल अपने सांसारिक जीवन का ही उपकार नहीं करना, अपितु पारमार्थिक जीवन को प्राप्त करना है।

आचार्य भगवन् कुंदकुंददेव कहते हैं—पहले इसका निर्णय तो करलो कि ये लोक आखिर बनाया किसने है? लोक किसे कहते हैं? यह निर्णय जिनागम से होता है। आकाश द्रव्य के जितने हिस्से में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छहद्रव्य पाये जाते हैं उसे लोक कहते हैं। इन लोकवर्ती छहद्रव्यों के स्वरूप का यथार्थ श्रद्धान् करना चाहिये। ये छहद्रव्य ऐसे ही हैं, न अन्य हैं और न अन्य प्रकार से हैं। इतने ही हैं, न अधिक हैं, न कम हैं, ऐसा जिस जीव को श्रद्धान् हुआ है वह शुभभाववाला है और जिसे अभी इन छहद्रव्यों का श्रद्धान् नहीं हुआ वह पुण्य तो बाँध सकता है लेकिन यथार्थ श्रद्धान् न होने के कारण व्यवहार मार्ग से बाहर है। जो व्यवहार मार्ग से ही बाहर खड़ा हो वह निश्चय मार्ग में कैसे पहुँच सकता है? जिसे छहद्रव्यों का श्रद्धान् नहीं हुआ उसे जीवद्रव्य का श्रद्धान् कैसे हो सकता है? इन छहद्रव्यों का अपने ऊपर प्रतिसमय उपकार चल रहा है, अपने सुख-दुःख में, जीवन-मरण में इन छहों द्रव्यों का उपकार है। संसार में सुख और दुःख देना भी पुद्गलद्रव्य का उपकार है।

दुःख देनेवाला उपकारी होता है या अपकारी? अज्ञानी के लिये अपकारी होता है और ज्ञानी के लिए उपकारी होता है। अगर यह पुद्गल हमें दुःख न देता तो हम कभी भी अविनाशी सुख की खोज न कर पाते। आचार्य कहते हैं—पुद्गलद्रव्य अगर दुःख भी देता है तो ये भी बड़ा उपकार है। अगर यह शरीर अपने को दुःख देता है तो अपने ऊपर उपकार करता है या अपकार? उपकार भी करता है और अपकार भी करता है। उपकार तब होता है जब हम दुःख के समय धर्म की शरण में जाते हैं। कहा भी है—

दुख में सुमरन सब करें, सुख में करे न कोय।
जो सुख में सुमरन करे, दुःख काहे को होय।।

जब दुःख आता है तभी परमात्मा का स्मरण हो पाता है। दुःख के समय ही भगवान् की शरण अच्छी लगती है। हे परमात्मा! इस संसार में सच्चे साथी आप ही हो, आपके अलावा अब

मेरा कोई नहीं, ये सब स्मरण करानेवाला कौन है? दु:ख है। सुख के क्षणों में भगवान् याद नहीं आते, भोगों के साधन ही याद आते हैं। भोग के साधन ऐसे प्रतीत होते हैं कि तुम ही परमात्मा हो, तुम्हीं सुख दे रहे हो। लेकिन यथार्थ यह है कि आपका पुण्य ही आपके लिये सुख देता है और आपका पाप ही आपके लिये दु:ख देता है। और ये पुण्य-पाप कर्म कैसे हैं? पौद्गलिक हैं। इसलिए पुद्गल का भी उपकार है।

पण अत्थिकाय–अस्तिकाय पाँच होते हैं। अस्तिकाय किसे कहते हैं? अस्ति यानि 'है' और काय यानि 'बहुप्रदेशी' अर्थात् जिन द्रव्यों के बहुत प्रदेश हैं उन द्रव्यों को अस्तिकाय कहते हैं। छहद्रव्यों में जीवद्रव्य, पुद्गलद्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और आकाशद्रव्य ये पाँच द्रव्य बहुप्रदेशी हैं। इन पाँचों द्रव्यों में एक से अधिक अर्थात् बहुत प्रदेश पाये जाते हैं। कालद्रव्य एकप्रदेशी है। इसप्रकार पाँच अस्तिकाय कहे जाते हैं, एवं कालद्रव्य को बहुप्रदेशी न होने के कारण अस्तिपना तो है लेकिन कायवान अर्थात् बहुप्रदेशी नहीं कहते।

एक जीवद्रव्य के असंख्यातप्रदेश होते हैं। अपनी आत्मा के असंख्यात प्रदेश हैं। ऐसा सच्चा श्रद्धान् रखना चाहिये। जीवद्रव्य चाहे छोटे शरीर में हो और चाहे बड़े शरीर में हो, प्रदेश उसके असंख्यात ही रहते हैं। आत्मा के असंख्यात प्रदेश कभी कम होनेवाले नहीं हैं और न कभी अधिक होनेवाले हैं। चाहे जीव चींटी से लेकर हाथी तक किसी भी पर्याय में क्यों न हो। तुम्हारी आत्मा के असंख्यात प्रदेश हमेशा तुम्हारे साथ रहेंगे, अनादि से साथ रहे हैं और आज भी साथ हैं। उतने ही हैं, न कम होंगे, न ज्यादा होंगे, फिर किस बात का दु:ख है? अहो! दु:ख तो इस बात का है कि हमने आज तक जिनेन्द्र भगवान् के प्रति श्रद्धा नहीं की है। जीव को दु:ख इसलिये होता है कि मैं मर जाऊँगा। ध्यान रखना, तुम्हारी आत्मा के असंख्यात प्रदेश किसी भी अवस्था में न कम होनेवाले हैं और न अधिक होनेवाले हैं। इसलिए न हर्ष मनाना चाहिये और न दु:ख मानना चाहिये। हम जैसे हैं वैसे ही हैं। ऐसा दृढ़ श्रद्धान् होने के बाद फिर मृत्यु से भय नहीं रहता, क्योंकि जिनेन्द्र भगवान् की वाणी का श्रद्धान् कर लिया है, पाँच अस्तिकायों का हमने श्रद्धान् कर लिया है।

एक बात बताओ, आपकी आत्मा के असंख्यात प्रदेश हैं और जिससमय आपने भरपेट भोजन कर लिया है उससमय आपकी आत्मा के कितने प्रदेश रहेंगे? भोजन करने पर भी

असंख्यात ही रहेंगे। इसका अर्थ यह हुआ कि जीवद्रव्य के प्रदेश दूसरे द्रव्य के प्रदेशों के साथ मिलते नहीं हैं। एकद्रव्य के प्रदेश दूसरी द्रव्य के प्रदेश के साथ मिलते नहीं हैं। अगर एक द्रव्य के प्रदेश दूसरी द्रव्य के साथ मिलते होते तो जीवद्रव्य के प्रदेश भोजन करते ही कुछ बढ़ जाते और भोजन के पचते ही प्रदेश कम हो जाते। जो लोग दस-दस उपवास करते हैं उनके तो बहुत सारे आत्मप्रदेश कम हो जाते? ध्यान रखना, चाहे कोई दस उपवास करे और चाहे कोई कितना भी भोजन कर ले आत्मा के प्रदेश जितने हैं, उतने ही हैं, न बढ़नेवाले न घटनेवाले हैं। तुम जीवद्रव्य, जीवास्तिकाय जैसे हो वैसे ही हो।

जिनेन्द्र भगवान् की वाणी का इसप्रकार से जिन्हें अस्तिकायरूप से श्रद्धान् हुआ है वह जीव शुभभाव में स्थित है। पुद्गल अस्तिकाय के कितने प्रदेश होते हैं? पुद्गलों के संख्यात, असंख्यात और अनंत प्रदेश भी होते हैं। क्योंकि पुद्गल आपस में एक-दूसरे से मिलते भी हैं और एक-दूसरे से विखंडित भी हो जाते हैं। पुद्गल के दो भेद होते हैं—स्कन्ध और परमाणु। वैज्ञानिकों ने तो तीस-चालीस साल में ही ये चर्चा की है, इसके पहले वैज्ञानिकों का उदय नहीं था। लेकिन यह बात जिनेन्द्र भगवान् और आचार्य भगवन् उमास्वामी महाराज कितने समय पहले कहकर चले गये, कि पुद्गल होता है। पुद्गल के दो भेद होते हैं—स्कन्ध और परमाणु। जब कोई पुद्गल विखंडित होकर उस अवस्था में पहुँच जाए जब उसका पुनः विखण्डन न हो सके, उसे परमाणु कहते हैं। और जब अनेक परमाणु आपस में मिल जाएँ तो स्कन्ध बन जाता है। इसतरह पुद्गलद्रव्य के दो भेद हैं – परमाणु और स्कन्ध। पुद्गल परमाणु आपस में यदि मिलते जाएँ तो संख्यात प्रदेश, असंख्यात प्रदेश और अनंत प्रदेश तक हो सकते हैं इसलिए पुद्गल अस्तिकाय है, बहुप्रदेशी है।

धर्मद्रव्य के असंख्यात प्रदेश होते हैं। अधर्मद्रव्य के भी असंख्यात प्रदेश होते हैं। आकाश यानि लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश और आकाशद्रव्य यानि अलोकाकाश के अनंत प्रदेश होते हैं। "**आकाशस्यानंताः**" आकाशद्रव्य के अनन्त प्रदेश होते हैं। इसप्रकार जिन्होंने पञ्चास्तिकाय का श्रद्धान् किया है वे भव्यजीव जिनेन्द्र भगवान् द्वारा कहे गये छहद्रव्यों का चिंतन करते हैं, पञ्चास्तिकाय के चिंतन में लगे रहते हैं, अपने उपयोग को वहाँ लगाये रहते हैं, आचार्य भगवन् कहते हैं—उनके भाव शुभभाव हैं।

आचार्य भगवन् आगे कहते हैं–''**सत्तणवगेसु तच्चपयत्थेसु**'' तत्त्व सात होते हैं। जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष, ये जिनेन्द्र भगवान् ने सात तत्त्व कहे हैं। जो इन सात तत्त्वों का श्रद्धान् करता है, सात तत्त्वों के चिंतन में अपने उपयोग को लगाता है वह शुभोपयोगी है। जिसमें जानने-देखने की शक्ति होती है उसे जीव कहते हैं। जिसमें जानने-देखने की शक्ति नहीं होती है उसे अजीव कहते हैं।

कर्मों के आगमन द्वार को आस्रव कहते हैं। आत्मप्रदेशों के साथ कर्मप्रदेशों का एकक्षेत्रावगाह संश्लेष संबंध बंध कहलाता है। आस्रव का निरोध संवर है। आत्मप्रदेशों से कर्मों का एकदेश झड़ जाना निर्जरा है। समस्त कर्मों का छूट जाना मोक्ष कहलाता है। इनमें पुण्य-पाप को जोड़ देने से नव पदार्थ होते हैं।

आचार्य कुंदकुंददेव कहते हैं–बंध कथंचित् दु:ख का कारण है, मोक्ष सर्वथा सुख का कारण है ऐसा चिंतन करना शुभभाव है। बंधमुक्ति एवं मोक्षप्राप्ति के लिये बारह अनुप्रेक्षाएँ माता के समान हितकारी हैं। छहढाला में कहा भी है–

मुनि सकलव्रती बड़भागी, भव भोगन तैं वैरागी।
वैराग्य उपावन माई, चिन्तैं अनुप्रेक्षा भाई।।

अनुप्रेक्षा बारह हैं–**1. अनित्यानुप्रेक्षा**–संसार में कुछ भी ध्रुव अर्थात् नित्य नहीं है, ऐसा चिन्तन करने को अध्रुव या अनित्यानुप्रेक्षा कहते हैं।

2. अशणानुप्रेक्षा–संसार में जीव को कोई भी शरण नहीं है, ऐसा चिंतन करने को अशरण अनुप्रेक्षा कहते हैं।

3. संसारानुप्रेक्षा–जिसमें जीव संसरण-परिभ्रमण करते रहते हैं उसे संसार कहते हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव के भेद से वह संसार पाँच प्रकार का है, उसका चिंतन करने को संसार अनुप्रेक्षा कहते हैं।

4. एकत्वानुप्रेक्षा–एक आत्मा के भाव को एकत्व कहते हैं। जीव के एकत्व-अकेलेपन के चिंतन करने को एकत्व अनुप्रेक्षा कहते हैं।

5. अन्यत्वानुप्रेक्षा–शरीर आदि अन्य वस्तुओं के भाव को अन्यत्व कहते हैं। आत्मा से

शरीर आदि पृथक् हैं ऐसा चिन्तन करने को अन्यत्व अनुप्रेक्षा कहते हैं।

6. अशुचित्वानुप्रेक्षा—अशुचि-अपवित्र शरीर के भाव को अशुचित्व कहते हैं शरीर की अपवित्रता का चिंतन करना अशुचित्व अनुप्रेक्षा है।

7. आस्रवानुप्रेक्षा—कर्मों के आने को आस्रव कहते हैं। कर्मों के आस्रव का चिन्तन करना आस्रव अनुप्रेक्षा है।

8. संवरानुप्रेक्षा—आस्रव के रोकने को संवर कहते हैं। कर्मों के संवर का चिंतन करना संवरानुप्रेक्षा है।

9. निर्जरानुप्रेक्षा—कर्मों के एक देश क्षय होने को निर्जरा कहते हैं। उसका चिंतन करना निर्जरा अनुप्रेक्षा है।

10. लोकानुप्रेक्षा—जिसमें जीवादिक पदार्थ पाये जाते हैं उसको लोक कहते हैं। लोक का चिंतन करना लोकानुप्रेक्षा है।

11. बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा—ज्ञान की प्राप्ति बड़े कष्ट से होती है, अतः वह दुर्लभ है। उसका चिंतन करना बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा है।

12. धर्मानुप्रेक्षा—जो उत्तम स्थान में धरता है उसे धर्म कहते हैं। उसका चिंतन करना धर्मानुप्रेक्षा है।

सात-तत्त्व छह-द्रव्य बताय, नौ पदार्थ पञ्चास्तिकाय।
बन्ध मोक्ष इनकी कारण, अनुप्रेक्षा जब हृदय समाय।।
इनमें प्रवृत्ति, हो-हो-2, शुभभाव कहाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो-2, संहिता दिखलाये रे।।

अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो

❑❑❑

Jain New Year

• श्रमणाचार्य विमर्शसागर

हम गौरवान्वित हैं जो जैनकुल में हमारा जन्म हुआ। जैनधर्म कोई प्राचीन-अर्वाचीन नहीं है, जैनधर्म तो अनादि अनिधन है, शाश्वत है। हमें अपनी जैन संस्कृति पर गौरव होना चाहिये। वर्तमान में हम आधुनिकता के इतने दास बन चुके हैं कि हमारी अनादि अनिधन शाश्वत संस्कृति विस्मृत सी हो चली है। हम एक जनवरी को ईशामसीह की स्मृति में चलाये गये 'न्यू ईयर' (New Year) को तो भारी हर्षोल्लास से मनाते हैं। पर हम भूल चुके हैं कि हमारे वर्तमान शासन नायक विश्वगुरु भगवान महावीर स्वामी के निर्वाण महोत्सव की स्मृति में भी जैन संस्कृति में एक संवत् चलता है। जिसे हम वीर निर्वाण संवत् कहते हैं। कार्तिक कृष्णा अमावस्या के दिन भगवान महावीर स्वामी ने निर्वाण प्राप्त किया था, जिसे हम दीपावली पर्व के रूप में मनाते हैं। भगवान महावीर स्वामी के निर्वाण के अगले दिन से अर्थात् कार्तिक सुदी एकम् से यह 'वीर निर्वाण संवत्' प्रारंभ हुआ था। जो अनवरत रूप से सम्प्रति काल तक प्रवर्त रहा है। वीर निर्वाण संवत्, पूरी दुनिया में विभिन्न धर्मों के महापुरुषों के नाम पर चलने वाले सम्प्रतिकाल में जितने भी संवत् हैं उन सबसे प्राचीन है। वर्तमान में हिजरी, विक्रम, शक्, गुप्त आदि अनेक संवत् प्रचलन में हैं। जिनमें सर्वाधिक प्राचीन वीर निर्वाण संवत् है। इसकी पुष्टी आमेर म्यूजियम में रखे एक प्राचीन शिलालेख से भी होती है। साथ ही भारतीय साहित्य मनीषा भी इसके प्रमाणों से पुष्ट है।

1. **वीर निर्वाण संवत्**– भगवान महावीर के निर्वाण होने के अगले दिन से अर्थात् कार्तिक सुदी एकम् से प्रारंभ हुआ।
2. **विक्रम संवत्**– यह संवत् राजा विक्रम से संबंधित है एवं महावीर निर्वाण के 470 वर्ष बाद प्रारंभ हुआ।
3. **शक् संवत्**– यद्यपि यह संवत् वर्तमान में प्रचलन में नहीं है, किन्तु इतिहास के परिप्रेक्ष्य में यह ज्ञात होता है कि यह संवत् कभी दक्षिण देश में प्रचलित था। यह संवत् भृत्यवंशी गौतमी पुत्र राजा सातकर्णी शालीवाहन ने शुरु किया था जो कि भगवान महावीर स्वामी के निर्वाण के 605 वर्ष बाद शुरु हुआ।
4. **शालीवाहन संवत्**– यह संवत् भी वर्तमान में प्रचलन में नहीं है, यह किसी समय दक्षिण देश में प्रचलन में था। यह भगवान महावीर के निर्वाण के 741 वर्ष पश्चात् प्रारंभ हुआ।
5. **ईस्वी संवत्**– यह संवत् ईशामसीह के मरण उपरान्त यूरोप में प्रचलित हुआ। यह अंग्रेजी साम्राज्य के मध्य सारी दुनिया में फैला। यह भगवान महावीर स्वामी के निर्वाण के 725 वर्ष पश्चात् प्रारंभ हुआ।
6. **गुप्त संवत्** – इस संवत् की स्थापना गुप्त साम्राज्य के प्रथम सम्राट चन्द्रगुप्त ने अपने राज्याभिषेक के समय की थी। भगवान महावीर स्वामी के निर्वाण के 846 वर्ष बाद यह संवत् प्रारंभ हुआ।
7. **हिजरी संवत्** – यह संवत् पैगम्बर मोहम्मद साहब के मक्का से मदीना जाने के समय से उनकी हिजरत में वीर निर्वाण के 1120 वर्ष बाद स्थापित हुआ। इसी को मुहर्रम या शवान सन् भी कहते हैं।
8. **मघा संवत्** – यह संवत् भगवान महावीर के निर्वाण के 1003 वर्ष पश्चात् प्रारंभ हुआ था। इस संवत्सर का प्रयोग कहीं भी देखने में नहीं आता। मात्र महापुराण 76-399 से सिद्ध होता है।

हमारा जैन नववर्ष अर्थात् वीर निर्वाण संवत् (कार्तिक सुदी एकम्) है। हमें अपने इस संवत् पर गर्व होना चाहिये। घर-घर में जैन नववर्ष की खुशियाँ मनाई जानी चाहिये। प्रतिवर्ष-इस दिन अपने घर की देहरी पर एक दीप अवश्य जलायें, रंगोलियाँ सजायें, खुशी भरे शुभकामनाओं से सजे ग्रीटिंग एवं मोबाईल पर जैन नववर्ष (Jain NewYear) की बधाईयाँ प्रेषित करें। सभी को बतायें कि आज से हमारा नववर्ष प्रारंभ हो रहा है। अपने जैनत्व का बहुमान करें, गौरव करें, सम्मान करें। आप सभी को जैन नववर्ष की हार्दिक शुभकामनायें एवं ढेर सारा आशीष।

'जयदु जिणागम पंथो।'

'जिनागम पंथ जयवंत हो।'

शुभभाव का लक्षण

रयणत्तयस्सरूवे अज्जाकम्मे दयादिसद्धम्मे।
इच्चेव माइगे जो, वट्टदि सो होदि सुहभावो।। 61।।

* अन्वयार्थ *

(**रयणत्तयस्सरूवे**) रत्नत्रय-स्वरूप (**अज्जाकम्मे**) आर्यकर्म, (**दयादिसद्धम्मे**) दया आदि सद्धर्म (**इच्चेव माइगे**) इत्यादि में (**जो वट्टदि**) जो वर्तन होता है; (**सो**) वह (**सुहभावो**) शुभभाव (**होदि**) होता है।

अर्थ–रत्नत्रय स्वरूप, आर्यकर्म, दया आदि सद्धर्म इत्यादि में जो वर्तन होता है; वह शुभभाव होता है।

गाथा - 61

(प्रवचन)

●

रत्नत्रय शुभ भाव है

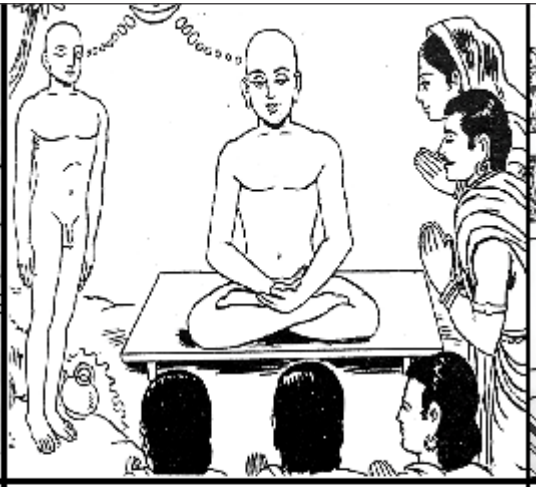
26.09.2011

अशोकनगर (म.प्र.)

श्रावक के षट् आवश्यक कर्तव्य



देवपूजा



गुरुउपासना



स्वाध्याय



संयम



तप



दान

73

रयणोदय

अनुप्रेक्षाओं का चिंतन, रत्नत्रय की लगी लगन।
आर्यकर्म में उत्साही, दयाधर्म का हो पालन।।
शुभभाव सुख का, साधन कहलाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो- 2 संहिता दिखलाये रे।।

'**जयदु जिणागमपंथो**' अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो।

तीर्थंकर भगवंत की दिव्यध्वनि जिनश्रुत है, जिनागम है। जिनागम में वर्णित आत्म-कल्याणकारी मार्ग, आत्महितकारी पंथ '**जिनागम पंथ**' है। परस्पर रागद्वेष को बढ़ानेवाले आगमबाह्य पंथ उन्मार्ग हैं। वीतरागता को देनेवाला, '**परस्परोपग्रहो जीवानाम्**' का प्रतीक '**जिनागम पंथ**' सन्मार्ग है।

जिसके जीवन में अर्थ है, उसके जीवन का अर्थ है। जिसके जीवन में अर्थ नहीं, उसके जीवन का कोई अर्थ नहीं। ऐसी धारणा लिये सम्राट एक युवा साधक के पास पहुँचा। सविनय नमन-वंदन निवेदित कर कहता है—भो साधक! तुम्हारे भाग्य ने तुम्हें धोखा दिया है, मैं तुम्हें भोग-उपभोग के सभी साधन दे सकता हूँ। युवा सन्यासी सम्राट से कहता है—

भो राजन्! भाग्य ने किसे धोखा दिया है ये तुम नहीं जानते...। पता नहीं दुर्भाग्य मेरा है या तेरा।

सारी दुनिया का मालिक भी छोटा है और सारी दुनिया का त्यागी भी बड़ा है। मृत्यु के समय जो सारी दुनिया का मालिक है वो हार जायेगा और जिसने इस दुनिया को ठोकर मार दी, वो मृत्यु को भी जीत लेता है। मृत्यु की बेला में जीवन को खोना नहीं प्राप्त करना ही साधना है। मृत्यु को जीतनेवाला हमेशा के लिये विजेता बन जाता है।

मृत्यु से हारने का नहीं मृत्यु को जीतने का पुरुषार्थ करो। सारा जगत अनित्य में नित्य का चिन्तनकर स्वयं को छल रहा है। अनित्य में नित्य का चिन्तन राग को पैदा करता है और अनित्य में अनित्य का चिन्तन वैराग्य को जन्म देता है।

वैराग्य के गर्भ से ही रत्नत्रय धर्म का जन्म संभव है। रत्नत्रय की साधना शुभभाव है। व्यवहाररत्नत्रय की शुभ साधना ही निश्चयरत्नत्रय स्वरूप शुद्धात्म प्राप्ति का साक्षात् कारण है। व्यवहाररत्नत्रय को धारण किये बिना कभी आत्मा की शुद्ध अवस्था को प्राप्त नहीं किया जा सकता। आचार्य गुरुदेव विरागसागर जी महामुनिराज अपनी रत्नत्रयवर्धिनी टीका में रत्नत्रय को शुभभाव बताते हुये लिखते हैं–

''सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय के स्वरूप में स्थित आत्मा शुभभाव रूप होती है, अर्थात् शुभभाव युक्त होती है। और आर्यकर्म में, छह आवश्यक कृत्यों में स्थित यदि आत्मा होती है तो उसे शुभभाव युक्त जानना चाहिए।''

गृहस्थों की अपेक्षा से छह आवश्यक पद्मनन्दि, पञ्चविंशतिका ग्रन्थ (6/7) में इसप्रकार कहे गये हैं।

देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने।।

अर्थात् देवपूजा, गुरुउपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान ये गृहस्थों द्वारा प्रतिदिन किये जानेवाले छह आवश्यक कृत्य हैं।

तपोधनों की अपेक्षा भी छह कर्तव्य मूलाचार ग्रन्थ (गाथा-22) में इसप्रकार हैं–

समदा थवो य वंदण पाडिक्कमणं तहेव णादव्वं।
पच्चक्खाण विसग्गो करणीयावासया छप्पि।।

अर्थात् समता (सामायिक), चतुर्विंशति स्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, व्युत्सर्ग (कायोत्सर्ग) इन छह आवश्यक कर्तव्यों को जानना चाहिए।

आर्य यानि श्रेष्ठ पुरुष। वे आर्य पाँच प्रकार के होते हैं–क्षेत्रार्य, जात्यार्य, कर्मार्य, चारित्रार्य और दर्शनार्य, ऐसा राजवार्तिक (3/36/2) में स्पष्ट किया गया है। इनमें सम्यग्दर्शन से जो श्रेष्ठ होते हैं वे दर्शनार्य होते हैं। इन आर्यों का जो 'व्यवहार चारित्र' होता है, वही आर्यकर्म है। इसमें आत्मा को शुभभाव परिणत जानना चाहिए।

दयादिसद्धर्मे–दया आदि धर्म में। यहाँ आदि पद से रत्नत्रय धर्म, सम्यक्चारित्र धर्म आदि का ग्रहण करना चाहिए।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ में गाथा-478 में भी इन धर्मों के भेदों का कथन है।

वत्थुसहावो धम्मो खमादिभावो य दसविहो धम्मो।
रयणत्तयं च धम्मो, जीवाणं रक्खणं धम्मो।।

वस्तु का स्वभाव धर्म है। उत्तम क्षमा आदि धर्म हैं जो दसप्रकार का होता है। रत्नत्रय भी धर्म है और जीवों की रक्षा भी धर्म है। गृहस्थ-श्रावक और गृहत्यागी मुनि के योग्य जो कर्तव्य नियत हैं उनसे युक्त आत्मा शुभभावों वाली होती है ऐसा जानना चाहिए। जहाँ रत्नत्रय स्वरूप का चिन्तन है वहीं आर्यकर्म है। आर्यखण्ड में जन्म लेने से मात्र हमारी देह आर्य है, इस देह को प्राप्त कर जो रत्नत्रय धर्म का पालन करता है, वो ही सच्चा आर्य है। आर्यकर्म में लीन जीव नियम से सुगति का पात्र बनेगा और क्रमशः अपना मोक्षमार्ग प्रशस्त कर आत्मा के क्रमिक विकास को प्राप्त हुआ एक दिन निर्वाण को पाता है।

अनुप्रेक्षाओं का चिंतन, रत्नत्रय की लगी लगन।
आर्यकर्म में उत्साही, दयाधर्म का हो पालन।।
शुभभाव सुख का, साधन कहलाये रे...
रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु-श्रावक की, हो-हो- 2 संहिता दिखलाये रे।।

अनादि अनिधन जिनागम पंथ जयवंत हो

❑❑❑

रयणसार पद्यानुवाद

(आचार्य विमर्शसागर)

रयणसार चारित्र प्रधान, ग्रंथ कहाये रे।
साधु - श्रावक की, हो-हो-2, संहिता दिखलाये रे।।

- ग्रंथ पढ़ो निर्ग्रंथ बनो, मोक्षमार्ग को सभी चुनो।
गुरुमुख से जिनवाणी को, सुनो-सुनो सब भव्य सुनो।।
जिनवाणी सच्चा, हो-हो-2, सुखमार्ग दिखाये रे - ऽऽ। रयणसार...

1. (i) वर्द्धमान जिन नमन-नमन, मन-वच-काया से वंदन।
रयणसार को कहता हूँ, सुनलो श्रावक और श्रमण।।
जिनवर की स्तुति, हो-हो-2, सब विघ्न नशाये रे - ऽऽ। रयणसार...

(ii) प्रथम मंगलाचरण करो, फिर आहार - विहार करो।
मोक्षमार्ग अपनाओ या, कोई लोक - व्यवहार करो।।
मंगल से जीवन, हो-हो-2, मंगल बन जाये रे - ऽऽ। रयणसार...

2. जिनवर ने जिसको बोला, गणधर ने जिसको खोला।
सभी पूर्व आचार्यों ने, अन्तरंग से जो तोला।।
आगमवाणी ही, हो-हो-2, समदृष्टि सुनाये रे - ऽऽ। रयणसार...

3. जो कोई मति-श्रुतज्ञानी, बोले गर स्वछंद वाणी।
मिथ्यादृष्टि कहलाता, है यह कुंदकुंद - वाणी।।
जिनमार्गी का, हो-हो-2, नहिं वचन कहाये रे - ऽऽ। रयणसार...

4. (i) सम्यग्दर्शन सार कहा, शिवतरु का आधार कहा।
यह सम्यग्दर्शन भैया, निश्चय व व्यवहार कहा।।
सम्यग्दृष्टि ही, हो-हो-2, रत्नों को पाये रे - ऽऽ। रयणसार...

(ii) मोक्षमार्ग अपनाना है, सम्यग्दर्शन पाना है।
आतमरुचि जगाने को, भेदज्ञान प्रगटाना है।।
सम्यग्दृष्टि ही, हो-हो-2, सच्चा सुख पाये रे - ऽऽ। रयणसार...

(iii) सच्चे - गुरु को पहचानो, कुगुरु को कुगुरु जानो।
सद्गुरु की शरणा पाकर, मोक्षमार्ग सच्चा मानो।।
सद्गुरु बिन कोई, हो-हो-2, भवपार न जाये रे - ऽऽ। रयणसार...

(iv) देव - शास्त्र - गुरु को ध्याओ, सम्यग्दर्शन को पाओ।
तत्त्वों का श्रद्धान् करो, स्वात्माभिमुख हो जाओ।।
स्वसंवेदन ही, हो-हो-2, सम्यक्त्व कहाये रे - ऽऽ। रयणसार...

(v) अपनी भूल सँभालोगे, सम्यग्दर्शन पा लोगे।
देह बसे निज आतम में, परमातम प्रगटा लोगे।।
सम्यग्दर्शन बिन, हो-हो-2, प्रभु नजर न आये रे - ऽऽ। रयणसार...

(vi) तत्त्वों का श्रद्धान् करो, सम्यग्दर्शन - ज्ञान वरो।
जो आतमहित का हेतु, वह वैराग्य महान वरो।।
रागी-द्वेषी बन, हो-हो-2, क्यों दुःख उपजाये रे - ऽऽ। रयणसार...

5. (i) भव-तन-भोग विरक्त कहा, आत्मगुणों से युक्त अहा।
भय-मल-व्यसन-रहित होता, पंचगुरु का भक्त कहा।।
वह सम्यग्दृष्टि, हो-हो-2, निर्दोष कहाये रे - ऽऽ। रयणसार...

(ii) व्यसन सदा दुःख देते हैं, सबका सुख हर लेते हैं।
इसीलिए सम्यग्दृष्टि, व्यसन त्याग कर देते हैं।।
व्यसनों में फँसकर, हो-हो-2, क्यों पुण्य नशाये रे - ऽऽ। रयणसार...

(iii) स्वारथ का संसार कहा, तन को अशुचि असार कहा।
भोग सदा दुःख के कारण, चिंतन यह सुविचार कहा।।
सम्यक्त्वी इनमें, हो-हो-2, वैराग्य दिखाये रे - ऽऽ। रयणसार...

(iv) पंच - महागुरु को वंदन, चरण धूलि इनकी चंदन।
निःशंकित वसु अंगों का, करो भाव से अभिनंदन।।
सम्यक्त्वी इनमें, हो-हो-2, भक्ति दिखलाये रे - ऽऽ। रयणसार...

6. सम्यग्दर्शन जब आता, मिथ्यादर्शन खो जाता।
सम्यग्दृष्टि जीव सदा, निज शुद्धातम को ध्याता।।
सम्यग्दर्शन ही, हो-हो-2, भव दुःख नशाये रे - ऽऽ। रयणसार...

7. षट्-अनायतन तजो-तजो, मद छोड़ो मूढ़ता तजो।
शंका-दोष-व्यसन-भय को, अतिचारों को तजो-तजो।।
सम्यग्दृष्टि में, हो-हो-2, नहिं दोष दिखाये रे - ऽऽ। रयणसार...

8. वसु - द्वादश मूलोत्तर गुण, भय अनुप्रेक्षा सप्त व्यसन।
पच्चीस मल अतिचार रहित, विघ्नरहित-भक्ति पावन।।
सतहत्तर श्रावक, हो-हो-2, के गुण कहलाये रे - ऽऽ। रयणसार...

9. देव-शास्त्र-गुरु भक्त कहा, भव-तन-भोग विरक्त अहा।
रत्नत्रय संयुक्त सदा, शिवसुख में अनुरक्त अहा।।
सम्यग्दृष्टि ही, हो-हो-2, सच्चा सुख पाये रे - ऽऽ। रयणसार...

10. दान शील पूजा उपवास, व्रत से होता कर्म विनाश।
सम्यग्दर्शन साथ अगर, अहो! मोक्ष सुख होता पास।।
सम्यग्दर्शन बिन, हो-हो-2, संसार बढ़ाये रे - ऽऽ। रयणसार...

11. श्रावक पूजा - दान करे, साधु अध्ययन - ध्यान करे।
कर्तव्यों का पालन कर, सुख का अनुसंधान करे।।
इस बिन न श्रावक, हो-हो-2, न साधु कहाये रे - ऽऽ। रयणसार...

12. श्रावक होकर दान नहीं, हृदय धर्म सम्मान नहीं।
न्यायपूर्वक भोग नहीं, त्याग नहीं बहिरात्म वहीं।।
लोभी पतंगा, हो-हो-2, मृत्यु दुख पाये रे - ऽऽ। रयणसार...

13. जो मुनियों को दान करे, जिनपूजा बहुमान करे।
सम्यग्दृष्टि धर्मातम, श्रावक ऐसा नाम धरे।।
शिवमार्ग में रत, हो-हो-2, श्रावक कहलाये रे - ऽऽ। रयणसार...

14. श्रावक शुद्ध - हृदयवाला, जिनपूजा करनेवाला।
प्रभु-पूजा का फल पाता, सुरगण से पूजा जाता।।
उत्तम दानी ही, हो-हो-2, शिवसुख को पाये रे - ऽऽ। रयणसार...

15. श्रावक भोजन - दान करे, जीवन धन्य महान करे।
पात्रापात्र विचार नहीं, जिनलिंग का श्रद्धान करे।।
जिनमुद्रा लखकर, हो-हो-2, श्रद्धा दिखलाये रे - ऽऽ। रयणसार...

16. जो सुपात्र को दान करे, अतिशय पुण्य महान करे।
स्वर्ग - भोगभूमि पाकर, क्रमशः सुख निर्वाण वरे।।
जिनवर ही ऐसा, हो-हो-2, सद्मार्ग दिखाये रे - ऽऽ। रयणसार...

17. उत्तम-भूमि उत्तम-काल, बोया उत्तम बीज सँभाल।
जैसे बहु-फलदायी है, वैसे पात्र-दान फल ख्याल।।
सम्यग्दृष्टि यह, हो-हो-2, कर्तव्य निभाये रे - ऽऽ। रयणसार...

18. बोता जो धन-बीज महान, जिनवर कथित सप्त स्थान।
त्रिभुवन का साम्राज्य फले, फलता सौख्य पंचकल्याण।।
तीर्थंकर जैसा, हो-हो-2, सुख वैभव पाये रे - ऽऽ। रयणसार...

19. मात-पिता धन-धान्य सुपुत्र, वाहन विभव मकान कलत्र।
पात्रदान से मिलते हैं, जग के उत्तम सौख्य सुमित्र।।
पुण्यात्मा ही, हो-हो-2, यह शुभ फल पाये रे - ऽऽ। रयणसार...

20. राज्य-निधि-भंडार-रतन, सेना-स्त्री-वैभव-धन।
पात्रदान का फल जानो, कहते कुन्दकुन्द भगवन्।।
सत्पात्र दानी, हो-हो-2, चक्री सुख पाये रे - ऽ ऽ। रयणसार...

21. उत्तम कुल-बुद्धि-लक्षण, उत्तम-शिक्षा उत्तम-गुण।
उत्तम रूप-स्वभाव-चरित, सुख-अनुभव वैभव-चिंतन।।
सत्पात्र दानी, हो-हो-2, उत्तम फल पाये रे - ऽऽ। रयणसार...

22. जो भवि मुनि को दे आहार, फिर भोजन करता स्वीकार।
सारभूत भवसुख पाता, पाता मुक्ति सौख्य अपार।।
जिनवर वाणी यह, हो-हो-2, कर्तव्य सिखाये रे - ऽऽ। रयणसार...

23. शीत-उष्ण ऋतु पहिचानो, वात - पित्त प्रकृति जानो।
परिश्रम, व्याधि, कायक्लेश, या उपवास किया जानो।।
दानी श्रावक यह, हो-हो-2, सुविवेक लगाये रे - ऽऽ। रयणसार...

24. मोक्षमार्ग अनुरागी जो, पाता मुनिजन त्यागी को।
हित-मित अन्नपान औषधि, देता है बड़भागी वो।।
स्थान शयनासन, हो-हो-2, उपकरण दिलाये रे - ऽऽ। रयणसार...

25. गर्भस्थित शिशु का पालन, करते मात-पिता परिजन।
आलस तज मुनिराजों की, सेवा करते श्रावकजन।।
मुनि वैयावृत्ति, हो-हो-2, भवसिंधु तिराये रे - ऽऽ। रयणसार...

26. सत्पुरुषों का दान सदा, कल्पवृक्ष फल सम शोभा।
लोभीजन का दान कहा, जैसे अर्थी की शोभा।
लोभीजन उत्तम,हो-हो-2 नहिं पुण्य कमाये रे - ऽऽ। रयणसार...

27. यश:कीर्ति मिल जाये, पुण्य लाभ कुछ फल जाये।
लोभी दे कुपात्र को दान, शायद किस्मत खुल जाये।।
समकित गुणधारी, हो-हो-2, सत्पात्र न पाये रे - ऽऽ। रयणसार...

28. यंत्र-मंत्र-तंत्रादि मिले, मान-प्रतिष्ठा खूब मिले।
पक्षपात प्रियवचन-सहित, करता सेवा दान अरे।।
मुक्ति का कारण, हो-हो-2, नहिं दान कहाये रे - ऽऽ। रयणसार...

29. जैसा कर्म सजायेगा, वैसा जीवन पायेगा।
शुभ कर्मों का शुभ फल है, अशुभ अशुभ फल लायेगा।।
दानी दारिद्री, हो-हो-2, लोभी ऐश्वर्य पाये रे - ऽऽ। रयणसार...

30. करलो आगम ज्ञान जरा, कर सुपात्र को दान जरा।
जैसे धन से जीव सुखी, वही दान से मान जरा।।
मुनिदान बिन तू, हो-हो-2, दुःख ही दुःख पाये रे - ऽऽ। रयणसार...

31. है सुपात्र बिन निष्फल दान, बिन सुपुत्र धन-जमीं-मकान।
उसी तरह व्रत-गुण-चारित्र, शुद्धभाव बिन निष्फल जान।।
भावों से जीवन, हो-हो-2, में सुख-दुःख पाये रे - ऽऽ। रयणसार...

32. जीर्णोद्धार प्रतिष्ठा का, तीर्थ-वंदना पूजा का।
जिनवर कहते जो मानव, बचा हुआ धन भोग रहा।।
वो नरकों जाकर, हो-हो-2, दुःख ही दुःख पाये रे - ऽऽ। रयणसार...

33. कौन दरिद्री होता है, स्त्री पुत्र को रोता है।
मूक बधिर पंगु अन्धा हो कुजाति को ढोता है।
जो दान-पूजा, हो-हो-2, का द्रव्य चुराये रे - ऽऽ। रयणसार...

34. अतिशय इच्छा करता है, किन्तु न फल को वरता है।
इच्छित फल गर मिल जाये, किन्तु भोग बिन मरता है।
धर्मद्रव्य भोगी, हो हो-2, व्याधि ही पाये रे - ऽऽ। रयणसार...

35. पूजा-दान द्रव्य हरता, अहो! तीव्र दुःख को वरता।
नाक-कान-छाती-अंगुली, दृष्टिहीन हुआ करता।।
हाथों पैरों से, हो-हो-2, विकलांग दिखाये रे - ऽऽ। रयणसार...

36. लूता-रोग भगंदर - रोग, नेत्र - जलोदर - सिर के रोग।
कुष्ठ-मूल-क्षय-शूल सभी, शीत-उष्ण से व्याधि रोग।।
पूजा दानादि, हो-हो-2, में विघ्न से पाये रे - ऽऽ। रयणसार...

37. देव-शास्त्र-गुरु वंदन में, विघ्न करें श्रुत-अध्ययन में।
नरक-पशु दुर्गति अपंग, दुःख, हानि हो जीवन में।।
श्रुतभेद का फल, हो-हो-2, दारिद्र दिखाये रे - ऽऽ। रयणसार...

38. सम्यग्दर्शन की शुद्धि, सम्यक् ज्ञान-चरित शुद्धि।
भरतक्षेत्र पंचम युग में, हीन-हीन होती बुद्धि।।
तप-दान-गुण में, हो-हो-2, हीनता दिखाये रे - ऽऽ। रयणसार...

39. पूजा दान नहीं करता, शील-मूलगुण नहिं धरता।
मानव जीवन पाकर भी, सम्यक् चारित न वरता।।
नारक कुमानुष, हो-हो-2, पशुगति को पाये रे - ऽऽ। रयणसार...

40. कार्य-अकार्य नहीं जाना, पुण्य-पाप नहिं पहिचाना।
तत्त्व-अतत्त्व व धर्म-अधर्म, सेय-असेय नहीं माना।।
सम्यग्दर्शन से, हो-हो-2, वह रहित कहाये रे - ऽऽ। रयणसार...

41. योग्य-अयोग्य नहीं जाने, नित्य-अनित्य न पहिचाने।
हेय-उपादेय सत्य-असत्य, भव्य-अभव्य नहीं जाने।।
सम्यग्दर्शन से, हो-हो-2, वह रहित कहाये रे - ऽऽ। रयणसार...

42. लौकिक - जन का संग करे, दुर्भावों के रंग भरे।
होकर अति वाचाल कुटिल, योगी व्रत को भंग करे।।
योगी को लौकिक, हो-हो-2, संगति न भाये रे - ऽऽ। रयणसार...

43. उग्र - तीव्र जो दुर्भावी, दुष्ट - दुश्रुत जो दुर्भाषी।
मिथ्यामत में अनुरक्ति, धर्म - विरुद्ध महा रागी।।
सम्यग्दर्शन से, हो-हो-2, वह रहित कहाये रे - ऽऽ। रयणसार...

44. रुष्ट-अनिष्ट या हो गायक, क्षुद्र रौद्र या हो याचक।
चुगलखोर या अभिमानी, ईर्ष्यालु कलही श्रावक।।
परदोष दाता, हो-हो-2, सम्यक्त्व न पाये रे - ऽऽ। रयणसार...

45. हाथी, गधा, बाघ, बंदर, कच्छप, जौंक, श्वान, सूकर।
मक्खी सम स्वभाव वाले, होते हैं जो नारी-नर।।
जिनधर्म के ये, हो-हो-2, नाशक कहलाये रे - ऽऽ। रयणसार...

46. जब सम्यग्दर्शन होगा, ज्ञान तभी सम्यक् होगा।
सम्यग्दर्शन से सम्यक्-चारित का उद्भव होगा।।
सम्यग्दर्शन बिन, हो-हो-2, बोधि न पाये रे - ऽऽ। रयणसार...

47. कोई मिथ्या-भेष धरे, मिथ्या - तप - व्रत - ज्ञान करे।
मिथ्याशील-शास्त्र-दर्शन, संस्तुति - स्तुति खूब करे।।
निश्चित ही उसका, हो-हो-2, समकित नश जाये रे - ऽऽ। रयणसार...

48. तन कुष्टी कुल नाश करे, चाहे खूब प्रयास करे।
वैसे ही मिथ्यादृष्टि, सद्गुण सद्गति नाश करे।।
मिथ्यात्व जग में, हो-हो-2, दुःखप्रद कहलाये रे - ऽऽ। रयणसार...

49. देव-धर्म-गुरु-गुण-चारित्र, तपाचार जो करे पवित्र।
मोक्षगति का भेद तथा, जिनवाणी जो सबकी मित्र।।
सम्यग्दर्शन बिन, हो-हो-2, कोई जान न पाये रे - ऽऽ। रयणसार...

50. शिवलब्धि का जो कारण, निज आतम स्वभाव इक क्षण।
चिंतन में नहिं लाता है, करे पाप का ही चिंतन।।
पर के चिंतन में, हो-हो-2, मन को भरमाये रे - ऽऽ। रयणसार...

51. मद की मोह की पी मदिरा, बोले ज्यों भूला विसरा।
नहीं जानता शुद्धातम, साम्यभाव रस जहाँ भरा।।
मिथ्यादृष्टि को, हो-हो-2, सन्मार्ग न भाये रे- ऽऽ। रयणसार...

52. उपशम भाव को धर लो जी, कर्मों का क्षय कर लो जी।
संवर और निर्जरा से, मुक्ति - वधु को वर लो जी।।
इसभव-परभव क्यों, हो-हो-2, तू दुःख उठाये रे - ऽऽ। रयणसार...

53. दृष्टि सम्यक् करो - करो, ज्ञान और वैराग्य धरो।
कलह कांक्षा आलस इन, दुर्भावों को हरो-हरो।।
मिथ्यादृष्टि ही, हो-हो-2, दुर्भाव बनाये रे - ऽऽ। रयणसार...

54. आर्तरौद्र यह ध्यान करें, अशुभ लेश्या हृदय धरें।
अवसर्पिणि पंचम युग में, नष्ट दुष्ट यह बुद्धि करें।।
पापी दुःखी मानव, हो-हो-2, हर ओर दिखाये रे - ऽऽ। रयणसार...

55. अवसर्पिणि पंचम युग में, सम्यग्दृष्टि दुर्लभ हैं।
मिथ्यादृष्टि सुलभ सदा, कहते ज्ञानी गणधर हैं।।
भव-भव परिवर्धक, हो-हो-2, मिथ्यात्व कहाये रे - ऽऽ। रयणसार...

56. क्यों तू संयम खोता है, व्यर्थ अरे क्यों रोता है।
अवसर्पिणि पंचमयुग में, धर्मध्यान तो होता है।।
जो न माने वो, हो-हो-2, मिथ्यात्व बढ़ाये रे - ऽऽ। रयणसार...

57. अशुभभाव जो करता है, नरक आयु को धरता है।
जो करता शुभभाव अहा! स्वर्ग सुखों को वरता है।।
जैसा हो चाहे, हो-हो-2 वह भाव बनाये रे - ऽऽ। रयणसार...

58. हिंसादि क्रोधादि में, मिथ्याज्ञान मदादि में।
दुरभिनिवेश अशुभ लेश्या, पक्षपात विकथदि में।।
मात्सर्य आदि, हो-हो-2, सब अशुभ कहाये रे - ऽऽ। रयणसार...

59. आर्त - रौद्र ध्यानादि में, ईर्ष्या मान-बढ़ाई में।
माया-मिथ्य - निदानादि शल्यों में दंडादि में।।
जो वर्तन होता, हो-हो-2, सब अशुभ कहाये रे - ऽऽ। रयणसार...

60. सात-तत्त्व छह-द्रव्य दिखाय, नौ-पदार्थ पंचास्तिकाय।
बंध - मोक्ष - इनके कारण अनुप्रेक्षा जब हृदय समाय।।
इनमें प्रवृत्ति, हो-हो-2, शुभभाव कहाये रे - ऽऽ। रयणसार...

61. आर्यजनों का शुभ चिंतन, रत्नत्रय की लगी लगन।
आर्यकर्म में उत्साही, दयाधर्म का हो पालन।।
शुभभाव सुख का, हो-हो-2, साधन कहलाये रे - ऽऽ। रयणसार...

62. सम्यग्दर्शन से सुगति, मिथ्यादर्शन से दुर्गति।
जहाँ लगे तुझको अच्छा, वहीं लगाले अपनी मति।।
इक है सुखदाई, हो-हो-2 दूजी दुःख बढ़ाये रे - ऽऽ। रयणसार...

63. करता व्रत उपवास मगर, नहीं छोड़ता मोह डगर।
वह कैसे तिर सकता है, निश्चय से यह भवसागर।।
यह मूर्ख फिर क्यों, हो-हो-2, बहु दुःख उठाये रे - ऽऽ। रयणसार...

64. द्रव्यलिंग को धारणकर, इन्द्रिय विषयों को तजकर।
व्रताचरण पालन करता, बहिरातम बुद्धि धरकर।।
जामन मरण को, हो-हो-2, वह छोड़ न पाये रे - ऽऽ। रयणसार...

65. होने को परलोक सुखी, काय-क्लेश सह हुआ दुःखी।
हृदय मोक्ष की चाह मगर, रहता नित मिथ्यात्व मुखी।।
ऐसा मानव क्या, हो-हो-2, कभी मोक्ष को पाये रे - ऽऽ। रयणसार...

66. दण्ड देह को देता है, पर क्रोधादि चहेता है।
बहिरातम कर्मों का क्या, ऐसे क्षय कर लेता है।।
बामी मर्दन से, हो-हो-2, क्या सर्प नशाये रे - ऽऽ। रयणसार...

67. जब जब उपशम तप आता, भावसंयमी कहलाता।
जब कषायवश रहता है, तब असंयमी बन जाता।।
काषायिक व्याधि, हो-हो-2, क्या ज्ञानि नशाये रे - ऽऽ। रयणसार...

68. जहाँ ज्ञान की शक्ति है, वहाँ कर्म से मुक्ति है।
ज्ञानी कभी नहीं कहता, अज्ञानी की उक्ति है।।
औषध का ज्ञाता, हो-हो-2, क्या व्याधि नशाये रे - ऽऽ। रयणसार...

69. मिथ्यामल का शोधन कर, सम्यक् औषधि सेवन कर।
कर्म रूप व्याधि हरने, चारित्र औषधि सेवन कर।।
कर्मों का नाशक, हो-हो-2, यह क्रम कहलाये रे - ऽऽ। रयणसार...

70. जो विषयों का त्यागी है, अज्ञानी वैरागी है।
विषयासक्त कषायरहित, ज्ञानी फिर भी त्यागी है।।
जिनदेव ऐसा, हो-हो-2, यह भेद दिखाये रे - ऽऽ। रयणसार...

71. भक्ति बिना विनय से क्या, बिना विरक्ति त्याग से क्या।
नेह बिना महिलाओं का, रोदन करना व्यर्थ कहा।।
प्रतिषिद्ध ऐसे, हो-हो-2, सद्गुरु बताये रे - ऽऽ। रयणसार...

72. कोई शूरता रहित अरे, योद्धा बन क्या विजय धरे।
जो सौभाग्यरहित महिला, शोभा से क्या प्राप्त करे।।
संयम बिन मुनि भी, हो-हो-2, परमार्थ न पाये रे - ऽऽ। रयणसार...

73. पाया धन-वैभव भारी, लोभी न फल का अधिकारी।
विषयलीन अज्ञानी भी, नहीं अतीन्द्रिय का धारी।।
अज्ञानी सुख का, हो-हो-2, कभी लेश न पाये रे - ऽऽ। रयणसार...

74. है जो वैभववान अरे, नित सुपात्र को दान करे।
वे ज्ञानी फल पाते हैं, नहीं लोभ अभिमान करे।।
विषयों का त्यागी, हो-हो-2, ज्ञानी फल पाये रे - ऽऽ। रयणसार...

75. भूमि-स्त्री-सोना-धन, लोभ-सर्प का करे शमन।
सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित, औषध मंत्र बसा जिस मन।।
यह सब जिनवर का, हो-हो-2 उपदेश कहाये रे - ऽऽ। रयणसार...

76. पहले पंचेन्द्रिय तन-मन-वचन पैर कर का मुण्डन।
जो पश्चात् मुंडाता सिर, करता केशों का लुंचन।।
वो ही शिवपथ का, हो-हो-2, नेता कहलाये रे - ऽऽ। रयणसार...

77. पति - भक्ति से रहित सती, जिनभक्ति बिन जैनमती।
गुरुभक्ति बिन शिष्य अरे, पाता निश्चय ही दुर्गति।।
भक्ति बिन सुगति, हो-हो-2, कभी कोई न पाये रे - ऽऽ। रयणसार...

78. गुरुभक्ति बिन शिष्य अरे, क्यों सब परिग्रह त्याग करे।
ऊसर भूमि में जैसे, श्रेष्ठ बीज को वपन करे।।
जप तप व्रत आदि, हो-हो-2, निष्फल कहलाये रे - ऽऽ। रयणसार...

79. राज्य अगर नृपहीन रहे, सेना स्वामी विहीन रहे।
राष्ट्र देश ग्रामादि सभी, नशते स्वामी-हीन अरे।।
गुरु की भक्ति बिन, हो-हो-2, नहिं शिष्य कहाये रे- ऽऽ।रयणसार...

80. रुचि भी है सम्यक्त्व बिना, दानभाव भी भक्ति बिना।
धर्म - क्रिया का पालन भी, करता कोई दया बिना।।
गुरुभक्ति बिन तप, हो-हो-2, निष्फल कहलाये रे - ऽऽ। रयणसार...

81. निंद्य ग्राह्य का नहीं विचार, लगता इन्द्रिय सुख ही सार।
क्या है त्याज्य ग्राह्य क्या है, क्या है मोक्ष शान्ति का द्वार।।
अज्ञानी ऐसा, हो-हो-2, कभी जान न पाये रे - ऽऽ। रयणसार...

82. कायक्लेश उपवास करो, दुर्धर तप आचरण धरो।
शुद्ध आत्मा की रुचि हो, अष्ट कर्म का नाश करो।।
शुद्धात्म रुचि बिन, हो-हो-2, तू पुण्य कमाये रे - ऽऽ। रयणसार...

83. परमब्रह्म का ज्ञान नहीं, निजस्वरूप श्रद्धान् नहीं।
कर्मों का क्षय नहिं करता, इसभव परभव जीव कहीं।।
जिनलिंग धरके, हो-हो-2 बोलो क्या पाये रे - ऽऽ। रयणसार...

84. नहीं देखता आतम को, नहीं चिंतता आतम को।
न श्रद्धान् किया करता, नहीं भावता आतम को।।
वह बाह्यभेषी, हो-हो-2, मुनि क्या सुख पाये रे - ऽऽ। रयणसार...

85. नहीं जानता आतम को, नहीं मानता आतम को।
वह दुःख को ही पाता है, कहलाता बहिरातम वो।।
इक सुख स्वभावी, हो-हो-2, आतम कहलाये रे - ऽऽ। रयणसार...

86. दृष्टि में निजतत्त्व नहीं, हो सकता सम्यक्त्व नहीं।
गर सम्यक्त्व नहीं पाया, मिल सकता शिवतत्त्व नहीं।।
सम्यक्त्व सुख का, हो-हो-2, साधन कहलाये रे - ऽऽ। रयणसार...

87. दुर्ग बिना शोभा नृप की, दान-दया बिन श्रावक की।
ज्ञान बिना शोभा तप की, जीव बिना शोभा तन की।।
कैसे हो सकती, हो-हो-2, नहिं शोभा पाये रे - ऽऽ। रयणसार...

88. अगर परिग्रह होता है, साधु साधुता खोता है।
श्लेषम में मक्खी जैसा, काय क्लेश पा रोता है।।
लोभी अज्ञानी, हो-हो-2, क्यों क्लेश उठाये रे - ऽऽ। रयणसार...

89. अगर ज्ञान अभ्यास नहीं, तत्त्वज्ञान उल्लास नहीं।
ध्यान कहाँ से हो सकता, जिस बिन कर्म विनाश नहीं।।
मुक्ति चाहे भी, हो-हो-2, पर मुक्ति न पाये रे - ऽऽ। रयणसार...

90. स्वाध्याय ही ध्यान कहा, इन्द्रिय सुख अवसान कहा।
काषायिक परिणतियों का, निग्रह कार्य महान कहा।।
आतम अभ्यासी, हो-हो-2, ज्ञानी कहलाये रे - ऽऽ। रयणसार...

91. पापारंभ निवृत्ति का, पुण्यारंभ प्रवृत्ति का।
सम्यग्ज्ञान ही कारण है, एक मात्र शुभवृत्ति का।।
सम्यग्ज्ञानी ही, हो-हो-2, धर्मध्यान को पाये रे - ऽऽ। रयणसार...

92. आगम का अभ्यास नहीं, सम्यक् तप आगाज नहीं।
श्रुताभ्यास के बिन भैया, तप बनता सरताज नहीं।।
अज्ञानी इन्द्रिय, हो-हो-2, सुख में भरमाये रे - ऽऽ। रयणसार...

93. तत्त्वविचार किया करते, दुःख परिहार किया करते।
मोक्षमार्ग आराधन में, गुरु नित लीन रहा करते।।
धर्म कथायें, हो-हो-2, गुरुदेव सुनाये रे - ऽऽ। रयणसार...

94. जो विकथा से मुक्त रहें, अधः कर्म से मुक्त रहें।
बारह अनुप्रेक्षाओं के, चिंतन में संयुक्त रहे।।
मुनि सम्यग्ज्ञानी, हो-हो-2, प्रवचन कुशल कहाये रे-ऽऽ। रयणसार...

95. निंदा से जो दूर रहें, कभी वंचना नहीं करें।
परिषह को उपसर्गों को, और दुःखों को सहन करें।।
परिग्रह त्यागी मुनि, हो-हो-2, ध्यानाध्ययन पाये रे - ऽऽ। रयणसार...

96. निर्विकल्प निर्बन्ध सदा, निष्कलंक निर्मोह सदा।
निर्मल नियत स्वभावी जो, वह योगी मुनिराज सदा।।
निर्ग्रंथ दर्शन, हो-हो-2, कर मन हर्षाये रे - ऽऽ। रयणसार...

97. करते कायक्लेश बहुत, होकर मिथ्याभाव सहित।
सुन सर्वज्ञ देशना भी, मोक्ष - सौख्य से रहे रहित।।
मिथ्यात्व दुःख का, हो-हो-2, कारण कहलाये रे - ऽऽ। रयणसार...

98. रागादि मन सहित रहे, आत्मस्वरूप दिखाई न दे।
जैसे दर्पण मलिन रहे, निज चेहरा भी नहीं दिखे।।
जो राग त्यागी, हो-हो-2, निज रूप दिखाये रे - ऽऽ। रयणसार...

99. तीन दण्ड वश नहीं करे, तीन शल्य को हृदय धरे।
ईर्ष्या कलह याचना की, परिणतियाँ अभिमान करे।।
ऐसा साधु ही, हो-हो-2, संसार बढ़ाये रे - ऽऽ। रयणसार...

100. साधु देहासक्त अगर, हो विषयों में मस्त अगर।
काषायिक परिणति सहित, आत्म स्वभाव प्रमत्त अगर।।
सम्यग्दर्शन से, हो-हो-2, वह रहित कहाये रे - ऽऽ। रयणसार...

101. जो धनधान्य उपकरण में, रखे कांक्षा आरंभ में।
व्रत-गुण-शील सहित होकर, ईर्ष्या रखते हैं मन में।।
कषाय कलह प्रिय, हो-हो-2, वाचाल कहाये रे - ऽऽ। रयणसार...

102. संघ विरोध किया करते, जो स्वच्छंद रहा करते।
गुरु के निकट नहीं रहते, राजा की सेवा करते।।
जिनधर्म नाशक, हो-हो-2, वह साधु कहाये रे - ऽऽ। रयणसार...

103. ज्योतिष - वेद्यक - मंत्रादि, वात - विकार या भूतादि।
जो धन आदि ग्रहण करके, चला रहे जीवन आदि।।
सच्चे श्रमणों के, हो-हो-2, ये दोष कहाये रे - ऽऽ। रयणसार...

104. पापाचार किया करते, जो कषाय में रत रहते।
रहें लोक व्यवहार रहित, परिग्रह आसक्ति रखते।।
ऐसे साधु ही, हो-हो-2, श्रद्धा हीन कहाये रे - ऽऽ। रयणसार...

105. नहिं पर का गौरव सहते, अपनी महिमा खुद कहते।
अपनी स्तुति स्वयं करें, जिव्हा लोलुपता धरते।।
ऐसे साधु ही, हो-हो-2 श्रद्धाहीन कहाये रे - ऽऽ। रयणसार...

106. चर्म माँस अस्थि लोभी, श्वान भोंकता देख मुनि।
वैसे धर्मीजन को देख, कलह करें पापी निर्गुणि।।
निज स्वार्थवश ही, हो-हो-2, वह कलह कराये रे - ऽऽ। रयणसार...

107. ध्यान और अध्ययन सिद्धि, ज्ञान और संयम वृद्धि।
यथालाभ भोजन करता, साम्यभाव की समृद्धि।।
ऐसा साधु ही, हो-हो-2, शिवपथ लीन कहाये रे - ऽऽ। रयणसार...

108. मुनि करते उदराग्नि शमन, कोई मुनि अक्षमृक्षण।
मुनि गोचरी करते हैं, कोई मुनि श्वभ्रपूरण।।
मुनिराज भ्रामरि, हो-हो-2, चर्या अपनाये रे - ऽऽ। रयणसार...

109. तन रस-रुधिर-माँस-मेदा, अस्थि-शुक्र-मल-मूत्र भरा।
पीव कृमि दुर्गन्धसहित, अशुचि अनित्य चर्ममय हा।।
यह तन अचेतन, हो-हो-2, नशनीय कहाये रे - ऽऽ। रयणसार...

110. तन बहु दुःख का भाजन है, कर्मास्रव का कारण है।
आत्मतत्त्व से भिन्न मगर, अनुष्ठान का साधन है।।
यह मान भिक्षु, हो-हो-2, पोषण भी दिखाये रे - ऽऽ। रयणसार...

111. संयम तप अध्ययन विज्ञान, मुनिजन करते आतमध्यान।
करते हैं आहार ग्रहण, तन पुष्टि का नहीं निदान।।
संयम कारण तज, हो-हो-2, दुःख छोड़ न पाये रे - ऽऽ। रयणसार...

112. जो साधु याचना करे, क्रोध धरे व कलह करे।
रौद्र क्लेश परिणामों से, रुष्ट हुआ आहार करे।।
वह क्या साधु है, हो-हो-2, व्यंतर कहलाये रे - ऽऽ। रयणसार...

113. तपे लोह सम शुद्ध कहा, करगत पिण्ड विशुद्ध कहा।
नौका के जैसा भैया, भवतारक अविरुद्ध कहा।।
शुद्धाहारी हो, हो-हो-2, शुद्धातम पाये रे - ऽऽ। रयणसार...

114. अविरत-दृष्टि देशव्रती, आगम-रुचिधर महाव्रती।
तत्त्व-विचारक भेदों से, पात्र हजारों जैनमती।।
जिनवर देवों ने, हो-हो-2, यह भेद बताये रे - ऽऽ। रयणसार...

115. उपशम निरीहता अध्ययन, ध्यान आदि शुभ महान गुण।
जिन मुनि में देखे जैसे, पात्र कहें वैसे मुनिजन।।
वे पात्र उत्तम, हो-हो-2, आदि कहलाये रे - ऽऽ। रयणसार...

116. श्री जिन अर्हत् सिद्धस्वरूप, निज आतम त्रय भेद स्वरूप।
नहीं जानता, करता है तीव्र महातप नाना रूप।।
वह चिर संसारी, हो-हो-2, परिभ्रमण को पाये रे - ऽऽ। रयणसार...

117. अहो! शुद्ध सम्यग्दर्शन, परिग्रह-शल्यरहित मुनिजन।
धर्मध्यान में लीन सदा, पात्रविशेष कहें गुणिजन।।
इन गुण बिन वेषी, हो-हो-2, विपरीत कहाये रे - ऽऽ। रयणसार...

118. जिनमें समकित गुण प्रगटें, जिनवर पात्र विशेष कहें।
पात्र विशेष जानकर जो, सम्यक् दान प्रदान करें।।
वह मोक्ष पथ में, हो-हो-2, लवलीन कहाये रे - ऽऽ। रयणसार...

119. जो निश्चय व्यवहार स्वरूप, नहिं जाने रत्नत्रय रूप।
वह जो कुछ भी करता है, कहलाता सब मिथ्यारूप।।
ऐसा जिनवर का, हो-हो-2, उपदेश कहाये रे - ऽऽ। रयणसार...

120. तत्त्व जानकर भी क्या लाभ, बहु तप करके भी क्या लाभ?
समकित शुद्धि रहित ऐसे, ज्ञान और तप से क्या लाभ?
संसार का ही, हो-हो-2, वह बीज कहाये रे - ऽऽ। रयणसार...

121. व्रत, गुण, शील, परीषह-जय, चारित्र, तप, षट्-आवश्यक।
ध्यान और अध्ययन सभी, समकित बिन सब भवकारक।।
संसार का ही, हो-हो-2, वह बीज कहाये रे - ऽऽ। रयणसार...

122. ख्याति - लाभ पूजा सत्कार, क्यों चाहे करता स्वीकार।
हे योगी! यदि चाह रहा, तू परलोक आत्म - उद्धार।।
ख्याति से क्या तू, हो-हो-2, परलोक को पाये रे - ऽऽ। रयणसार...

123. जो मुनि कर्मज सर्व विभाव, और आत्मज सर्व स्वभाव।
भावपूर्वक भा करके, करता रुचि निज शुद्धस्वभाव।।
उसका नियम से, हो-हो-2, निर्वाण दिखाए रे - ऽऽ। रयणसार...

124. मूल-प्रकृति, प्रकृति-उत्तर, द्रव्य-प्रकृति उत्तर-उत्तर।
भावकर्म से मुक्तातम, बन्धास्रव - संवर - निर्जर।।
सब जानता है, हो-हो-2, 'बहुणा किं' पाये रे - ऽऽ। रयणसार...

125. योगी विषयासक्त कहा, योगी विषय-विरक्त कहा।
एक कर्म से बँधता है, एक कर्म से छूट रहा।।
तिविहातम जानो, हो-हो-2, 'बहुणा किं' पाये रे - ऽऽ। रयणसार...

126. अहो! निजातम ज्ञान और ध्यान, अध्ययन सुख-अमृत रसपान।
छोड़ जो इन्द्रिय सुख भोगे, निश्चय से बहिरातम जान।।
सर्वज्ञवाणी, हो-हो-2, कभी इसे न भाये रे - ऽऽ। रयणसार...

127. पका हुआ किंपाक फलं, विष मोदक इन्द्राणफलं।
दिखने में सुन्दर प्रिय है, जीभ सुखं परिणाम खलं।।
ऐसा इन्द्रिय सुख, हो-हो-2, दुःख को उपजाये रे - ऽऽ। रयणसार...

128. स्त्री, पुत्र, मित्र तन को, निज वैभाविक चेतन को।
आत्मस्वरूप मानता है, नहीं जानता निज धन को।।
ऐसा अज्ञानी, हो-हो-2, बहिरात्म कहाये रे - ऽऽ। रयणसार...

129. इन्द्रिय विषयों में रमता, तत्त्वभावना नहिं करता।
विषय महादुःखदायी है, कभी विचार नहीं करता।।
ऐसा अज्ञानी, हो-हो-2, बहिरात्म कहाये रे - ऽऽ। रयणसार...

130. होते इन्द्रिय सुख जितने, देते हैं बहु-दुःख उतने।
तीव्र दुःखी होता आतम, नहीं विचार किया जिसने।।
ऐसा अज्ञानी, हो-हो-2, बहिरात्म कहाये रे - ऽऽ। रयणसार...

131. जीव जन्मता विष्टा में, रुचि रखता उसी विष्टा में।
त्यों बहिरातम की बुद्धि, रहे विषय - सुख विष्टा में।।
ऐसा अज्ञानी, हो-हो-2, निज सुख न पाये रे - ऽऽ। रयणसार...

132. खाद्य-अखाद्य, क्षार-अमृत, भक्ष्य-अभक्ष्य विवेकरहित।
ज्यों म्लेच्छ मानव जाति, भेद न करती ज्ञानरहित।।
बहिरात्मा भी, हो-हो-2, अज्ञान दिखाये रे - ऽऽ। रयणसार...

133. तन से आतम भिन्न अहा, नहीं स्वप्न में विषय लहा।
आत्मस्वरूप करे अनुभव, नित शिवसुख में लीन रहा।।
ऐसा वह मध्यम, हो-हो-2, आतम कहलाये रे - ऽऽ। रयणसार...

134. समकित जल से धोने पर, ज्ञानामृत भी होने पर।
चिर वासित मलमूत्र भरे, घट सम गंध संजोने पर।।
दुर्वासना को, हो-हो-2, वह छोड़ न पाये रे - ऽऽ। रयणसार...

135. ज्ञानी सम्यग्दृष्टि अरे, सुख अनुभूति अनिच्छ करे।
रोगी रोग मिटाने ज्यों, कड़वी औषधि ग्रहण करे।।
उससे वह औषधि, हो-हो-2, छोड़ी न जाये रे - ऽऽ। रयणसार...

136. 'किं बहुणा' हे भव्य सुनो, बहिरातम सब भाव तजो।
अन्तर - आतम परमातम, इन संबंधी भाव भजो।।
वस्तुस्वभावी, हो-हो-2, परिणति उपजाये रे - ऽऽ। रयणसार...

137. बहिरातम के वस्तुस्वभाव संबंधी जो होते भाव ।
चतुर्गति संसारभ्रमण, दुःख के कारण हैं सब भाव।।
ऐसा अज्ञानी, हो-हो-2, निज सुख न पाये रे - ऽऽ। रयणसार...

138. अन्तरात्म के वस्तुस्वरूप, परमातम के वस्तुस्वरूप।
संबंधी जो होते भाव, हैं शिवगति के कारणरूप।।
शुभ पुण्य के भी, हो-हो-2, कारण कहलाये रे - ऽऽ। रयणसार...

139. जो स्वसमय परसमय के, द्रव्य और गुण-पर्यय से।
भेद जानता, वह अपना आतम जाने आतम से।।
वो ही शिवपथ का, हो-हो-2, नायक कहलाये रे - ऽऽ। रयणसार...

140. बहिरातम परसमय कहा, अन्तरात्म परसमय कहा।
गुणस्थान क्रम से जानो, परमातम स्वसमय कहा।।
जिनवर देवों ने, हो-हो-2, यह भेद दिखाये रे - ऽऽ। रयणसार...

141. प्रथम तीन हैं बहिरातम, चौथा जघन अंतरातम।
ग्यारहवें तक मध्यम हैं, बारह परम अंतरातम।।
परमातम तेरह, हो-हो-2, चौदह सिद्ध कहाये रे - ऽऽ। रयणसार...

142. तीन मूढ़ताएँ छोड़े, तीन शल्य से मुख मोड़े।
तीन दोष जो योगि तजे, तीन दण्ड-गारव छोड़े।।
वो ही शिवपथ का, हो-हो-2, नायक कहलाये रे - ऽऽ। रयणसार...

143. रत्नत्रय संयुक्त अरे, तीन-करण से युक्त अरे।
तीन-योग त्रय-गुप्ति की, जो विशुद्धि से युक्त अरे।।
वो ही शिवपथ का, हो-हो-2, नायक कहलाये रे - ऽऽ। रयणसार...

144. जो जिनमुद्रा का धारक, परमोपेक्षा आराधक।
जो विराग सम्यक्त्व सहित, है सच्चा ज्ञानी साधक।।
वो योगी शिवपथ, हो-हो-2, नायक कहलाये रे - ऽऽ। रयणसार...

145. बहि-अभ्यन्तर ग्रंथ-रहित, अहो! शुद्ध-उपयोग सहित।
मूलगुणों से पूर्ण अहा! योगी उत्तर-गुणों सहित।।
वो ही शिवपथ का, हो-हो-2, नायक कहलाये रे - ऽऽ। रयणसार...

146. जो समकित कहलाता है, शिवसुख लाभ कराता है।
उसको सुनता-साधता है, साधु उसी को ध्याता है।।
जन्मादि दुःख अरि, हो-हो-2, के विष को नशाये रे- ऽऽ। रयणसार...

147. जो परमात्म नरेन्द्रों से, देवेन्द्रों नागेन्द्रों से।
समकित गुण प्रधान जानो, पूजित गणधर इन्द्रों से।।
हे भवि 'बहुणा किं', हो-हो-2, रुचि श्रेष्ठ कहाये रे - ऽऽ। रयणसार...

148. अवसर्पिणी काल का दोष, मिथ्यात्व का उदय प्रदोष।
जीवों का उपशम-समकित, हो जाता है नष्ट ये दोष।।
काषायिक परिणति, हो-हो-2, फिर से उपजाये रे - ऽऽ। रयणसार...

149. गुण-व्रत-तप-सम-प्रतिमा-दान, जलगालन शुभधर्म महान।
सूर्य अस्त के बाद न भोज, सम्यग्दर्शन-चारित्र-ज्ञान।।
श्रावक की त्रेपन, हो-हो-2 किरिया कहलाये रे - ऽऽ। रयणसार...

150. ज्ञान-ध्यान की सिद्धि दे, ध्यान कर्म-निर्जरा करे।
मोक्ष निर्जरा का फल है, अतः ज्ञान - अभ्यास करे।।
ज्ञानाभ्यासी ही, हो-हो-2, मुक्ति को पाये रे - ऽऽ। रयणसार...

151. कुशल व्यक्ति के तप जानो, निपुण के संयम पहिचानो।
समताभावी के वैराग्य, श्रुतभावना से त्रय मानो।।
इससे श्रुत की ही, हो-हो-2, भावना जगाये रे - ऽऽ। रयणसार...

152. जीव पंच संसार भ्रमण, मिथ्यादर्शन है कारण।
बीता काल-अनंत अरे, किन्तु न समकित हुआ वरण।।
यह भव-परिभ्रमणा, हो-हो-2, इसलिए दिखाये रे-ऽऽ। रयणसार...

153. प्राप्त शुद्ध सम्यक्त्व करे, जीव तभी सुख वरण करे।
जब तक समकित शुद्ध नहीं, जीव तभी तक दुःखी रहे।।
समकित ही सुख का, हो-हो-2, कारण कहलाये रे - ऽऽ। रयणसार...

154. समकित बिन सब है दुःखरूप, समकित सहित सभी सुखरूप।
अरे, बहुत कहने से क्या? जानो निश्चय के अनुरूप।।
समकित की महिमा, हो-हो-2, जिनदेव सुनाये रे - ऽऽ। रयणसार...

155. नय निक्षेप प्रमाण अरे, नव छन्दादि पुराण अरे।
नाट्यशास्त्र शब्दालंकार, किया सभी का ज्ञान अरे।।
समकित बिन किरिया, हो-हो-2, संसार बढ़ाये रे - ऽऽ। रयणसार...

156. वसति प्रतिमोपकरणादि, शास्त्र संघ गण-गच्छादि।
पुत्र-पौत्र जाति कुल शिष्य, प्रतिशिष्य पुस्तक आदि।।
ममकार इनमें, हो-हो-2, बाधक कहलाये रे - ऽऽ। रयणसार...

157. पिच्छी में वा संस्तर में, इच्छाओं को अंतर में।
जब तक लोभ ममत्त्व करे आर्त-रौद्र के अनुभव में।।
तब तक न मुक्ति, हो-हो-2, न सुख को पाये रे - ऽऽ। रयणसार...

158. रत्नत्रय गण-गच्छ अहा, गुण समूह ही संघ अहा।
मोक्षमार्गी साधु का, निर्मल आतम समय अहा।।
निश्चय से जाने, हो-हो-2, तो कर्म नशाये रे - ऽऽ। रयणसार...

159. जैसे सूरज आता है, गहन तिमिर हट जाता है।
वायु मेघ, अग्नि वन को, गिरि को वज्र नशाता है।।
वैसे ही समकित, हो-हो-2, कर्मों को नशाये रे - ऽऽ। रयणसार...

160. मिथ्यात्व अंधकार रहित, रत्नदीप सम जो समकित।
अपने शुभ अंतरमन में, भावसहित करता प्रजलित।।
तिहुँलोक देखे, हो-हो-2, यह जिनवर गाये रे - ऽऽ। रयणसार...

161. ज्यों जल शुध निर्मली करे, स्वर्ण कालिमा रहित अरे।
निर्मल सम्यग्दर्शन को, भव्य - जीव जो प्राप्त करे।।
समकित से निर्मल, हो-हो-2, आतम को पाये रे - ऽऽ। रयणसार...

162. समयसार अभ्यास करे, परमध्यान निज पास करे।
जहाँ ध्यान परमातम का, वहीं कर्मक्षय नाश करे।।
कर्मों के क्षय से, हो-हो-2, मुक्ति को पाये रे - ऽऽ। रयणसार...

163. योग शुद्ध जो करता है, भाव - विशुद्धि धरता है।
धर्मध्यान का अभ्यासी, परमध्यान को वरता है।।
परमात्म ध्यानी, हो-हो-2, कर्मों को नशाये रे - ऽऽ। रयणसार...

164. जो अति शोधन क्रिया करे, शुद्ध स्वर्ण हो लिया करे।
आतम काल-लब्धियों से, परमातम पद लिया करे।।
शुद्धात्मज्ञानी, हो-हो-2, शिवपद को पाये रे - ऽऽ। रयणसार...

165. कामधेनु ज्यों चिन्तामणि, कल्पवृक्ष ज्यों पारसमणि।
मनुज प्राप्तकर रासायन, इच्छित सुख भोगता गुणि।।
समकित से इस भव, हो-हो-2, परभव सुख पाये रे-ऽऽ। रयणसार...

166. रयणसार यह ग्रंथ महान, देता सम्यग्दर्शन-ज्ञान।
तपोभाव, वैराग्य, चरित्र, निरीहता, गुण, शील महान।।
निजभाव को यह, हो-हो-2, उत्पन्न कराये रे - ऽऽ। रयणसार...

167. नहीं मानता सुनता जो, चिन्तन-पठन न करता जो।
रयणग्रंथ जिनवर वर्णित, नहीं भावना करता जो।।
वह मिथ्यादृष्टि, हो-हो-2, जग में कहलाये रे - ऽऽ। रयणसार...

168. रयणसार यह ग्रंथ महान, सज्जनजन से पूजित जान।
जो निरालसी पढ़ता नित, सुनता भाता प्रतिदिन जान।।
वो भवि ही शाश्वत, हो-हो-2, स्थान को पाये रे - ऽऽ। रयणसार...

(रयणोदय संदर्भ ग्रंथ)

ग्रंथ का नाम	ग्रंथ कर्ता	रयणोदय पृष्ठांक
पद्मनंदी पञ्चविंशतिका	आचार्य पद्मनन्दी	4, 11, 33, 60, 278, 312, 468
वसुनन्दी श्रावकाचार	आचार्य वसुनन्दी	4
बारह भावना	कवि भूधरदास	5
मरणकण्डिका	आचार्य अमितगति	8, 57, 75, 310
भगवती आराधना (विजयोदयाटीका)	अपराजित सूरि	8
भगवती आराधना	आचार्य शिवार्य सूरि	9, 63, 225, 284, 321, 379, 393, 394, 416, 417, 418
अमितगति श्रावकाचार	आचार्य अमितगति	11
आलोचना पाठ	कवि जौहरी	14, 260, 335
प्राकृत भावसंग्रह	आचार्य देवसेन	22
धर्मसंग्रह श्रावकाचार	कवि मेधावी	24, 277
भावप्राभृत टीका	आचार्य श्रुतसागर	34, 41
प्राकृत पंचसंग्रह	आचार्य हेमचंद	35
सागार धर्मामृत	पं. आशाधर	35, 36
बारसाणुपेक्खा	आचार्य कुन्दकुन्द	50, 68
पद्मपुराण	आचार्य रविषेण	52, 185
सूत्रपाहुड	आचार्य कुन्दकुन्द	66, 326
रयणसार	आचार्य कुन्दकुन्द	67, 90, 106, 434, 456
सम्यक्त्व कौमुदी	आचार्य शुभचन्द्र	74, 165, 183, 276
तत्त्वार्थ सूत्र	आचार्य उमास्वामी	76, 186, 206, 224, 259, 299 2393, 461
भावपाहुड	आचार्य कुन्दकुन्द	80, 119
भावपाहुड	आचार्य कुन्दकुन्द	80
रत्नकरण्ड श्रावकाचार	आचार्य समन्तभद्र	86, 161, 183, 187, 193, 194, 203, 277, 281, 296, 297, 323 325, 349, 392, 396, 398, 399 400, 412

ग्रंथ का नाम	ग्रंथ कर्ता	रयणोदय पृष्ठांक
छहढाला	पण्डित दौलतराम	96, 206, 222, 258, 291, 347, 373, 462
नीतिशतक	भर्तरि	90, 106
परमानंद स्तोत्र	अज्ञात	118
ज्ञानार्णव	आचार्य शुभचन्द्र	119, 187
मूलाचार	आचार्य वट्टकेर	121, 162, 167, 410, 469
आत्मानुशासन	आचार्य गुणभद्र	121
सामायिक पाठ	आचार्य अमितगति	138, 215
सामायिक पाठ (पद्यानुवाद)	आचार्य विमर्शसागर	139, 216
एकीभाव स्तोत्र	आचार्य वादिराज	139
एकीभाव स्तोत्र (पद्यानुवाद)	आचार्य विमर्शसागर	140
गीताञ्जलि	आचार्य विमर्शसागर	140, 291
जीवन है पानी की बूँद (महाकाव्य)	आचार्य विमर्शसागर	141
सार समुच्चय	आचार्य कुलभद्र	143, 267
लाटी संहिता	पंडित राजमल्ल	148, 164, 286
आदिपुराण	आचार्य जिनसेन	156
सर्वोपयोगी श्लोकसंग्रह	आचार्य अजितसागर	161, 200, 214, 222, 224, 227, 237, 279, 282
दर्शनस्तुति	पण्डित दौलतराम	165
योगसार प्राभृत	आचार्य अमितगति	173
ज़ाहिद की ग़ज़लें	आचार्य विमर्शसागर	174, 204
देव शास्त्र गुरु पूजा	कवि द्यानतराय	184, 190, 309
सोलहकारण पूजा	कवि द्यानतराय	189
पूजा प्रतिज्ञा पाठ	अज्ञात	192
सर्वार्थसिद्धि	आचार्य पूज्यपाद	259
द्रव्यसंग्रह	आचार्य नेमिचन्द्र	206, 279
वैराग्य भावना	कवि भूधरदास	
कार्तिकेयानुप्रेक्षा	आचार्य कार्तिकेय	215, 280, 469
दानशासन	वासुपूज्य मुनि	223
पाक्षिक प्रतिक्रमण	गौतम स्वामी	224
पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय	आचार्य अमृतचन्द्र	225

ग्रंथ का नाम	ग्रंथ कर्ता	रयणोदय पृष्ठांक
जिनवाणी स्तुति	कवि भागंचन्द्र	229
जलाभिषेक पाठ	कवि हरजस राय	232
इष्टोपदेश	आचार्य पूज्यपाद	234, 433
दर्शन स्तुति	अमर कवि	234, 235, 389, 390
कुरलकाव्य	आचार्य कुंदकुंद	246
समाधितंत्र	आचार्य पूज्यपाद	251, 332
मेरी भावना	जुगल किशोर	259, 324
सर्वार्थसिद्धि	आचार्य पूज्यपाद	
दसलक्षण पूजा	कवि द्यानतराय	259, 292
श्रमण प्रतिक्रमण	गौतम स्वामी	261, 356
यशस्तिलक चम्पू	आचार्य सोमदेव	269, 409
प्रश्नोत्तर श्लोक संग्रह	अज्ञात	269
प्रशमरति प्रकरण	आचार्य उमास्वामी	270
बृहद् द्रव्य संग्रह (संस्कृत वृत्ति)	आचार्य ब्रह्मदेव	270
दर्शन पाहुड	आचार्य कुंदकुंद	283, 295
नियमसार	आचार्य कुंदकुंद	285, 361
हरिवंशपुराण	आचार्य जिनसेन	290
शीलपाहुड	आचार्य कुंदकुंद	300
ध्यानसूत्राणि	आचार्य माघनन्दी	334
स्वरूप स्तुति	आचार्य विमर्शसागर	340
अध्यात्म अमृत कलश	आचार्य अमृतचन्द्र	372
मूलाचार प्रदीप	आचार्य सकलकीर्ति	380
गोम्मटसार जीवकाण्ड	आचार्य नेमिचन्द्र	334, 382
मोक्ष प्राभृत	आचार्य कुंदकुंद	406
सुभाषित सहस्रम्	आचार्य विरागसागर	104, 106, 107, 150, 236, 237 246, 261, 268, 270

कहो गर्व से हम जिनागम पंथी हैं।

978-93-82071-36-5

सच्चे जैन का एक ही पंथ – जिनागम पंथ

जयदु जिणागम पंथो

जिनागम पंथ जयवंत हो

जिनागम पंथ प्रकाशन

...शास्त्र विक्रय... ज्ञानावरणस्यास्रवा:

शास्त्र विक्रय ज्ञानावरण कर्म के आस्रव का कारण है।

(आचार्य अकलंक देव, राजवार्तिक)

NOT FOR SALE